वर्ष २५ : किरण १ अप्रेल १९७२

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

श्रावस्ती से प्राप्त १२वीं शताब्दी की कलापूर्ण तीर्थङ्कर मूर्ति



सं० ११७४ [वर्षे] जेठ सुदी ३ पंडित सोमदेव तस्य शिष्य विमलदेव प्रतिमा प्रणम्य.........।

विषय-सूची

अनेकान्त के ग्राहकों को सूचना

अनेकान्त के जिन ग्राहकों ने अपना वार्षिक मूल्य अभी तक नही भेजा। उन्हे चाहिए कि वे अक मिलते ही अपना वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनी आर्डर से भेज दे। अन्यथा अगला अक वी. पी. से भेजा जायगा। जिससे उन्हें वी. पी. खर्च का एक रुपया पच्चीस पैसे अधिक देने होगे। अतः छह रुपया शीघ्र भिजवा देवे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर-सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त को सहायता

अनेकान्त को विवाह आदि से निम्न सहायता प्राप्त हुई है। पाठक नोट कर ले और विवाहादिक शुभ अवसरों पर अनेकान्त को दान देना न भूले। क्योंकि अनेकान्त जैन समाज का एक प्रतिष्ठित और साहित्य इतिहास का एक शोध पत्र है।

२१) रुपया प्रेमनाथ जैन ज्वाइन्ट सेक्रेटरी मिनिस्टरी आफ फाईनेन्स नई दिल्ली ने पुत्र विवाह के उपलक्ष्य मे अनेकान्त को २१) रुपया पं० खेमचन्द की मार्फत सधन्यवाद प्राप्त हुए है।

२१) राय बहादुर सेठ हरखचन्द जी के अनुज श्री ताराचन्द जी के सुपुत्र नरेन्द्र कुमार जी के विवाहोपलक्ष मे निकाले हुए ११०१) के दान मे से अनेकान्त को २१ रु० सधन्यवाद प्राप्त हुए।

११) रु० श्री रामस्वरूप नेमीचन्द जी जैन द्वारा नेमिचन्द जी के सुपुत्र जैनेशकुमार के पाणिग्रहण सस्कार के समय निकाले हुए दान मे से ग्यारह रुपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागज
दिल्ली

खेद प्रकाश

इस अक के प्रकाशन मे बहुत अधिक बिलम्ब हो गया है। उसका कारण प्रेस वाले का अपनी पुत्री के विवाह में घर जाना है। और विवाहोपरान्त किसी इष्ट का वियोग हो जाने के कारण दो महीने का समय लग गया। इससे इस अंक की छपाई में अधिक विलम्ब हुआ और पाठकों को प्रतीक्षा जन्य कष्ट उठाना पड़ा, जिसका हमें अत्यधिक खेद है। आगे इस प्रकार का बिलम्ब न हो इसकी सावधानी रखने का प्रयत्न किया जा रहा है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २५ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४९८, वि० सं० २०२८ | मार्च अप्रैल १९७२

शम्भव-जिन-स्तुति

न चेनो न च रागादि चेष्टा वा यस्य पापगा ।
नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीर्भुवि यस्य च ॥१८
पूतस्वनमाचारं तन्वायातं भयाद रुचा ।
स्वया वामेश पायामा नतमेकार्च शंभव ॥१९

—आचार्य समन्तभद्र

अर्थ—जिनके पाप बन्ध कराने वाली रागादि चेष्टाओं का सर्वथा अभाव हो गया है और जिनकी अपार नय लक्ष्मी को भूमितल पर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं हो सकते, ऐसे इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के नायक ! अद्वितीय पूज्य ! हे शंभवनाथ जिनेन्द्र ! आप सबके स्वामी हैं—रक्षक हैं, अतः अपने दिव्य तेज द्वारा मेरी भी रक्षा कीजिये । मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है । मैं संसार के दुखों से डर कर शरीर के साथ आपके समीप आया हूँ ।।

भावार्थ—मैं किसी का भला या बुरा करूं इस तरह राग द्वेष से पूर्ण इच्छा और तदनुकूल-क्रियाएं यद्यपि वीतराग के नहीं होतीं तथापि वीतराग देव की भक्ति से शुभकर्मों में अनुराग (रस) अधिक पड़ता है, फलतः पापकर्मों का रस घट जाता अथवा निर्बल पड़ जाता है और अन्तराय कर्म बाधक न रहकर इष्ट की सिद्धि सहज ही हो जाती है । इसी नय दृष्टि को लेकर अलंकार की भाषा में आचार्य समन्तभद्र भगवान शंभवनाथ से प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं संसार से डरकर आपकी शरण में आया हूँ, मेरा आचार पवित्र है और मैं आपको नमस्कार कर रहा हूं । अतः आप शीघ्र मेरी रक्षा कीजिये; क्योंकि आप इस कार्य में—समर्थ हैं—आपकी शरण में पहुंचने से रक्षाकार्य स्वतः ही बिना आपकी इच्छा के बन जाता है ।।१८-१९।।

मुक्तक-काव्य :

(अध्यात्म दोहावली)

अध्यात्मी [पांडे रूपचन्द]

अपनो पद न विचार हू अहो जगत के राय ।
भव-वन छाइ कहा रहे, शिवपुर सुध विसराय ॥१
भव-वन वसत अहो तुम्हे, वीत्यो काल अनादि ।
अब किन घरहि सम्हारहु, कत मुख देखत वादि ॥२
परम अतीन्द्रिय सुखमनो, तुमहि गयो सु-भुलाइ ।
किंचित् इदिय सुख लगे, विषयनि रहे लभाइ ॥३
विषयनि सेवत हो भले तृष्णा तो न बुझाइ ।
जिमि जलु खारो पीवतो, बाढै तिस अधिकाइ ॥४
तृष्णा उपसम कारनै, विषयनि सेवत जाइ ।
मृगु वपुरो प्यासनि मरै, ज्यो जल धोखे धाइ ॥५
तुम चेतन सुख के लिये, रहे विषय-सुख मानि ।
जिम कपि शीत विथा मरै, तापै गुजा आनि ॥६
विषयनि सेवत दुख भले, सुख न तुम्हारे जानु ।
अस्थि चबत निजरुधिरतैं, ज्यो सुखमानत स्वानु ॥७
जिनही विषयनि दुखु दियो, तिनही लागत धाय ।
माता मारिउ बाल जिम उठि पुनि पग लपटाइ ॥८
विषयनि सेवत् दुखु बढै, देखहु किन जिम जोय ।
खाज खुजावत ही भली, पुनि दुखु दूनो होय ॥९
विषय जु सेवत ही भले,, अन्त करहिं अपकार ।
दुर्जन जन की प्रीत ज्यों, जब तब जाइ विकार ॥१०
सेवत ही जे मधुर विषय, करुए होहि निदान ।
विष फल मीठे खातके, अन्त जु हरहिं परान ॥११
सेय विषय तुम आपुतैं, लयो अनर्थ विसाहि ।
आपुहि आपुनु बधिरह्यो, ज्यो कृमि कोवा माहिं ॥१२
चेतन तुम किन सिख दई, विषय सुखनि बौराइ ।
रतन लयो शिशु पास तै, ज्यों कछु करदै नाइ ॥१३
लागत विषय सुहावने, करत जु तिन्ह सौ केलि ।
चाहत हो तुम कुशल ज्यो, बालक फनिसौ खेलि ॥१४
विषयनि सेवत सुख नही, कष्ट भले ही होइ ।
चाहत हो कर चीकनै, निरवगु सलिलु विलोइ ॥१५
देखि जो विषय सुहावनैं, चाहत है सुख सेइ ।
ज्यौं बालक विष फलु भखैं, वरजै परिहंस लेइ ॥१६
विषयनिसौं दुख भरतु है, विषयनि [सौं] मनिरंगु ।
दीपक देखि सुहावनो, ज्यों हठि जरत पतंगु ॥१७
चेतन तुम जो परम दुखी तातै विषय सुहाहिं ।
भूख मरत ज्यौं स्वादु कैं, मूढ करेला खाहि ॥१८
विषयन मन मति राखिकैं, रहै प्रतीति जु मानि ।
घर भीतर जिम फनि वसैं, जब तब पूरी हानि ॥१९
विषयऽभिलाषन छाड हू क्रिया करत हो वाइ ।
घर महि या वटिया ? परै, बाहर राखहु काइ ॥२०
विषयनि की मनसा किये, हाथ परै कछु नाहि ।
पंडित हुइ अबका मरै, अनखाए गरडाहि ॥२१
विषयनि की परतीति करि, सोवहु कहा निचीत ।
घरु जो निहारो मूसिए, जागहु काहि न मीत ॥२२
जैसी चेतन तुम करी, ऐसी करइ न कोइ ।
विषय-सुखनि के कारणै, सरवस बैठे खोइ ॥२३
चेतन मरकट मूठि ज्यो, बाध्यो परसौ मोहु ।
विषय गहनि छूटै नही, मुकति कहा तै होहु ॥२४
चेतन तुम जो पढे सुवा, रहे जनम-द्रुम-झूलि ।
विषय करत किन छाडहू, कहा रहे भ्रमभूलि ॥२५
सुख लगि विषय भजहु भले, सुख की बात अगाध ।
कांजी पिए न पूजइ, सुरहि दूध की साध ॥२६
निजसुख छत सेवे विषै चेतन यहै सयानु ।
घर पंचामृत छाडिकै, मागै भीखु अयानु ॥२७
सुख स्वाधीन जु परिहरयो, विषयनि पर अनुरागु ।
कमल सरोवर छांडि ज्यौं, घट जल पीवै कागु ॥२८
सेये विषय अनादितै, तृप्ति न कहूं सिराइ ।
ज्यौं जलकै सरिता पती, ई धन सिखि न अघाइ २९
चेतन सहज सुखहि बिना, यह तृष्णा न बुझाइ ।
सहज सलिल विनु कहहु क्यों, ओसनि प्यास बुझाइ ॥३०
चेतन तुम्हे कहा भयो, घरु छोड बेहाल ।
सग पराये फिरत हो, विषय सुखनि के ख्याल ॥३१
चेतन तुमहि न बूझिए, जाके रतन भंडार ।
बड़े करे तुम थापि यहु, करत नोच के काम ॥३२

जैनदर्शन की अनेकान्तवादी-दृष्टि

डा० दरबारीलाल जैन

प्रास्ताविक

भारत के प्राचीन दर्शनों में जैन दर्शन एक प्रमुख दर्शन है। इसका दार्शनिक और इतर ग्रंथो तथा शिलापट्टों में 'आर्हत मत' अथवा 'आर्हत दर्शन' नाम से निर्देश मिलता है। इस दर्शन के आद्य प्रवर्त्तक भगवान ऋषभदेव हैं, जिनका उल्लेख विस्तारपूर्वक भागवत में हुआ है और जिन्हें आर्हत मत का प्रवर्त्तक बताया गया है तथा हिन्दुओं के चौबीस अवतारों में आठवाँ अवतार माना गया है। तेईस सौ वर्ष पूर्व कलिङ्गाधिपति सम्राट् खारवेल के राजघराने में आदि जिन ऋषभदेव की विश्रुत एवं मनोज्ञ मूर्ति की पूजा होती थी। यह मूर्ति कलिङ्ग साम्राज्य की उत्कृष्ट कलाकृति और सर्वोपास्य देवता के रूप में मान्य थी। मगध सम्राट् नन्दिवर्धन कलिङ्ग साम्राज्य के पूर्वजों से युद्ध करके इस मूर्ति को ले गया था। किन्तु कुछ वर्षों बाद खारवेल अपने राजघराने की आराध्य इस मूर्ति को युद्ध करके वहाँ से ले आया था। इस ऐतिहासिक घटना से अवगत होता है कि ऋषभदेव की मान्यता तो अत्यन्त प्राचीन है। ऋषभदेव के उपरान्त २३ तीर्थंकर और हुए, जिन्होंने जैन दर्शन के सिद्धान्तों का प्रकाशन किया इनमें बाईसवें अरिष्टनेमि, जो श्रीकृष्ण के समकालीन और उनके चचेरे भाई थे, तेईसवें नागवंशी क्षत्रिय पार्श्वनाथ, जिन का जन्म इसी वाराणसी में हुआ था और अन्तिम चौबीसवें महावीर हैं जो बुद्ध के समकालीन हैं और २५०० वर्ष पूर्ववर्ती हैं। इन सभी तीर्थंकरों का तत्त्वोपदेश आर्हत मत या जैन दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है।

तत्त्व-विचारना

इस दर्शन का विचार-केन्द्र आत्मा होते हुए भी अनात्मा भी उतना ही विचारणीय है। बौद्धों के चतुरार्यसत्यों—दुःख, समुदय मार्ग और निरोध की तरह जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का इस दर्शन में प्रतिपादन है। दुःख, स्थानीय बन्ध है, समुदयस्थानीय आस्रव है, मार्गस्थानीय संवर और निर्जरा हैं। आगामी कर्म का अभाव जिन साधनों से होता है वे साधन संवर है और संचित कर्म का अभाव जिससे होता है वह निर्जरा है। निरोध स्थानीय मोक्ष है। मूल तत्त्व जीव और अजीव ये दो ही है। इनके संयोग और वियोग से होने वाले अन्य पाँच उनके परिणाम है। जीव, मोक्ष और उसके साधन संवर तथा निर्जरा उपादेय तत्त्व है। अजीव, बन्ध और आस्रव ये तीन तत्त्व हेय है। इस तरह मुक्ति को लक्ष्य मानकर मनुष्य आध्यात्मिक साधनों में प्रवृत्त होता है। मनुष्य की क्या प्रत्येक जीवात्मा अपना चरम विकास करके परमात्मा हो सकता है। इस दर्शन में आत्मा को न सर्वथा नित्य और न सर्वथा क्षणिक स्वीकार किया है। 'सत् का विनाश नहीं और असत् का उत्पाद नहीं' इस सिद्धान्त के अनुसार अन्वयी रूप (द्रव्य) की अपेक्षा उसे नित्य और व्यतिरेकी रूप (पर्याय) की अपेक्षा से अनित्य माना गया है। अर्थात् दोनों रूप हैं और यह उभय रूपता ही अनेकान्त है।

अनेकांतवादी दृष्टि

इस अनेकान्त का दर्शन अथवा प्रतिपादन ही अनेकान्तवादी दृष्टि है। 'जैन दर्शन का मन्तव्य है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अनेकांतरूप है। बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकम्', सांख्यों के 'सर्वं नित्यम्', वेदान्तियों के 'सर्वं सत्' और शून्यवादियों के 'सर्वमसत्' की तरह जैनों का सिद्धांत 'सर्वमनेकांतात्मकम्' है। वस्तु केवल क्षणिक या केवल नित्य या केवल सत या केवल असत् ही नहीं है। अपितु वह क्षणिक और नित्य, सत् और असत् दोनों में विरोधी धर्मों को लिए हुए है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसमें अनेकांत न हो। उदाहरण के लिए अग्नि को लीजिए।

वह दाहक भी है, पाचक भी है और प्रकाशक आदि भी। इस तरह अग्नि मे जहाँ दाहकत्व है वहाँ उसमे पाचकता, प्रकाशकता आदि अनेक स्वभाव (धर्म) विद्यमान है। या यो कहिए कि वह दाहकता आदि अनेक स्वभावो का समुच्चय है यह समुच्चय रत्नराशि के समान संयोगात्मक नही है वह अविष्वग्भाव तादात्म्य रूप है और अग्नि की दाहकता उसके पाचकता आदि स्वभावो से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सभी स्वभाव उसमें अपने-अपने रूप मे मित्रतापूर्वक वर्तमान है और वे सभी उसकी आत्मा (अपना स्वरूप) है। **उनका यह संबंध कथं चित् भिन्नाभिन्न अथवा सह-अस्तित्वात्मक है।**

एक उदाहरण और लीजिए। एक ही पुरुष एक साथ भिन्न-भिन्न पुरुषों की अपेक्षा पिता, पुत्र, मामा, भानजा, दादा नाती, बड़ा, छोटा आदि व्यवहृत होता है। पुत्री की अपेक्षा पिता, अपने पिता को अपेक्षा पुत्र, भानजे की मामा, अपने मामा की अपेक्षा भानजा, नाती की अपेक्षा दादा, दादा की अपेक्षा नाती, छोटे की अपेक्षा बडा और बड़े की अपेक्षा छोटा आदि कहा जाता है। इस तरह उसमें पितृत्व-अपितृत्व, पुत्रत्व-अपुत्रत्व, मातुलत्व-अमातुलत्व, भागिनेयत्व-अभागनेयत्व, पितामहत्व-अपितामहत्व, नप्तृत्व-अनप्तृत्व, ज्येष्ठत्व-अज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व-अकनिष्ठत्व आदि अनेक धर्मयुगल उस पुरुष मे उपलब्ध है या वह उनका समुदाय है[1]। ये सभी धर्मयुगल इसमे स्वरूपतः है, कल्पित नही, क्योकि उनसे तद् तद् व्यवहार रूप क्रिया होती है।

वक्ता जब वचन द्वारा वस्तु के विवक्षित धर्म को लेकर उसे कहता है तो वह वस्तु उस धर्म वाली ही नही है, उसमे उस समय अन्य धर्म भी विद्यमान हैं, जिनकी उसे उस समय विवक्षा नही है। 'अग्नि दाहक है' कहने पर अग्नि की पाचकता, प्रकाशकता आदि शक्तियों—स्वभावो—का लोप नही होता, अपितु अविवक्षित होने से वे गौण हो जाते है। देवदत्त को उसका लडका 'पिताजी' कहकर जब सम्बोधित करता है तो देवदत्त अपने पिता अपेक्षा पुत्र, भानजे की अपेक्षा मामा आदि मिट नहीं जाता। मात्र उनकी उस समय विवक्षा नही है। इतना ही है कि जिसकी विवक्षा होती है वह मुख्य और जिसकी विवक्षा नही होती वह गौण हो जाता है। जैन दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र[2] स्पष्ट कहते है कि विवक्षित मुख्य कहा जाता है और जिनकी विवक्षा नहीं है वे गौण कहे जाते है, उनका अभाव नही होता। परन्तु इससे वस्तु का अनेकान्त स्वरूप समाप्त नही होता। इसी से जैन दर्शन मे वस्तु के अभिधायक वचन को स्याद्वाद वचन या स्याद्वाद वाणी कहा गया है। स्याद्वाद वचन के द्वारा यह व्यक्त किया जाता है कि अमुक वस्तु अपेक्षा से अमुक ही है, अन्य अपेक्षाओं से वह अन्य रूप ही है। स्याद्वाद वचन वस्तु के न तो किसी धर्म का लोप होने देता है और न अव्यवस्था पैदा करता है। तत्तद् अपेक्षाओ की विवक्षाओं से वह उन सब धर्मो की यथा स्थान यथा समय और यथा विधि से व्यवस्था करता है। वह कहता है कि वस्तु अनेकान्त है—तद् और अतद रूप विरोधी युगल धर्मों को वह अपने मे समाये हुए है। कोई वचन, चाहे विधिपरक हो और चाहे निषेधपरक, वस्तु के अनेकान्तस्वरूप का लोप करके मनमानी नहीं कर सकता। यदि विधिपरक या निषेधपरक वचन क्रमशः केवल विधि या केवल निषेध को ही कहे और विरोधी के अस्तित्व से इन्कार करें तो उसके अविनाभावी अभिधेय धर्म का भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तु मे कोई भी धर्म न रहने से वह भी न रहेगी। अतः विधि वचन और प्रतिषेध वचन दोनों अनेकान्त के प्रकाशन हैं। जैसे नौकर से कहा जाय कि 'दही लाना', दूध न लाना' इन विधायक और प्रतिषेधक वाक्यों मे क्रमशः दही का विधान और दूध का निषेध मुख्यतया अभिप्रेत है तथा गौण रूप से उनमे क्रमशः दूध का निषेध और दही का विधान भी, जो अविवक्षित है, अवबोधित हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन में सभी वचन अनेकान्त के अवबोधक हैं।

एक दृष्टांत

वस्तु की इस अनेकान्तता को प्रकट करनेवाला यहां

---

१. अर्पितानर्पित सिद्धेः —त. सू. ५।

२. विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते। —स्वयम्भू. ५३।

पर एक दृष्टान्त[१] प्रस्तुत है। एक जगह छह अन्धों ने एक हाथी को पकड़कर अपने-अपने स्पर्शानुभव से उसके स्वरूप की अवधारणा की। जिसने हाथी के पैर पकड़े उसने कहा कि हाथी खम्भे जैसा है। जिसने पूछ पकड़ी वह चिल्लाकर कहने लगा कि हाथी रस्सा जैसा है। जिसने उसकी छाती पकडी यह बोला कि हाथी तो दीवाल जैसा है। चौथा बोला कि नही, हाथी तो खूटी जैसा है। इसने हाथी के दाँत पकडे थे। पांचवा कहने लगा कि हाथी मूसल की तरह है। इसने उसकी सूढ़ ही पकड़ी थी। छठा बोला, सब तुम झूठ बोलते हो, हाथी तो सूप जैसा है। इसने उसके कान पकड़े थे। इसी बीच एक आदमी आया, जिसने अपनी आखो से हाथी को देखा था। बोला — भाई! तुम सब ठीक ही कहते हो, अपनी-अपनी अपेक्षा तुम सब सही हो, पर इतर को गलत मत कहो, सबको मिलाने से ही हाथी बनता है। इतर का निराकरण करने पर तो हाथी का स्वरूप अपूर्ण रहेगा। स्याद्वाद कहता है कि अनित्यवाद, नित्यवाद, सद्वाद और असद्वाद आदि वस्तु के एक-एक अंश के प्रकाशन है और यह तथ्य है कि अनित्य-नित्य, सद्-असद् आदि युगल धर्मों का उसमे सद्भाव है।

एक फोटो ग्राफर ने एक भवन का पूर्व की ओर से, दूसरे ने पश्चिम की ओर से, तीसरे ने दक्षिण की ओर से और चौथे ने उत्तर की ओर से फोटो लिया। चारों के फोटो एक ही भवन के है और चारो फोटो एक दूसरे से भिन्न है। बताइये इनमे कौन सत्य है और कौन असत्य। स्पष्ट है कि चारो फोटो सत्य है, जो विभिन्न दिशाओं से लिए गये है। इतना ही है कि वे सत्य के एक-एक अश है, प्रत्येक पूरा सत्य नही है। सबको मिलने पर ही वे पूर्ण सत्य कहे जावेंगे और तभी पूरा भवन उनमे बोधित होगा। यह बात दूसरी है कि एक ओर से लिए फोटो से भी उस पूरे भवन का बोध कराया जा सकता है किन्तु यह भी तथ्य है कि तब शेष का निषेध नही होता। यदि निबन्ध किया जायेगा तो परस्पर संघर्ष होगा और भवन का सही बोध नही हो सकेगा। अनेकान्तवादी दृष्टि इस संघर्ष को दूर करती है और उन सबके सत्य होने का निरूपण करती है। इतना स्मरण रहे कि एक-एक अश अश है अशी नही। अतः सब मिलकर ही पूर्ण सत्य कहे जाते है।

एक दृष्टान्त और दिया जाता है। एक सम्पन्न व्यक्ति था उसके बहुत दिन बाद पहले-पहल पुत्री का जन्म हुआ। उस पर उसका स्नेह होना स्वाभाविक था। उसने उसके खेलने के लिए सोने का एक छोटा घडा बनवा दिया। लडकी उस घड़े से पानी भरती और रोज खेलती थी। कुछ वर्षो बाद उसके पुत्र का भी जन्म हो गया। खूब खुशी मनाई गई। जब लड़का कुछ बड़ा हुआ तो लड़की के उस घडे को तुडवा कर लडके के लिए मुकुट बनवाने को वह सुनार के यहा गया। लड़की घडे को तुडते देखकर खिन्न होती है और लड़का मुकुट बनते देखकर हर्षित होता है। परन्तु उस व्यक्ति को न विषाद होता है और न हर्ष। वह दोनो मे मध्यस्थ रहता है। यदि सोने मे विनाशधर्म, उत्पादधर्म और स्थितिधर्म न हो तो उन तीनो को तीन प्रकार के भाव पैदा नही हो सकते, इससे स्पष्ट है कि वस्तु उत्पन्न होती है, विनष्ट नही होती है और स्थिर भी रहती है। किसी अश से (पूर्व पर्याय से) विनष्ट होती है, किसी अश (उत्तर पर्यास) से उत्पन्न होती है और किसी अश (ध्रौव्य) से स्थिर रहती है।

घटमौलिस्वर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो यातिसहेतुकम्॥

—आ. मी. ५९

मेरे हाथ मे एक आम का फल है। आंखो से देखता हूं तो वह पीला ज्ञात होता है। रसना इन्द्रिय से उसे चखता हूँ तो मीठा लगता है। घ्राण मे सूघता हूं तो वह मादक (अच्छी गन्ध वाला) प्रतीत होता और स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श करता हूँ तो वह कोमल अवगत होता है। यदि आम मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार धर्म न हो तो वह विभिन्न इन्द्रियो से विभिन्न प्रतीत नही हो सकता।

अनेकान्त दृष्टि किसी का भी विरोध नही करती। वह सबके अस्तित्व को स्वीकार करती है। मनुष्य पापी, चोर, डाकू और साधु सब हो सकता है। किन्तु पापी पाप करने से, चोर चोरी करने से, डाकू डाका डालने से

---
१. पुरुषा. सि. २।

विद्वाद, अपेक्षावाद, अनेकांतवाद आदि इसी के पर्याय नाम हैं। निष्कर्ष यह कि स्याद्वाद वक्ता का ऐसा वचन प्रयोग है जो अभिप्रेत का कथन करता हुआ अन्य अनभिप्रेत अनन्त धर्मों का निषेध नहीं करता। किन्तु उनका मौन अस्तित्व स्वीकार करके उन्हे मात्र गौण कर देता है।

ध्यान रहे यह स्याद्वाद सात वाक्यों द्वारा वस्तु के सप्तविध धर्मों के विषय में उठने वाले सन्देहों का निराकरण करता हुआ उसे अनेकांतात्मक प्रतिपादित करता है। उक्त सात वाक्यों को सप्तभङ्गी या सप्तभङ्ग योजना के नाम से कहा गया है, जिसका विस्तृत विवेचन जैन दार्शनिक ग्रंथों मे उपलब्ध है।

जैन दर्शन की इस अनेकांतवादी दृष्टि, उसके उद्घाटक स्याद्वाद और उसकी सप्तभङ्गी प्रक्रिया पर विद्वानों को गहराई से विचार करना चाहिए। मानव कल्याण में इस दृष्टि का महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है और तात्त्विक, सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वीय अनेक समस्याएँ अनायास सुलझाई जा सकती हैं।

अन्त मे इस गोष्ठी के आयोजको का धन्यवाद करता हू जिन्होने प्रकृत विषय पर विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया[1]।

१. वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयों में बौद्ध दर्शन पालि अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् के तत्त्वावधान मे १३ मार्च, १९७२ को आयोजित शास्त्र परिचय व्याख्यान माला में पढा गया लेखक का महत्वपूर्ण निबन्ध।

सद्विचार

"आरम्भ और परिग्रह का ज्यों-ज्यों मोह दूर होता जाता है ज्यों-ज्यों उनसे अपनेपन का अभिमान भी मन्द पड़ता जाता है। त्यों-त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है, अनन्त काल से जिससे परिचय चला आ रहा है ऐसा यह अभिमान प्राय: एकदम निवृत्त नहीं हो जाता; इस कारण तन, मन, धन आदि जिनमें अपनापन आ गया है, उन सबको ज्ञानी के प्रति अर्पण किया जाता है, ज्ञानी प्राय: उन्हें कुछ ग्रहण नही करते; परन्तु उनमें से अपनेपन के दूर करने का उपदेश देते हैं और करने योग्य भी यही है कि आरम्भ. परिग्रह को बारम्बार के प्रसंग में विचार अपना होते हुए रोकना; तभी मुमुक्षुता निर्मल होती है।"

"ज्ञानी पुरुष बहुत हो गये हैं, परन्तु उनमें हमारे जैसे उपाधि-प्रसग और उदासीन—अत्यन्त उदासीन चित्त-स्थिति वाले प्राय: थोड़े ही हुए हैं। उपाधि के प्रसंग के कारण आत्मा सम्बन्धी जो विचार हैं वे अखंड रूप से नही हो सकते, अथवा गौणता से हुआ करते है। ऐसा होने के कारण बहुत काल तक प्रपंच में रहना पडता है; और उसमें तो अत्यन्त उदास परिणाम हो जाने के कारण क्षणभर के लिये भी चित्त नहीं टिक सकता। इस कारण ज्ञानी सर्वसंघ-परित्याग करके अप्रतिबद्ध रूप से विचरते हैं। सर्वसंग शब्द का लक्ष्यार्थ यह है कि संग जो अखंड रूप से आत्मध्यान अथवा बोध की मुख्यता से न रख सके।"

"जिस ज्ञान से भव का अन्त होता है उस ज्ञान का प्राप्त होना जोव को बहुत दुर्लभ है तथापि वह ज्ञान, स्वरूप से तो अत्यन्त सुगम है। ऐसा मानते हैं। उस ज्ञान के सुगमता से प्राप्त होने में जिस दशा की आवश्यकता है, वह दशा प्राप्त होनी भी बहुत कठिन है, और उसके प्राप्त होने के जो कारण हैं उनके मिले बिना जीव को अनन्त काल भटकना पड़ता है। इन दो कारणों के मिल जाने पर मोक्ष होता है।

—श्री मद्राजचन्द से

भाषा की उत्पत्ति व विकास

गणेशप्रसाद जैन

'भाषा' की उत्पत्ति का इतिहास अत्यन्त रोचक है। भाषा का प्रादुर्भाव कब, किस प्रकार और क्यो हुआ ? इन सब बातों पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढग से विचार किया है। उनकी मीमासा के आधार पर सर्वमान्य जो कुछ निष्कर्ष निकले है, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे मनुष्य के पास वाणी नही थी, वह सकेतों, अथवा भ्रू-क्षेपो से काम चला रहा था। क्रम-क्रम से वह ध्वन्यात्मक शब्दों और पशुओ की बोली के समान 'शब्द' प्रगट करने लगा। सम्भवत: उसने प्रकृति की ध्वनियों का अनुकरण किया हो। इस प्रकरण के अनुकरण के आधार पर उसके पास कुछ मूल-ध्वनियों का समूह इकट्ठा हो गया होगा। हो सकता है कि भावावेग के समय भी उसके मनोभावों की व्यञ्जक कुछ ध्वनियाँ सहसा निकल पड़ी हों, और इस प्रकार से क्रम-क्रम करके भाषा का निर्माण सम्भव हुआ हो। यद्यपि विद्वान लोग इस सम्बन्ध मे किसी एक अन्तिम निर्णय अथवा निष्कर्ष पर नही पहुँच सके है, तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा मनुष्य कृत, और क्रमश: विकास का परिणाम है।

'भाषा' विचारों का समूह है, उसका साकार रूप है। इसके दो भेद किये जा सकते हैं, एक 'व्यक्त' और दूसरा 'अव्यक्त'। विचारों को पूर्ण रूप मे प्रगट करने वाली भाषा 'व्यक्त' है, और पशु-पक्षियो की बोली 'अव्यक्त'। अव्यक्त-भाषी' सुख, दुख और भय के सिवाय और अन्य भावों को भाषा द्वारा प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं रखते।

'व्यक्त-भाषा' दो भागों मे विभाजित है, 'कथित और लिखित'। जब कोई सामने होता है तब हम अपने विचारों को 'कथित-भाषा' द्वारा प्रगट करते है। जब हमें अपने से किसी दूर वाले व्यक्ति को अपने विचारों से अवगत करना होता है तब हम 'लिखित-भाषा' उपयोग में लाते है।

पूर्वजो ने लिखित-भाषा के लिए प्रत्येक शब्द को मूल-ध्वनियो के पृथक्-पृथक् चिन्ह नियुक्त कर किये है जिन्हे—'वर्ण अथवा अक्षर' कहा जाता है। पूर्व-काल मे भाषा में केवल कान का ही प्रयोग होता था, अब वर्णों की रचना के कारण आँखों का उपयोग भी लगने लगा है।

अतीत-केवल काल मे 'कथित-भाषा' का प्रयोग होने के कारण 'आवश्यक-विचारो' को मेधावी व्यक्ति स्मरण रख परम्परा द्वारा शिष्यों को सौपा करते थे। अब अक्षरलिपि के प्रादुर्भाव से वह असुविधा समाप्त हो गई है अब विचार-श्रेणी' को 'स्थायी रूप' दिया जाने लगा है। इस आविष्कार के योग से ही हम आज, वेद, वेदाग, तथा वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि की कृतियो का उपयोग कर पा रहे है।

भाषा-स्थिर नही रहती, उसमें परिवर्तन अनिवार्य है। आज हजारों वर्ष पूर्व जो भाषा बोली जाती वा लिखी जाती थी, उसका वह प्राचीनतम रूप आज नही है। भाषा-विदों का 'मत' है कि "जब भाषा मे परिवर्तन रुक जाता है, तब उसकी प्रगति भी रुक जाती है। सभ्यता के साथ भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सभ्यता की वृद्धि के साथ भाषा भी विकसित होती रहती है। इसमें नये-नये विचार तथा उन विचारों के द्योतक नये नये शब्द मिलते रहते है। इस प्रकार से भाषा का भण्डार वृद्धि पाता रहता है। भाषा मे परिवर्तन आने का मुख्य कारण स्थान, जल, वायु और सभ्यता का प्रभाव उच्चारण आदि भेद है। अनेक शब्दों को एक प्रान्त का वासी एक ढग से तो दूसरे प्रान्त का वासी दूसरे ढंग से बोलता है। शीत-प्रधान देशों की शब्दावली ऐसी है जिसमे मुंह कम खोलना पड़ता है, किन्तु उष्ण-प्रधान देशों मे अधिक

मुंह खोलने वाले शब्दों का ही प्रयोग बहुलता से है। 'भारत देश' मे भी उत्तर प्रदेश-वासी किसी 'शब्द' को अपने ढंग से कहेगा, तो पंजाब प्रदेश का व्यक्ति यदि उसी शब्द का उच्चारण करेगा तो भिन्नता होगी। बगाल निवासी 'संस्कृत-शब्दों' का उच्चारण विकृत रूप में करते हैं। मरु-स्थल के निवासी कण्ठ से बोले जाने वाले शब्दो का अधिक व्यवहार करते है।"

कुछ विद्वानों का मत है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में (काल में) सब मनुष्य एक ही स्थान मध्य एशिया मे ही रहते थे, उस समय उनकी भाषा एक थी। कुछ विद्वानों की धारणा हैं कि—'आर्य' लोग पहिले-पहल 'तिब्बत' से 'भारतवर्ष' में उतरे और वहीं से कालुक होकर पश्चिम की ओर फैलने लगे। जो हो, जीविका की खोज मे, या अन्य किसी कारण से भिन्न-भिन्न देशों मे लोग जा बसे। गंगा के किनारे से लेकर 'आइसलैंड' तक, स्वीडन से क्रोट तक. आर्यों की शाखाए फैल गई। 'भारत' का अधिकांश भाग "अफगानिस्तान, ईरान और आर्मिनिया" (इतना एशिया) और तीन-चौथाई भाग का "स्वीडन और नार्वे का" अधिकांश हिस्सा तथा वास्क, हंगरी और तुर्किस्तान के अतिरिक्त यूरोप के अधिकाश भागो में आर्यों की विभिन्न टोलियाँ जा वसी।

जिन विद्वानो का मत है कि आर्य लोग 'मध्य-एशिया' से भारत आये उनके कथनानुसार 'आर्यावर्त' मे पहले-पहल आर्य लोग 'सिन्धु नदी' के किनारे पर बसे। धीरे-धीरे ये सारे देश तथा 'लका, ब्रह्मा, कम्बोडिया और मलाया' तक फैल गये। आर्यो की विशिष्ट बस्ती होंने के कारण 'विंध्याचल और हिमालय' के बीच के प्रदेश का नाम 'आर्यावर्त' पड गया। भिन्न-भिन्न प्रदेशों की जलवायु की भिन्नता के प्रभाव के कारण आर्यो की 'आदिम भाषा' के उच्चारण मे अन्तर पडने लगा।

नवीन देश में आकर नवीन वस्तुओं के लिए, नवीन स्थिति अनुसार नवीन आरम्भ किये कार्यों के लिए उन्हें नवीन शब्दों की कल्पना करनी पड़ी जिससे उनकी भाषा नवीन शब्दों से अलंकृत हो नवीन रूप ग्रहण करती रही। नई और पुरानी भाषा के योग से यह भी हुआ कि उनकी आदिम-भाषा के मूल-शब्द जो थे, वह भी नवीन देश में कुछ विकृति के साथ बोले जाने लगे।

हमारे पूर्वज जब बढ़कर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में आकर बसे, तो उनमे से जो लोग 'पश्चिम' गये थे उनमें ग्रीक, लेटिन, अंग्रेजी आदि भाषाएं बोलने वाली जातियों की उत्पत्ति हुई और जो लोग 'पूर्व' की ओर गये उनके दो दल हो गये, एक भाग 'फारस' को गया दूसरा काबुल होता हुआ भारतवर्ष पहुँचा। पहले दल ने ईरान में मोडी-भाषा के द्वारा फारसी-भाषा की सृष्टि की। दूसरे दल ने 'संस्कृत' का प्रचार किया। 'संस्कृत' से पूर्व बोली जाने वाली भाषा का नाम 'प्राकृत' था, वेदों में मंत्र-'प्राकृत' में भी पाये जाते हैं।

भाषा का वर्गीकरण :—

विद्वानों का अनुमान है कि संसार में लगभग दो हजार प्रकार की भाषाए (उप-भाषाओं और बोलियों को छोडकर) हैं। इन सबका वर्गीकरण चार खण्डों में हुआ है—१. अफ्रीका-खण्ड, २. युरेशिया-खण्ड, ३. प्रशांत महासागरीय खण्ड और ४. अमेरिका-खण्ड। 'युरेशिया खण्ड' में सेमेटिक, काकेशस, यूराल, अल्टाइक, एकाक्षर, द्राविड़, आग्नेय, अनिश्चित और भारोपीय (भारत-यूरोपीय (नाम की आठ शाखाओं का अन्तर्भाव होता है। भारतीय-कुल की भाषाएं उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा प्राय: सम्पूर्ण यूरोप मे बोली जाती हैं। ये भाषाएं "कट्ठेम् और शतम्" नाम के दो समूहों में विभक्त हैं।

शतम् (एक सौ) वर्ग में इलीरियन, वाल्टिक, स्लैबोनिक, आर्मेनियन और आर्य-भाषाओं का समावेश होता है। आर्य अथवा ईरानी उप-कुल की तीन मुख्य भाषाएं हैं—१. ईरानी, २. दरद और भारतीय-आर्य-भाषा। 'पुरानी-ईरानी' के सर्वप्राचीन नमूने पारसियों के धर्म-ग्रंथ अवेस्ता में पाये जाते हैं। यह भाषा ऋग्वेद से मिलती-जुलती है। 'दरद' भाषा का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच का क्षेत्र है। संस्कृत-साहित्य में काश्मीर के पास के प्रदेश के लिए 'दरद' का प्रयोग हुआ है।

भारतीय आर्य भाषाओं को तीन युगों में विभक्त किया है—१: प्रथम युग, २. द्वितीय युग और ३. तृतीय

युग—प्रथम युग, प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा का है जो लगभग १५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० पूर्व तक चलता है। इस युग में वेदो की भाषा तथा परिष्कृत साहित्यिक-संस्कृत का अन्तर्भाव होता है।

दूसरा युग—भारतीय आर्य भाषा का है जो ५०० ई० सन् पूर्व से ११०० ई० सन् तक है। यह युग प्राकृत भाषाओं का है जिसमें पाली तथा प्राकृत (जिसमें वर्तमान युग की सभी जन-साधारण बोलियाँ आ जाती है) जो कि ध्वनि-तत्त्व के परिवर्तन और व्याकरण सम्बन्धी भिन्नताओं से प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं से ही एक नई भाषा का जन्म दे रही थी, का अन्तर्भाव आता है।

तीसरा युग—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का युग है जो ११०० ई० सन् से लेकर आज तक चलता रहा है। इसमें अपभ्रंश और उसके दो उपभदों का समावेश होता है।

मध्य-युगीन-भारतीय आर्य-भाषाएँ :—

मध्य-युगीन भारतीय आर्य-भाषाओं को भी तीन भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम में—पाली-शिलालेखों की प्राकृत, प्राचीनतम जैन आगमों की अर्धमागधी तथा अश्वघोष के नाटकों की प्राचीन प्राकृत का अन्तर्भाव होता है। दूसरे भाग मे—जैनों का धार्मिक और लौकिक साहित्य, सास्कृतिक (क्लासिकल) संस्कृत नाटकों की प्राकृत, हाल की सतसई, गुणाढ्य की वृहत्कथा तथा प्राकृत के काव्य और व्याकरणों की मध्यकालीन प्राकृत आती है। तीसरे भाग में—अपभ्रंश का समावेश है जो ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। 'अपभ्रंश' विकास की चरमसीमा पर तभी पहुँच पाई, जबकि मध्य-युगीन प्राकृत को वैयाकरणों ने जटिल-नियमों मे बाँधकर उसका विकास रोक दिया। आर्यों द्वारा बोली जाने वाली सामान्य-भाषा उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई और साहित्यिक क्षेत्र में (भाषा में) क्रमशः परिमार्जित होती रही। वैदिक-संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई, पद-पाठ द्वारा वैदिक-सहिताओं को पद के रूप में उपस्थित किया गया तथा संधि और समासों के आधार पर वाक्य के शब्दों को पृथक्-पृथक् किया गया। प्रति शाख्य द्वारा सहिताओं के परम्परागत उच्चारण को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया, तत्पश्चात् वैदिक-भाषा से अपरिचित हो जाने पर निघटु मे वैदिक-शब्दों का संग्रह किया गया है। 'यास्क' (ई० सन् ८वीं शती पूर्व) ने 'निघटु' की व्याख्या करते हुए निघटु के प्रत्येक शब्द को लेकर उसकी व्युत्पत्ति और अर्थ पर विचार किया है। इस समय पाणिनि ने (५०० ई० सन् पूर्व) वैदिक-कालीन भाषाओ को व्याकरण के नियमों मे बाँध कर सुसस्कृत बनाया। प्राकृत का यह परिष्कृत सुसज्जित और सुगठित रूप संस्कृत' कहा जाने लगा। 'पतंजलि' (१५० ई० सन् पूर्व) ने वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का महत्त्व समझा, उसका अध्ययन आवश्यक बतलाया है। इससे यह निर्णय होता है कि व्याकरण का महत्त्व बढ़ रहा था। फलतः एक ओर संस्कृत शिष्ट-जन समुदाय की भाषा हो रही थी तो दूसरी ओर अपढ़ लोगों की सामान्य जन-समुदाय द्वारा बोली जाने वाली प्राकृत भाषा प्रसार पा रही थी। दोनों क्षेत्र पृथक्-पृथक् हो गये। स्वयं पाणिनि ने वाङ्मय की भाषा को 'छन्दस' और साधारण-जनों की भाषा को भाषा कहकर उल्लेखित किया है। इससे यह सिद्ध किया है कि उस युग में साहित्यिक-भाषा अथवा शिष्टजन की भाषा और जन-साधारण की भाषा पृथक्-पृथक् हो गई थी।

"प्राकृतः"—

कुछ विद्वानों का मत था कि 'प्राकृत-भाषा' की उन्नति संस्कृत से हुई है, लेकिन यह धारणा असत्य सिद्ध हुई। आर्य-भाषा का प्राचीन रूप हमें 'ऋगवेद' की ऋचाओं मे मिलता है। आर्यों की बोल-चाल का ठेठ रूप जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है, लेकिन वैदिक आर्यों की यही सामान्य बोलचाल जो 'ऋग्वेद' की संहिताओं की साहित्यिक-भाषा से—भिन्न है, प्राकृत का मूल रूप है।

'प्राकृत' का अर्थ है स्वाभाविक। प्रत्येक प्रचलित-भाषा मे नवीन-भावों के द्योतक नवीन शब्द तथा उसी भाषा के अपभ्रंश शब्दो के सम्मिश्रण से लेकर नई भाषा अवतरित होती है, और वह अपनी उन्नति के लिये नवीन क्षेत्र प्रस्तुत कर लेती है।

क्रमश: 'प्राकृत' का परिष्कार हुआ और उसने भी साहित्यिक-वेश-भूषा धारण की। प्राकृत भाषा में साहित्यिकों की अभिरुचि होने से अभिवृद्धि होने के कारण संस्कृत की भांति प्राकृत को भी सुगठित बनाने के लिये वैयाकरणों ने व्याकरण के नियम बनाये। प्राकृतिक-बोलियां अपने अनेक भिन्न-भिन्न रूपों मे लोक मे प्रचलित थीं, जिस कारण से प्राकृत वैयाकरणों द्वारा उसमें संस्कृत की भांति एकरूपता नही आ सकी। अनिवार्य कारण तो यह था कि प्राकृत-भाषाओं के प्रकार ही भिन्न थे, एक भाषा के कारण दूसरी भाषा (प्राकृत) के लक्षण से पृथक् थे—प्राकृत-भाषा की प्रवृत्ति ही बहुरगी है। समय के साथ बोलियो मे भी परिवर्तन आता रहा। रचनायें भी भिन्न कालों (युगों) की थी। ये सभी ऐसी अव्यवस्थाएं थी, कि वे उन्हें सुचारु रूप देने मे असमर्थ रहीं।

इस प्रयास का इतना तो प्रतिफल अवश्य हुआ कि प्राकृत कुछ व्यवस्थित भाषा बन गयी, किन्तु इससे एक बड़ी हानि भी हुई, जन साधारण से इसका नाता टूट गया। लोक प्रचलित—जिन बोलियों के आधार पर 'प्राकृत' की रचना हुई थी, वे बोलियां भी नियमों मे नहीं बांधी जा सकी। इनका विकास निरन्तर प्रगति पर रहा।

'प्राकृत' का सब से प्राचीन व्याकरण 'वररुचि' का है। 'कालिदास' ने शकुन्तला-नाटक मे स्त्री और सेवक के मुह से प्रायः प्राकृत-भाषा का ही प्रयोग कराया है। इससे सहज अनुमान होता है कि 'कालीदास' के समय मे स्त्रियो और जन-साधारण की भाषा प्राकृत थी।

'प्राकृत' के विकास होते-होते उसमे तीन शाखायें फूट निकलीं :—१-मागधी, २-शौरसेनी और ३-महाराष्ट्री। मगध प्रदेश और विहार की भाषा 'मागधी', शूरसेन-प्रदेश (मथुरा के आस पास) की भाषा 'शौरसेनी' और महाराष्ट्र-प्रान्त की भाषा महाराष्ट्री कहलायी। मागधी और शौरसेनी मिश्रित भाषा को अर्ध-मागधी कहा गया। इसी अर्ध-मागधी मे जैन-धर्म के पुष्कल-ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

दिगम्बर-जैनों के प्राचीन-शास्त्रों की भाषा (प्राय:) 'शौरसेनी-प्राकृत' है। श्वेताम्बरों के जैन आगमों की भाषा 'अर्ध-मागधी-प्राकृत' है। संस्कृत-नाटकों मे प्रयुक्त विविध रूप वाली प्राकृत मुक्तक-वादियो की महाराष्ट्री-प्राकृत है। शिलालेखों की प्राकृत अनेक रूपों में बिखरी हुई पड़ी है। इन सभी को सामान्य तथा प्राकृत के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है।

'वररुचि' ने प्राकृत (महाराष्ट्री), पैशाची, मागधी और शौरसेनी ये चार प्राकृत-भाषा के भेद माने हैं, किन्तु वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' के आठ परिच्छेदों में केवल प्राकृत-भाषा का ही विवेचन है। इससे यह सिद्ध होता है कि व्याकरण सामान्य रूप से प्राकृत भाषा को ही मुख्य भाषा मानती है।

'शूद्रक' के 'मृच्छकटक' के अनुसार सूत्रधार द्वारा बोली जाने वाली भाषा को ही प्राकृत कहा गया है। यद्यपि बाद के वैयाकरणों के शब्दों में यही भाषा शौरसेनी मानी गयी है। 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' (१०६९ ई०) के टीका-कार 'नमि' साधु ने लिखा है कि व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन समस्त जगत के प्राणियो के स्वाभाविक-वचन व्यवहार को प्राकृत कहते है। प्राकृत भाषा मे उपदेश देने के लिये जैन-साधु छोटे छोटे मुक्तक बड़े ही चुभते हुये कहते थे।

आनन्दवर्धन, धनंजय, भोजराज, रुय्यक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि काव्य-शास्त्र के दिग्गज विद्वानो ने प्रतिपादित रस और अलंकार को स्पष्ट करने के लिये प्राकृत-काव्य-ग्रन्थों से चुनचुन कर अनेक सरस उदाहरण प्रस्तुत किये है। यह प्राकृत-साहित्य की उत्कृष्टता का प्रमाण है।

प्राकृत-साहित्य को तीर्थंकर 'महावीर' के युग से लेकर १८वी शताब्दि तक इन २५०० वर्षों के दीर्घ-काल मे अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ा है। आज इन भाषाओं के अनेक रूप पैशाची, मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि जो विद्यमान है वे ही उसकी महत्ता के बोधक हैं।

ईस्वी सन् के पूर्व ५वी शताब्दि से लेकर ईस्वी सन् की पांचवी शताब्दि तक इसमे जैन-आगम-साहित्य का संकलन और संशोधन होता रहा। ईसा की दूसरी शताब्दि से १३वीं शताब्दि तक इस साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, और टीकाये लिख कर ग्रन्थकारों ने इसे

समृद्ध बनाया। अनेक लौकिक व धार्मिक कथाओं आदि का इस व्याख्या-साहित्य में समावेश हुआ। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दि से १६वी तक कथा-साहित्य सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना हुई।

ईस्वी सन की छठी शताब्दी से १८वी तक प्राकृत मे व्याकरण, छन्द और कोषों का निर्माण होता है। अनुमान है कि वररुचि के पूर्व ही प्राकृत-व्याकरण की सर्जना (रचना) हुई थी। ११वीं शताब्दी से १३वीं तक का काल तो विशेष रूप में इस साहित्य का उन्नति-काल रहा है। इस समय गुजरात मे 'चालुक्य' मालवा मे 'परमार' और राजस्थान में 'गुहिलोत' तथा चउहाण राजाओं का राज्य था। फलस्वरूप गुजरात में अणहिल्लपुर, पाटण, संभारा और भड़ोंच राजस्थान मे चित्तौड़, मालवा, उज्जैन, ग्वालियर आदि नगर मे जैन-श्रमणो की प्रवृत्तियों के केन्द्र थे।

इस भाषा मे धार्मिक-आख्यान चरित, स्तुति, लोक-कथा, नाटक, काव्य, सट्टक, प्रहसन, व्याकरण, छन्द, कोष, अर्थ-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, राज-नीति-शास्त्र, काम-शास्त्र, निमित्त-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, अंग-विद्या, रत्न-विद्या, (परीक्षा) आदि शास्त्रीय-साहित्य द्वारा इस भाषा ने मां भारती के भण्डार की जो वृद्धि की वह भारतीय-भाषा को इसकी (प्राकृत) की अमर-देन है।

'प्राकृत' यदि संस्कृत शैली से प्रभावित है तो उसी प्रकार सस्कृत को भी प्राकृत प्रभावित करती रही है। 'प्राकृत' जन-साधारण की भाषा थी, बालक, वृद्ध, स्त्रियां तथा अपढ़ सभी लोग इसे समझते और बोलते थे। 'संस्कृत' तो केवल सुशिक्षितो की ही भाषा थी। कालातर में प्राकृत-भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया और अपभ्रंश व्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी, मैथिली, पंजाबी आदि बोलियों के उद्गम का कारण हुई।

अपभ्रंश :—

अपभ्रंश का अर्थ है भ्रष्ट, च्युत अथवा बिगड़ा हुआ रूप। जनता की भाषा व्याकरण से व्यवस्थित न होने के कारण भ्रष्ट मानी गई और उसे अपभ्रंश की सज्ञा दी गई। समय की गति के साथ-साथ अपभ्रंश में भी साहित्यिक रचनायें होने लगी। अपभ्रंश-भाषा का काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता है।

प्रत्येक भाषा अपनी ही भाषा के अशुद्ध-शब्द सम्मिलित हो जाने के कारण नवीन-भाषा को जन्म देती है। प्राकृत भी जब अपने पूर्ण रूप मे प्रसरित थी, उस समय इसमे जो परिवर्तित शब्द घुसे उससे वह अपभ्रंश बनी।

'प्राकृत' भाषा के अन्तिम वैयाकरणी श्री 'हेमचंद्रसूरि' ने १२वी शताब्दी मे अपनी रचना 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' के आठवे अध्याय मे अपभ्रंश-भाषा का उल्लेख किया है और उसका व्याकरण भी लिखा है। सूरि ने उपलब्ध ग्रथों मे से चुन-चुनकर उदाहरणार्थ कितने ही पद्य लिखे है। इनसे उस समय की प्रचलित अपभ्रंश-भाषा का पर्याप्त ज्ञान मिलता है।

'सूरि' जी की मृत्यु के कुछ ही बर्षो पश्चात् भारत मे राज्य विप्लव हुआ और साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये। छोटे-बड़े सैकड़ों राज्य स्थापित हुए। इस राज्य-क्रान्ति का प्रभाव भाषा पर भी पड़ा। प्रत्येक का सम्बन्ध विच्छेद हो जाने से उनमे व्यापक अपभ्रंश भाषा भी प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न रूपो में विकसित होने लगी।

भिन्न-भिन्न प्रान्तो की प्राकृत का अपभ्रंश रूप भी भिन्न-भिन्न हुआ, जैसे शौरसेनी का अपभ्रंश नागर-अपभ्रंश कहलाया (व्रज-भाषा शौरसेनी और प्राकृत का रूपान्तर मात्र है।)

उपरोक्त परिस्थिति के कारण 'अपभ्रंश-भाषा' व्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी पजाबी आदि बोलियो के उद्भव का कारण बनी।

'अपभ्रंश' का प्रचलन ११वीं शती तक प्रचुर रूप में था, पश्चात् दूसरी भिन्न भिन्न शाखाएं फटीं और १५वीं शती तक पहुँचते-पहुँचते वे भिन्न-भिन्न वातावरण मे फलने-फूलने लगी।

'अपभ्रंश' प्राकृत और प्रान्तीय भाषाओं के मध्य की भाषा है। 'प्राकृत' के पश्चात् अपभ्रंश और अपभ्रंश के पश्चात् प्रान्तीय भाषाओं की सृष्टि हुई है। अपभ्रंश-भाषा से पुरानी हिन्दी व्रजभाषा और गुजराती का बहुत अधिक सम्बन्ध रहा है। भाषा की दृष्टि से आदि काल में चार भाषाओं की उत्पत्ति (सृष्टि) मिलती है—

१. अपभ्रंश, २. डिंगल, ३. मैथिली, ४. खड़ी बोली। डिंगल को राजस्थानी भी कहते हैं।

प्रारम्भ मे पश्चिमी हिन्दी का जो रूप था उस रूप से राजस्थानी और गुजराती की उत्पत्ति हुई है। डा० 'टोसीटोरी' का मत है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक पश्चिमी राजपुताना और गुजरात मे एक ही भाषा बोली जाती थी, इसे वे प्राचीन राजस्थानी भाषा कहते हैं। यही भाषा गुजराती और मारवाड़ी का मूल रूप है। आधुनिक आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश भाषा से ही हुई है। जैसे :—

शौरसेनी अपभ्रंश से—हिन्दी, गुजराती राजस्थानी, पंजाबी और पहाड़ी भाषाएँ।

मागधी अपभ्रंश भाषा से—विहारी बगला, आसामी, उड़िया।

अर्धमागधी अपभ्रंश भाषा से—पूर्वी हिन्दी।

महाराष्ट्री " " "—महाराष्ट्री (मराठी) "आदि

आधुनिक आर्य-भाषाओं का तेरहवीं शताब्दी के लगभग से साहित्य मे प्रयोग होने लगा था। प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो में इनका उल्लेख अपभ्रंश और अपभ्रंश के रूप मे किया गया है। अधिकांश सस्कृत विद्वानो ने 'अपभ्रंश' शब्द का ही प्रयोग किया है, अपभ्रष्ट का उल्लेख अति न्यून रूप में है। 'विष्णु धर्मोत्तर-पुराण' जैसे एक-दो ग्रथो में ही 'अपभ्रष्ट' संज्ञा का व्यवहार किया गया है किन्तु अपभ्रंश-ग्रन्थों में 'अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ट, अवहट्' आदि नाम भी मिलते है। परवर्ती कवियों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग अधिकतर किया गया है।

'अवहट्ट' का प्रथम प्रयोग ज्योतिशिखर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' (१३२५ ई०) में जहाँ राज-सभा में भाट द्वारा षट्-भाषाओं की गणना की जाती है। 'विद्यापति' ने कीर्तिलता की अपनी भाषा की प्रशंसा करते हुए उसे 'अवहट्ट' कहकर पुकारा है। प्राकृत 'पैंगलम्' के टीकाकार श्री वंशीधर की सम्मति में 'प्राकृत-पैंगलम्' की भाषा अवहट्ट ही है। (पृ० ३)। 'कुवलयमाला' के रचनाकार उद्योतनसूरि ने 'अवहंस' शब्द का प्रयोग किया है। 'सन्देश-रासक' के रचयिता 'अब्दुल रहमान' ने भी अपने काव्य की भाषा को 'अवहट्ट' कहा है। 'अवहंस' शब्द का प्रयोग अवब्भस के रूप में भी हुआ है। 'पुष्पदन्त' 'संस्कृत और प्राकृत' के साथ 'अवहंस' की गणना करते है। स्वयंभूदेव अपनी रामायण में इसे 'अवहत्थ' कह कर पुकारते हैं।

'भरतमुनि' ने तत्कालीन सात भाषाओं का निर्देश किया है। "मागध्यवन्तिजा पाच्या, शौरसेन्यर्धमागधी, वाह्लीका, दक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिताः।"

(नाट्यशास्त्र १७-४६)

अनेक भाषायें निम्नलिखित है: शबराभीर, चांडाल सचर द्रमिलान्ध्रजाः ॥ "शवरों, अभीरों चाण्डालों, चरों, द्राविड़ों ओड्रों और हीन जाति के वनचरो की बोलियाँ (प्रथक्) है।" और "शवर तथा धनौसी जगली-भाषा का प्रयोग अंगारकारों कोयला बनाने वालों, शिकारियों और काष्ठ-यन्त्रों द्वारा जीविका उपार्जित करने वाले व्यक्तियों द्वारा तथा आभीरोक्ति और शावरी का उपयोग गो, अश्व, ऊँट आदि-पालक और घोष निवासी ग्वालो के गाँव मे रहने वाले जनों द्वारा किया जाता है।" भरतमुनि के उपरोक्त लेख मे अपभ्रंश का स्पष्ट नाम नही आया है। ऐसा अनुमान होता है कि भरतमुनि के समय तक किसी भाषा को 'अपभ्रंश' की सज्ञा नहीं दी गई थी। इससे अनुमान होता है कि अपभ्रंश का विकास उस कोटि तक नही हो पाया था कि जिसे भाषा की संज्ञा दी जा सके, किन्तु भविष्य में अभीरोक्ति को ही अपभ्रंश की संज्ञा प्राप्त हो गई।

भरतमुनि ने नाट्यकारों के लिए स्पष्ट लिखा है कि "विभिन्न प्रदेश-निवासी पात्रों द्वारा किस प्रकार की बोली प्रयुक्त की जाय—गगा और सागर के मध्य बोली (भाषा 'ए'कार बहुल है। हिमालय और सिन्धु तथा सौवीर के तटीय प्रदेश की भाषा 'उ' कार बहुला है। विन्ध्याचल और सागर (मोरल्लउ नच्चन्तउ) इत्यादि के मध्य की भाषा 'न' कार बहुला है। चर्मवती के उस पार तथा अर्बुद के तटीय प्रदेश की भाषा 'ट' कार बहुल है। सम्भवतः भरत की 'उ' कार बहुला ही 'अभीरोक्ति' अपभ्रंश रही होगी। भरतमुनि ने उदाहरण स्वरूप 'उ' कार बहुला ही को अभीरोक्ति के—णाहे, णिच्च,

ओल्हुउ आदि जो शब्द दिये हैं वे ठेठ अपभ्रंश के है। इसमें अपभ्रंश के बीजों की झलक अवश्य मिलती है।

८वी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा का समय माना जाता है। १३वीं से १४वी तक अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी का काल है।

८वीं शती में 'स्वयम्भू' अपभ्रंश-भाषा के महाकवि हुए, उन्होंने 'पउमचरिउ' (राम-कथा), रिट्ठणेमिचरिउ (श्रीकृष्ण-कथा), दो महाकाव्य तथा 'पचमीचरिउ' (पंचमीव्रत-कथा) नामक प्रबन्ध-काव्य लिखा।

१०वीं में होने वाले कवि देवसेन, पुष्पदन्त, पद्म-कीर्ति, रामसिंह, धनपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं :—

'देवसेन' ने—'दर्शनसार', 'तत्त्वसार' और 'सावय-धम्म-दोहा' लिखा।

'पुष्पदन्त' ने—'महापुराण', 'जसहर चरिउ' एवं 'णायकुमार चरिउ' की रचना की।

'पद्मकीर्ति' ने—'पासणाह चरिउ' की रचना की।

'मुनि रामसिंह' ने—'दोहा-पाहुड' रचा।

'धनपाल' ने—'भविसयत्त-कहा' काव्य रूप मे अर्पित किया।

'पुष्पदन्त' इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि रहे। इनकी रचनाओं ने अपभ्रंश-भाषा साहित्य को सन्मान दिया है। भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से आपका साहित्य में उत्कृष्ट स्थान है। सूरदास जी के कृष्ण बाल लीला में आपकी रचना का अनुरूप मिलता है—उदाहरणस्वरूप—

"रंगतेण रमंत रमंते मचंउ, धरिउ भमंतु अणंते,
मंदरिउ तोडिउ आवट्टिउं, अद्ध विरोलिउ वहिउ पलोहिउ।
कवि गोवि गोविंदहु लग्गी, एणमहारी मंथणि मग्गी,
एयहि मोल्लु देउ आलिंगणु, णं तो मा मेल्लहु में पंगणु॥
हिन्दी—चोरी करत कान्ह धर आये।
निसिबासर मोहि बहुत सतायो, अब हरि हाथहि आये॥
माखन-दधि मेरो सब खायो, बहुत अचगरी कीन्हीं,
अब तो देख परी हो ललना, तुम्हें भलें मैं चीन्हीं।
दोउ भुज पकरि कह्यो कहँ जैहो, माखन लेउं मंगाई,
तेही सों मैं नेकु न खायो, सखा गये सब खाइ॥
मुख तन चितै विहँसि हरि दीनों, रिस सब गई बुझाई,
लयो स्याम उर लाइ ग्वालिनी, 'सूरदास' बलि जाई॥

११वीं-१२वीं शती में—"कनकामर, जिनदत्तसूरि, वीर, श्रीचन्द्र, यश:कीर्ति और नयनन्दि" के नाम उल्लेखनीय हैं। "कनकामर ने 'करकुण्डुचरिउ'। जिनदत्तसूरि ने 'चर्चरी', उपदेश-रसायन रास और कालस्वरूप कुलक"। वीर ने 'जम्बूस्वामी चरिउ'। नयनन्दि ने 'सुदंसणचरिउ। श्रीचंद्र ने 'रत्नकरण्ड-शास्त्र एवं कथाकोश'। श्रीधर ने पासणाह चरिउ, भविष्यदत्त चरिउ एवं सुकुमाल चरिउ' आदि। महाकवि 'धवल' भी इसी शताब्दी की शोभा हैं।

१३वीं-१४वीं में—महाकवि अमरकीर्ति ने 'छक्कम्मो-वएस', पं० लाखू—'जनदत्त चरिउ' हरिभद्र ने 'णेमिणाह चरिउ', धाहिल ने 'पउमसिरिचरिउ', नरसेन ने 'वड्ढमाण-कहा' और 'सिरिपाल चरिउ' तथा सिंह ने 'पज्जुण्ण-कहा' ग्रन्थों की रचना की है। सभी उत्कृष्ट श्रेणी की रच-नायें हैं।

इसी काल में जैन विद्वानों ने हिन्दी-भाषा में रचना कार्य प्रारम्भ कर दिया था—श्रीधर्मसूरि का जम्बूस्वामी रास, विनयचन्द्रसूरि की नेमिनाथ चउपई, अम्बदेवकृत संघपति का समरारास और 'घेल्ह' कृत चउवीसी गीत उल्लेखनीय हैं। प्रथम तीन रचनायें राजस्थानी भाषा में है। चउवीसी गीत की रचना सं० १३७१ में की है।

ब्राह्मण वर्ग ने संस्कृत देव-भाषा की मान्यता दे उस पर अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। अन्य भाषा में रचना करना हीनता मानते थे। 'अपभ्रंश' उस समय की जन-भाषा थी। जन-भाषा में साहित्य रचना करना पांडित्य में न्यूनता समझी जाती थी। उन लोगों ने संस्कृत-भाषा के नाटकों में अपभ्रंश-भाषा का प्रयोग नीच जाति वाले पुरुषों अथवा नारियों से करवाया है। ब्राह्मण-समाज अपने को सिर मानता था, ब्रजभाषा का उच्चा-रण उसके गौरव के प्रतिकूल था। ब्राह्मण-समाज के सिवाय अन्य किसी साहित्य को अपभ्रंश से द्वेष नहीं था। मुस्लिम कवि—'अब्दुलरहमान' ने 'सन्देश-रासक' नामक प्रबन्ध-काव्य की जो शृंगार रस का प्रथम श्रेणी का काव्य माना गया है, रचना अपभ्रंश में की है। यह भी कटु सत्य है कि जैनी अपनी रूढ़िवादी कट्टरता के वशीभूत हो अपने साहित्य को प्रकाश में नहीं लाते थे। अधिकाधिक विद्वानों ने उपलब्ध सामग्री को अपनी रचनाओं में समा-

विष्ट किया। एक बार जिस तथ्य का प्रकार किसी विशिष्ट अधिकारी द्वारा हो जाता है, उसके परिवर्तन के उससे भी विशिष्ट दृढ-व्यक्तित्व की आवश्यकता है। यह रूढ़िवादिता ने ही अपभ्रंश का अहित किया है।

संस्कृत—

'संस्कृत-भाषा' को देववाणी अथवा सुरभारती भी कहते है। 'संस्कृत' शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है—सस्कार की गई भाषा। 'सस्कृत' प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की विविध बोलियों द्वारा समृद्ध हुई है। ये बोलियां ऋग्वेद-काल से लेकर पाणिनि और पतंजलि के काल तक निरन्तर चलती रही। 'प्रातिशाख्य-काल' से ही इसका परिष्कार प्रारम्भ हो गया था। अन्त में यह 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' के सूत्रो मे निबद्ध होकर सीमित हो गई।

प्राचीन आर्य-भाषा का काल १५०० ई० सन् से पूर्व तक माना जाता है। उस समय की भाषा का थोड़ा बहुत रूप हमे 'ऋग्वेद' मे मिलता है, किन्तु 'ऋग्वेद' की भाषा साहित्यिक' है। आर्य लोग ठेठ (बोली) भी बोलते रहे, जिसके उदाहरण ऋग्वेद में ही मिलते है। भाषा कभी स्थिर नहीं रहती, उसमें परिवर्तन अवश्यमेव होता ही रहता है। भाषा-विज्ञान के इस सिद्धान्तानुसार आर्यो की साहित्यिक-भाषा में परिवर्तन होता रहा। इस परिवर्तन का उदाहरण ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों मे प्राप्त होता है। ३०० ई० सन् पूर्व 'पाणिनि' नामक प्रसिद्ध वैयाकरण ने 'सूत्र-काल' के साहित्यिक रूप को व्याकरण के नियमों में बाँध दिया, जिससे उसके रूप में परिवर्तन होना बन्द हो गया।

आर्यों की इस व्याकरण से बंधे नियमों की भाषा 'संस्कृत' (भाषा) के नाम से प्रसिद्ध हुई, जो अब तक प्रचलित है। नियमों मे बाँधने का अर्थ है संस्कार करना और संस्कार की हुई भाषा 'सस्कृत' के नाम से प्रसिद्ध हुई। किन्तु आर्यों की बोलचाल वाली भाषा में बराबर परिवर्तन होता रहा और इस प्रकार आर्य-भाषाओं का दूसरा काल प्रारम्भ हुआ जो ५०० ई० पूर्व से १०० ई० पूर्व तक माना गया हैं।

भारत धर्म-प्राण देश है। भारतीय-धर्म की आधार पीठ है। 'आस्तिकता'। इस 'आस्तिकता' के प्राचुर्य ने सस्कृत मे एक विशाल साहित्य को जन्म दिया है जो स्तोत्र-साहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृत-भाषा के श्लाघनीय स्तोत्र कोमल-भावनाओं की अभिव्यंजना मे अपनी समता नहीं रखते। सस्कृत-साहित्य गीत-काव्यों और प्रगति-मुक्तकों का जनक भी है। इस भाषा की मधुरता भी सस्कृत काव्यो की 'गेयरूपता' का कारण है। विश्व मे 'कथा' के उद्गम का श्रेय भी इसके साहित्य को दिया जाता है। यद्यपि अब यह तथ्य स्वीकार किया जाने लगा है कि सस्कृत-साहित्य में हुआ कथा-साहित्य का प्रवेश प्राकृत-साहित्य से हुआ है। प्राकृत का जन जीवन से सम्बन्ध होने के कारण कथा-साहित्य विपुल मात्रा मे रचा गया है। यहाँ से 'कथाओं ने पश्चिमी देशों की यात्रा की और उन्हें सुबोध दिया। धार्मिक व सामाजिक राजनीतिक आदि सभी नीतियो की सुलभ शिक्षा का साधन 'कथा' द्वारा प्रभावकारी हुआ और होता है। यही कारण है कि ब्राह्मण (हिन्दी) जैनों और बौद्धो ने समान भाव से इस कथा-साहित्य के परिवर्तन मे श्लाघनीय योग दिया है। कहानी कला और व्यापकता में तो जैनों की तुलना की ही नही जा सकती। विशाल, भव्य और उत्कृष्ट साहित्य इनका उपलब्ध है।

सस्कृत-साहित्य के इतिहास को तीन कालो मे विभक्त किया जाता है—श्रुतिकाल, स्मृतिकाल और लौकिक-काल। १. श्रुतिकाल मे 'सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्' आदि ग्रन्थ निर्मित हुए। २. स्मृति-काल में रामायण, महाभारत, पुराण, और वेदाग आदि की रचनाएँ हुईं। ३ लौकिक सस्कृत काल मे पाणिनि के नियमों द्वारा भाषा नितान्त संयत और सुव्यवस्थित की गई नव्य 'काव्य-नाटको' की रचना हुई।

जैन साहित्यकारो ने भी प्राकृत और अपभ्रंश की तरह संस्कृत में अपरिमित ग्रथ-रचना की है। वे संस्कृत-भाषा के मर्मज्ञ विद्वान थे। धर्म और दर्शन के अतिरिक्त काव्य-महाकाव्य, कोष, छन्द अलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मुद्राशास्त्र प्रभृति विषयों पर पहली शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक इस भाषा में विपुल जैन-साहित्य उपलब्ध होता है। यह जैन साहित्यकारों की संस्कृति-

भाषा विकास को महती देन है।

जैन, क्षपण, श्रमण अर्थात् इत्यादि शब्द-सब संस्कृत-मूलक है। दिगम्बर और श्वेताम्बर शब्द भी स्पष्टतया संस्कृत भाषा के ही है। जीव अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये जो सात पदार्थ जैनों के यहाँ प्रमुख तत्व माने गये और इन्ही की विवेचना जैन दर्शन का मुख्य अंग है यह भी संस्कृत-शब्द संग्रह के ही हैं।

'शाकटायन-व्याकरण' जैन विद्वान का रचा हुआ है। 'लङ-शाकटायनस्यैव', 'व्योर्लघु प्रयत्नतर:-शाकटायनस्य', पाणिनि सूत्र है। इस सूत्र से सिद्ध है कि 'शाकटायन' की स्थिति पाणिनि के पूर्व थी। शाकटायन-व्याकरण के टीकाकार यक्षवर्माचार्य ने ग्रन्थ की प्रस्तावना मे स्पष्ट स्वीकार किया है कि —शाकटायन जैन थे :—

स्वस्ति श्रीसकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्,
महाश्रमण सङ्घाधिपतिर्यः शाकटायनः ॥१॥
एकः शब्दाम्बुधिं बुद्धि मन्दरेण प्रमथ्य यः,
स यशः श्रियं समुद्दध्रे विश्वं व्याकरणामृतम् ॥२॥
स्वल्पग्रन्थं सुखोपायं सम्पूर्णं यदुपक्रमम्,
शब्दानुशासनं सार्वमर्हच्छासनवत्परम् ॥३॥
तस्यातिमहतीं वृत्ति सहृत्येयं लघीयसी,
सपूर्ण लक्षणा वृत्ति वक्ष्यते यक्षवर्मणा ॥४॥

अर्थात्—सकलज्ञान-साम्राज्यपदभागी श्री शाकटायन ने,—जो कि जैन-समुदाय के स्वामी थे—अपने ज्ञानरूपी मंद्राचल से (संस्कृत) शब्दरूपी सागर को मथ डाला और व्याकरणरूपी अमृत को यशरूपी लक्ष्मी सहित प्राप्त किया। यह महाशास्त्र जो कि अर्हत् भगवान के शासन के समान है—सर्वसाधारण के लिए हितार्थ सम्पूर्ण सुगम और सक्षिप्त रीति से लिखा गया है। यह लघु एव सरल टीका जो इस ग्रन्थ की (अमोघ वृत्ति नामक) वृहद टीका है—के आधार पर रची गई है और व्याकरण के सर्व गुणों से अलंकृत है। यक्षवर्माकृत है।

देवनन्दि पूज्यपाद का जैनेन्द्र व्याकरण अति प्रसिद्ध है।

अमरकोश के रचयिता जैन कोशकार 'अमरसिंह' थे। यह महाविद्वान थे, संस्कृत-साहित्य के आठ जगद्विख्यात वैयाकरणों मे से थे। जैनों द्वारा रचे प्राचीन ग्रंथों मे कुछ के नामों व रचनाओं की तालिका इस प्रकार है :—

व्याकरण ग्रंथ—'न्यास (प्रभाचन्द्र), 'कातंत्रव्याकरण'—अपरनाम 'कौमार व्याकरण' (शर्ववर्म)—'शब्दानुशासन' (हेमचन्द्र), 'प्राकृत व्याकरण' (त्रिविक्रम), रूपसिद्धि (दयापाल मुनि), शब्दार्णव (पूज्यपाद स्वामी) इत्यादि...।

कोश-ग्रंथ—'त्रिकांडशेष, नाममाला (धनञ्जय), अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, आदि (हेमचन्द)।

'पुराण'—महापुराण, पद्मपुराण, पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्ठिशलाका पुरुष महापुराण आदि आदि गद्य-ग्रंथ, गद्य चिन्तामणि, तिलकमंजरी इत्यादि।

पद्य-ग्रंथ—वराङ्ग चरित, पार्श्वाभ्युदय, पार्श्वनाथ चरित, चन्द्रप्रभ चरित, धर्मशर्माभ्युदय, नेमिनिर्वाण काव्य, जयन्त चरित, राघवाण्डवीय (उप नाम द्विसन्धान काव्य), त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित, यशोधर चरित, क्षत्र चूड़ामणि, मुनिसुव्रत काव्य, बाल भारत, बाल रामायण, नागकुमार काव्य और अन्य ग्रंथ ...

'चम्पू'—जीवन्धरचम्पू, यशस्तिलकचम्पू, पुरुदेवचम्पू ...

'अलंकार ग्रंथ'—वाग्भट्टालंकार, अलंकार चिन्तामणि, अलकार तिलक, काव्यानुशासन, इत्यादि इत्यादि ...

'नाटक'—विक्रान्तकौरव, अंजनापवनंजय, ज्ञानसूर्योदय आदि ...

'चिकित्सा ग्रंथ'—अष्टांगहृदय,

गणित—(खगोल व फलित ज्योतिष ग्रन्थ) गणित सारसंग्रह, त्रिलोकसार, भद्रबाहु संहिता, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति इत्यादि इत्यादि

दर्शन-न्याय ग्रंथ—तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमाण परीक्षा, आप्त परीक्षा, पत्र परीक्षा, परीक्षामुख, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायविनिश्चयालंकार, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयरत्नमाला, स्याद्वाद रत्नाकर, न्यायदीपिका।

हिन्दी—

हमारी राष्ट्र-भाषा का प्रारम्भिक रूप कैसा था? वह किन-किन साँचों में ढलकर आज इस रूप में विद्यमान है, यह जानना प्रत्येक साहित्य-प्रेमी के लिए अति आव-

श्यक है। वर्तमान हिन्दी साहित्यकारों ने प्रायः दसवीं शताब्दी के पूर्व के साहित्य का आलोड़न नहीं किया है, इसी कारण पं० नाथूराम जी प्रेमी और पंडित राहुल सांकृत्यायन को हिन्दी-भाषा के आदि कवि स्वयंभू और सरहप्पा का इन्हें परिचय देना पडा।

सर्वमान्य तथ्य यह है कि हिन्दी-भाषा का उद्भव सीधे संस्कृत-भाषा से न होकर इसकी सर्जना में 'प्राकृत' और अपभ्रंश-भाषा का महत्वपूर्ण योग रहा है। वे लोक भाषायें थीं और इनका साहित्य भी गौरवपूर्ण तथा समृद्ध रहा है। साथ ही प्राचीन हिन्दी साहित्य पर इसकी गहरी और अमिट छाप है। इन भाषाओं का जैन और बौद्ध-साहित्य में प्रचुर रूप में प्रयोग है और इनसे हिन्दी भाषा का सीधा सम्बन्ध भी हैं।

अधिक विद्वानों ने इन भाषाओं का अध्ययन केवल भाषा के विकास की दृष्टि से ही किया है, आवश्यकता इस बात की है कि इसके अन्वेषक यह शोध करें कि इनका मानव-जीवन से कितना और कैसा सम्बन्ध रहा था? सामाजिक जीवन पर सामान्य मनोवृत्ति आदि इनका कितना और कैसा प्रकाश पड़ता रहा है? उस युग के वर्धमान लोक जीवन की झांकी क्या थी? वह कैसे विकसित होकर इस युग तक पहुँची है?

इतिहास लिखने का प्रयास तो लगभग ईसा की १९वी शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ होता है, उस समय भी आरम्भ में कवियों की और कवि कृतियों की सूचियां ही अधिक प्राप्त होती हैं। साहित्यिक-प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं का विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

प्राचीन युग के कुछ कवियो ने अपने सम्बन्ध मे जो कुछ थोड़ा सा लिखा है और अपने पूर्ववर्ती अथवा सम-कालीन कवियों का भी साधारण रूप में उल्लेख किया है तथा कुछ भक्तों की जीवनियाँ लिखी हैं। उनसे साहित्य की प्रगति या प्रवृत्ति तथा विचारों का परिचय नहीं मिलता है, कारण यह कार्य भी बहुत ही स्फुट रूप मे हुआ है।

'हिन्दी-भाषा' के जन्म-काल की ओर यदि हम दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि हिन्दी का जन्म ७वीं, ८वी शताब्दी में ही हो गया था। यह पहले अपभ्रंश रूप मे हमारे समक्ष आई फिर इसी का परिवर्तित संस्करण 'हिन्दी' नाम रूप में हुआ।

माननीय विद्वान डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल लिखते हैं कि—"यह तो सर्वमान्य बात है कि हिन्दी-भाषा को अपने वर्तमान रूप मे आने से पूर्व अपभ्रंश युग को पार करना पड़ता हैं। वस्तुतः शब्द-शास्त्र और साहित्य शैली दोनों को बहुत बड़ा वरदान अपभ्रंश-भाषा से हिन्दी को प्राप्त हुआ है। 'तुकान्त-छन्द' और कविता की पद्धति अपभ्रंश की ही देन है। हिन्दी-काव्य-धारा मूल निवास अपभ्रंश-काव्य धारा मे ही अन्तर्निहित है। भाषा, भाव, शैली तीनो ही दृष्टियो से अपभ्रंश साहित्य की हिन्दी-भाषा आभारी है।

डा० रामचन्द्र शुक्ल ने १०वी शताब्दी से १४वी शताब्दी तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल माना है, परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'शुक्ल' जी की मान्यता का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि—"हिन्दी-भाषा दसवी शताब्दी के पूर्व भी प्रचलित थी और उसका रूप अपभ्रंश-भाषा का था। आपने तथा प० राहुल जी ने उसे 'पुरानी हिन्दी' कह कर सम्बोधित किया है। आप लोगो की मान्यतानुसार महाकवि स्वयभू जिन्होने आठवी शताब्दी मे अपभ्रंश-भाषा मे पउमचरिउ (राम-कथा), रिट्ठणेमि चरिउ, (हरिवंश कथा) आदि काव्यों की रचना की है। यह हिन्दी भाषा के आदि कवि है।

आगे 'द्विवेदी' जी ने अपनी रचना "हिन्दी-साहित्य का आदिकाल" में लिखा है कि—जैन अपभ्रंश मे चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री इधर उपलब्ध हुई है, वह केवल धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नही है। स्वयभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल 'जैन' होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नही चले जाते। धार्मिक-साहित्य होने के कारण मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से प्रथक् नहीं की जा सकती है। यदि ऐसा माना जाने लग जाय तो तुलसीदास का 'मानस' भी साहित्य-क्षेत्र में अवि-वेच्य हो जायेगा तथा जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। केवल नैतिक और धार्मिक या अध्यात्मिक उपदेशो को देखकर ही यदि हम

कर्नाटक के जैन मन्दिर

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

नागर, द्राविड़ तथा वेसर इस तरह तीन प्रकार के मन्दिर होते हैं। विद्वानों का मत है कि उत्तर भारत के मन्दिर नागर शैली के तथा दक्षिण भारत के पल्लव व चोल मन्दिर द्राविड़ शैली के एवं कर्नाटक के मन्दिर वेसर शैली के हैं। कर्नाटक में चालुक्यों ने स्थापत्य कला का प्रारम्भ किया जिसका होयसलों ने विकास किया। वनवासी, तालगुंदा, मलवल्लि, बल्लिगावे आदि स्थलों के भग्नावशेष तथा साहित्य के आधार से कहा जा सकता है कि ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी के पूर्व मौर्य व सातवाहन के समय में ही कुछ मन्दिर प्रसिद्ध थे। बादामी चालुक्यों ने ई० सन् छठी सदी से गुफाए व मन्दिर निर्माण कर चालुक्य रीति का श्रीगणेश किया।

शिलालेखों से ज्ञात होता है कि छठवीं शताब्दी के मध्य पुलिकेशि प्रथम ने जब बादामी के किले बनवाये तब तक वहाँ के गुफा मन्दिर निर्मित थे तथा मगलेश के पूर्व ही महाकूटेश्वर मन्दिर बना था। अतः अनुमान किया जा सकता है कि चालुक्य वास्तुकला के अनुकरण पर पल्लवो ने मन्दिर का निर्माण किया था। बादामी के चालुक्यों के पश्चात् राष्ट्रकूटों ने एलोरा के मन्दिर तथा बकापुर, श्रवणबेलगोल आदि स्थानों में जैन मन्दिर भी चालुक्य शैली मे ही बनवाये। कल्याण के चालुक्यों के सामन्त होयसलो ने चालुक्य शैली को ही अपनाया। पर तलविन्यास, शिल्पबाहुल्य आदि अंशों में विशिष्टता को देखते हुए तथा होयसल राज्य की परिधि में याने कावेरी से तुंगभद्रा नदी तक के प्रदेश ही में ऐसे मन्दिर दिखाई देने से होयसल शैली को पृथक् शैली कह सकते है। विद्वानों ने इन दोनों शैलियों के सयुक्त रूप में 'कर्नाटक रीति' भी कहा है।

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि होयसल वंशके मूलपुरुष सल ने लगभग दसवीं सदी के अन्त मे मूड़िगेरे तालुके के (अंगडी) शशकपुर मे एक जैन मुनि की सहायता से एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया था। उसके पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी में विनयादित्य ने द्वारसमुद्र (हलेबीडु) तथा बेलूर को अपनी राजधानी बनाई। मत्तावर, अंगडी तथा चिक्कहनसोगे में इसी के समय में जैन मन्दिर बनवाये गये। बल्लाल प्रथम (११०२-११०६) के समय में उसके श्वसुर मरियाने दण्डनायक ने हट्ल में जैन मन्दिर बनवाया। श्रवणबेलगोल के गोमटेश्वर के चारों ओर का मन्दिर, हलेबीडु का पार्श्वनाथ मन्दिर (ई० सन् ११३३) श्रवणबेलगोल का सवतेगंधवारण मन्दिर, जिननाथपुर का

ग्रथों को साहित्य सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि-काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा। कबीर की रचनाओं को नमस्कार करना होगा। तुलसी-रामायण को भी छोड़ना होगा और जायसी को दूर से ही दण्डवत् होगी।

उपरोक्त तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि ८वीं शती के पूर्व से हिन्दी-भाषा विद्यमान थी और यह यहाँ के निवासियों की बोल-चाल की भाषा थी।

देशी भाषा में जैन कवियों ने अनेकों महाग्रंथो की रचना की हैं। अनेक महाकाव्य, खण्ड-काव्य और गीत-काव्य उपलब्ध हैं। संसार के किसी भी साहित्य के समक्ष जैन साहित्य तुलना के लिए विश्वास के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। जैन-साहित्य में मानवता को अनुप्राणित करने वाली भावाओं की प्रचुरता है। शब्द और अर्थ की नवीनता, शब्दों के सुन्दर विन्यास भावों का समुचित निर्वाह कल्पना की ऊंची उड़ान मानव के अन्तरंग और बहिरग का सजीव विश्लेषण सर्वत्र व्याप्त है। नवरसमयी दृश्य को आन्दोलित करने वाली पिच्छलरसधारा इस (जैन) साहित्य में पूर्णरूपेण विद्यमान है।

जैन-साहित्य का केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं, विचारों से भी महत्वपूर्ण स्थान है, जैन-धर्म की नीव ही विचार प्रधान है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही जैन धर्म की आधार शिला है। विशुद्ध-निष्ठा, विशुद्ध-ज्ञान और विशुद्ध-चारित्र का समन्वय भी प्राणी मात्र के विकास का उत्कृष्ट साधन है। ●

मन्दिर विष्णुवर्धन के समय में निर्मित किये गए।

आठवीं सदी तक वास्तु शैलियों ने एक निश्चित आकार धारण कर लिया था। इसके पूर्व केवल गुफा मन्दिरों में वास्तुकला प्रगट हुई थी। परन्तु वहां खोदने के अतिरिक्त अन्य कोई कौशल नहीं रहता है। ई० सन् पांचवीं शताब्दी में उत्तर भारत में मन्दिरों के निर्माण का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जो छठी-सातवीं शदी मे दक्षिण भारत में दिखाई दिया। देवघर का जैन मन्दिर शिखर वाले मन्दिरों में प्रथम है जिसका निर्माण छठी शताब्दी मे हुआ था।

ऐहोले, पट्टदकल्लु, बादामी इन तीन स्थानों में ही हम कर्नाटक वास्तुशैली का उद्गम पा सकते हैं। बीजापुर जिले का छोटा-सा ऐहोले पूर्व में आर्यपुर था। यहा किले के अन्दर ३० तथा बाहर ४० मन्दिर हम देख सकते है। इनमें कुछ जिनालय है। शेष सब देवालय है। ये सब छठी-सातवीं सदी के बनाए हुए हैं। गांव के पूर्व की ओर थोड़े ऊँचे स्थान पर एक 'मेगुति' है। मेगुति का अर्थ है ऊपर का मन्दिर। यह देवालय ई० सन् ६३४ म रविकीर्ति द्वारा निर्मित किया गया है। इसका एक गर्भ गृह अन्दर का घर व ड्योढ़ी है। गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए स्थान है। इसका शिखर द्राविड़ शैली का बना है। गर्भगृह में तीर्थंकर की एक मूर्ति तथा दालान में एक देवी की मूर्ति है। कवि रविकीर्ति द्वारा संस्कृत भाषा में रचित यहाँ का शिलालेख बडे महत्व का है।

गुफा मन्दिर ही भारत की वास्तुकला का प्रथम प्रयत्न है। मैसूर राज्य के ऐहोले तथा बादामी मे ऐसी गुफाएं हैं। ऐहोले में एक वैदिक गुफा मन्दिर तथा एक जैन मन्दिर है। ये दोनों ई० सन् ५०० में बनाये गए। जैन मन्दिर ३३ फीट लम्बा तथा ८ फीट चौड़ा है। उसके अग्र भाग में एक दालान, अन्दर एक ड्योढी तथा गर्भगृह है। गुफा के आगे चार मोटे स्तम्भ हैं। गर्भगृह मे पार्श्वनाथ तथा खड़ी हुई अन्य तीर्थंकर मूर्तियां हैं। गर्भगृह के द्वार के दोनों पार्श्वों में द्वारपालक हैं। ड्योढ़ी में महावीर की मूर्ति है जो सिंहासन पर बैठी है।

बादामी में भी चार गुफा मन्दिर है। ये सब ई० सन् छठी सदी के निर्मित हैं। प्रथम तीन गुफा मन्दिर वैदिक मत से तथा चौथा मन्दिर जैन मत से सम्बन्धित है। इसके अगले भागों में एक-एक चबूतरा बना है। भूमि से पांच-छः फीट ऊंचाई पर गुफाएं खोदी गई हैं तथा वहाँ पहुचने के लिए सीढ़ियां हैं। चबूतरे से आगे बढ़ने पर दालान, ड्योढ़ी तथा गुफा की पिछली दीवार में एक गर्भगृह है। दालान के अगले भाग मे ड्योढ़ी तथा दालान के मध्य ड्योढी के अन्दर खम्भे है। ये खम्भे मजबूत हैं व इन पर चित्र अंकित है। बाहर से देखने पर गुफाएं साधारण सी लगती है परन्तु अन्दर चित्रों से दीवार से लगी देव-मूर्तियो से बडी सुन्दर बनी हुई है। खम्भे विभिन्न प्रकार के हैं। मूर्तियां भव्य हैं, जो सजीव-सी लगती हैं कि उठकर आ रही हों। चौथी जैन गुफा का ई० सन् ६५० में निर्मित होने का अनुमान है। ३१ फीट लम्बा, साढ़े छः फीट चौड़ा दालान, उसके पीछे २५ फीट लम्बी, छः फीट चौडी ड्योढी तथा उसके पीछे चार सीढ़ियों पर एक गर्भगृह है। इस गर्भगृह में महावीर की मूर्ति है। दालान मे पार्श्वनाथ तथा गौतम की मूर्तियाँ और अन्दर खम्भे व दीवारो पर अन्य तीर्थङ्करों की मूर्तियां खुदी हुई हैं।

यद्यपि विश्व प्रसिद्ध अजन्ता तथा एलोरा के गुफा मन्दिर मैसूर राज्य के बाहर हैं तथापि अनेक कारणों से उन्हे कर्नाटक के अन्तर्गत मानना असत नही होगा। क्योंकि उनमें से अधिकों का निर्माण कर्नाटक के राजाओं ने किया है तथा कर्नाटक के शिल्पियों ने ही उन्हें बनाया है। चित्रकला के लिए जैसे अजंता प्रसिद्ध है वैसे शिल्पकला के लिए एलोरा प्रसिद्ध है। एलोरा मे कुल ३३ गुफाएं हैं। इनमें ग्यारह बौद्धों के तथा सोलह ब्राह्मणों के हैं। छः गुफा मन्दिर जैन मन्दिर है। इन सबका निर्माण छठवीं सदी में हुआ था। ब्राह्मण गुफा मन्दिरों से आगे बढने पर छः जैन गुफा मन्दिर हैं। इनमे इंद्र सभा, जगन्नाथ सभा तथा छोटा कैलास नामक मन्दिर मुख्य है। इंद्र सभा दो मंजिलों का गुफा मन्दिर है। एक प्रांगण, उसके पीछे एक दालान, एक बड़ी ड्योढ़ी तथा गर्भगृह है। बाहर दाहिनी ओर एक गुफा है। प्रांगण के बाईं ओर दो तथा दाहिनी ओर एक एवं दालान के

दोनों ओर दो गुफाएं हैं। अन्दर के प्रांगण के मध्य एक मण्डप है। उसमें सिंहासन पर वृषभनाथ की मूर्ति शोभित है। अन्दर के प्रांगण के मण्डप के एक ओर पार्श्वनाथ मे एक खम्भा खड़ा था जो अब नीचे गिर पड़ा है। ऊपरी मंजिल में बाहर दो छोटी गुफाएं आमने-सामने हैं। एक दालान, बड़ी ड्योढ़ी तथा गर्भगृह है। इन सभी गुफाओं मे जैन मूर्तियाँ खुदी हुई है। गर्भगृह के द्वार का चौखटा नक्काशीदार है। उसके आगे दो छोटे खम्भे है। उन्हें बजाने पर प्रत्येक से भी अलग-अलग ध्वनियाँ निकलती है जैसे हलेबीड् के खम्भो के बजाने पर होता है। ऐसा लगता है मानो इसके आगे की ड्योढ़ी किसी समय वर्णचित्रो से अलंकृत थी। आज भी हम धुए से काले बने उन चित्रों को देख सकते है।

जगन्नाथ सभ दो मंजिल वाला गुफा मन्दिर है। नीचे तीन गुफाए है तथा ऊपर एक बड़ी व छोटी गुफा है। इनमें भी जैन मूर्तियां खुदी खुदी हुई है। प्राय. छत वर्णचित्रो से अलंकृत रही होगी। छोटा कैलास, कैलास की नकल पर बना है। गुफा मे से १३० फीट लम्बा, ८० फीट चौड़ा काट कर इस मन्दिर को बनाया गया है। १० वर्गफुट मुखमण्डप, ३६ वर्गफीट की ड्योढ़ी तथा १२ वर्गफीट गर्भगृह इसमे खुदे है। परन्तु लगता है इसका पूर्ण निर्माण नही हुआ है।

नरसिंह प्रथम (ई० सन् ११४२-७३) के समय मे (ई० सन् ११४५ मे) चोलसमुद्र की त्रिकूट बसदि (बसदि-जैन मन्दिर) निर्मित की गई। द्वितीय बल्लाल के समय मे (ई० सन् ११७३-१२२०) श्रवण बेलगोल मे अक्कन बसदि (बड़ी बहन का जैन मन्दिर) शान्तिनाथ बसदि, वर्दणि के स्थित शान्तिनाथ बसदि, आसीकेरे की सहस्रकूट बसदि आदि का निर्माण किया गया। माना जा सकता है कि विजयनगर साम्राज्य के प्रारम्भ मे द्राविड़ शैली का होय्सल शैली में मेल हुआ तथा ई० सन् १३०० तक शुद्ध चालुक्य-होय्सल रीति समाप्त हो गई थी। ई० सन् पाँचवीं शताब्दी में कर्नाटक पर शासन करने वाले कदम्ब राजाओं द्वारा निर्मित तालगुन्द का प्रणवेश्वर मन्दिर, हल्सी स्थित जैन बसदि अत्यन्त पुराने हैं। मूडिगेर तालुके के अंगडि ग्राम की मल्लिनाथ बसदि बड़ी प्राचीन है।

पट्टदलक में दस मन्दिर हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु उनमे एक ही मन्दिर जैन मन्दिर है। बल्लिगावे भी ऐठोले, पट्टदकल के समान ही प्रमुख है। यह शिवमोग्गा जिला शिकारिपुर तालुके का एक गाँव है। प्राचीन काल मे यह बडा नगर था। यहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा जैन एवं बौद्ध धर्मों से सम्बन्धित पाँच मठ व तीन आयुर्वेदाश्रम थे। अब यहाँ जैन मन्दिर नहीं दिखाई देते हैं। पर गाँव के अन्दर व बाहर अनेक जैन-मूर्तियाँ पड़ी दिखाई देती है। यहा की इमारतें होय्सल शैली की है। इस गाव को बेलगावे, बल्लिगावे, बेलिगावि, बेलिगावे, बल्लिग्राम, बल्लिपुर आदि नामों से पुकारा जाता था।

पुदुक्कोटै के समीप के आठवी शताब्दी के जैन महालयो मे हम अभी भी सुन्दर भित्तिचित्रों को देख सकते है। वहाँ पर दीवारें, खम्भे व छतों पर हर जगह चित्र ही चित्र है। उनमे कमल सरोवर, सोत्साह नाट्य करने वाली ललनाए, क्रुद्ध भैसे, हसो की पक्तियाँ, राजदम्पत्ति आदि के सुन्दर चित्र है। यहाँ पर चित्रकारों ने हरा, पीला, लाल तथा नीले रग का प्रयोग किया है। परिशुद्ध व सुन्दर रेखा विन्यास इन चित्रों की सुन्दरता के लिए मुख्य कारण है। विभिन्न रगों के सयोजन की परिपक्व कला को हम यहाँ पा सकेंगे।

शिल्पियो ने बेलगाव, बकापुर व लक्कुडे के मन्दिरों के द्वारों पर अपनी कुशलता का सुन्दर परिचय दिया है। कर्नाटक शैली के मन्दिर मूर्तियों के भण्डार ही हैं। स्थापत्य कला के शिक्षार्थी के लिए ये मन्दिर अमूल्य सामग्री प्रदान करते है। इन मन्दिरों की छतें प्रेक्षक को चकित कर देती हैं। द्राविड़ शैली मे ऐसा नहीं है। इनके विन्यास, आकार आदि मे बड़ी विविधता है। शिल्पी का सामर्थ्य यहाँ परिलक्षित है। दीवार के बाहरी भाग मे छोटे-छोटे भागो मे भी अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ है जो वास्तुशास्त्र के बिलकुल अनुरूप हैं। ऐसे रध्रों मे जहाँ छोटी उगली तक डालना सम्भव नहीं है, सुन्दर कारीगरी को देखकर हम कल्पना तक नही कर सकते कि वे किन उपकरणों का प्रयोग करते थे। हलेबीडु की एक बसदि तो वास्तुशिल्प की दृष्टि से विश्व के आश्चर्यों मे गिना जाने योग्य है। वहाँ के काले खम्भो

मे मनुष्य को चित्र-विचित्र प्रतिच्छाया का प्रकट होना हमारे शिल्पज्ञो के लिए आज भी एक समस्या बनी हुई है।

बेलगांव मे तीन प्राचीन मन्दिर हैं। उनमे एक वैष्णव मन्दिर है, शेष दोनो जैन बसदियां है। जैनबसदियों में एक उत्तराभिमुख है तो दूसरी दक्षिणाभिमुख है। इनमे पहली बसदि मुख्य है। मुखमण्डल के खम्भे गोल व चिकने हैं। बंकापुर मे किले के दक्षिण में '६३ खम्भों का मन्दिर' नामक इमारत है। यह मूलतः जैन बसदि है। आचार्य गुणभद्र यही पर अपना उत्तर पुराण लिख चुके थे। किसी समय में यह जैनधम का केन्द्र था। यहाँ पर पांच महाविद्यालय थे। तब यहाँ पर आजतसेन जैसे दिग्गज विद्वान रहते थे। महाकवि रन्न न प्रारम्भिक शिक्षा यही पर पाई थी। लोकादित्य न अपन पिता बकेय के नाम पर यह राजधानी बनाई थी। यह बड़ा सुन्दर नगर था।

धारवाड जिले मे गदग से ७ मील दूर स्थित लक्कुंडि पहले 'लोक्किगुंडि' थी। यहां दो जैन बसदियां एवं काशी विश्वेश्वर तथा नन्नेश्वर नामक दो मन्दिर है। यह होयसल राजा वीर बल्लाल की राजधानी थी। जैन बसदि पर गोपरमा है। बाकी मन्दिरों पर गोपुरम नहीं है। दानचितामणि अतिमब्बे ने जैन बसदि बनाई थी। उन्होंने अनेक जिनालय भी निर्मित किये थे। यह जैन बसदि इस बात का दृष्टान्त है कि प्राचीन चालुक्य शिल्प शैली होयसल के रूप मे परिवर्तित हो गई थी। मन्दिर की दीवारों के बाहरी भाग में, मण्डप के खम्भों पर प्रतिमा विधान की कारीगरी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। वहां पर चित्रित पशुओं की पंक्तियां, पक्षिसंकुल, पेड़-पौधे बड़े अच्छे बने हैं। ई० सन् ७०० में पत्थर की पूर्ण मूर्तियां बनाने की पद्धति व मन्दिर निर्माण की वास्तु-शैली प्रयोग मे लाई गई। इन इमारतों की दीवारों पर हम बहुत से चित्र देख सकते हैं। ई० सन् ९-१०वी शताब्दी मे सम्पूर्ण दक्षिण भारत में यह पद्धति जारी थी। ग्यारहवी बारहवी शताब्दियां दक्षिण भारत की वास्तु-कला का स्वर्ण युग थी। प्रारम्भिक दिनो में शिल्प मे शोभा व कान्ति की भरमार थी। पर जाते-जाते उसमें रूढिवादिता ने सर उठाया। उस जमाने के शिल्प में मुख चित्र तथा नक्काशी की अधिकता थी। चित्रमुख शीघ्र ही समाप्त हो गये।

चोलराजा कट्टर शैव थे। फिर भी उनके समय के सुन्दर वैष्णव जैन व बौद्ध विग्रह भी प्राप्त हैं। नक्काशी में बेल-बूटे, पशु पक्षी, सगीतकार, नाट्य, कलाकार, सेना व नर्तकों की मण्डली तथा पौराणिक दृश्यावली दिखाई देती हैं। परन्तु जैन मन्दिरों में पौराणिक दृश्य नहीं के बराबर हैं। शिल्पियों का जैन पुराणों से अपरिचित होना इसका कारण रहा होगा। कर्नाटक साहित्य के विकास में भी ब्राह्मण, जैन तथा वीर शैव इन तीनों पन्थों के लोगों ने योगदान दिया है।

कर्नाटक मे जैनधर्म बहुत समय तक उन्नतावस्था में था। बादामी के चालुक्य तथा मलखेड के राष्ट्रकूटों के समय मे जैनधर्म अत्यन्त प्रबल था। कर्नाटक के और भी अनेक राजाओ ने जैनधर्म को प्रश्रय दिया था। अतः हम कर्नाटक के सभी भागों में जैन बसदियां पा सकते हैं। श्रवणबेलगोल, मनेयूरु, होम्बुज, मुडुबिदरे, कार्कल, वेलुर आदि जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ स्थान हैं। कोप्पण अथवा कोप्पल भी किसी समय में जैनो का पुण्य क्षेत्र था।

श्रवणबेलगोल की चालुक्य बसदि अत्यन्त मुख्य है। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण १०वीं शताब्दी में हुआ है। यह भी द्राविड़ शैली की इमारत है। वहां की 'अक्कन बसदि' कर्नाटक शैली की बनी है। ज्ञात होता है कि द्वितीय बल्लालराय के मन्त्री चन्द्रमौली की पत्नी अचियक्का से इसका निर्माण हुआ था। श्रवण-बेलगोल में कर्नाटक शैली की यही एक इमारत है। अन्य सब द्राविड़ शैली की हैं। गर्भगृह मे पार्श्वनाथ की मूर्ति है। ड्योढी में धरणेन्द्र व पद्मावती की मूर्तियां आमने-सामने हैं। दालान के मध्य के चार खम्भे काले पत्थर से सुन्दर बने है। उनके ऊपर की छतें भी लगभग तीन फीट गहरी व सुन्दर हैं। अन्य छतें भी इसी प्रकार की हैं। खम्भे चिकने हैं व हलेबीडु के पार्श्वनाथ बसदि के खम्भों के समान चमकते हैं। मुखमण्डल के बाहरी भाग मे चबूतरा व उसके पीछे रेलिंग है। मन्दिर की दीवार के बाहरी भाग में छोटे-छोटे गोमुख हैं। बसदि का गोपु-रम भी सुन्दर है।

श्रवणबेलगोल के उत्तर में एक मील पर जिननाथपुर नामक ग्राम है। पता लगता है कि विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज ने ई० सन् ११.१७ में इसको स्थापित किया था। यहां कर्नाटक शैली की बसदि है जिसमे उसने शान्तिनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। मूर्ति के दोनो पार्श्वों में चामर धारिणियां हैं। अक्कन बसदि के समान ही दालान के खम्भे बड़े सुन्दर बने है। मन्दिर के बाहरी दीवार पर जिन मूर्तियां, यक्ष-यक्षिणियां ब्रह्मा, सरस्वती, मन्मथ, मोहिनी, संगीतकार की मूर्तिया खुदी हुई है। कलचुर्यों के सेनापति बमुर्धक बान्धव रेचिय्यया ने इस बसदि का निर्माण किया था। यह द्वितीय बल्लाल के आश्रय मे भी था। विद्वानो का मत है कि ई० सन् १२०० मे इस बसदि का निर्माण हुआ था।

कहा जाता है कि विष्णुवर्धन के जैनधर्म त्यागकर वैष्णव बनने के पश्चात् अनेक जैन शिल्पी घाटियो के निचले भागों मे जा बसे। उसके बाद ही अर्थात् १२वी सदी से शायद इस प्रदेश मे पत्थर के मन्दिरो का निर्माण प्रारम्भ हुआ। यहाँ की बसदिया बाहर से देखने पर अलकार हीन दिखाई देती है, पर अन्दरूनी भाग की शिल्प सुन्दरता विविधतापूर्ण है तथा घाटी के ऊपर के भागो की शिल्पकला से पीछे नही है। वहा के तटीय प्रदेश भर में जैनधर्म लम्बे अर्से तक उन्नतावस्था मे था।

कार्कल, वेल्लगडि उडुपि तथा उप्पिनगडि तालुके मे अभी भी जैन बसदियाँ हैं। इनमें मूडूबिदरे बड़ा प्रसिद्ध है। यहां १६ बसदियाँ है। इनमे 'चन्द्रनाथ' अथवा त्रिभुवनतिलक चूडामणि बसदि प्रमुख है। बसदि अन्दर से बड़ी विस्तृत है। खम्भे आदि बडे सुन्दर व वैविध्यपूर्ण हैं। एक के पीछे एक तीन दालान हैं, उनके पीछे गर्भगृह भी है। गर्भगृह मे तीर्थंकर की मूर्ति है। यहाँ के दालानों को तीर्थंकर मण्डप, गद्दिगे मण्डप (सिंहासन मण्डप) तथा चित्र मण्डप कहा जाता है। विजयनगर के राजा देवराज ओडेय की आज्ञा से ई० सन् १४३० में इस बसदि का निर्माण किया गया था। इसके अगले भाग में ५० फीट ऊंचा एक सुन्दर मानस्तम्भ है जिसे भैरव राजा की राणी नागलदेवी ने बनवाया था। भटकल मे भी ऐसी ही इमारतें हैं।

भटकल किसी समय बड़ा नगर था। यह एक तीर्थ स्थान भी रहा होगा। यहाँ अनेक मन्दिर हैं। मन्दिर के बाहर व अन्दर नक्काशी का काम प्रशंसनीय है। यहा पर जैन राणी चेन्न, चेन्नभैरादेवी राज करती थी। तब यह एक जैन केन्द्र था। इस समय यहां जैनों की संख्या भी अधिक थी। आजकल नवायत कहलाने वाले मुसलमान पहले जैन थे। भटकल के अतिरिक्त हाडुहल्लि (संगीतपुर), सोदे (सुधापुर), गेरुसोप्पे (भल्लातकीपुर), बनवासी (वनवास), बलिगी (श्वेतपुर) आदि भी एक जमाने में जैन केन्द्र थे। उपरोक्त जैन राणी गेरुसोप्पे मे भी राज करती थी। उस समय यह दक्षिण कन्नड याने तुलुनाडु के अन्तर्गत था। हाडुहल्लि तथा गेरुसोप्पे की शिल्पकला भी देखने योग्य है। वनवासी सातवाहनो के समय में ही अर्थात् कदम्बो के पहले ही जैनधर्म का केन्द्र थी। जैनागम प्रथमतः यही पर ग्रन्थस्थ हुआ। कन्नड के आदि कवि पम्प ने वनवासी की खूब प्रशसा की है।

एक जमाने मे तुलुनाडु मे जैनधर्म अत्यधिक फैला था। परिणामस्वरूप जैनो मे हमें चतुर्मुख नामक नये प्रकार के मन्दिर दिखाई देते है। इनमे गर्भगृह की लबाई, चौड़ाई तथा ऊचाई समान होती है एव मन्दिर घन आकार का रहता है। इसके चारों ओर दरवाजे होते है। ये मन्दिर हमे समवसरण की शोभा का स्मरण दिलाते है। समवसरण केवल जैनो मे है।

विजयनगर के समय मे मन्दिरो के अनेक सुन्दर मण्डप बन गये। शिल्पियों ने उनमें अपनी कुशलता दिखाई। मन्दिर के खम्भे अधिकाधिक अलंकारमय होने लगे। मूडुबिदरे की 'त्रिभुवन तिलक चूडामणि' बसदि के खम्भे इसके उदाहरण है। इसी प्रकार कार्कल की चतुर्मुख बसदि की बाहरी दीवारो पर हम अनेक पशु-पक्षी, बेल-बूटे व अनेक प्रकार के फल-फूलो की नक्काशी देख सकते है।

खम्भे अनेक प्रकार के है। उदाहरण के लिए जैन बसदियों के सामने के मानस्तम्भ व ब्रह्मस्तम्भ तथा वैदिक मन्दिरों के सामने के गरुडस्तम्भ एव ध्वजस्तम्भ है। इसी प्रकार जयस्तम्भ अथवा दीपस्तम्भ है। जैन

बसदियों के आगे मानस्तम्भों के ऊपरी छोर पर एक छोटे मण्डप मे जैन मूर्ति रहती है। ब्रह्मदेवस्तम्भ के छोर पर ब्रह्मदेव की मूर्ति होती है। श्रवणबेलगोल की पार्श्वनाथ बसदि के सामने का तथा मूडबिदरे के 'त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि' चैत्यालय के सामने का मानस्तम्भ बहुत ही सुन्दर है। कार्कल के हिरियंगडि का मानस्तभ भी बड़ा सुन्दर है। श्रवणबेलगोल का चन्दगिरि तथा विन्ध्यगिरि एवं नागमगल तालुके के कवदहल्लि स्थित ब्रह्मदेवस्तम्भ उल्लेखनीय हैं। कवदहल्लि का स्तम्भ ५० फुट ऊँचा है।

कर्नाटक के अनेक मन्दिरों में उनके शिल्पियो के नाम अंकित हैं। दासोज ने श्रवणबेलगोल की चन्द्रगुप्त बसदि के पत्थर की जाली के पर्दे का निर्माण किया था। मन्दिर की दीवारों पर देवी-देवताओं, उनके परिवार के दास-दामियों अथवा नर्तकियों, गायकों व वादकों की मूर्तिया बनी हैं। जैन बसदियों मे भी वैदिक देवी-देवताओं के विग्रह दर्शित है। शिल्पियों का उस सम्प्रदाय से सम्बन्धित होना इसका कारण है। अनेक स्थानों पर मन्दिरो में कामशास्त्र से सम्बन्धित विग्रह भी हैं। मौर्य, गांधार, कुशान तथा गुप्त कालीन भवनों मे ऐसे मिथुन समागम के चित्र बनाने की प्रथा थी तथा दसवी सदी से यह पद्धति बढने लगी। परन्तु कर्नाटक मे ऐसे विग्रह बहुत कम है। खुजराहो, पुरी के मन्दिरो मे ऐसे विग्रह आकार मे बड है। पवित्र स्थानो में देव मूर्तियो के मध्य ऐसे विग्रह क्यो बनाये गये है, इसका समाधानकारक उत्तर आज तक किसी ने नही दिया है। ●

सबसे बड़ा कौन ?

मुनि श्री कन्हैयालाल

अक्ल, शक्ल, दौलत और मौत की एक दिन सहज गोष्ठी हो गई। वार्तालाप में चारों ही अपनी-अपनी गुरुता व अन्य की लघुता प्रमाणित करने के लिए व्यग्र हो रही थी। सर्व प्रथम अक्ल ने अपनी विशेषताओं का ख्यापन करते हुए कहा—मैं दुनिया मे सबसे बडी हूँ। मेरे बिना ससार का कोई भी काम चल ही नही सकता। राज्य संचालन में, सामाजिक व्यवहार मे तथा परपराओं के संचालन व सगठन आदि मे सर्वत्र मेरा प्राधान्य है। किसी को विजयी बनाना तो मेरे बाएं हाथ का खेल है। बड़े-बड़े न्यायाधीशो के समक्ष वकील और बैरिस्टरों के माध्यम से मैं ही तो बहस करती हूँ।

शक्ल को यह सब सहन नही था। उसकी आंखे खोलने लगीं। अधरावलि व दन्तावलि का कम्पन भूकम्प की तरह बढ़ने लगा और वह अक्ल की ओर घूरती हुई बोल पड़ी—क्या तू मुझे नहीं जानती? बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी मुझे देख कर खिल उठते हैं। और वर्षों की अपनी कठोर साधना को भी ताक पर रख देते है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने पाश में आबद्ध करने का मेरे में अतुल सामर्थ्य है। तू व्यर्थ ही इतनी क्यों फूलती है।

दौलत विद्युत की तरह चमकती हुई व सागर की तरह गर्जना करती हुई बोल उठी—शक्ल! इतना अभिमान कैसे? तेरे से भी अधिक गुण गरिष्ठ व्यक्ति ससार मे बहुत हैं। क्या तू यह नहीं जानती कि तेरी महत्ता का उपादान कौन है? यदि मैं अपना हाथ खीच लू तो क्या तेरा कहीं यत् किंचित् सम्मान भी हो सकता है? मेरे बिना तेरे सौन्दर्य मे स्थायित्व आयेगा कैसे! सारा ससार तो मेरे पीछे-पीछे दौड़ रहा है। चौबीसों घटे नगी तलवारों से मेरी रक्षा होती है। मेरे लिए बड़े-बड़े अक्लमन्द और सुन्दर-सुन्दर शक्ल वाले अपने प्राणों की आहुति देने को तैयार रहते हैं। जहां मैं पहुँच जाती हूँ, वहां मेरा अपूर्व स्वागत होता है। फिर भी तू इतरा रही है। तनिक सा चिन्तन कर कि संसार मे सबसे बडी कौन है?

मौत की ईर्षा का ठिकाना न रहा। तीनों ही को सम्बोधित करते हुए मौत ने कहा—तुम तीनों ही झूठी हो। अपनी-अपनी विशेषताए बघारने में तुम तीनों को ही तनिक भी संकोच नही होता? मेरे समक्ष तुम तीनों का क्या अस्तित्व है? मेरा आगमन होते ही तुम तीनों को झुकना पड़ता है और मेरी दृष्टि पड़ते ही तुम तीनों का ही सर्वस्व नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। तुम तीनों ही मेरे तेज व प्रभाव से आहत होकर मेरे चरण चूमने लग जाती हो। मेरे पीछे-पीछे तुमको चलना पडता है। मैं जो चाहती हूँ, वही होता है। इसलिए संसार में सर्वत्र मेरा एक छत्र साम्राज्य है। सारा संसार मुझसे भयभीत है घबराता है, डरता है। शक्तिशाली भी मेरे सामने शक्तिहीन बन जाते हैं। मुझे मित्र बनाने के प्रयत्न चलते हैं, निमंत्रण मिलते हैं; फिर भी मैंने किसी के साथ मित्रता स्वीकार नहीं की। मैं अपने प्रण पर अडिग रही हूँ। मैं किसी से डरती नहीं हूँ, घबराती नहीं हूँ। विश्व में मेरा प्राधान्य होते हुए भी तुम तीनों झूठा अहंकार कर रही हो। यदि इस कथन में सन्देह हो तो क्या मैं अपनी तनिक-सी शक्ति का भी प्रदर्शन करूँ?

वैशाली गणतंत्र का अध्यक्ष राजा चेटक

परमानन्द जैन शास्त्री

लिच्छवि वंश का राजा चेटक बहुत प्रसिद्ध था। ईस्वी पूर्व पांच सौ निन्यानवे वर्ष के प्रथित भारतीय गण-राज्यों में वैशाली गणराज्य उस समय सबसे प्रमुख माना जाता था। उसका अध्यक्ष राजा चेटक था।

विदेह देश की राजधानी वैशाली थी। गण्डकी नदी से लेकर चम्पारन तक का प्रदेश विदेह अथवा तीरभुक्त (तिरहुत) नाम से ख्यात था[1]। विदेहों और लिच्छवियों के पृथक्-पृथक् राज्यों को मिलाकर एक ही संघ गण-राज्य बन गया था। उसका नाम वृजि या वज्जिगण था। समूचे वज्जि गण संघ की राजधानी वैशाली ही थी। उसके चारों ओर तिहरा परकोटा था जिसमें स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर (पहरा देने के मीनार) बने हुए थे[2]। वज्जि देश में आजकल के चम्पारन, मुजफ्फरपुर जिला और दरभंगा का अधिकांश भाग तथा छपरा जिले का मिर्जापुर, परसा, सोनपुर के थाने तथा अन्य कुछ भूभाग सम्मिलित थे[3]।

वज्जि देश की शासक जाति का नाम 'लिच्छवि' था। लिच्छवि उच्चवंशी क्षत्री थे। उनका वंश उस समय अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता था यह जाति अपनी वीरता, धीरता, दृढ़ता और पराक्रमादि के लिए प्रसिद्ध थी। इनका परस्पर संगठन और रीति-रिवाज, धर्म और शासन-प्रणाली सभी उत्तम थे। इनका शरीर अत्यन्त कमनीय, ओज और तेज से सम्पन्न था।

ललितविस्तरा में वैशाली का वर्णन अत्यन्त समृद्ध एवं सुन्दर नगरी के रूप में किया गया है। आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ नामक ग्राम, जो गण्डक नदी के तट पर अवस्थित है, प्राचीन समय का वैभवशाली और ख्याति प्राप्त महानगर था। वह तीन भागों में विभक्त था। वैशाली, वाणिय ग्राम और कुण्डग्राम। इनमें कुण्डग्राम भगवान् महावीर का जन्म स्थान था। उसमें णात्त, णात, नात, ज्ञात णाह एवं णाय वंशी क्षत्रियों की प्रधानता थी। वैशाली नाम उसकी विशालता के कारण हुआ था।

अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा में वैशाली की समृद्धि का वर्णन करते हुए लिखा है कि— 'उस समय वैशाली ऋद्ध-स्फीत (समृद्धिशाली) बहुजन मनुष्यों से आकीर्ण, सुभिक्षा (अन्न-पान-सम्पन्न) थी। उसमें ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार ७७७७ आराम और ७७७७ पुष्करिणी थी।

तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार यह नगर तीन भागों में विभक्त था— पहला जिसमें सोने के बुर्ज वाले प्रासादों की प्रधानता थी। दूसरे में चांदी के बुर्ज थे। तीसरे में तांबे और पीतल के। ये विभाग उच्च, मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोगों के लिए थे।

चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने वैशाली को २० मील की लम्बाई-चौड़ाई में बसा हुआ बतलाया है। उसके तीन कोटों भागों का भी उल्लेख किया है। उसने सारे वृजि देश को ५००० मील (करीब १६०० मील) की परिधि में फैला हुआ बतलाया है। उस समय यह देश बड़ा सरसब्ज था। आम, केले आदि मेवों के वृक्षों से भरपूर था। यहाँ के मनुष्य ईमानदार, विद्या के पारगामी, शुभ कार्यों के प्रेमी विश्वासपात्र एवं उदार थे। परस्पर में उनका वात्सल्य और सौहार्द अपूर्व था। वे एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथी थे। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों में सभी सम्मिलित होते थे।

---

१. गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तीरभुक्ताभिधो मनुः।
—शक्ति संगम तंत्र

२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ३१३।

३. पुरातत्त्व निबन्धावली पृ० १२।

वज्जिसंघ में लिच्छवियों की ही प्रधानता थी। यह इक्ष्वाकुवंशी और वशिष्ठ गोत्री थे। इनका 'लिच्छवि' नाम क्यों पड़ा यह कुछ ज्ञात नहीं होता। ये पराक्रमी, परिश्रमी और समृद्ध सम्पन्न थे। दयालु और परोपकारी थे। इनके शरीर की आकृति सुन्दर और मोहे सुडौल थी। ये लोग अलग-अलग रंग के बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहनते थे। इनकी घोड़े की गाड़ियां सोने की थीं। हाथी की अम्बारी और पालकी ये भी स्वर्ण निर्मित थीं। इनसे इनकी समृद्धि का पता चलता है। बुद्ध ने लिच्छवियों के सम्बन्ध में कहा था— जिन्होंने तावतिंस (त्रायस्त्रिंश) देवता न देखे हों तो वे लिच्छवियों को देख लें। लिच्छवियों का संघ तावतिंश, देवताओं का संघ है--।"

वैशाली गणतन्त्र

वृजि देश का राज्य वैशाली गणतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। इसमें आठ गण थे—विदेह, ज्ञात्रिक, लिच्छवि और वज्जि सम्मिलित थे। उग्र, भोग, इक्ष्वाकु तथा कौरव अन्य चार गण थे[१]। इनमें ज्ञात्रिक काश्यप गोत्र के क्षत्रिय थे। भगवान् महावीर का जन्म इसी कुल में हुआ था। यह गणतन्त्र जिसका अध्यक्ष चेटक लिच्छवि था। उस समय के सभी गणतन्त्रों में मुख्य था। लिच्छवियों का शासन अत्यन्त व्यवस्थित था। जातक अट्ठकथा के अनुसार इस गणराज्य में ७७०७ राजा सदस्य थे। अनेक उप-राजा, सेनापति और भण्डारिक थे[२]। इनमें राजा या अराजा का कोई भेद नहीं था। इनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को राजा मानता था। ये सब राजा सम्भवतः अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी थे। उनका सगठित रूप लिच्छवि गणराज्य था। पाणिनी के अनुसार इन राजाओं का अभिषेक होता था[३]। उनकी संज्ञा 'राजन्य' थी। वैशाली में उनके अभिषेक मंगल के लिए एक पोखरनी थी, जिस पर कड़ा पहरा रहता था और ऊपर भी लोहे की जाली लगी रहती थी जिससे पक्षी भी उसके अन्दर घुस नहीं पाते थे। वैशाली के सब राजा और रानियों का उसी पोखरनी के जल से अभिषेक होता था[४]। प्रत्येक राजा के अपने-अपने उप-राजा, सेनापति और भाण्डागारिक होते थे। वैशाली में इनके पृथक्-पृथक् प्रासाद और आराम आदि थे। ७७०७ राजाओं की शासन सभा 'संघ सभा' कहलाती थी और गणतन्त्र वज्जि संघ या लिच्छवि संघ कहलाता था। लिच्छवि लोग परस्पर में एक-दूसरे को छोटा या बड़ा नहीं मानते थे—वे सबको समान मानते थे। लिच्छवि राज्य के निवासी उच्चकोटि का जीवन-यापन करते थे। उनके जीवन का उद्देश्य धन नहीं, किन्तु मर्यादा का संरक्षण था। उनमें जाति संगठन, शिक्षा, दीक्षा और धार्मिक कृत्यों आदि का प्रचलन था। सामाजिक उत्सवों एवं संस्कारों में बड़े समारोह के साथ कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता था। उनका आचार-विचार विशुद्ध था। वे परोपकार करना अपना कर्तव्य मानते थे।

वैशाली गणतन्त्र का अध्यक्ष राजा चेटक

वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक का उल्लेख बौद्ध त्रिपिटिक ग्रंथों में नहीं मिलता। वह पार्श्वापत्तीय परम्परा का अनुयायी श्रावक था। बौद्ध ग्रन्थों में वैशाली का उल्लेख तो अनेक ग्रंथों में मिलता है। किन्तु चेटक के सम्बन्ध में नहीं मिलता। क्योंकि वह भगवान महावीर का अनन्य उपासक क्षत्रिय राजा था।

श्वेताम्बरीय आगम ग्रंथों में चेटक का निर्ग्रन्थ उपासक होने का उल्लेख नहीं है। हां, आवश्यकचूर्णी आदि उत्तर कालीन ग्रंथों में उसे अवश्य श्रावक बतलाया गया है[५]। हेमचन्द्र ने त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित में चेटक को हैहय वंश का बतलाया है। हैहय वंश की उत्पत्ति नर्मदा तट पर अवस्थित माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य से मानी जाती है[६]।

श्वेताम्बरीय आवश्यक चूर्णि में लिखा है कि वैशाली

---

१. देखिये राधा कुमुद मुकर्जी, Hindu civilization P. 201।

२. महापरिनिब्बान सुत्त—बुद्धघोष की टीका।

३. पाणिनी व्याकरण ६।२।३४।

४. जातक ४, १४६।

५. सो चेडवो सावग्रो, आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध पत्र १६४ (अ) 'चेटकस्तुश्रावको'—त्रि० श० पु० चरित्र पर्व १०, सर्ग ६, पृ० १८८।

६. एपि ग्राफिका इण्डिका भा० २, पृ० ८।

का राजा चेटक हैहय कुल मे उत्पन्न हुआ[७]। उनकी भिन्न-भिन्न रानियो से सात पुत्रियां उत्पन्न हुई। प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेलना। इनमें से प्रभावती वीतभय के राजा 'उदायन को, पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को, मृगावती कोशाम्बी के शासक राजा शतानीक को, शिवा उज्जैनी के शासक प्रद्योत (महासेन) को और ज्येष्ठा कुण्ड ग्राम में वर्धमान स्वामी के बड़े भाई नन्दिवर्धन को विवाही गई। सुज्येष्ठा और चेलना तब तक कुमारी ही थीं[८]।

दिगम्बर परम्परा में राजा चेटक वैशाली गणतन्त्र का अध्यक्ष था। वह धर्मनिष्ठ, राजनीतिज्ञ, कर्तव्यनिष्ठ, वीर, पराक्रमी और उदार विचारो का व्यक्ति था। जिनेन्द्रभक्त और अतिशय विनीत एवं श्रावकोचित षट्-कर्मों का सम्पालक था। चेटक के पिता का नाम कोशिक और माता का नाम शोभनमति था[९]। तथा धर्मपत्नी का नाम सुभद्रा या भद्रा था। जो रूप लावण्यादि के साथ सती, साध्वी, पतिव्रता और विदुषी थी। उससे दश पुत्र और सात पुत्रियां उत्पन्न हुई थीं। धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकम्भोज, अकम्पन पतगक, प्रभंजन और प्रभास नाम के दश पुत्र थे। प्रियकारिणी (त्रिशिला) सुप्रभा, प्रभावती, मृगावती, चेलनी, ज्येष्ठा और चन्दना नाम की सात पुत्रियां उत्पन्न हुई थीं। जिनमे प्रियकारिणी (त्रिशला) विदेह देशस्थ कुण्डपुर नगर के णात, नात, ज्ञात, णाह या नाथवंशी राजा सिद्धार्थ को विवाही थी, जिससे भगवान महावीर का जन्म हुआ था। सुप्रभा दशार्ण देशस्थ हेमकक्ष नगर के सूर्यवंशी राजा दशरथ को विवाही थी। प्रभावती का विवाह कच्छ देश के रोरुकनगर के राजा उदयन या उद्रायण से हुआ था। शीलव्रत का दृढ़ता से पालन करने के कारण प्रभावती का अपर नाम 'शीलवती' प्रसिद्ध हो गया था। मृगावती का पाणिग्रहण संस्कार वत्स देश के सोमवंशी राजा शतानीक से हुआ था। जिसका पुत्र उदयन वत्स देश का प्रसिद्ध शासक था[१०]। और वीणावादन मे वह अत्यधिक चतुर था।

गन्धार देश के महीपुर नगर के राजा सत्यक ने राजा चेटक से ज्येष्ठा की याचना की थी। किन्तु राजा चेटक ने उसे नहीं दी। तब उसने कुपित होकर युद्ध किया, किन्तु वह युद्ध में हार गया। अतएव मान भंग होने के कारण लज्जावश वह दमवर मुनि के निकट दिगम्बर मुनि हो गया। और चेलना का विवाह बिम्बसार (श्रेणिक) के साथ सम्पन्न हुआ[११]। ज्येष्ठा और चन्दना आजन्म कुमारी ही रहीं और ये महावीर के संघ मे दीक्षित हुई। उनमें चन्दना महावीर के संघ में आर्यिकाओं मे सबसे प्रमुख थीं। वह संघ की गणिनी थी।

चेटक के दश पुत्रों में से सिंहभद्र वज्जिय गणतन्त्र

७. वैशालीए पुरीए सिरि पास जिणेस सासण-सणाहो।
हैहय कुल संभूओ चेडग नामा निवो आसि ॥
—उपदेशमाला पत्र २३८

८. तत्तोय वेसालीए नगरीए चेडओ राया, हैहय कुल संभूतो, तस्स णं अण्णमहण्णाणं सत्तधूताओ पभावती, मिगावती, सिवा, जेट्ठा, चेल्लणत्ति। सो चेडओ सावओ पर विवाह करणस्स———धूताओ ण देत्ति कस्संति। ताओ भाति भिस्स गाओ राय आपुच्छिता अण्णंसि इच्छित काण सरिसगाणं चेति।

पभावती वीतभए उदायणस्स दिण्णा, पउमावती चपाए दहिवाहणस्स, मिगावतो कोसाम्बीए सताणियस्स, सिवा उज्जेणीएपज्जोतस्स, जेट्ठ कुण्डग्रामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स णदिवद्धणस्स दिण्णा। सुजेट्ठा चेल्लणाए दो कण्णाओ अच्छति।
—आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध १६४

९. ए वहि वि सिंधु देसे जणंति,
नामेण विसाली उरि महंति।
कोसिय निवेण जसमइहे जाउ,
सोहणमइ चेडय नामुराउ॥
—श्रीचंद कथाकोसु १२-१६

१०. देखो, उत्तर पुराण ७५ श्लोक ५ से १२ पृ० ४८२।
—हरिषेण कथाकोश

११. गन्धार विषये ख्यातो महीपालो महीपुरे।
याचित्वा सत्यकी ज्येष्ठा मलब्ध्वा क्रुद्धवान् विधिः॥
युद्ध्वा रणाङ्गणे प्राप्त मानभङ्गः सत्रपः।
सद्यो दमवर प्राप्य ततः संयम मग्रहीत॥
—उत्तर पुराण पु० ७५ श्लोक १३,१४

का प्रसिद्ध सेनापति था। अन्य पुत्र भी यथायोग्य पदों पर प्रतिष्ठित थे। इस तरह चेटक वैशाली गणतन्त्र का प्रसिद्ध राजा था। उसका कुटुम्ब अत्यन्त सम्पन्न था, और पुत्रियों के विवाह सम्बन्ध के कारण अनेक देशों के राजाओं के साथ उसका सम्बन्ध था। वह स्वयं बड़ा पराक्रमी था। उसे अपने जीवन मे अनेक युद्ध करने पड़े। उसका निशाना खाली नहीं जाता था। उसका यह नियम था कि वह शत्रु पर एक दिन मे एक ही बाण चलाता था और वह अमोघ होता था। अहिंसक होने के कारण वह विरोध को अनेकान्त दृष्टि के समन्वय दृष्टिकोण से मिटाता था। यदि प्रयत्न करने पर भी वह नहीं मिटता था, तभी वह अपने शस्त्र बल का उपयोग करता था। वह प्रतिदिन जिन पूजा करता था और अन्य आवश्यक कर्मों का पालन करता था। उसकी धर्म निष्ठता का यह प्रबल प्रमाण है कि अजातशत्रु (कुणिक) द्वारा वैशाली पर आक्रमण होने पर भी चेटक ने कभी धार्मिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया; किन्तु अजातशत्रु ने अनेक कूटनीतियों का अवलम्बन किया और छल छिद्र किये। तभी वह वैशाली पर अधिकार करने में सफल हो सका।

इसी कारण वैशाली गणतन्त्र उस समय के सभी गणतन्त्रो मे प्रधान था। चेटक का वश लिच्छवि था। लिच्छवि व्रात्य कहलाते थे और अर्हन्तों के उपासक थे। वे वेदविहित क्रियाओं को नही मानते थे। यद्यपि मल्लभी व्रात्य थे। उनका भी गणराज्य था। मल्ल जनपद वज्जिय जनपद के ठीक पश्चिम तथा कोशल के पूरब सटा हुआ आधुनिक गोरखपुर जिले मे था। पावा और कुसावती या कुसीनारा (आधुनिक कसिया, गोरखपुर के नजदीक पूरब) उनके कस्बे थे[१]।

शासन व्यवस्था—लिच्छवियो में कार्यकारिणी या मन्त्रिमडल की भी व्यवस्था थी। इसके ९ सदस्य होते थे। जो राज्य सचालन की व्यवस्था पर या शासन के सम्बन्ध मे विचार करते थे। कार्यपालिका का प्रधान राजा समान श्रेणी वालो मे उच्चतर होता था। सभी प्रकार के मामले, देश की शान्ति, युद्ध, नागरिकता आदि का बहुमत से निर्णय सभी को मान्य होता था। महत्वपूर्ण समस्याओं के भाग्यविधाता होने के कारण उनका उत्तरदायित्व भी अत्यधिक था। इस कारण वे अपने पद के लिये सदैव सजग रहते थे। लिच्छवि राज्य के समस्त राजा तर्क एवं विवाद मे अग्रणी थे।

बुद्ध घोष की टीका में बताया गया है कि वज्जियों में एक अपराधी को तभी दण्डित किया जाता था, जब उसका अपराध सिद्ध हो जाता था। आठ न्यायाधिकरणों मे प्रत्येक न्यायाधिकरण को यह अधिकार था कि वह दोषी को मुक्त कर सके। न्यायालय के अधिकारियों के नाम इस प्रकार हैं—विनिच्छय, महामात्त, वोहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुलिक, भाण्डागारिक, सेनापति, उपराजा तथा राजा। इस तरह लच्छवियों या वज्जियो की न्याय व्यवस्था बडी सुन्दर और कुशलता लोक प्रसिद्ध थी।

यद्यपि लिच्छवि राज्य मे कई सामाजिक वर्गों के लोग रहते थे, जैसे ब्राह्मण, व्यापारी कृषक, कलाकार, दास एवं सेवक। लेकिन केन्द्रीय सभा के सदस्य तो लिच्छवि होते थे, (अर्थात् क्षत्रिय ?) बौद्ध ग्रन्थों में जहाँ हमें राजाओं का उल्लेख मिलता है लिच्छवियों में वहाँ हम राजकुमारो का भी निर्देश पाते है। इस निर्देश से हम वंशगत कुलीन तत्त्व का आभास पाते हैं। इस तरह प्राचीन गणतन्त्र पूर्णतया जनतांत्रिक नहीं थे[२] परन्तु कुछ बातें ऐसी भी थीं जो जनतन्त्र की ओर से उन्हें उन्मुख कर रही थीं। इससे लगता है कि प्राचीन गणतन्त्रों मे कुलीन तन्त्रात्मक व्यवस्था भी रही हो। पर जब हम लिच्छवियों के मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करते हैं तब उनके औदार्य और सौजन्यात्मक व्यवहारों से इतर वर्णों से भेद की रेखा का आभास नही पाते। यही इस गणतन्त्र की विशेषता थी। दूसरे लोग भले ही केन्द्रीय सभा के सदस्य न रहे हों; परन्तु फिर भी उनमे किसी तरह का कोई विभेद नही था। वैशाली गणतन्त्र की एकता, महत्ता और समन्वयात्मक नीति से उसकी प्रतिष्ठा गौरव की चरमसीमा को पहुंच चुकी थी। उसकी वैभवपूर्ण प्रतिष्ठा कुणिक (अजातशत्रु) को खलती थी; क्योंकि वह महत्वाकांक्षी था। अजातशत्रु (कुणिक) को खलने के दो कारण

१. भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ३१४।

२. State and Government in Ancient India By Altekar.

थे। एक कारण तो यह था कि राजा बिम्बसार (श्रेणिक) ने अजातशत्रु को राज्य दे दिया और हल्ल वेहल्ल को रत्नहार और सचेतनक हाथी। ये दोनों चीजें उसके राज्य के मूल्य के बराबर थी। बिम्बसार के मरने पर अजातशत्रु के भय से हल्ल वेहल्ल अपने नाना चेटक के पास चले गये थे। अजातशत्रु को जब यह मालूम हुआ तब उसने चेटक के पास दूत भेजा और कहलाया कि रत्नहार और सचेतनक हाथी सहित हल्ल वेहल्ल को मेरे पास वापस भेज दो। चेटक ने कहा यदि मेरा नप्ता कुणिक इनको (हल्ल वेहल्ल को) आधा राज्य दे तो मैं हार और हाथी वापस दिलवाऊँ। क्योकि तुम तीनो मेरे लिए समान हो। वे मेरी शरण मे आये हैं, मैं उन्हें वापस नहीं लौटाता। चेटक ने शरणागतो की रक्षा करना अपना कर्तव्य मानते हुए उन्हें नहीं लौटाया।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि कुणिक को वैशाली की सम्पन्नता खटकती थी। सीमा विस्तार की इच्छा और वैशाली का वैभव उसके आकर्षण तो थे ही। साथ ही वैशाली गणतंत्र के लोगों में उच्च कुलीन होने का भी तथा मगधराज कुल के प्रति घृणा का भाव था। वह भी कुणिक को आक्रमण करने के लिए उकसाता रहता था। वैशाली गणतंत्र की ओर मगध की सीमाएं मिलती थी। चेटक ने मगध को छोडकर अन्य सीमा स्थित सभी राजाओं से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इसलिए यह संभव हो सकता है कि चेटक के मन मे प्रतिरोध की भावना रही हो। कुणिक के मन में भी राजा चेटक की भावनाओं को नीचा दिखाने की सभावना हो सकती है। बौद्ध साहित्य से यह स्पष्ट झलकता है कि कुणिक वैशाली को नष्ट करने के लिए बहुत समय से तैयारी कर रहा था। इसमें तो सन्देह नहीं कुणिक (अजातशत्रु) प्रकृति से दुष्ट और क्रूर था, उसने षड्यन्त्र कर अपने पिता को कैद कर उसे बड़ा कष्ट दिया था। इसी तरह उसने अपने नाना चेटक को भी कष्ट देने का उपक्रम किया।

दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि गंगा के पास पत्तन मे एक रत्न खान थी। उस पर अजातुशत्रु और लिच्छवि दोनों का अधिकार था और दोनों में परस्पर यह समझौता सम्पन्न था कि दोनों आधे-आधे रत्न आपस मे बाँट लें। परन्तु अजातशत्रु वहाँ न पहुँचता, आजकल करके रह जाता, किन्तु लिच्छवि सभी रत्न ले जाते थे[1]। इन कारणों से अजातशत्रु के मन में लिच्छवियों के प्रति घोर असन्तोष था। वह यह भी जानता था कि लिच्छवियों से युद्ध करना कठिन है। उनका तीर निष्फल नहीं जाता। फिर भी उन्हें उच्छिन्न करना चाहता था। अजातशत्रु को राजगृह से गगा पार कर लिच्छवियों से युद्ध करना सम्भव नहीं था। इसीसे उसने पाटलि ग्राम म एक किला बनवाया था।

महात्मा बुद्ध को भी वैशाली की महत्ता सह्य नहीं थी, क्योंकि वहाँ जैनधर्म की महत्ता थी। यद्यपि बुद्ध वैशाली अनेक बार गये, पर वहाँ महावीर की मान्यता अधिक थी, वैसी मान्यता बुद्ध की नहीं थी। क्योकि राजा चेटक भगवान महावीर का अनुयायी और व्रती श्रावक था और जिनेन्द्र की पूजा करता था और जैन धर्म का प्रबल समर्थक था। चेटक कभी बुद्ध की सभा मे नहीं गया, अनुयायी होना तो दूर की बात है।

बौद्धों के महापरिनिब्बाण सुत्त में (दी० नि० पृ० ११७) में लिखा है कि—एक समय भगवान बुद्ध राजगृह मे विहार कर रहे थे। उस समय मगधराज, अजातशत्रु, वैदेही पुत्र वज्जि पर चढ़ाई करना चाहता था। वह ऐसा कहता था। मैं ऐसे महर्द्धिक (वैभवशाली) महानुभाव वज्जियों को उच्छिन्न करूंगा। वज्जियों का विनाश करूँगा—उन पर आफत ढाऊँगा। अजातशत्रु ने बुद्ध की सलाह लेने के लिए अपने मन्त्री वस्सकार को बुद्ध के पास भेजा था। तब बुद्ध ने वैशाली की अजेय शक्ति के सम्बन्ध मे वस्सकार को गृध्रकूट पर्वत पर सात अपरिहानीय बातें बतलाई थीं।

१—वज्जिगण जब तक सन्निपात बहुल हैं—उनको अधिवेशनों में पूर्ण उपस्थिति रहती है।

२—वज्जियों में जब तक एकता है—वे एकमत होकर कार्य करते हैं, सन्निपात भेरी के बजते ही खाते-पीते वस्त्र पहनते हुए भी ज्यों के त्यों एकत्रित हो जाते हैं।

---

१. बुद्धचर्या पृ० ४८४ सुमंगला विलासिनी।

३—वे अवैधानिक को नहीं मानते और वैधानिक का उच्छेद भी नहीं करते।

४—वज्जि लोग जब तक गुरुजनों, वृद्धों का आदर सत्कार करते रहेंगे। उन्हें मानते पूजते रहेंगे।

५—वज्जिगण कुलस्त्रियों, कुलकुमारियों के साथ बलात् विवाह नहीं करते।

६—वज्जीगण अपने नगर के बाहर भीतर चैत्यों का आदर करते हैं उनकी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते।

७—वज्जि अर्हन्तों की धार्मिक सुरक्षा करते हैं। अतएव वे उनके यहां सुख से विहार करते रहे तब तक उनकी वृद्धि ही रहेगी, हानि नहीं हो सकती।

वस्सकार ने अजात शत्रु को बतलाया कि बुद्ध के अनुसार यद्यपि वज्जि अजेय हैं फिर भी उपलापन (रिश्वत) और भेद से उन्हें जीता जा सकतता है। अजातशत्रु ने पूछा भेद कैसे डालें, तब वस्सकार ने कहा कि आप राजसभा में वज्जियों की चर्चा करें, मैं उनके पक्ष में बोलूंगा। उस दोषारोपण मे मेरा सिर मुंडवा कर नगर से निकाल देना। मै कहता जाऊंगा—कि मैंने तेरे प्राकार परिखा आदि बनवाए हैं, मैं उन दुर्लभ स्थानों को जानता हूं। मैं तुम्हें शीघ्र ही सीधा न कर दूं तो मेरा नाम वस्सकार नहीं।

इस कूटनीतिक घटना की खबर यद्यपि वज्जियों तक भी पहुँच गई। और कुछ लोगों ने कहा यह ठगी है उसे गंगा पार मत आने दो। यदि इस पर अमल किया जाता तो वैशाली का विनाश ही न होता। पर अन्य लोगों ने कहा यह घटना अपने ही पक्ष मे घटित हुई है। वस्सकार बुद्धिवान हैं, उसका उपयोग अजात शत्रु करता था, हम उसका उपयोग क्यों न करें। यह शत्रु का शत्रु है इसलिए समादरणीय है। किन्तु इस कूट कपट नीति के आन्तरिक व रूप पर गहरा विचार किए बिना ही वस्सकार को रख लिया। उसने थोड़े ही दिनों में वहां अपना प्रभाव अंकित कर लिया और कूटनीति से वज्जियों में भेद डालना शुरू कर दिया। और उसने लिच्छवियों में परस्पर अविश्वास और मनोमालिन्य उत्पन्न कर दिया। जब वस्सकार को इस बात का निश्चय हो गया कि वज्जियो में परस्पर मे मनोमालिन्य और अविश्वास घर कर गया है और अब वज्जियों को जीतना आसान हो गया है तब उसने अजात शत्रु को आक्रमण करने के लिए कहला दिया।

अजात शत्रु ने तत्काल चेटक के पास पुनः दूत भेजा और लिखित पत्र दिया, जिसमे लिखा था 'हार हाथी वापिस करो या युद्ध के लिए सन्न हो जाओ। और चेटक की राजसभा में जाकर सिंहासन पर लात मारो, दूत ने वैशाली जाकर वैसा ही किया। चेटक ने युद्ध करना स्वीकार कर लिया। दोनों ओर की सेनाओं में परस्पर युद्ध शरू हो गया। इस युद्ध को ग्रथो में 'महा-शिलाकंटक' और 'रथ मूसल' नाम दिया गया है। दोनों ओर के लाखों योद्धा इस युद्ध मे काम आए। कहा जाता है कि यह युद्ध १२ वर्ष तक चला। अजात शत्रु (कुणिक) ने युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए अनेक कूटनीतिक कार्य किये, छल और विश्वासघात भी किया। वैशाली का अपार वैभव विनष्ट हो गया और वह खण्डहरों में परिणत हो गई। अजात शत्रु का वैशाली पर अधिकार हो गया। परन्तु हार और सचेतनक हाथी कुणिक के हाथ नहीं लगे। सचेतनक हाथी तो किले की खाई की आग में जल मरा और हार देव उठा ले गए। हल्ल वेहल्ल भगवान महावीर के समवसरण मे दीक्षित हो गए। चेटक और उसके परिवार के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता। किन्तु यह बहुत संभव है कि वह व्रति-श्रावक था, अतएव उसने अनसनादि द्वारा या दीक्षित होकर अपना शरीर विसर्जित कर दिया हो। क्योंकि उसके लिए अन्य कोई मार्ग अवशिष्ट नही था। पर परिवार के सम्बन्ध में कोई जानकारी नही मिलती।

अजातशत्रु ने वैशाली पर अधिकार कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। वैशाली की वह श्री सम्पन्नता समाप्त हो गई। यद्यपि वैशाली का बहुत कुछ विनाश हो चुका था, किन्तु उसका अस्तित्व बहुत समय तक बना रहा। वैशाली के खण्डहर आज भी अपनी अवनति पर आंसू बहा रहे हैं। और जगत असारता का प्रदर्शन कर रहे हैं।

लिच्छवि गणराज में जैनधर्म

लिच्छवि गणराज में लिच्छवियों और वज्जियों का बहुमत था। वे पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रावक थे। किन्तु महावीर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने पर सभी महावीर के अनन्य उपासक हो गए थे। राजा चेटक तो महावीर का नाना था। और सिद्धार्थ भी वैशाली गणतंत्र का एक राजा था। इस कारण वैशाली का सम्बन्ध महावीर से घनिष्ठ था। महावीर वैशाली में अनेक बार पधारे, वहां की जनता ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया। उनके दिव्य उपदेश से वहां जैनधर्म की बड़ी प्रभावना हुई। उनकी इस महत्ता के दो कारण थे—एक तो वे वैशाली के राजकुमार थे दूसरे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। वे अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुके थे। उनके समक्ष जाति विरोधी जीव भी अपना वैर छोड़ देते थे। महावीर की वह प्रशान्त मुद्रा देखते ही जाति विरोधी जीवों का वैर अपने आप शान्त हो जाता था। यह उनकी अहिंसा की प्रतिष्ठा का महत्व था। उनके दिव्य जीवन का प्रभाव अमिट होता था। उनका उपदेश भी जीवमात्र की रक्षा से सम्बन्धित था। उनके सिद्धान्तो मे अहिंसा की प्रधानता थी। वैशालो मे उनके कई महत्वपूर्ण उपदेश हुए, जिनका सम्बन्ध जनकल्याण की भावना से ओत-प्रोत था। उनका श्रोताओं पर विशेष प्रभाव पड़ा। उससे वैशाली के निवासियो का वीर शासन के प्रति विशेष अनुराग उत्पन्न हुआ। वे उसका पालन करने के लिए तत्पर हुए। अनेकों ने श्रावक के द्वादश व्रतों का अनुष्ठान किया। और अनेक दीक्षित होकर आत्म साधना व कठोरता से पालन करने लगे। महावीर ने अपनी देशना मे धर्म का स्वरूप विस्तार से बतलाया। और कहा कि जीवन को आदर्श बनाने के लिये उनका आचरण करना नितान्त आवश्यक है। कोरा क्रियाकाण्ड धर्म नहीं है। धर्म आत्मा का निर्मल परिणाम है। आत्म परिणति के निर्मल हुए बिना धर्म कैसे हो सकता है? महावीर की दिव्यवाणी सुनकर जनसाधारण की आंखे खुलीं; और वे धर्म का स्वरूप और उसकी महत्ता को जानकर उसके अवधारण करने के लिए तत्पर हुए। यद्यपि महावीर का उपदेश अर्धमागधी भाषा मे हुआ था, किन्तु जनता उसे अपनी भाषा मे समझने मे समर्थ हो सकी। यह उनकी दिव्य वाणी का ही प्रभाव है। यद्यपि बुद्ध भी वैशाली अनेक बार गए और वहाँ उनका भी स्वागत सत्कार हुआ। अम्बपाली वेश्या ने उन्हें दान भी दिया। बुद्ध ने वैशाली मे मास भक्षण भी किया। जिसका उल्लेख भी देखने मे आता है। परन्तु चेटक बुद्ध के पास न तो उपदेश सुनने गये, और न कभी दर्शक रूप मे ही गये। इससे जहाँ चेटक की धर्म निष्ठता का पता चलता है वहां उसकी महावीर के प्रति अनन्य भक्ति का भी आभास मिलता है। इन सब कारणो से वैशाली मे जैनधर्म की निष्ठा या महत्ता का सहज ही आभास मिल जाता है।

—: o :—

भगवंत भजन क्यों भूला रे !

कविवर भूधरदास

यह संसार रैन का सुपना तन धन वारि बबूला रे ॥१॥
इस जीवन का कौन भरोसा पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठांड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥२॥
स्वारथ साधै पाँच पांव तू, परमारथ को लूला रे।
कहु कैसे सुख पैहै प्राणी, काम करै दुख मूला रे ॥३॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे।
भज श्री राजमती वर 'भूधर', दो दुरमति सिर धूला रे ॥४॥

विश्व संस्कृत सम्मेलन में जैन विद्या का प्रतिनिधित्व

प्रेमसुमन जैन

भारत की राजधानी दिल्ली मे (पहली बार) यूनेस्को एवं भारत सरकार के सम्मिलित सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन का आयोजन किया गया। पंच दिवसीय इस सम्मेलन मे ४२ देशों के शताधिक संस्कृत के विद्वानों एव लगभग पांच सौ भारतीय विद्वानों ने अपने गवेषणा पूर्ण निबन्ध पढ़े तथा विचार विमर्श में भाग लिया। संस्कृत भाषा, साहित्य एवं दर्शन आदि के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक विश्व जीवन अनेक समस्याओं के समाधान खोजने का प्रयत्न भी इस सम्मेलन में हुआ। सम्मेलन के अन्तर्गत आयुर्वेद-सेमिनार एवं जैनविद्या सगोष्ठी का आयोजन तथा विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रम विशेष आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। व्यवस्था सम्बन्धी अनेक त्रुटियों के बावजूद इस प्रथम विश्व संस्कृत सम्मेलन को सफल ही कहा जायेगा।

इस सम्मेलन मे जो निबन्ध पढ़े गये उन्हें संस्कृत साहित्य की व्यापकता के कारण पांच भागो मे विभक्त किया गया था। यथा (अ) संस्कृत एव विश्व की भाषाएं (ब) संस्कृत एवं विश्व का साहित्य, (स) संस्कृत एव विश्व चिन्तन, (द) संस्कृत एवं विश्व संस्कृति और (इ) विभिन्न देशों व प्रान्तों का संस्कृत भाषा के विकास में योगदान। तदनुसार ही उनके वाचन एवं विचार-विमर्श की अलग-अलग व्यवस्था थी। यद्यपि विद्वानों एवं प्रेक्षकों का जमघट विभागीय कक्ष 'स' में ही लगा रहता था।

संस्कृत साहित्य एवं भाषा के विकास में जैन आचार्यों का योगदान भारतीय एवं विदेशी विद्वान सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु इस सम्मेलन में जैन संस्कृत साहित्य का वह प्रतिनिधित्व नहीं हो सका, जो अपेक्षित था। यद्यपि अन्यान्य कारणों से अच्छी सख्या में जैन विद्वान इस समय दिल्ली में उपस्थित थे। मुनि सुशील कुमार, बलवन्त सिंह महता, डा० अजित सुकदेव, डा० एन. एन. उपाध्ये, पं० दलसुख मालवणिया, डा० यू. पी. शाह, डा० प्रबोध पण्डित, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री डा० दयानन्द भार्गव, डा० राजाराम जैन, डा० गोकुलचन्द्र जैन, पं० परमानन्द शास्त्री, डा० हरीन्द्र भूषण जैन, पं० गोपीलाल 'अमर' आदि विद्वानों के साथ इन पक्तियों का लेखक भी सम्मेलन के प्रतिनिधियों मे सम्मिलित था।

जैन विद्या के अध्ययन अनुसन्धान की उपयोगिता पर देशी विदेशी विद्वानों के समक्ष प्रकाश डालने का यह सम्मेलन उपयुक्त स्थान था। किन्तु निम्न सात निबन्ध ही इसमें पढ़े गये जो प्रमुख रूप से भारतीय वाङ्मय को जैनाचार्यों के योगदान पर प्रकाश डालते हैं।

१ मैसूर विश्वविद्यालय मे जैन विद्या विभाग के अध्यक्ष डा० एन. एन. उपाध्ये ने अपने निबन्ध 'संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश द्वारा इन तीनों भाषाओं में जैनाचार्यों द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थों पर प्रकाश डाला।

२. विश्वधर्म सम्मेलन के प्रेरक मुनि सुशील कुमार ने न केवल अपना 'प्राचीन जैनाचार्यों का संस्कृत साहित्य को योगदान' नामक योगदान पढ़ा, अपितु उसकी प्रकाशित प्रतियां भी सम्मेलन के प्रतिनिधियों को समीक्षार्थ वितरित की, जिसमे प्रथम शताब्दी से १५वीं सदी तक के जैन आचार्यों की संस्कृत रचनाओं का विवरण दिया गया है।

३. दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० दयानन्द भार्गव ने अपने 'जैनानां संस्कृत काव्ये योगदानम्' नामक सम्मेलन की स्मारिका में प्रकाशित निबन्ध में अनेक जैन संस्कृत काव्यों के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला है। जैन संस्कृत साहित्य के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में भी आपने अपने भाषण में विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

४. प्राच्य शोध संस्थान बडौदा के निदेशक प्रो० बी० जे० सांडेसरा यद्यपि सम्मेलन में उपस्थित नहीं हो सके। किन्तु आपके द्वारा प्रेषित 'जैनधर्म का संस्कृत साहित्य को योगदान' नामक निबन्ध से जैन आचार्यों ने कब से संस्कृत को साहित्य और शास्त्रार्थ की भाषा के रूप मे अपनाया कैसे उसके प्रचार प्रसार में योगदान दिया आदि के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी मिलती है। आपने अपने दूसरे निबन्ध 'गुजरात का संस्कृत साहित्य को योगदान' मे भी अनेक जैन आचार्यों के साहित्य का परिचय दिया है।

५. इसी संस्थान के दूसरे विद्वान डा० उमाकान्त शाह ने 'संस्कृति और विश्व संस्कृति' विभाग के अन्तर्गत अपना 'अनेकान्तवाद और आधुनिक जगत्' नामक निबन्ध पढा, जिसमे युद्ध की कगार पर बैठे हुए विश्व के लिए अनेकान्तवाद जैसे सहिष्णु सिद्धान्त की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है।

६. डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री दिल्ली का निबन्ध 'प्रतिक्रमण : जैनों की आचार संहिता' भी सम्मेलन के अन्य निबन्धो मे सम्मिलित था। विश्व मैत्री के विस्तार मे इसकी उपयोगिता पर बल दिया गया है।

७. उदयपुर विश्वविद्यालय मे प्राकृत के प्रवक्ता प्रेम सुमन जैन (लेखक) ने 'पश्चिमी भारत का जैन संस्कृत साहित्य' विषय पर अपना निबन्ध पढ़ा जिसम जैन संस्कृत साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि, प्रचार-प्रसार के साधन, राजस्थान का जैन संस्कृत साहित्य, गुजरात का जैन संस्कृत साहित्य, इस साहित्य की प्रमुख विधाएं, जैन सन्तों की संस्कृत सेवा, जैनेतर संस्कृत ग्रन्थों पर टीका जैन संस्कृत अभिलेख, ग्रन्थ भण्डारो में संस्कृत साहित्य, जैन संस्कृत साहित्य की विशिष्ट भाषा तथा वर्तमान में अध्ययन-अनुसन्धान की स्थिति आदि के सम्बन्ध में संक्षेप में जानकारी दी गई है। जैन विद्या से सम्बन्धित इन प्रमुख निबन्धों के अतिरिक्त इस सम्मेलन में कुछ विद्वानों द्वारा ऐसे निबन्ध भी पढ़े गये हैं जिनमें प्रसंगवश जैन संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। यथा—डा० वेद कुमारी घइ ने अपने निबन्ध—'संस्कृत और डोगरी' में हिन्दी एव पजाबी की तरह डोगरी का विकास भी शौरसेनी प्राकृत से हुआ है इसकी पुष्टि की है। डा० आर. एन. डांडेकर ने अपने निबन्ध—'महाराष्ट्र का संस्कृत साहित्य को योगदान' में, डा० वी. राघवन ने अपने निबन्ध तमिलनाडु का संस्कृत साहित्य को योगदान' में, प्रो० के. टी. पाडुरंगी ने अपने निबन्ध 'कर्नाटक का संस्कृत साहित्य को योगदान' तथा श्री बी. एल. शर्मा पिलानी ने अपने निबन्ध 'राजस्थान का संस्कृत साहित्य को योगदान' में कुछ प्रमुख जैनाचार्यों एवं उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त निबन्धों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस सम्मेलन मे जैन विद्या के सम्बन्ध में जो सामग्री प्रस्तुत की गई है, उससे जैन साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व नही हो सका है। केवल गुजरात और राजस्थान के जैन संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में सम्मेलन में निबन्ध पढ़े गये। जब कि भारत के अन्य प्रान्तों से भी इस प्रकार के निबन्ध भेजे जा सकते थे। इसमें अधिक प्रमाद उन जैन विद्वानों का है जो अपने सामाजिक दायरे से चिपके हुए है अथवा उन संस्थाओं का, जो ऐसे सम्मेलनों मे विद्वानों के भेजने के खर्च को अपव्यय समझती हैं। दोनों स्थितियां शुभ नही है। मेरे विचार से जैन संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध मे इस सम्मेलन में इन प्रमुख दो विषयों पर और निबन्ध पढ़े जा सकते थे—(१) जैन ग्रन्थ भण्डारों मे उपलब्ध संस्कृत ग्रन्थों का विवरण तथा (२) जैन संस्कृत साहित्य का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन, जब कि इन पर कोई प्रकाश नही डाला गया।

इस सम्मेलन मे जैन विद्या के परिप्रेक्ष्य में अखरने वाली बात यह थी कि किसी भी विदेशी विद्वान ने अपने निबन्ध या भाषण में जैन संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि विदेशों में, जहां संस्कृत का अध्ययन प्रचुरता से होता है, जैन संस्कृत ग्रन्थों पर कही कार्य नही हो रहा है। लेखक ने जब कुछ विदेशी विद्वानो से इस सम्बन्ध में जिज्ञासा की तो गोटिनगेन विश्वविद्यालय जर्मनी के प्रो० रोथ एवं जेना विश्वविद्यालय के प्रा० स्पिटवर्व ने कुछ ग्रन्थों के नाम गिनाये, जिन पर उधर। क हो रहा है, किन्तु उनमें से अधिकांश प्राकृत के हैं

यद्यपि साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२ अप्रैल ७२) में श्री ऐंगर ने इस सम्मेलन में अमेरिका के प्रो० वाल्टर मारर द्वारा 'जैन संस्कृत—एक अध्ययन' विषय पर निबन्ध पढ़े जाने की सूचना दी है। किन्तु लेखक को सम्मेलन मे न तो प्रो० मारर से भेंट हो सकी और न ही सम्मेलन के प्रकाशित निबन्ध सार में कही उनके लेख का उल्लेख ही मिला। विदेशों में जैन संस्कृत साहित्य की इस स्थिति के लिए उन जैन विद्वानों का प्रमाद ही कारण है, जो अपने लेखन में अभी तक अंग्रेजी के माध्यम को नहीं अपना पाये हैं। उनका अध्ययन अनुसन्धान देश के किसी एक कोने तक ही सीमित है।

जैन विद्या का विदेशों में प्रचार-प्रसार शायद इसलिए भी कम है कि विदेशों में स्थित भारतीय विद्या के अन्य विद्वानों से जैन विद्या में रुचि रखने वाले विद्वानों का सम्पर्क नहीं हो पाता। दो वर्ष पूर्व आस्ट्रेलिया (केनबरा) में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में सम्मिलित भारतीय विद्वानों के साथ शायद ही कोई जैन विद्या का विद्वान वहाँ गया हो। जैन विद्या का एक भी निबन्ध वहाँ नहीं पढ़ा गया। अब आगामी जुलाई ७३ में पेरिस में वही सम्मेलन आयोजित है। पता नहीं जैन विद्या का इसमें कितना प्रतिनिधित्व हो पाता है? समाज के श्रेष्ठिजन एवं विद्वानों दोनों के लिए ही यह विचारणीय प्रश्न है।

इस विश्व संस्कृत सम्मेलन में जैन विद्या के क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण कार्य हुआ है कि जैनालाजिकल रिसर्च सोसायटी दिल्ली द्वारा आयोजित सेमिनार में लगभग सौ विद्वान एक साथ मिल-बैठ कर जैन विद्या के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर सके। यह उनके सामूहिक चिंतन का ही फल है कि सेमिनार ने निम्न दो महत्वपूर्ण निर्णय लिए—

१. भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर 'अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या सम्मेलन' का आयोजन किया जाय। तथा—

२. एक ऐसे केन्द्रीय संस्थान की स्थापना की जाय जो जैन विद्या के अध्ययन-अनुसंधान एवं प्रचार-प्रसार में पूर्ण सहयोग प्रदान करे।

इन सकल्पो को कार्यरूप प्रदान करने का कार्य उस प्रत्येक व्यक्ति का है, जो महावीर के सिद्धान्तो मे आस्था रखता है तथा जिसे जैन विद्या के अध्ययन-अनुसन्धान में अभिरुचि है। इस प्रकार यह विश्व संस्कृत सम्मेलन जैन विद्या के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में कार्य करने के लिए कई आयाम उद्घाटित करता है।

—: o :—

विनम्रता

जो नमता है वह भरता है घड़ा अगर अपने मुख को ऊपर रखेगा तो वह कभी भी पानी से भर नहीं सकेगा। विकास को वही देख सकता है, जिसमें नम्रता सिमटी हुई होती है। ऊपर वही जा सकता है, जिसने झुकना सीखा है। इसी के बल से रज कण आकाश को आच्छादित कर दिनकर को भी निस्तेज बना देते हैं। पत्थर में कठोरता होने के कारण ही तो ऊँचा नहीं उठ सकता।

मित्रवर! वेत्रवती नदी में जब भयंकर बाढ़ आती है, तव बड़े-बड़े वृक्ष अपनी अकड़ के कारण अपने प्राणों की रक्षा करने में असमर्थ होकर उसके प्रबल प्रवाह में वह जाते हैं। लेकिन वेत्र के वृक्ष उसके क्रूर जाल में नहीं फँसते। जब पानी का आवेग बढ़ने लगता है, तव वे वृक्ष उस पानी के आगे नम्र बन जाते हैं—नीचे झुक जाते हैं, अतएव उन्हें अपने जीवन की रक्षा में आशातीत सफलता मिलती है।

अतएव मित्र! तुम नम्र बने रहो, जीवन में कभी भी अहंकार को स्थान न दो। नम्रता से वर्षों का वैर भाव भी प्रेम में परिणत हो जायेगा विष पर्वत से भी सुधा के निर्झर वहने लग जाएंगे। पत्थर भी पिघलकर नवनीत बन जाएंगे।

उत्तर भारत में जैन यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तिगत अवतारणा

मारुति नंदन प्रसाद तिवारी

जैन देव समुदाय में देवता के तुल्य माने जाने वाले यक्ष यक्षिणियों को शासन देवताओं (रक्षक देवता) के रूप में स्वीकार किया गया है। सहायक देवताओं के रूप में पूजित यक्ष-यक्षिणी का उल्लेख जैन ग्रन्थों में 'जिन-शासन रक्षाकार-काय', अर्थात् जैन धर्म के रक्षक के रूप में हुआ है। जैन मान्यताओं के अनुसार इन्द्र ने प्रत्येक तीर्थङ्कर के लिए एक यक्ष-यक्षिणी को नियुक्त किया था, जो तीर्थङ्करों के उपासक देव माने जाते थे। प्रारम्भ में जैन शिल्प में तीर्थङ्करों के दोनों पार्श्वों में उनके यक्ष-यक्षिणियों की छोटी आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं, जिनका आकार समय के साथ-साथ बढ़ता गया। ९वीं-१०वीं शती तक यक्ष-यक्षिणियों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ निर्मित होने लगीं, जिनमें उनके तीर्थङ्करों की संक्षिप्त आकृति शीर्ष भाग में चित्रित होने लगीं। तीर्थङ्करों के अतिरिक्त अन्य देवों के स्वतन्त्र महत्त्व स्थापित कर उनके पूजन की आवश्यकता जैनियों को मात्र इसलिये पड़ी क्योंकि अपने भौतिक सुख के वीतराग तीर्थङ्करो से कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकते थे। फलतः उपासकों में भौतिक सुख की इच्छा की वृद्धि के साथ-साथ इन उपासक देवों (यक्ष-यक्षिणी) का भी महत्त्व बढ़ता गया, जो ग्रन्थों और प्रतिमाओं दोनों ही में प्रतिबिम्बित होता है।

यह तथ्य सर्वथा स्वीकार्य है कि जैनियों ने अपने देव समुदाय के अनेक ब्राह्मण व कुछ बौद्ध देवी-देवताओं को स्थान दिया, पर साथ ही यह भ निर्विवाद है कि उन सबकी स्थिति या महत्व उनके अपने तीर्थङ्करों के साथ अंकित किये जाने में ही होती थी। इस तथ्य के बावजूद चक्रेश्वरी, अम्बिका, सरस्वती, कुबेर आदि कुछ ऐसे देव हैं, जिनको जैन शिल्प में काफी महत्व प्रदान किया गया है। जैन यक्षिणी चक्रेश्वरी, जो ग्रन्थों में प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ के शासन देवी के रूप में वर्णित है, अपने आयुधों और अन्य [illegible] विष्णु की शक्ति चक्रेश्वरी से तुलनीय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों में गरुड़ पर आसीन चक्रेश्वरी या अप्रति-चक्रा की भुजाओं में चक्र, शंख और गदा प्रतिपादित किया गया है। जैन मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथों में चक्रेश्वरी के द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज, द्वादश-भुज और षोडश-भुज स्वरूपों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनका अध्ययन हमारा अभीष्ट नहीं है (१अ)। इस लेख में हम मात्र उत्तर भारत से प्राप्त होने वाली चक्रेश्वरी की स्वतन्त्र मूर्तियों का अध्ययन करेंगे।

चतुर्भुज चक्रेश्वरी के उत्कीर्ण किये जाने का विधान यद्यपि केवल दिगम्बर ग्रन्थों में ही वर्णित है, तथापि जैन शिल्प में चक्रेश्वरी की चतुर्भुज मूर्तियाँ श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से प्रचलित थीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन यक्षी चक्रेश्वरी की चतुर्भुज मूर्तियां ही सर्वाधिक उत्कीर्ण की गई।

चक्रेश्वरी की एक चतुर्भुज मूर्ति मध्य प्रदेश के धुबेला राज्य संग्रहालय, नौगांव मे संगृहीत है, (१ ब) जिसमें देवी के शीर्ष भाग में तीर्थङ्कर की एक छोटी आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी के ऊपर की दोनों भुजाओं में चक्र प्रदर्शित है और निचले दाहिने व बायें मे क्रमशः वरदमुद्रा और शंख धारण किया हुआ है। ललितासन मुद्रा में आसीन देवी के वाम पाद को मानव रूप में

१. (अ) देखें शाह, यू० पी०, "आइकोनोग्राफी ऑफ चक्रेश्वरी, दे यक्षी ऑफ ऋषभनाथ", जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्सटीट्यूट, बड़ोदा, वा० २०, नं० ३ मार्च १९७१, पृ० २८०-३११।

१. (ब) दीक्षित, एस० के०, ए गाइड टू दि स्टेट म्यूजियम धुबेला, नौगांव (बुन्देलखंड), विन्ध्य प्रदेश, नौगांव, १९५९, पृ० १६-१७।

उत्कीर्ण गरुड़ आकृति सहारा दे रही है। गरुड की दाहिनी भुजा और शरीर का काफी भाग सम्प्रति भग्न हो चुका है। देवी के चरणों के समीप दोनों पार्श्वों में दो काफी भग्न उपासक आकृतियों को नमस्कार मुद्रा में मूर्तिगत किया गया है। चक्रेश्वरी के मस्तक के ऊपर प्रत्येक पार्श्व मे एक मालाधारी उड्डायमान गधर्व का अंकन प्रशंसनीय है। देवी मस्तक पर अलकृत मुकुट, ग्रीवा मे हार, कगन, कुण्डल आदि आभूषणों में सुशोभित है। इस चित्रण की शैली के आधार पर ९वी-१०वी शती के मध्य तिथ्यांकित किया जा सकता है। चतुर्भुज चक्रेश्वरी का एक अन्य अंकन देवगढ के मन्दिर न० १२ की भित्ति पर देखा जा सकता है।(२) देवगढ मे समस्त यक्षिणियों को नवीन आयुधों व वाहनों के साथ व्यक्त किया गया है पर चक्रेश्वरी के साथ ऐसी स्थिति न होने के कारण इस सम्भावना को बल मिलता है कि जैन यक्षिणी चक्रेश्वरी के निश्चित स्वरूप का निर्धारण अन्य यक्षिणियों के पूर्व ही हो चुका था। समभग मुद्रा मे खड़ी देवी के चारों हाथों में चक्र प्रदर्शित है। देवी के दाहिने पार्श्व में एक लम्बी पुरुष आकृति खड़ी है, जिसकी भुजाएं आराधना मुद्रा में मुढ़ी हैं। इस पुरुष आकृति के पृष्ठ भाग में प्रदर्शित चक्र के आधार पर प्रो० ब्रुन ने इसके चक्र पुरुष होने की सम्भावना व्यक्त की है। चक्रेश्वरी के वाम पार्श्व में खड़ी एक अन्य आकृति के साथ मे चामर व पद्म प्रदर्शित है, जबकि दूसरी भुजा कटि पर स्थित है। देवी के मस्तक के ऊपर तीर्थङ्कर की आसीन प्रतिमा अवस्थित है। नवी शती में निर्मित इस मूर्ति मे देवी का वाहन गरुड़ अप्राप्य है। देवकुलिका मे स्थापित चतुर्भुज चक्रेश्वरी का एक अन्य चित्रण जोधपुर के समीप स्थित ओसिया जैन मन्दिर (६६०-८२० शती) की पश्चिमी भित्ति पर उत्कीर्ण है,(३) जिसमे देवी के चारों भुजाओं में चक्र प्रदर्शित है। त्रिभग मुद्रा मे खड़ी देवी के वाम पार्श्व में पंख युक्त एक पुरुष आकृति उत्कीर्ण है जो देवी को वाहन गरुड़ का चित्रण करती है। चक्रेश्वरी अलंकृत शिरोभूषा, दुप्ट्टा, हार, धम्मिल, मेखला, धोती आदि सामान्य आभूषणों से सुसज्जित है।

खुजराहो के जैन मन्दिरों और संग्रहालयों मे भी चक्रेश्वरी की कई स्वतन्त्र और ललाट बिम्बों पर उत्कीर्ण चतुर्भुज आकृतियां देखी जा सकती है।(४) खजुराहो की अधिकतर चक्रेश्वरी प्रतिमाओं मे मानव रूप मे उत्कीर्ण गरुड पर ललितासन मुद्रा मे आसीन देवी की ऊपरी दाहिनी और बायी भुजाओं मे क्रमशः गदा और चक्र प्रदर्शित है, और निचले दो हाथों मे अभय या बरद् मुद्रा और शख चित्रित है। आदिनाथ मन्दिर के उत्तर की दीवार के अधिष्ठान पर उत्कीर्ण चक्रेश्वरी की निचली वाम भुजा में शख के स्थान पर मातृलिग (फल) स्थित है। जैन धर्मशाला में कुये के समीप रखे ललाट बिम्ब के मध्य मे उत्कीर्ण चतुर्भुज चक्रेश्वरी के दोनों भुजाओ मे शख प्रदर्शित है। सभी चित्रणो मे चक्रेश्वरी अलकृत मुकुट, हार, कुण्डल, कगन, नूपुर, बाजूबन्द, धोती आदि सुसज्जित है।

मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले के बिलहरी नामक स्थल से प्राप्त १०वीं शती की चतुर्भुज चक्रेश्वरी मूर्ति मे देवी को ललितासन मुद्रा मे गरुड (मानवरूप मे) पर आसीन प्रदर्शित किया गया है। देवी की ऊपरी दोनो भुजाओ मे चक्र स्थित है, जबकि निचली दाहिनी व बायी मे क्रमशः वरदमुद्रा और चक्र प्रदर्शित है। देवी के शीर्ष भाग के ऊपर दो सेवको से वेष्टित तीर्थकर की आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है। मूर्ति के प्रत्येक ऊपरी कोनो पर एक मालाधारी गन्धर्व युगल और निचले भाग मे दो हाथ जोड़े उपासक आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है।

अपने शोधकार्य के सबंध मे हाल में राजस्थान व गुजरात के कई जैन मन्दिरो की मूर्तियों के अध्ययन के दौरान मैने उन मन्दिरों पर जैन यक्षिणी चक्रेश्वरी की अनेक मूर्तियां देखीं, जिन सब का विवरण प्रस्तुत लेख में

---

२. ब्रुन, क्लाज, दि जिन हमेजेज ऑफ देवगढ़, सिडेन, १९६९, पृ० १०५।

३. शर्मा, बी० एन०, "सम इन्टरेस्टिंग टेम्पिल स्कल्पचरस एट ओसिया", रूपलेखा, नई दिल्ली, वाल्यूम ३९।

४. खजुराहो के जैन शिल्प के स्वयं मेरे अध्ययन पर आधारित।

दे पाना संभव न होने के कारण कुछ प्रमुख मूर्तियों मात्र का ही उल्लेख नीचे कर रहा हूँ। यह ज्ञातव्य है कि नीचे की सभी मूर्तियाँ अप्रकाशित है। चक्रेश्वरी की तीन मूर्तियाँ राजस्थान के जालोर जिले की पहाड़ी (गिरिस्थ कुमार विहार) पर स्थित महावीर मन्दिर (१२वीं शती) की भित्तियो पर उत्कीर्ण है। चार भुजाओ से युक्त तीनों खडी मूर्तियोमे देवी ने समान आयुध धारण किये है। देवी की ऊपरी भुजाओ में चक्र स्थित है, जब कि निचली दाहिनी व बायी मे क्रमश: वरद व अक्षमाला और कमण्डलु प्रदर्शित है। देवी का वाहन गरुड (मानव रूप मे) समीप ही हाथ जोडे उत्कीर्ण किया गया है।

राजस्थान के पाली जिले के नाडोल ग्राम मे स्थित जैन मन्दिरों (११वी शती) पर भी चक्रेश्वरी की कई मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। नेमिनाथ मन्दिर की दक्षिणी भित्ति पर उत्कीर्ण चतुर्भुज चक्रेश्वरी की भद्रासन पर आसीन मूर्ति मे देवी की ऊपरी भुजाओं मे चक्र व निचली दाहिनी व बायी भुजाओ म वरदमुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। दोनो ओर दो स्त्री सेवक आकृतियो से वेष्टित चक्रश्वरी के वाहन को यहाँ नही उत्कीर्ण किया गया है। इसी मन्दिर के गूढ मण्डप की पश्चिमी भित्ति पर चक्रेश्वरी की एक अन्य खड़ी मूर्ति उत्कीर्ण है, जिसमे देवी ने ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओ में गदा और चक्र धारण किया है और देवी के निचले दोनों हाथ नीचे लटक रहे है। देवी का वाहन यहा भी अनुपस्थित है। इस मूर्ति की विशिष्टता देवी के मस्तक पर किरीट मुकुट का होना है। नाडोल के ही अपेक्षाकृत एक छोटे मन्दिर (अनन्तनाथ मन्दिर) की दक्षिणी दीवार पर भी चक्रेश्वरी की एक आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है जिसमें देवी की ऊपरी भुजाओं में दो चक्र स्थित हैं, जब कि निचला दाहिना हाथ लटक रहा है। देवी की निचली वाम भुजा भग्न है, और वाहन का चित्रण अनुपलब्ध है। नाडोल के ही पद्मप्रभ मन्दिर की जगती पर चक्रेश्वरी की तीन आसीन मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं जिन सभी मे देवी की ऊपरी दो भुजाओ मे दो चक्र प्रदर्शित हैं, और निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः वरद और फल (कमण्डलु ?); अभय और कमण्डलु चित्रित है, जब कि एक अन्य उदाहरण मे देवी की निचली भुजाएं लटक रही हैं। राजस्थान के पाली जिले में सादडी स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर (११वी शती) की गूढमडप की पश्चिमी दीवार पर चतुर्भुज चक्रेश्वरी की त्रिभग मुद्रा मे खड़ी मूर्ति उत्कीर्ण है, जिसमे देवी की चारों भुजाओं मे चक्र स्थित है। चारों भुजाओं मे चक्र के प्रदर्शन के आधार पर इसे यक्षी चक्रेश्वरी से अधिक विद्यादेवी अप्रति चक्रा के रूप में स्वीकार करना उचित है। पर देवी के वाहन का पखयुक्त होना प्रतिमाशास्त्रीय विवरणों के विपरीत है, जिसमे विद्यादेवी का वाहन पुरुष बतलाया गया है जब कि आकृति का पंख युक्त होना उसके गरुड होने की पुष्टि करता है। पंखयुक्त मानव आकृति को हाथ जोड़े प्रदर्शित किया गया है। राजस्थान के पाली जिले के घणेरा स्थित महावीर मन्दिर (१०वी शती) के मूलप्रासाद के पश्चिमी भित्ति पर उत्कीर्ण चक्रेश्वरी के आसीन चित्रण मे देवी ने ऊपरी भुजाओ मे चक्र धारण किया है, और निचली दाहिनी व बायी भुजाओ मे वरद व अक्षमाला और फल चित्रित है। इस मूर्ति से मिलतीजुलती एक अन्य मूर्ति मन्दिर के पूर्वी दीवार पर उत्कीर्ण है, जिसमे उपर्युक्त मूर्ति के विपरीत देवी के आसन के समक्ष एक हाथ जोडे आकृति को उड्डायमान मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है, जो वस्तुतः गरुड का चित्रण है।

गुजरात के बनासकाठा जिले के कुमारिया स्थित जैन मन्दिरों मे चक्रेश्वरी की कई मूर्तियां उत्कीर्ण है, जिनमे से कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है। सभवनाथ मन्दिर (१२वी शती) की दक्षिणी दीवार पर चक्रेश्वरी की खडी मूर्ति उत्कीर्ण है, जिसमे देवी के दोनों पार्श्वों में दो स्त्री चमर धारी आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। देवी की दोनों ऊपरी भुजाओं मे चक्र स्थित है और निचली दाहिनी से वरदमुद्रा प्रदर्शित हैं। निचली वाम भुजा की वस्तु अस्पष्ट है। देवी के वाम पार्श्व में गरुड (मानव रूप) की हाथ जोडे आकृति उत्कीर्ण है। देवी सिर पर किरीट मुकुट से अलंकृत है। इसी मन्दिर की एक अन्य मूर्ति मे देवी को गरुड पर आसीन प्रदर्शित किया गया है। शेष विवरण पूर्ववत है

पर यहाँ देवी की निचली वाम भुजा भग्न है। यह चित्रण मन्दिर के पश्चिमी जगती पर देखा जा सकता है। शांतिनाथ मन्दिर (११वीं शती) की पूर्वी दीवार पर उत्कीर्ण देवी की आसीन मूर्ति मे चक्रेश्वरी की ऊपरी भुजाओं में चक्र और निचली दाहिनी व बायीं मे क्रमशः वरद और फल प्रदर्शित है। दोनों ओर दो चामरधारी सेवकों से वेष्टित चक्रेश्वरी का वाहन अनुपस्थित है। ऋषभनाथ के जीवन की पांच घटनाओं (पांच कल्याणकों) का चित्रण करने वाली छत (सभामण्डप के पश्चिम ओर की छत) के मध्य में ऋषभनाथ के यक्ष-यक्षी, गोमुख व चक्रेश्वरी को मूर्तिगत किया गया है। चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा मे भद्रासन पर बैठी है, जिसके समक्ष ही गरुड़ (मानव रूप) की आकृति उत्कीर्ण है। देवी की ऊपरी भुजाओं में चक्र स्थित है, और निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः वरद व शंख प्रदर्शित है। देवी दोनों पार्श्वों में दो चामरधारी स्त्री आकृतियों से वेष्टित है।

गुजरात के मेहसाना जिले के तारंगा हिल स्थित अजितनाथ मन्दिर (११वीं-१२वीं शती) की दक्षिणी जगती पर उत्कीर्ण आसीन मूर्ति में किरीट मुकुट से सुशोभित देवी की ऊपरी दाहिनी व वाम भुजाओं में गदा व चक्र प्रदर्शित है, जब कि निचली दाहिनी व बायीं में वरदमुद्रा और शंख। देवी का वाहन अनुपस्थित है। बिल्कुल समान विवरणों वाला एक अन्य चित्रण दक्षिणी जगती पर ही देखा जा सकता है, किन्तु देवी के मस्तक पर किरीट मुकुट नहीं उत्कीर्ण है। इसी ओर की एक जगती की एक अन्य मूर्ति में देवी की ऊपरी भुजाओं में वरदमुद्रा व फल प्रदर्शित है। देवी के मस्तक पर किरीट मुकुट उत्कीर्ण है।

प्रतिमा निरूपण सम्बन्धी ग्रंथों के निर्देश के अभाव में भी चक्रेश्वरी की छह भुजाओं से युक्त मूर्तियां उत्तर भारत में उत्कीर्ण की गई, इसकी पुष्टि खजुराहो के मन्दिर नं० २७ के अन्दर स्थित मूर्ति से होती है। यह प्रतिमा (२२"×१५") वास्तव में बावली से लगे खुले संग्रहालय की मूर्ति (के० २७-५०) है। ललितासन मुद्रा में गरुड़ पर आसीन षष्ठभुजी चक्रेश्वरी की दाहिनी भुजाओं में (ऊपर से नीचे) चक्र, गदा और अभय मुद्रा प्रदर्शित है और बायीं भुजाओं में चक्र, कमल और अभय मुद्रा चित्रित है। पीले बलुये प्रस्तर में उत्कीर्ण मूर्ति को निर्मिती के आधार पर ११वीं शती में तिथ्यांकित किया जा सकता है।

१०वी शती में निर्मित अष्ठभुजी चक्रेश्वरी की एक कांस्य प्रतिमा (१७·६ से० मी०×८·१ से० मी०) राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में शोभा पा रही है (नं० ६७-१५२)।(५) ललितासन मुद्रा में कमल पर आसीन देवी के ऊपरी छह हाथों में चक्र स्थित है और निचली दाहिनी भुजा में वरद मुद्रा व्यक्त है, जबकि निचली वाम भुजा मे मातुलिंग (फल) प्रदर्शित है: देवी के मस्तक के ऊपर त्रिछत्र से युक्त तीर्थङ्कर की ध्यान निमग्न मूर्ति को उत्कीर्ण किया गया है। देवी के वाहन गरुड़ को आसन के समक्ष मूर्तिगत किया गया है। अष्टभुजी चक्रेश्वरी का एक अन्य चित्रण खजुराहो के घण्टई मन्दिर के ललाट बिम्ब पर उत्कीर्ण है। देवी मानव रूप मे प्रदर्शित गरुड़ के ऊपर ललितासन मुद्रा में आसीन है। चक्रेश्वरी ने ऊपर की दो भुजाओं में चक्र धारण कर रखा है और निचली दो दाहिनी भुजाओं में घण्टा और फल (?) चित्रित है। देवी की दो निचली बायी भुजाओं में एक लम्बी वस्तु (?) सम्भवतः पाश और कलश या फल (?) अंकित है।

प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों में दस भुजाओं से युक्त चक्रेश्वरी के उल्लेख के अभाव के बावजूद ऐसी तीन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। पहली मूर्ति (२४"×५½") मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त होती है, जो सम्प्रति मथुरा संग्रहालय (नं० डी-६) की निधि है।(६) इस मूर्ति में देवी समभंग मुद्रा में एक पीठिका पर खड़ी है। देवी के आसन के नीचे गरुड़ की एक छोटी आकृति उत्कीर्ण है। कमल के अलंकरणों वाले मंडल से युक्त

५. शर्मा, बी० एन०, "अम्पब्लिश्ड जैन ब्राजिज इन दि नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली" जर्नल दि ओरिएण्टल इन्सटिट्यूट, बा० १९, न० ३ मार्च १९७०, पृ० २७६।

६. वासुदेव शरण, अग्रवाल, मथुरा म्यूजियम कैटलाग, ३, पृ० ३१।

देवी के दसों हाथों में चक्र प्रदर्शित है। देवी दोनों पार्श्वों में चामर और मालाधारी सेविकाओं द्वारा वेष्टित हैं। मूर्ति के ऊपरी भाग में एक आसीन तीर्थङ्कर को चित्रित किया गया है। तीर्थङ्कर आकृति के दोनों ओर मालाधारी उड्डायमान गन्धर्व आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। १०वीं शती की एक अन्य मूर्ति खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के मण्डप के ललाट बिम्ब के मध्य में उत्कीर्ण है, (७) जिनमें चक्रेश्वरी मानव रूप में प्रदर्शित गरुड़ पर ललितासन मुद्रा में आसीन हैं। चक्रेश्वरी की दाहिनी भुजाओं के (ऊपर से नीचे) में कमल (?), चक्र, गदा, खड्ग और वरद मुद्रा प्रदर्शित हैं और बायीं भुजाओं मे चक्र, धनुष, खेटक, गदा और शंख चित्रित हैं। अन्तिम उदाहरण उड़ीसा स्थित उदयगिरि हिल के नवमुनि गुफा से प्राप्त होता है,(८) जिसमें तीर्थङ्कर आदिनाथ के नीचे चक्रेश्वरी को एक पीठिका पर ध्यान मुद्रा में आसीन व्यक्त किया गया है। पीठिका के समक्ष वाहन गरुड़ उत्कीर्ण है। देवी की छह भुजाओं में पुष्प के समान चक्र और सातवीं में छिद्रयुक्त चक्र प्रदर्शित है। शेष तीन भुजाओं में ढाल, अक्षमाला और योगमुद्रा प्रदर्शित है।

उड़ीसा की खडगिरि की बाराभुजी गुफा के बरामदे में उत्कीर्ण मूर्ति में द्वादश भुजाओं में युक्त चक्रेश्वरी को दो कमलों पर ललितासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित किया गया है।(९) पीठिका के नीचे वाहन गरुड़ को चित्रित किया गया है। देवी के तीन दाहिने हाथों मे वरद मुद्रा, खड्ग और चक्र स्थित है और चार बायीं भुजाओं मे एक वक्षस्थल के समीप स्थित है और शेष तीन में ढाल, घण्टा और चक्र उत्कीर्ण है। देवी की अन्य भुजायें खंडित हो चुकी हैं। शीर्ष भाग पर वृषभ चिन्ह से युक्त तीर्थङ्कर की आसीन मूर्ति चित्रित है। इसी गुफा से प्राप्त होने वाले एक अन्य उदाहरण में(१०) देवी का वाहन गरुड़ तीर्थङ्कर आदिनाथ के नीचे उत्कीर्ण है। देवी की दाहिनी छह भुजाओं मे वरद मुद्रा, वज्र, दो चक्र, अक्षमाला और खड्ग स्थित है, और बायें हाथों में तीन मे ढाल और सनाल कमल प्रदर्शित है। शेष वक्षस्थल और घुटनों पर स्थित भुजायें काफी भग्न है। इसी चित्र को ११वीं-१२वीं शती मे तिथ्यांकित किया गया है। द्वादश भुजाओं से युक्त चक्रेश्वरी की एक अन्य मूर्ति एलोरा के गुफा नं० ३० में देखी जा सकती है।(११) पद्मासन मुद्रा मे आसीन चक्रेश्वरी की मात्र पाँच दाहिनी भुजा ही शेष बची हैं, जिनमें (ऊपर से नीचे) कमल, चक्र, शंख, चक्र और गदा प्रदर्शित है। देवी की छह दाहिनी भुजाओं में से खड्ग धारण किये एक हाथ ही शेष बचा है। देवी के कमलासन के नीचे मानव रूप मे गरुड़ को चित्रित किया गया है। देवी के मस्तक पर एक आसीन तीर्थङ्कर को मूर्तिगत किया गया है। चक्रेश्वरी के वाम पार्श्व में एक चामरधारी स्त्री आकृति उत्कीर्ण है और दाहिने पार्श्व मे दो स्त्री आकृतियाँ अवस्थित हैं, जिनमे से एक की भुजा मे चामर स्थित है।

मध्य प्रदेश के गोलकट नामक स्थल से प्राप्त होने वाली एक मध्ययुगीन मूर्ति मे कमलासीन देवी को सोलह भुजाओं से युक्त प्रदर्शित किया गया है।(१२) देवी पूर्व प्रतिमाओं के सदृश ही मानव रूप में उत्कीर्ण गरुड़ पर ललितासन मुद्रा में आसीन है। देवगढ़ पर ब्रुन द्वारा लिखित पुस्तक में दिये चित्र में देवी की दो दाहिनी भुजाओं मे अक्षमाला-और-अभय मुद्रा और खड्ग चित्रित है। शेष देवी की तीन वाम भुजाओं में तीन चक्र और शेष में शंख और कमल प्रदर्शित है। शेष भुजाओं की सामग्री चित्र में स्पष्ट नही दिख रही है। देवी के पृष्ठ भाग में उत्कीर्ण भामंडल पुष्प, गुलाब और मोतियों के वृत्तों से अलंकृत है। समस्त सामान्य अलंकरणों से युक्त

७. ब्रुन, क्लाज, "दि फिगर ऑफ दि टू लोवर रिलीफ्स ऑन दि पार्श्वनाथ टेम्पिल एट खजुराहो", आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि स्मृति ग्रंथ, १९५६, अंग्रेजी विभाग, पृ० २४।

८. मित्र, देवल, "शासनदेविज इन दि खडगिरि केव्स" जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी, वा० नं० २, १९५९ पृ० १२८।

९. वही, पृ० १३३।

१०. वही, पृ० १३०।

११. गुप्ता, आर० एस० और महाजन, बी० डी०, अजन्ता, एलोरा और औरंगाबाद केव्स, बम्बई, १९६२, पृ० २१६।

१२. ब्रुन क्लाज, दि जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़, चित्र सं० २२७ विवरण मात्र चित्र पर आधारित हैं क्योंकि लेखक ने मात्र चित्र ही प्रकाशित किया है।

देवी के वाहन गरुड को सर्प यज्ञोपवीत से युक्त अंकित किया गया है। देवी पार्श्व स्थित दो स्त्री चामरधारियों द्वारा सेवित हो रही है। इनक समीप दो उपासक आकृतियां उत्कीर्ण हैं। पीठिका के ऊपरी भाग मे तीर्थङ्कर आकृति से वेष्टित है। इस चित्र के ऊपरी भाग मे चामरधारी स्त्री आकृतियां और मालाधारी उड्डायमान विद्याधरों का अंकन भी ध्यानाकर्षक है।

बीस भुजाओं से युक्त चक्रेश्वरी का अंकन करने वाली एक प्रतिमा मध्य प्रदेश के गंधावल नामक स्थान से प्राप्त होती है,(१३) जिसमे देवी की अधिकतर भुजायें सम्प्रति खंडित हो चुकी है। शेष भुजाओ मे अन्य आयुधों के साथ चक्रो का प्रदर्शन ध्यातव्य है। मूर्ति के ऊपरी भाग मे पांच आसीन तीर्थङ्करों के साथ ही दो उड्डायमान गन्धर्वों को भी मूर्तिगत किया गया है। देवी के दाहिने चरण के समीप गरुड़ उत्कीर्ण है, जिसकी वाम भुजा मे सर्प प्रदर्शित है। चक्रेश्वरी की बीस भुजाओं से युक्त ११वी शती की एक अन्य विशिष्ट आकृति देवगढ़ के मन्दिर नं० १९ से प्राप्त होती है, जो सम्प्रति धर्मशाला में स्थित है।(१४) चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा मे गरुड़ पर आसीन थी, जिसके भग्न दाहिने हाथ मे देवी का दाहिना चरण स्थित था। देवी की ऊपर तीन दाहिनी भुजाओ मे चक्र और निचली मे वरद और अक्षमाला प्रदर्शित है। एक अन्य भग्न दाहिनी भुजा मे गदा, जिसका ऊपरी भाग ही शेष बचा है, स्थित था, शेष दाहिनी भुजाएं भग्न है। चक्रेश्वरी ने अपनी ऊपरी दो बायी भुजाओं मे चक्र और तीसरे मे ढाल धारण कर रखा है। देवी की निचली भुजा मे प्रदर्शित शख के अतिरिक्त सभी भुजायें खण्डित हो चुकी है। मूर्ति के ऊपरी भाग मे तीर्थंकर के आसीन चित्रण के दोनो पार्श्वों मे क्रमशः लक्ष्मी (बायें) और सरस्वती (दाए) को मूर्तिगत किया गया है। चतुर्भुज लक्ष्मी की दोनो ऊपरी भुजाओं मे कमल पंखुड़ियां अंकित है और निचले दाहिने व बायें हाथों मे क्रमशः वरदमुद्रा और कमण्डलु उत्कीर्ण है। दाहिने पार्श्व मे स्थित चतुर्भुज सरस्वती की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओ मे क्रमशः कमल और पुस्तक प्रदर्शित हैं। और निचली दोनो भुजाये वीणा वादन मे व्यस्त है। ऊपरी भाग मे विभिन्न वाद्य वादन करती आकृतियो को चित्रित किया गया है। देवी प्रत्येक पार्श्व में तीन सेवक आकृतियों द्वार वेष्टित हैं, जिनमे से दो अंतिम सेवकों के अतिरिक्त सभी स्त्री आकृतिया है। सभी आकृतियों की बाहरी भुजा कटि पर स्थित है व अंदर की भुजा में कमल प्रदर्शित है। पृष्ठभाग मे अलंकृत कान्तिमण्डल से युक्त चक्रेश्वरी दुपट्टा, मुकुट व अन्य सामान्य आभूषणो से सुसज्जित है।

जैनधर्म व शिल्प में सरस्वती व अंबिका के बाद सबसे ज्यादा लोकप्रियता चक्रेश्वरी को प्राप्त हुई यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा चुका है। चक्रेश्वरी की स्वतंत्र मूर्तिया दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत से अधिक प्राप्त होती हैं, यह तथ्य चक्रेश्वरी के उत्तर भारत मे विशेष लोकप्रिय रहे होने की ओर संकेत करता है। चक्रेश्वरी की उत्तर भारत से प्राप्त होने वाली मूर्तियो के अध्ययन के उपरान्त यह प्रतिपादित किया जा सकता है। कि इस क्षेत्र के कलाकारों ने प्रतिमाशास्त्रीय निर्देशो के विपरीत चक्रेश्वरी को कई नवीन स्वरूपों मे मूर्तिगत किया और साथ ही ग्रथो मे वर्णित स्वरूपों के निर्मितो मे भी नवीनताओ का समावेश किया। चक्रेश्वरी की उपासना जैनधर्म की १६ विद्या देवियों में से पांचवीं विद्यादेवी चक्रेश्वरी या अप्रति चक्रा के रूप में भी अत्यन्त प्रचलित थी।[१५] विद्यादेवी के रूप में भी देवी के साथ गरुड़ और चक्र को सदैव उत्कीर्ण किया गया है। विद्या देवी के रूप में उत्कीर्ण किये जाने पर चतुर्भुज अप्रति चक्रा के चारों भुजाओ में चक्र प्रदर्शित किए जाने का विधान है, जिसका निर्वाह कुछ एक उदाहरणों को छोड़कर कलाकारों ने नहीं किया है। फलतः यक्षी चक्रेश्वरी और विद्यादेवी अप्रतिचक्रा में भेदकर पाना कभी कभी असंभव सा हो जाता है। ★

१३. गुप्ता, एस० पी और शर्मा, बी० एन०, "गंधावल की जैन मूर्तियाँ", अनेकान्त, वर्ष १९, नं० १-२, अप्रैल-जून १९७६, पृ० १३० ।

१४. ब्रुन, क्लाज, दि जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़, पृ० ;८९-१९२ ।

१५. देखें, शाह, यू० पी०, "आइकोनोग्राफी ऑफ दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज", जर्नल इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट, वा० १५, १९४७, पृ० १३२-३७ ।

बड़ा मन्दिर पनागर की प्राचीन जैन शिल्पकला

कस्तूरचन्द सुमन एम. ए.

मध्यप्रदेश के जबलपुर शहर से ५० मील दूर जबलपुर कटनी रोड पर स्थित पनागर एक ऐतिहासिक स्थल है। यहाँ प्रधानतः गोलापूर्व और परवार जैनों का निवास है।

उपलब्ध प्राचीन जैन प्रतिमाओं से ऐसा प्रतिभास होता है कि १२वीं सदी के आस-पास कलचुरि नरेश गयाकर्ण देव के शासनकाल मे यह क्षेत्र भी जैन संस्कृति से प्रभावित रहा है। जैनों द्वारा प्रतिष्ठापित तत्कालीन जैन प्रतिमाएं आज अपनी मूक वाणी से नगर के वैभव को प्रकट करतीं है। इन तथ्यो के परिज्ञान के लिए आइए-पनागर स्थित बटरिया मे निर्मित बड़े मन्दिर मे विराजमान प्राचीन प्रतिमाओं का अध्ययन करें—

(१)

शान्तिनाथ प्रतिमा

बड़े मन्दिर के (नीचे) प्रथम अंश में दो स्थल हैं जहाँ प्रतिमाए विराजमान है। इनमें एक कमरे मे कायोत्सर्ग मुद्रा में मनोहारी एक भव्य जैन शिला विराजमान है यह प्रतिमा एक ही विशाल शिलाखण्ड पर अंकित की गयी ज्ञात होती है। प्रतिमा परिकर विहीन है। भग्न परिकर के अवशिष्टांशों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिमा के दायें बायें दोनों ओर देव अंकित रहे हैं। चरणों के पास उनके सेवक भी अंकित रहे ज्ञात होते हैं। प्रतिमा के दर्शन करने से अहार जैन क्षेत्र की शान्तिनाथ प्रतिमा की आकृति का प्रतिभास होता है। परिकर का ऊपरी अंश टूट गया है। प्रतिमा का आसन भी भग्नावस्था मे ही है। आसन का वह भाग संभवतः टूट कर अलग हो गया है जिस पर लेख अंकित रहा होगा। यह भी सभावना इस प्रतिमा से अभिव्यक्त होती है कि प्रतिमा लेख विहीन ही रही होगी। कलचुरि कालीन जबलपुर हनुमान ताल बड़े मन्दिर में स्थित प्रतिमा पर भी इसी प्रकार कोई लेख उपलब्ध नहीं हुआ है जिससे उक्त संभावना सत्य प्रतीत होती है।

प्रतिमा का बायाँ हाथ टेहुनी से भग्नावस्था में दिखाई देता है। काले-भूरे देशी पत्थर से निर्मित इस प्रतिमा की केश-राशि कधो पर लहराती हुई दर्शाई गयी है। श्री वत्स चिह्न यथा स्थान अंकित है।

केश-राशि की रचना से प्रतिमा प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की ज्ञात होती है। ऐसी ही केशराशि से युक्त एक प्रतिमा जबलपुर हनुमान ताल बड़े मन्दिर में, तथा एक प्रतिमा कुण्डलपुर दमोह के 'बड़े बाबा' के मन्दिर मे विराजमान है। देवगढ़ में भी ऐसी ही एक प्रतिमा आज भी विराजमान हैं, जिसका उल्लेख डा० भागचन्द्र ने अपने शोध प्रबन्ध में किया है।

यह प्रतिमा जिस शिलाखण्ड पर अंकित उपलब्ध हुई है वह लगभग ५ हाथ उचा और २ हाथ चौड़ा है। प्रतिमा के पीछे भग्न भामण्डल हैं। चरणों के पास सेवकों की मानवाकृतियाँ भी अंकित रही हैं। सेवकों के भग्नावस्था मे अवशिष्ट चरण अलकृत दिखाई देते हैं। अलकारो से कलाकारो की सूक्ष्म छेनी प्रयोग का आभास होता है। प्रतिमा का यदि सम्पूर्ण परिकर उपलब्ध होता तो निःसन्देह ही यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे महाकोशल में एक अनूठी उपलब्धि होती।

प्राप्तिः—यह प्रतिमा कछयाने से उपलब्ध हुई बताई जाती हैं। इस उपलब्धि के सम्बन्ध में यह किंवदंति भी यहां प्रचलित है कि प्राचीन काल में एक व्यापारी कछयाने से होकर नित्य व्यापार हेतु चादर जाया करता था। उसे आते-जाते समय एक निश्चित स्थान पर पहुँचते ही एक पत्थर से चोट लग जाया करती थी। एक दिन उसने उस पत्थर को निकालने का निश्चय किया। उसे रात्रि मे स्वप्न आया कि धीरे-धीरे खोदना। दूसरे दिन

उसने खोदना आरम्भ किया और उसे यह प्रतिमा उपलब्ध हुई।

इस प्रतिमा के सम्बन्ध में श्री सिंघई मिट्ठूलाल जी पनागर निवासी से यह किंवदंति भी ज्ञात हुई कि प्राप्ति के उपरान्त जब प्रतिमा को उठाने की चली तो स्वप्न आया और स्वप्न के अनुसार उक्त प्रतिमा को कच्चे धागे से बाँधकर छत्तरपुर की टोरिया की ओर भक्त बढ़ा। भक्त इस स्थल तक आ पाया था कि उसका धैर्य टूट गया। प्रतिमा आ रही है कि नहीं इस चाह ने उस पीछे देखने के लिए बाध्य कर दिया। कहते हैं जैसे ही भक्त ने लौटकर देखा कि फिर प्रतिमा आगे नहीं बढ़ी। तत्पश्चात् उसी स्थल पर प्रतिमा को विराजमान करना पड़ा। एक अतिशय यह भी हुआ कि एक हाथ टेहुनी से टूटकर प्रतिमा का अपने आप गिर गया। चिलिन भक्त को पुनः स्वप्न आया कि हाथ सीरे से जोड दो"। भक्त ने वैसा ही किया। यह जोड़ आज भी दिखाई देता है।

(२)

मन्दिर के इसी प्राङ्गण मे एक पृथक् अलकृत वेदी पर पार्श्वनाथ प्रतिमा भी विराजमान है। प्रतिमा के शिर पर ग्यारह फणावली से युक्त अकन है। यह पद्मासनस्थ प्रतिमा अतिशय पूर्ण बनाई गई है।

अतिशय

इस प्रतिमा के सम्बन्ध में बताया जाता है कि किसी बाहरी जैनी ने इसे प्रतिष्ठित कराया था। वह इस प्रतिमा को अन्यत्र ले जाना चाहता था किन्तु गाड़ी के बार-बार टूटने पर ऐसा निश्चय किया गया कि गाड़ी पर प्रतिमा को विराजमान कर दिया जावे और बैलों को छोड़ दिया जावे। प्रतिमा जहां जाना चाहेगी चली जावेगी। ऐसा किए जाने पर बैल प्रतिमा को लेकर इस मन्दिर की ओर चल दिए फलस्वरूप प्रतिमा तत्पश्चात् इसीमन्दिर मे प्रतिष्ठित की गयी।

यह प्रतिमा प्राचीन नहीं है। इस पर अंकित लेख आज धूमिल सा हो गया है पढ़ने मे कठिनाई होती है। यदि यही व्यवस्था रही तो भविष्य मे यह लेख अपठनीय हो जावेगा। अतः लेख सुरक्षित हो सके इसलिए इस प्रतिमा का वर्णन भी मैंने प्रकाशित करा देना ठीक समझा है।

अभिलेख

लेख दो पंक्तियों में संस्कृत भाषा में नागरी लिपि में अंकित है।

(१)।। संवत् १८५८ मीती (मिती) वैसाष (वैशाख) सुदि १३ श्री मूलसघे सरस्वती गच्छे बलात्कार (गणे) कुंदकुंदाचार्यान्विये श्री भट्टारक नरेन्द्र भूषण जी पट्ट पुवाले (?) रतनतउ पट्टे सात सिंघई कासीराम पुत्र सुखलाल ता—

(२) श्री—व-सवसु बाजण (जिण) मंदिर प्रतिष्ठा कारापिता।। गौ उल्वद्रे से मध्ये पनागर नगरी मध्ये तिण (जिण) मंदिर गजरथ प्रतिष्ठा कारापिता।

अतिशय

श्री रतनचन्द्र जी गोदिया द्वारा लिखित "जैन समाज पनागर का क्रमिक विकास" नामक कृषि में पूर्व निर्देशित किंवदन्ति दूसरे रूप में निर्देशन की गयी है— "कि जबलपुर समाज इस प्रतिमा को ले जाना चाहती थी। प्रयत्न किये, किन्तु प्रतिमा-पचासों व्यक्तियों द्वारा आगे ले जाए जाने का प्रयास किए जाने पर भी, वर्तमान ग्राम पंचायत कार्यालय से आगे न ले जायी जा सकी। आश्चर्य कारक यह बात रही कि प्रतिमा को पीछे लौटाने पर वह दो व्यक्तियों द्वारा ही आसानी से ले जायी जाने लगी।

एक अतिशय यह भी बताया गया हैं कि इस प्रतिमा को पीछे वेदी बनाकर उस पर प्रतिष्ठित किया गया किन्तु प्रतिमा एक बार नहीं अपितु द्वितीय प्रयास में भी अपने यथा स्थान पर आकर विराजमान होती रही।

तृतीय अतिशय उस समय घटित हुआ जब किसी रजस्वला स्त्री का प्रतिमा से स्पर्श हुआ स्पर्श होते ही प्रतिमा से इतना स्वेद निकला कि पच्चीसों धोतियां जल में भीग गयीं। इस घटना का प्रत्यक्षदर्शी प्रेम माली था

मन्दिर के प्रथम प्रांगण के प्रवेश द्वार की बायीं ओर पार्श्वनाथ प्रतिमा के समीप विराजमान एक कलाकृति बहुत ही भव्य अवस्था में विराजमान है। लगभग एक

हाथ लम्बे चौड़े देशी पत्थर पर अंकित यह शिल्प जबलपुर हनुमानताल बड़े मन्दिर में विराजमान कलचुरि कालीन प्रतिमा के समान है। इस अंकन में मूलनायक प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ है। केश गुच्छक रूप में दर्शाये गये हैं। विशाल नेत्र, कर्ण प्रतिमा की भव्यता प्रकट करते हैं। गले मे त्रि रेखायें उनके रत्नत्रयमय उपदेश एवं धारण की प्रतीक ज्ञात होती है।

प्रतिमा का परिकर कलाकृति का उत्कृष्ट रूप है। सर्व प्रथम सर्वोपरि अलंकृत दोनों ओर हाथी अंकित है जिनकी सूड़ छत्र के ऊपरी अंश का स्पर्श कर रही है। हाथियों के मध्य त्रिछत्र अलंकृत रूप मे चित्रित किए गए हैं। छत्र के सबसे ऊपर एक मानवाकृति भी अंकित दिखाई देती है जो ढोलक जैसे वाद्य के बजाने मे रत है। हाथी पुष्पाकृतियों पर आधारित है। पुष्पाकृतियो के नीचे अलंकृत दोनों ओर दो उड्डायमान देवाकृतियां तथा उनके नीचे दो चंवरधारी देव अंकित हैं। आसन पर प्रथम तो अलंकरण के रूप में तीन कमल पुष्प की आकृतियां हैं। उनके नीचे दोनों ओर दो सिंहाकृतियों का अंकन है। सिंहाकृतियों के मध्य एक पुष्पाकृति भी है जिसे चिह्न नहीं कहा जा सकता है।

मूलनायक प्रतिमा के दायें-बायें कायोत्सर्ग मुद्रा में दो प्रतिमाएं अंकित है। प्रतिमाओं का अंकन मूलनायक प्रतिमा के समान है। शिरोपरि सर्व प्रथम तीन छत्रों का अंकन है। छत्र के नीचे सप्त फणावली से युक्त रचना की गई है। फणावली भग्न हो जाने पर भी उनका सप्त संख्यक होना ज्ञात होता है। फणावली से ये प्रतिमाए सुपार्श्व नाथ तीर्थङ्कर की ज्ञात होती हैं। आसन पर कोई लेख नहीं है। कलाकृति से प्रतिमा कलचुरि कालीन ज्ञात होती है।

बहुत कुछ ऐसे ही अंकन से युक्त काले पाषाण से निर्मित कायोत्सर्ग मुद्रा में दो प्रतिमाएं बड़े मन्दिर के समीप ही निर्मित एक पृथक् मन्दिर की एक वेदी पर भी विराजमान हैं।

ये प्रतिमाएं प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की ज्ञात होती है। ऐसी प्रतिमाएँ कछयाने में भी संग्रहीत हैं जिनमे यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

इस मन्दिर के निचले द्वितीय अंश में एक वेदी पर तीन प्राचीन जैन प्रतिमाएं विराजमान हैं।

पार्श्वनाथ प्रतिमा

पद्मासन मुद्रा में ध्यानस्थ यह प्रतिमा नव फणावली से युक्त है। गले में कुण्डलपुर के 'बड़े बाबा' की प्रतिमा के समान तीन रेखायें दिखाई देती हैं। प्रतिमा के आसन पर नवग्रह प्रतिमाएँ अंकित हैं। दोनो ओर चंवरधारी दो देव खड़े दिखाए गये हैं। बीच में फण फैलाए हुए दो सर्प भी अंकित है। ये सर्प चिह्न स्वरूप अंकित किए गये ज्ञात होते है। प्रतिमा देशी पत्थर से निर्मित है।

द्वितीय प्रतिमा

प्रतिमा तीन छत्र से सुशोभित है। दोनो ओर दो हाथी हाथियों के नीचे दो चवरधारी देव अंकित हैं। दोनो ओर पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मुद्रा में एक-एक प्रतिमा भी अंकित है। चिह्न विहीन आसन, जबलपुर हनुमानताल बड़े मन्दिर मे विराजमान प्रतिमा के आसन से मिलता जुलता है। कलाकृति से प्रतिमा कलचुरि कालीन ज्ञात होती हैं। आसन पर अंकित दोनों ओर सिंहाकृतियां केवल अलंकरण मात्र है।

तृतीय मानस्तम्भ

काले पाषाण से निर्मित यह स्तम्भ अवलोकनीय है। इस स्तम्भ के चारों ओर १३-१३ प्रतिमाएं अंकित की गयी हैं। ऐसा ज्ञात होता है मानो नंदीश्वर द्वीप के ५२ अकृतिम चैत्यालयों का दिग्दर्शन कराने के लिए ही इस स्तम्भ की रचना की गयी थी। स्तम्भ पर अंकित प्रतिमाएं तीन भागों में विभाजित है। प्रथम अंश में तीन-तीन प्रतिमाएं हैं। इनमें मध्य में एक प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में तथा उस प्रतिमा के दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक-एक प्रतिमा दर्शाई गयी है।

मध्यवर्ती तथा निचले अंक के मध्य में एक-एक ध्यानस्थ मुद्रा में तथा उसके दोनों ओर दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रतिमाएं विराजमान है। आसन पर दोनो ओर सिंहाकृतियां है। इन आकृतियों के मध्य एक पुष्पाकृति भी अंकित की गई है।

मन्दिर के द्वितीय अंश से भीतर की ओर बायें इस

पर ऊपर की वेदी में विराजमान प्रतिमाएँ :—

प्रथम चौबीसी

इस चौबीसी में मूलनायक प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य और २४ प्रतिमाएं अंकित की गई हैं। सभी प्रतिमाए कायोत्सर्ग मुद्रा में काले पाषाण से निर्मित है। मूलनायक प्रतिमा के शिर पर तीन छत्र तथा पीछे भामण्डल अंकित है। चिह्न के अभाव में मूलनायक प्रतिमा का प्रतिबोध नहीं होता है।

द्वितीय आदिनाथ प्रतिमा

काले पाषाण से निर्मित यह प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा मे विराजमान है। श्रीवत्स चिह्न स्पष्ट दिखाई देता है।

इस प्रतिमा का परिकर किञ्चित् परिवर्तन के साथ हनुमानताल बड़े मन्दिर में विराजमान प्रतिमा के समान है। शिरोपरि अलंकृत तीन छत्र अंकित है। छत्र के दोनो ओर अलंकृत दो हाथी सवारों से युक्त मूर्तिगत किए गए हैं। हाथियों के नीचे दोनों ओर अपने-अपने हाथों मे मालाएँ धारण किए हुए दो उड्डायमान देवाकृतियां हैं। ये आकृतियां विभिन्न अलंकारो से युक्त हैं। इन देवों के नीचे दोनो ओर अन्य देवाकृतियां अंकित है। जिनके एक एक हाथ में चंवर दिखाई देता है। इन आकृतियो के अंगावयव अलंकारों से सुसज्जित हैं। इनके नीचे दोनो ओर दो भग्न मुद्रा मे पुरुष और नारी की आकृतियां दिखाई देती है, जो सभवतः यक्ष-यक्षिणी है।

आसन पर दोनों ओर दो सिंहाकृतियां है। सिंहाकृतियों के मध्य एक पुष्पाकृति है जिसके अन्तर्गत एक वृषभाकृति अंकित दिखाई देती है। इस आकृति से प्रतिमा प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की ज्ञात होती है। आसन के नीचे एक पंक्ति में लेख भी अंकित है किन्तु लेख का कुछ अंश वेदी में दब गया है। अक्षर भी इतने अस्पष्ट हो गए हैं कि उनका पढ़ा जा सकना कठिन है। लेख में "षष्ठी प्रतिष्ठापितं" किसी तरह पढ़ा जा सकता है। इससे प्रतिमा उक्त तिथि में प्रतिष्ठापित की गई ज्ञात होती है।

तृतीय प्रतिमा

काले पाषाण से निर्मित कायोत्सर्ग मुद्रा में यह प्रतिमा अंकित है। परिकर का ऊपरी अंश टूट गया है। ऊपर उड्डायमान दो देवाकृतियां रही ज्ञात होती हैं। नीचे दोनो ओर दो देवाकृतियां हैं तथा उनके भी नीचे दो अलंकृत मानवाकृतियां दिखाई देती है। आसन टूट गया है।

: मूलनायक प्रतिमा शान्तिनाथ की नहीं :

शान्तिनाथ प्रतिमा के सम्बन्ध में हम पहले ही बता आए हैं कि कंधो पर लहराती हुई केशराशि इस बात की प्रतीक है कि प्रतिमा शान्तिनाथ तीर्थङ्कर की नही है वह तो प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की है। यदि शान्तिनाथ की होती तो चिह्न भी अंकित मिलता।

पनागर के ही कछयाने मे स्थित संग्रहालय में संग्रहीत जैन मूर्तियों को देखने से भी यह बात और स्पष्ट हो जाती है। उक्त संग्रहालय मे भग्नावस्था मे आज भी ऐसी दो मूर्तियां उपलब्ध है जिनके कंधो पर न केवल केश राशि ही है, अपितु उनके आसनों पर उनका चिह्न वृषभ भी अंकित है। शासन देवताओं का अंकन भी दिखाई देता है

यदि इस प्रतिमा का परिकर भग्नावस्था मे न होता तो प्रतिमा का चिह्न तथा शासन देवताओं का अंकन भी वास्तविकता को प्रकट करता। इस भांति एक ही क्षेत्र विशेष की एक सी कलाकृति की उपलब्धियों से भ० शान्तिनाथ की प्रतिमा यथार्थ में भ० आदिनाथ की ही ज्ञात होती है।

मन्दिर का नाम बड़ा मन्दिर क्यो ?

मन्दिर के नामकरण से भी यही ज्ञात होता है कि यह सर्व तीर्थङ्करों में बड़े तीर्थङ्कर आदिनाथ के लिए निर्मित कराया गया होगा। अतएव इसे बड़ा "बड़ा मन्दिर' सज्ञा से सम्बोधित किया जाने लगा कुण्डलपुर (दामोह) की बड़े बाबा की प्रतिमा भी इसी प्रकार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की है। और यही कारण है कि उक्त प्रतिमा को आज 'बड़े बाबा' के नाम से जाना जाता है।

पं० बखतराम शाह

परमानन्द जैन शास्त्री

पं० बखतराम प्रेमराज के पुत्र थे। यह चाटसू (राजस्थान) के निवासी थे। इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र शाह था और धर्म था दि० जैन। चाटसू से वे कारणवश सवाई जयपुर मे रहने लगे थे। जयपुर मे वे लश्करी मन्दिर मे विराजमान नेमिप्रभु की भव्य मूर्ति का दर्शन किया करते थे[1]। शाह बखतावर के ४ पुत्र थे—सेवाराम, जीवन शाह, खुशालचद और गुमानीराम। इनमें सेवाराम का परिचय अलग लिखा गया है। जीवन शाह भक्ति के प्रेमी थे उन्होंने अनेक भक्ति पद बनाये हैं। जीवन शाह ने स० १८६३ मे 'बुद्धिविलास' की प्रति लिखवाई थी[1]।

शाह बखतराम भट्टारकीय विद्वान थे और वीस पथ के अनुयायी थे। इन्होंने मिथ्यात्वखडन नाम का ग्रन्थ सं० १८२१ में बनाकर समाप्त किया था। इसमें तेरा पंथ का खंडन किया गया है।

इनकी दूसरी रचना 'बुद्धिविलास' हैं जिसमें १५२६ दोहा, चौपई, कवित्त छप्पय, कुंडलियां, सोरठा, पद्धड़ी, भुजंगप्रयात, अरिल्ल, गीता, सवैया आदि छन्दों मे विविध विषयों का कथन किया गया है, ग्रंथ में जयपुर आमेर का वर्णन राजाओं का समुल्लेख, भट्टारक पट्टावलि सघोत्पत्ति चद्रगुप्त के सोलह स्वप्न देवसेन के दर्शनसार का पद्यानुवाद, हेमराज के अनुसार चौरासी बोल, खडेलवालो के गोत्र आदि सं० १७१७ तथा १८१८ की राजकीय घटनाए, और इनसे पूर्ववर्ती घटनाएं जो सुनी-सुनाई थी उन्हें भी लिख दिया है, पर उनके सम्बन्ध मे कोई विचार व्यक्त नहीं किया कि ये ठीक हैं या नही।

यहा पर ग्रन्थ की एक-दो घटनाओ का दिग्दर्शन कर देना उचित समझता हूँ। जो ऐतिहासिक दृष्टि स विरुद्ध पड़ती हैं।

काहू समये संघ चल्यो गिरनारिकौं।
कुंद कुंद मुनि बहुरि श्वेत पट लारकौं ॥५७३
साथि दुहू मतके हो पंच भये घनें।
पहुँचे गिर तरि जाय सबै ऐसें भनें,
पहले दरसन करन तनो झगरो परचो
आपस मांझि दुहुन हो क अति रिस भरयो ॥५७४
× × ×
वे तो कहें हमारो हो मत आदि है।
दूजे कहैं अनादि हम वे आदि हैं।
तब अकास तें भई देव बानी यही।
झगरत काहे आदि दिगंबर है सही ॥५७५
पहिलें वंदन करी नेमि जिनचंद की।
जबतें आमनाय ठेहरी मुनि कुंद की॥

यह घटना आचार्य कुन्दकुन्द के समय की नहीं है, किन्तु विक्रम की १५वीं शताब्दी के पद्मनन्दि भट्टारक के समय की है उस समय दिल्ली वालों का संघ सेठ पूर्णचन्द की प्रधानता में भ० पद्मनन्दि के सान्निध्य में गिरनार की यात्रा को गया था, उसी समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय का संघ भी उक्त तीर्थ की यात्रार्थ आया हुआ था। उस समय दोनों संघों में यह विवाद छिड गया कि पहले कौन बंदना करे, जब विवाद ने अधिक तूल पकड लिया, तब उसके शमनार्थ यह युक्ति सोची गई कि जो सघ सरस्वती से अपने को 'आद्य' कहला देगा वही संघ पहले यात्रा को जा सकेगा। अतः भट्टारक पद्मनन्दि ने पाषाण की सर-

---

१. ग्रन्थ अनेक रहस्य लखि जो कुछ पायो थाह।
बखतराम वर्णन कियो प्रेमराज सुत साह॥
आदि चाटसू नगर के बासी तिनको जानि।
हाल सवाई जै नगर माहिं बसे है आनि॥
तहां लश्करी देहुरै राजत श्री प्रभु नेम।
तिनको दरसण करत ही उपजत है अति प्रेम।
—मिथ्यात्वखंडन नाटक

स्वती देवी के मुख से 'आद्य दिगम्बर' शब्द कहला दिया, परिणामस्वरूप दिगम्बरों ने पहले यात्रा की और भगवान नेमिनाथकी भक्ति पूर्वक वदना पूजा की। उसके बाद श्वेतांबर सम्प्रदाय ने की। पट्टावलि के वे पद्य इस प्रकार हैं :—

"पद्मनन्दि गुरु जातो बलात्कार गणाग्रणी।
पाषाण घटिता येन वादिता श्री सरस्वती।।
ऊर्जयन्त गिरौतेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने।।"

इस घटना का सम्बन्ध कुन्दकुन्दाचार्य से कतई नही है; क्योंकि इस घटना का समय वि० की १५वीं शताब्दी है। कुन्दकुन्दाचार्य तो इनसे कई शताब्दियों पहले हो गये हैं। इसका सम्बन्ध पद्मनन्दि नाम साम्य के कारण कुन्दकुन्दसे जोड़ना, निराधार है।

दूसरी घटना अलाउद्दीन खिलजी के समय की है, जिसे फिरोजशाह तुगलक के समय की बतलाई गई है। जबकि सं० १३७५ में भट्टारक प्रभाचन्द हुए[1]। जब दिल्ली के पातशाह पेरोजशाह हुए थे तब चादाशाह हुए, तब भ० प्रभाचन्द्र दिल्ली आए और उन्होंने विद्यावल से बाद जीत लिये, और शाह ने रीझकर लंगोट लगाकर अन्तःपुर के दर्शन की बात कही और सब श्रावको ने ऐसी प्रतिज्ञा की कि हम आपको वस्त्रयुक्त यती मानेंगे[2]। प्रभाचन्द्र से राघो चेतन ने वाद किया और वे उसमे पराजित हुए[3]। पालिकी बन्द कर दी, तब उन्होंने उसे बिना कहारों के चलाई।

कविका यह सब कथन ठीक ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि राघो चेतन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। वे अलाउद्दीन खिलजी के समय हुए हैं। उनका वाद महासेन से हुआ था। राघो चेतन का अस्तित्व फीरोजशाह तुगलक के समय नहीं था। फीरोजशाह तुगलक का समय वि० स० १४०८ से १४४५ है। हाँ, प्रभाचन्द्र फीरोजशाह तुगलक के समय मोजूद थे, वे वस्त्र धारण करके अन्तःपुर मे भी गए। राघो चेतन का सम्बन्ध प्रभाचन्द्र के साथ नहीं था और न उनके समय राघो चेतन हुए। यह घटना महासेन के साथ घटी थी, जो अलाउद्दीन खिलजी के समय दिल्ली आए थे।

इसी तरह ग्रन्थ में जहाँ तहाँ कथन में विरुद्धता दिखलाई पडती है।

ग्रन्थों में इन्द्रनन्दि के नीतिसार का भाषा पद्यानुवाद भी दिया हुआ है। उसके सम्बन्ध में कवि ने स्वयं लिखा है कि इन्द्रनन्दि का नीतिसार ग्रंथ संस्कृत पद्यों में है। मेरे अनुरोध करने पर पं० कल्यान ने, जो संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान और तर्क वाले थे। इतिहास सम्बन्धि कुछ बातों का ज्ञान रखते थे। उनका अर्थ बतलाया, तब मैने उसका अनुवाद किया। ग्रन्थ निर्माण के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि उस समय जयपुर में गुणकीर्ति नाम के एक मुनि थे, जो तप का अनुष्ठान करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम एक ग्रन्थ बनाओ, जिसमें जैन पन्थ का संघ गण गच्छादि की उत्पत्ति और उनके भेदों का वर्णन हो, महावीर से लेकर अब तक की पट्टावली, श्रावकों के खांप गोत्र वगैरह और अन्य अनेक घटनाओं का वर्णन समाविष्ट करो। साथ ही चांदुवाड, संतोषराम, भांवसा रूढामल आदि अनेक श्रावकों ने भी ग्रंथ बनाने की प्रेरणा की। तब मैंने इस ग्रन्थ को बनाने का उद्यम किया है। ग्रंथ में अनेक ऐतिहासिक घटनाएं लिखने का

---

१. संवत् तेरह सै पिचिहतरचौ जानिवै,
भए भट्टारक प्रभाचन्द्र गुनवानि वै।।
—बुद्धिविलास पृ० ७८

२. दिल्ली के पातिसाहि, पेरोजसाहि जब।
चांदोशाह प्रधान भट्टारक प्रभाचन्द्र तब
आए दिल्ली माझि वाद जीते विद्यावर
साहि रीझि कै कही, करै दरसन अन्तहपुर
तिहि समै लंगोट लिवाय फुनि चांद विनती उच्चरी।
मानिहैं जती जुत वस्त्र हम सब श्रावग सौगंद करो।।
याही गछ मैं भट्टारक जब बहुभए,
वरष कितेक विती तैं गछ निकसे नये।
तिनमें चलत बचन को भेद न जानियौं
निकसन की विधि लषां लिषीतो मानियौं।।६१७।।

३. आवलपुर में मनिघरि विषाद
राघो चेतन प्रति किय विवाद
पालिकी बंद करि दी लवार
दन्ही चलाय मुनि बिन कहार।।६०२।।
राघो चेतन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जो मन्त्र-तन्त्रवादी थे। और अलाउद्दीन खिजली के समय दिल्ली आये थे।

अपभ्रंश की एक अज्ञात कथा-रचना

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय साहित्य में प्राकृत और अपभ्रंश कथा-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। यह कथा-साहित्य जन-मानस मे शत-सहस्राब्दियो से प्रचलित रहा है। इसमे न केवल धार्मिक और सामाजिक जीवन का वरन् लोक-सस्कृति का परिवेश भी चित्रित किया गया है। अधिकतर कथाए लोक-जीवन से ली गई हैं। कथावस्तु और भाषा दोनों ही लोक-जीवन की स्वाभाविकता को सहेजे हुए हैं। लोक-जीवन के चित्रण में स्थानीय रग-रूपो की झलक भी मिलती है। इन कथाओ मे नायक व चरित्र सामान्य जीवन के हैं। यद्यपि निम्न वर्ग के जीवन से उनमे कुछ विशिष्ट और असाधारण कार्य भी लक्षित होते है, किन्तु वे इतने असाधारण नही है जो सामान्य जीवन में न मिल सकते हों। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में सामन्त वर्ग का चित्रण करना एक सामान्य प्रवृत्ति थी, जिसकी विशेषताएं अपभ्रंश-साहित्य में भी मिलती है।

प्रस्तुत 'आदित्यवार कथा' एक ऐसी ही कथा-रचना है, जो भाषा काव्यों के लिए एक आदर्श (मॉडल) रही है और जिसमें जन-सामान्य की घटनाएं एक धार्मिक व सामाजिक परिवेश में चित्रित की गई हैं। घटनाएं सामान्य होने पर भी लोक सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कथा रचना-आकार में सांस्कृतिक विवरण को समेट नहीं पाई है, किन्तु सकेत अवश्य मिलते हैं। जैन साहित्य में इस प्रकार की अनेक कथाएं मिलती हैं जो मूल में लोक-कथाएं थी और जिनमे कथानक रूढ़ियाँ तथा कथा-भिप्राय सहज रूप में निबद्ध है। भारतवर्ष में ही नही, सभी देशो मे कथा-साहित्य मौखिक रूप मे प्रचलित रहा है, जिसमे उसके विभिन्न रूपान्तरण प्राप्त होते है। आदित्यवार कथा का पाठ निम्नलिखित है :—

पासजिणहु पय पणविवि सरसइ चित्त धरि।
सुहु वयहुफलु अक्खमि णिसुणहु भाव करि॥
भरहखित्ति महिमंडल वाणारसि जु पुरी।
जीवदयावय धारउ सेट्ठिवि तहि णयरी॥
गुणवय कतहि रत्तउ रेसि णंवण जणिया।
दाण पूय सुपयासिवि विवहे तणु गणिया॥
एकहि दिणि सा सेठणि चेईहर गइया।
ण्हवण पूजहि अवलोय वि संठिअ बहु सहिया॥
मुणि सिद्धंत पढतहि रविवउ वज्जरिउ।
जो किज्जै नवरसहि हियए तं धरिउ॥
धम्मसवणु बहु णिसुणिवि चेए धरि गइया।
पुण्णक्खय वउ णिंदिवि उग्गवुग्गणि भइया॥
अहणिसि मणहि विसूरइ किम कीयो वइया।
घरु परियणु सबु छंडिवि पुत्त वि पहि चलिया॥
अवधि हि ते वि पहुत्ते बहु दिणि गमण करे।
सुयण वि तरि णालोपहि समरिउ चित्त धरे॥
तहि जिणभत्तउ वणिवरु बहुलच्छी सहिया।
सूरो गमि ते वुग्गइ तहु मंदिर गइया॥
अणुकंपइ तहि सेठहि णा अवहेरि किया।
साहमीं जाणेप्पिणु मंदिर सठ किया॥

उपक्रम किया गया है। परन्तु लेखक ने लिखते समय उनकी जाँच नहीं की। इस कारण कुछ सुनी सुनाई बातो का भी समावेश हो गया है फिर भी कवि का प्रयत्न सराहनीय है। ग्रन्थ में जयपुर नगर का अच्छा वर्णन किया है। किन्तु कविता सरस नहीं है साधारण कोटि की है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० स० १८२७ मार्गशिर सुक्ला द्वादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में समाप्त की है जैसा कि उसके पद्यों से स्पष्ट है :—

संवत् अठारह शतक ऊपर सत्ताईस।
मास मांगसिर पखि सुकल तिथि द्वादशी लहीश।
नखित अश्विनी वार गुरु सुभ महाख के मधि।
ग्रंथ अनूप रच्यो पढ़ैं ह्वै ताकै सब सिद्धि॥ ★

तिण लक्कउ ते प्राणहि उयरवि णवि भरहि।
जिणसामिउ णित वंदहि माग्रवप्पु सरहि ॥
ता वे तहि प्रायउ मुणिवर एक घर भोयण देप्पिणु।
पुच्छिउ घरणि घरवि सिरु संकउ
मुणिवरु जंपइहि दुखर प्रागमणु ॥
त णिसुणिवि मुणि जपइ प्रविहिय धरिवि मणु।
रविवरु जं तुम्मि णिंदिउ तं रोरु वि भयो ॥
मुणहि वयणु प्रवहारिवि सुणहु वि वउगहिउ।
पासणाहु णित पूजहि खीरह ण्हवण करे ॥
णव णव प्रवबिजौरा ठविहत भाव धरे।
आसाढहि प्रारंभ वि एक वरिसु कियउ ॥
एय भत्ति सहु सीलें रोरु वि तहु गयो।
पुणवरि एउ कहाणउ णयरहि प्रवहि गयो ॥
गुणधर भावज पासहि भोजण मगियउ।
तिणहि भार ले प्रावहि प्रसण नि मिलाह तहउ ॥
रत्तणयण जब जंप्पिउ सप्पधाण गयउ घास।
पिउ ले प्रायउ दांत वि छंडिउ विवरय हुतउ ॥
उरगे चउहुं दिसि वेढियउ धरि भाव जने भंछियो।
दुहु वि विसुण खल अंकुरावेय प्राणहि प्रहमर पावखल ॥
एम वयण णिसुणेंपिणु यालउ तहि गयो।
काल प्रंग विसदारुण फणिवर जिहि ठियउ ॥
महुरवयणु बोलेप्पिणु नाय वि लेणिवियो।
तहि प्रवसरि पायालें धरणिहि चित्त ठिउ ॥
पासहु सूजा समरवि रयण वि पंच लहु।
उज्जल मोतीहार वि विव वि दिण्ण लहु ॥
लेवि सोवि घर प्रायो बंधव उरय मणु।
धरणि विण्णउ कहियउ पूजहि देव जिणु ॥
णयरि मज्झ सुणि वत्त वि राइ बोलवियो।
तुम्म बालिहो प्राये लच्छी कहि लहिया ॥
पुण्णहि फल तहि प्रक्खिउ राव वि हरसियउ।
गुणधर मुंह प्रवलोय वि कण्ण समप्पियउ ॥
कीयो विवहु सुह जोयें राय वि विण्णवियो।
तहि प्रवसर ते बाल वि वाणारसि गइया ॥
बहु दिण मंदिर प्रत्थ वि सेठि वि विवि विक्खि गहिया।
पंचमहव्वय पालिवि मुत्ति-रमणि लहिया ॥
कण्णहीण दोय कण्णा बालिहो घण पांवहि बंभह पुलघणा।
पोमनंदि उवएसें प्रज्जण इम कहिये ॥
जो इह पढर पढावइ शिवपुर सो लहिये ॥१॥

इतिश्री प्रादित्यवार कथा समाप्त ॥

उक्त रचना के लेखक अर्जुन कवि हैं। कवि ने भट्टारक पद्मनन्दि के उपदेश से यह कथा रची थी। कवि के ही शब्दों में :—

पोमनवि उवएसें प्रज्जण इम कहिये।

अपभ्रंश की रचनाओं में मुनि पद्मनन्दि के नाम से जो उल्लेख मिलते है वे अधिकतर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के मुनिराज पद्मनन्दि के हैं। कवि हरिचंद ने स्पष्ट रूप से उनका नाम निर्देश किया है :—

पद्मणंदि मुणिणाह गणिदहु, चरणसरणु गुरु कह हरिइंदहु।
(वर्द्धमान चरित)

पंडित परमानन्द जी जैन शास्त्री ने उनके समय का विचार करते हुए लिखा है कि वि० सं० १४७४ में पद्मनन्दि द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति लेख उपलब्ध है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पद्मनन्दि ने वि० स० १४७४ के बाद और वि० स० १४७९ से पूर्व किसी समय शुभचंद को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया था[1]। मूर्ति लेखों में भी १४७५-७६ के कई उल्लेख मिलते हैं, जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में मुनिश्री पद्मनन्दि जीवित थे। लगभग उसी समय में अर्जुन कवि ने उक्त आदित्यवार कथा लिखी होगी। यह वही समय है, जब आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में खड़ी बोली अपना रूप ग्रहण कर रही थी। इसके पूर्व खड़ी बोली के निदर्शन रूप में इतने स्पष्ट ध्वनि-रूप परिलक्षित नहीं होते। अतएव भाषा की दृष्टि से यह रचना उन भाषिक रूपों को द्योतित करती है, जिनसे स्पष्ट ही खड़ी बोली और वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ। इस प्रकार रचना छोटी होने पर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ●

---

१. पं० परमानन्द जी शास्त्री : राजस्थान के जैन सन्त मुनि पद्मनन्दी, अनेकान्त, वर्ष २२, किरण ६, पृष्ठ २८४।

वीर-सेवा-मन्दिर का नया प्रकाशन :

जैन-लक्षणावली (पारिभाषिक शब्द-कोश)

प्रत्येक व्यक्ति के पढने तथा मनन करने योग्य जैन पारिभाषिक शब्दकोष बहुत परिश्रम से तैयार किया गया यह शब्द कोश स्वाध्याय प्रेमियो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तकालयो और ग्रथालयो के लिए अत्यावश्यक है।

इसका स्वरान्त (अ से औ तक) प्रथम भाग छप कर तैयार हो चुका है। इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लगभग ४०० ग्रन्थों से पारिभाषिक शब्दों को संकलित किया गया है। इन ग्रन्थों से जो उसमें लक्षण संगृहीत है उन्हें यथासम्भव कालक्रम से रखा गया है। यह शोध-खोज करने वाले विद्वानों के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जायगा। साथ ही वह तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए भी उपयोगी है। विवक्षित विविध लक्षणों में से १-२ ग्रन्थों के आश्रय से प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद भी प्रत्येक लाक्षणिक शब्द के नीचे दे दिया गया है। प्रस्तावना में १०२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का परिचय करा दिया है तथा परिशिष्ट में ग्रन्थकारों के काल का भी निर्देश कर दिया गया है। छपाई उत्तम और पूर्णरूप से कपड़े की सुन्दर व टिकाऊ जिल्द है। बड़े आकार में पृष्ठ संख्या ४४० है। लागत मूल्य रु० २५-०० रखा गया है।

वीर सेवामन्दिर

२१, दरियागंज, दिल्ली-६

R. N. 0591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र . समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या · स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या स युक्त। ... ·२५

श्रवणबलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य ·२५

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

वर्ष २५ : किरण २

जून १९७२

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र



भगवान पार्श्वनाथ, रामनगर

विषय-सूची

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के सभी ग्राहकों का मूल्य गत किरण एक के साथ समाप्त हो गया है। २५वे वर्ष की दूसरी किरण भेजी जा रही है। अत: ग्राहको से सानुरोध निवेदन है कि वे अनेकान्त के २५वे वर्ष के ६) रुपया मनी आर्डर से भिजवा कर अनुगृहीत कर। जिन्होने अभी वार्षिक मूल्य के ६) रुपया नहीं भिजवाए है वे शीघ्र ही भिजवाने की कृपा करे। अन्यथा अगला अक ७–५० की वी. पी. से भेजा जावेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

अनेकान्त मे प्रकाशित विचारो के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

वीर-सेवा-मन्दिर का नया प्रकाशन :

जैन-लक्षणावली (पारिभाषिक शब्द-कोश)

प्रत्येक व्यक्ति के पढने तथा मनन करने योग्य जैन पारिभाषिक शब्दकोष बहुत परिश्रम से तैयार किया गया यह शब्द कोश स्वाध्याय प्रेमियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तकालयों और ग्रथालयों के लिए अत्यावश्यक है।

इसका स्वरान्त (अ से औ तक) प्रथम भाग छप कर तैयार हो चुका है। इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लगभग ४०० ग्रन्थों से पारिभाषिक शब्दों को संकलित किया गया है। इन ग्रन्थों से जो उसमें लक्षण संगृहीत है उन्हे यथासम्भव कालक्रम से रखा गया है। यह शोध-खोज करने वाले विद्वानो के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जायगा। साथ ही वह तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए भी उपयोगी है। विवक्षित विविध लक्षणो में से १-२ ग्रन्थों के आश्रय से प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद भी प्रत्येक लाक्षणिकशब्द के नीचे दे दिया गया है। प्रस्तावना में १०२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का परिचय करा दिया है तथा परिशिष्ट में ग्रन्थकारो के काल का भी निर्देश कर दिया गया है। छपाई उत्तम और पूर्णरूप से कपडे की सुन्दर व टिकाऊ जिल्द है। बड़े आकार में पृष्ठ सख्या ४४० है। लागत मूल्य रु० २५-०० रखा गया है।

वीर सेवामन्दिर
२१, दरियागंज, दिल्ली ६

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २५ किरण २ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९८, वि० स० २०२९ | मई-जून १९७२

वर्धमान-जिन-स्तवन

(मुरजबन्धः)

धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामो द्वाषित वित्तृषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमो नमित विद्विषे ॥
नामदेव क्षमाजेय धायोद्यमित विज्जुषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमोन मित विद्विषे ॥

—आचार्य समन्तभद्र

अर्थ—हे वर्धमान स्वामिन् ! आप अत्यन्त बुद्धिमानों—चार ज्ञान के धारी गणधरादिकों—के द्वारा वन्दनीय और पूज्य है। आपने ज्ञान की तृष्णा को बिल्कुल नष्ट कर दिया है—आपको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया है जिससे आपकी ज्ञान-विषयक समस्त तृष्णाएं नष्ट हो चुकी हैं, आप अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मी से युक्त हैं और आपके शत्रु भी आपको नमस्कार करते हैं—आपकी अलौकिक शान्ति तथा लोकोत्तर प्रभाव को देखकर आपके विरोधी वैरी भी आपको नमस्कार करने लग जाते हैं। अतः हे प्रभो ! आपको मेरा नमस्कार हो ॥१०२

अर्थ—हे भगवन् ! आप इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के भी देव-इन्द्र हैं, आपका क्षमा गुण सर्वथा अजेय है आप तेज से प्रकाशमान केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, आपकी मति—ज्ञान सम्पत्ति समवसरणादि लक्ष्मी से उपलक्षित है। आपके द्वारा प्रचलित मोक्षमार्ग हमेशा बढता रहता है अथवा आपका पुण्य उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, आप लक्ष्मी से परिपूर्ण है। तथा मतिश्रुत आदि क्षायोशमिक—अल्प ज्ञानों को दूर करने वाले हैं। अतः आपके लिए नमस्कार हो ॥१०३

———

मुक्तक काव्य दोहा

अध्यात्मी पांडे रूपचन्द

बड़े करे तुम थापि यहु, करत नीच के काम ।
पर घर फिरत जु लघु भए, बहुत धराए नाम ।।३३
अपने ही घर सब बड़े, पर घर महिमा नाहि ।
सिव के अरु भव के रहें, फेरु कितो इहि मांहि ।।३४
सिव छांडै भव हांडहू, यह व तिहारो जानु ।
राज तजै भिक्षा भमै, सो तै किया कहानु ।।३५
चेतन तुम प्रभु जगत के, रंक भए बिललात ।
बैठे चौक जू चाट हू, चू न सक्यो लजात ।।३६
चेतन तुमहि कहा सरी, रतनत्रय निधि दावि ।
रहे दीन हुइ कृपण ज्यों, कहा वहै फलु भावि ।।३७
प्रथम अचेतन अनु असुचि, करइ मिले महि हानि ।
चेतन तन मो बसत हो, कहा भलाई जानि ।।३८
तनकी सगति जरत हो, चेतन दुख अरु दाप ।
भाजन संग सलिलु तपै, ज्यों पावक आताप ।।३९
क्षीर नीर ज्यों मिल रह्यो, कौन कहै तनु और ।
तुम चेतन समुझत नहीं, होत मिले महि चोरु ।।४०
भिन्नु भयो भीतर रहै, वाहिर मिल्यो न काउ ।
पर परतीत न मानिए, शत्रु न चूकौ दाउ ।।४१
पर की संगति तुम गए, खोई अपनी जाति ।
आपा पर न पिछान हू, रहे प्रमादनि माति ।।४२
सहज प्रकृति तुम परिहरी, पकरी पर की वानि ।
प्रकृति फिरै ज्यों पुरुष की, होइ सरवथा हानि ।।४३
जो कछु करै सु पर करै, करै जु तुम्हरी छांहि ।
दोष तिहारे सिर चढ़ै, तुम कछु समुझत नांहि ।।४४
पर सौं संग कहा कियौ, पर तै आस्रव होय ।
सवरु परके परिहरै, विरला बूझै कोय ।।४५
पर संजोग तें बंध है, पर वियोग तै मोखु ।
चेतन परहि मिले तुम्हें, लागतु हैं सब दोषु ।।४६
चेतन तुम तौ सुजान हो, जड़ सौं कहा सनेहु ।
जड़ ज्ञानहि क्यों बनत है, मेरे मन संदेहु ।।४७
अपनौं ई अपनौ भलौ, अपनै और न कोय ।
कोकिल कागु जु पोखियौ, सो कागनि कुलु होय ।।४८

स्व-पर-विवेक तुम्हें नहीं, परसौं कहत जु आपु ।
चेतन मति-विभ्रम भयौ, रज्जु विषे ज्यों सांपु ।।४९
चेतन तुम बेसुध भए, गए अपनपौ भूलि ।
काहू तुम्हरे सिर मनौं मेली मोहन धूरि ।।५०
मोह मते तुम आपको, जानत हो पर दव्वु ।
ज्यों जन्मा त्यौं कनक को, कनकुइ देखइ सव्वु ।।५१
भ्रमतै भूल्यो अपनपौ, खोजत किन घट मांहि ।
विसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो पेखहु घर चाहि ।।५२
घट भीतर सो आपु है, तुमहि नहीं कछु यावि ।
वस्तु मूठि भ्रम भूलिकै, इत उत ढूढत धावि ।।५३
पाहन मांहि सुवर्ण ज्यों, दारु विषं हुत-भोजु[1] ।
तिम तुम व्यापक घट विषं, देखहु किनकरि खोजु ।।५४
पहुपन[2] विषं सुवास ज्यों, तिलन विषं ज्यों तेलु ।
तिम तुम घट महि रहत हो, जिनु जानै यह खेलु ।।५५
दर्शन ज्ञान चरित्र में, वस्तु वसं घट मांहि ।
मूरखु मरमु न जान ही, बाहिर खोजन जांहि ।।५६
दर्शन ज्ञान चरित्र ये, वचनहि मात्र विशेष ।
दहन पचनु अरु तपन ज्यों, अगनि ए आहि अशेष ।।५७
दर्शन ज्ञान चरित्र कौं, गहिये वस्तु पमाणि ।
पारो भारै चीकनौ, ज्यों कंचन पहिचानि ।।५८
दर्शन वस्तु जो देखिए, अरु जानिये सु ज्ञानु ।
चरन सुरह निजतिहिविषै, तौन्ह मिलै निरवानु ।।५९
रत्नत्रय समुदाय बिनु, साध्य सिद्धि कछु नांहि ।
अंध-पंगु अरु आलसी, जुदे जरहिं दव मांहि ।।६०
एक जु ज्ञायक वस्तु है, साध्यनु साधकु सोय ।
निरविकल्प हुइ लेइए, सिद्धि सरवथा होय ।।६१
दर्शन ज्ञान चरित्र जे, तीनिउ साधक रूप ।
ज्ञायक मात्र जु वस्तु है, ताही के ति-स्वरूप ।।६२
फास रहित रस रहित है, गंध रहित जू अनूप ।
अह प्रतीति प्रमानिए वस्तु सु ज्ञायक रूप ।।६३
विषय नियत प्रति मन विषं, प्रतिभासै जु कोय ।
अपने रस जो लवण ज्यों, विश्व विषे चिद्रूप ।।६४

---

१. अग्नि, २. पुष्प ।

सल्लेखना या समाधिमरण

परमानन्द जैन शास्त्री

जो मानव आत्म-कल्याण की भावना से गृह कार्यों में सदा उदासीन रहता है, देह भोगों से वैराग्य द्वारा उसे बराबर पुष्ट करता रहता है, व्रताचरण में अनुराग रखता है। कषाय शत्रुओं के फंदे से अपने को बचाना चाहता है, अथवा राग-द्वेष के परित्याग के लिए चारित्र धर्म का आचरण करना अपना कर्तव्य मानता है। देव शास्त्र और गुरु की श्रद्धा के साथ तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर वस्तु स्वरूप को जानने का निरन्तर प्रयास करता है। जो श्रावक के द्वादश व्रतों का तत्परता से अनुष्ठान करता है, अथवा अन्तर्बाह्य ग्रन्थि (परिग्रह) को छोड़कर दिगम्बर बनकर तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन का अनुष्ठान करना है तथा अन्तर विवेक द्वारा वस्तु तत्त्व का विचार करता हुआ अपनी इच्छाओं को सीमित बनाता जाता है, इन्द्रिय विषयों का कठोरता से दमन करता है और निर्दोष व्रताचरण करते हुए जीवन की अन्तिम दशा मे 'मारणान्तिकी-सल्लेखनां जोषिता' वाक्य का स्मरण कर सल्लेखना या समाधिमरण की निरन्तर भावना करता है और अन्त समय आने पर या उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा मृत्यु के अनिवार्य कारण रोगादिक उपस्थित होने पर शरीरादि से मोह का परित्याग करता है और समता भाव से शरीर का परित्याग कर व्रतादिक की सफलता चाहता है। और उसके लिए प्रयास करता है।

सल्लेखना

सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करना सल्लेखना है। सल्लेखना दो प्रकार की है। काय सल्लेखना और कषाय सल्लेखना। इन दोनों में कषाय सल्लेखना का महत्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि उसका सम्बन्ध उन कषायात्मक विभाव परिणामों से है जो आन्तरिक ज्ञान दर्शन शक्ति का घात करते हैं। उसी से आत्मा मे इष्ट अनिष्ट की कल्पना होती है। यह कल्पना ही दुःख का मूल कारण है। कषाय की कृशता का अर्थ स्वरूप की सावधानी अथवा चिद्रूप की तन्मयता है औदयिक भावों का रुकना अपने आधीन नही है, किन्तु उन औदयिक भावों को अनात्मीय समझ उनमे हर्ष-विषाद रूप प्रवृत्ति न करना आत्मीय पुरुषार्थ है। सल्लेखना मे आत्म पुरुषार्थ की प्रधानता है, क्योंकि कल्याण का मार्ग आत्मा है, बाह्य क्षेत्र नही। अनादिकाल से आत्मा को बाह्य साधनों की ओर रहने से वह अपने स्वात्म-सुख से वंचित रहता है। अतः उसे कषाय कृशता—रस शोषण—द्वारा स्वात्म-सुख की ओर प्रवृत्त करना ही कषाय सल्लेखना का प्रयोजन है। इसी से कषाय सल्लेखना को महत्व दिया गया है।

शरीर की कृषता बाह्य सल्लेखना है। पर अध्यात्म दृष्टि से शरीर की कृशता और पुष्टि अपने आधीन नहीं है। कर्मोदय उसमे मूल कारण है, शरीर पर है, पुद्गल का परिणाम है, ऐसा होते हुए भी मोहवश हमारी प्रवृत्ति शरीर की ओर ही रही है। हम उसे अपना मानकर उसमे राग करते आये हैं। अतः अन्त समय आने पर उसका राग परिणाम विकृति का कारण हो सकता है। इसी से महापुरुषों ने उससे स्नेह का त्याग करना बतलाया है।

सल्लेखना का प्रयोजन

सल्लेखना का प्रयोजन उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा) और रोग की प्रतिकार रहित अवस्था मे, अथवा अन्य कोई भीषण विपदा आने पर अपने रत्नत्रय रूप धर्म की रक्षा के लिए विधिवत् शरीर का परित्याग करना सल्लेखना है[1]। अन्त समय मे—शरीर का परित्याग करते समय—स्वरूप में प्रायः सावधानी नहीं रहती, अनेक बाह्य

---

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखना मार्याः॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

कारणों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। कषाय भाव जागृत हो जाते हैं। उसमे जीवन भर जो कुछ अच्छे कर्म सम्पन्न किये है—धार्मिक अनुष्ठान किये हैं—उन सब पर पानी फिर जाता है। इसी से महापुरुषों ने शरीर का परित्याग करते समय पूर्ण सावधानी रखने का निर्देश किया है। स्वरूप की सावधानी बनाये रखने के लिए सल्लेखना का उपक्रम किया गया है और उसका एक मात्र प्रयोजन मानव जीवन की सफलता है। उसके बिना यह जीव अनन्त बार मरण कर अनेक कुगतियों में जन्म लेकर सांसारिक दुःखों को सहता है। उनसे बचने और जीवन में किये गये व्रत, उपवास, संयम और इच्छा निरोध रूप तप, दान, पूजा आदि शुभ कर्मों द्वारा होने वाले पुण्य फल के साथ समता भाव की वृद्धि के लिए समाधि मरण करना आवश्यक है। वैसे तो आयु मे से जितना समय रोजीना व्यतीत होता है वह नित्य मरण है, परन्तु उस नित्य मरण के होते हुए जीवात्मा यह भावना करता रहता है कि—'मे समाहि मरणं होउ, सुगइ गमणं होउ, दुक्खखय होउ' अथवा अरिहंतादि परमेष्ठियो ने जो शाश्वती गति प्राप्त की है वह गति मुझे प्राप्त हो, यह भावना कितनी महत्वपूर्ण है जिसे वह निरन्तर भाता है।

सल्लेखना की महत्ता

सल्लेखना की महत्ता का प्रमाण यह है कि महापुरुषों को कायक्लेशादि तपश्चरणो, अहिंसादि व्रतो के निर्दोष अनुष्ठानादि द्वारा जो फल प्राप्त होता है वह फल जीवन के अन्तिम समय मे सावधानी से किये गए समाधि मरण से जीवों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है[1]। और सारा जीवन व्रतादि के पालन मे लगा देने पर भी यदि अन्तिम जीवन मे समता भाव पूर्वक मरण न किया और न कषायों के रस सुखाने का यत्न किया और वैसे ही शरीर छोड दिया तो उससे जो लाभ मिलने वाला था वह उससे वंचित हो जाता है। अतः साधक हर समय सावधानी रखता है और समाधि मरण की भावना रखता है। जब शरीर स्वस्थ न रहे, रोगादि होने पर उसका औषधादि द्वारा रोग का प्रतिकार न हो सके और वह बढ़ता ही रहे, ऐसी स्थिति मे साधक को उसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। इतना तो सुनिश्चित है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक चारित्र और सम्यक् तप इन चार आराधनाओं का निर्दोष पालन करते हुए शरीर छोड़ने पर जो उत्तम लाभ मिल सकता उसके प्रति प्रयत्न करना जरूरी है।

आचार्य समन्तभद्र (विक्रमी दूसरी-तीसरी शताब्दी) ने भी जीवन मे अनुष्ठित तपों का फल अन्त मे पूर्ण शक्ति के साथ सल्लेखना करना बतलाया है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने भी सल्लेखना के महत्व और आवश्यकता पर जोर दिया है। और लिखा है कि 'मरना किसी को इष्ट नही है जिस तरह सोना, चाँदी, रत्न, जवाहिरात और बहुमूल्य वस्त्र आदि का व्यापार करने वाले किसी व्यापारी को अपने उस घर का विनाश इष्ट नही है। जिसमे बहुमूल्य वेश कीमती चीजे भरी हुई हैं। यदि किसी कारणवश कोई विनाश का कारण उपस्थित हो जाय, तो भी वह उसकी पूरी रक्षा करने का प्रयत्न करता है और यदि कारणवश रक्षा का उपाय सफल नहीं होता तो उसके घर मे रखे हुए बहुमूल्य पदार्थों के सरक्षण करने का पूरा प्रयत्न करता है और घर को विनष्ट होने से बचाता है उसी तरह व्रत शीलादि सद्गुणों का आचरण और संचय करने वाला व्रती श्रावक अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणो के आधारभूत शरीर का पौष्टिक आहार औषधादि द्वारा रक्षा करता है। उसका विनाश उसे इष्ट नहीं है। यदि व्रत विनाश के कारण असाध्य रोगादि उत्पन्न हो जायं तो भी उनको यथासाध्य दूर करने का प्रयत्न करता है। पर जब वह देखता या अनुभव करता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीर की रक्षा भी अब सम्भव नही है, तब वह आत्मा के अमूल्य गुणों की रक्षा सल्लेखना द्वारा करता है और शरीर को

१. यत्फल प्राप्यत सद्भिर्व्रतायास विडम्बनात्।
तत्फल सुख साध्य स्यान्मृत्युकाले समाधिना॥
तप्तस्त तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्युः समाधिना॥
—मृत्युमहोत्सव श्लोक २१–२३

१. अन्तः क्रियाधिकरण तपः फल सफलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिकरणे प्रयतितव्यम्॥
—रत्नकरण्ड ५२-

नष्ट होने देता है[1]।

सल्लेखना के भेद

जैन ग्रन्थों में शरीर का त्याग तीन प्रकार से बतलाया है[2]। च्युत, च्यावित और त्यक्त।

आयुष्य के पूर्ण होने पर शरीर का स्वत: छूटना च्युत है। च्यावित—विषय भक्षण, रक्त-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश अग्निदाह, जल प्रवेश, गिरि पतन धातु क्षय, आदि निमित्तों से शरीर छोड़ना च्यावित है।

त्यक्त शरीर में रोगादि हो जाने और असाध्यता तथा मरण की आसन्नता होने पर विवेक सहित संन्यास रूप परिणामों से शरीर छोडा जाता है वह त्यक्त है। इसी को समाधि मरण, वीर मरण, पंडित मरण या सल्लेखना मरण कहा गया है।

शरीर का परित्याग कराने वाले इन तीन कारणों मे त्यक्त सबसे अच्छा है, क्योंकि त्यक्त अवस्था मे आत्मा पूर्णतया जागृत एव सावधान रहता है। उस समय कोई संक्लेश परिणाम नही होता है। शान्ति बनी रहती है।

यह त्यक्त मरण (सल्लेखना मरण) तीन प्रकार का है। भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन।

अन्न-पान को धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान या सल्लेखना कहते हैं। इसका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष और मध्य काल अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष के भीतर का काल है। और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है[3]। इसमें साधक आत्मस्वरूप के अतिरिक्त समस्त पर वस्तुओं से राग-द्वेषादि का परित्याग करता है और अपने शरीर की सेवा स्वयं करता है और दूसरों से भी कराता है।

भक्त प्रत्याख्यान के दो भेद है, सविचार भक्त प्रत्याख्यान और अविचार भक्त प्रत्याख्यान।

इगिनी मरण करने वाला क्षपक अपने शरीर की परिचर्या एवं वैयावृत्य स्वय तो करता ही है किन्तु साधु दूसरो से नही कराता। वह स्वयं ही उठता, बैठना, लेटता आदि सभी क्रियाए एव परिचर्या-आप सम्पन्न करता है, वह पूर्ण रूप से स्वावलम्बन का आश्रय लेता है।

जिस शरीर त्याग मे क्षपक न अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की, उसे प्रायोपगमन कहते है। इस सल्लेखना को क्षपक तब धारण करता है। जब अन्तिम अवस्था मे पहुँच जाता है। उसका शारीरिक बल और आत्म सामर्थ्य प्रबल होती है। वह गमनागमनादि समस्त क्रियाओ का त्याग कर शरीर छोड़ता है।

वास्तव मे उक्त तीनों भेद (भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन) पण्डित मरण के ही भेद है। यह तीनो प्रकार का समाधिमरण सकल चारित्र धारक मुनियो के होता है।

मरण का स्वरूप

आयु कर्म के निषेक पूर्ण हो जाने पर मनुष्यादि पर्याय का वियोग होना मरण है और आयु के सद्भाव मे मानवादि पर्याय का बना रहना जीवन है। हम जिस काय कुटी मे निवास करते है, उसके बने रहने अथवा वियोग होने पर हमे कोई लाभ या हानि नही होती।

---

१. मरणस्यानिष्टत्वत्। यथा वणिजो विविधपण्य दानादान संचयपरस्य स्वगृह विनाशोऽनिष्ट:। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथा शक्ति परिहरति। दु: परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एव गृहस्थोऽपि व्रतशील पण्यसचये प्रवर्तमानस्तदा श्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणा विरोधेन परिहरति। दु: परिहारे च यथा स्वगुण विनाशो न भवति तथा प्रयतते॥
-- सर्वार्थ सि० ७–२२

२. विस वेयण रत्तक्खय सत्थग्गहण सकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥ ५७॥
कदली घादसमेदं चागविहीणं तु चइदमिदि होदि।
घादेण अघादेण व पडिद चागेण चत्तमिदि॥५८॥
भत्तपइण्णा इगिणि पाउग्गविधीहिं चत्तमिदि तिविहं।
भत्तपइण्णा तिविहा जहण्णमज्झिमवरा य तहा॥५९
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ५६—५९

३. भत्त पइण्णाइविही जहण्णमंतो मुहुत्तयं होदि।
बारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे मज्झिमया॥
अप्पोवयारवेक्ख परोवयारूणमिंगिणीमरण।
सपरोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि॥६१॥
—गो० क० ६०

जिस तरह जीर्ण-शीर्ण मलिन और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोडने और नूतन वस्त्र के ग्रहण करने मे प्रसन्नता होती है वैसे ही रुग्ण, अशक्त, जर्जरित एवं कुछ क्षणों में वियुक्त होने वाले तथा विपद-ग्रस्त जीर्ण शरीर को छोड़कर नये शरीर को ग्रहण करने मे उत्कण्ठा एव प्रसन्नता होती है, उसके त्याग में जरा भी कष्ट का अनुभव नही होता। गीता में भी यही भाव अंकित किया गया है[1]। अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त आयु इन्द्रिय और मन, वचन, काय इन तीन बलो के वियोग का नाम मरण है। शरीर का परित्याग करते समय हर्ष-विषाद रूप परिणामों के द्वारा निर्मल ज्ञान को मलिन बनाना उचित नहीं है, इसी भाव को आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्त करते हुए कहते हैं।

"प्राणोच्छेद मुदाहरन्ति मरणं प्राणः किलस्यात्मनो।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया वोच्छिद्यते जातु चित्॥
तस्यातो मरणं किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो?
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥

प्राणों के नाश को मरण कहते हैं और प्राण इस आत्मा के ज्ञान हैं, वह ज्ञान स्वयं सदा शाश्वत है। शाश्वत होने से वह कभी नष्ट नही होता। इसी कारण आत्मा का मरण नहीं होता, फिर ज्ञानी को मरण का भय कैसे हो सकता है? ज्ञानी स्वयं निश्शक होकर निरन्तर अपने स्वाभाविक ज्ञान का अनुभव करता है। जिस तरह सर्प कांचुली का परित्याग कर देता है उससे उसकी कुछ हानि नहीं होती। उसी तरह से पुरातन शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करने मे कोई हानि नहीं होती। ऊपर के कथन से यह बात स्वय निश्चित हो जाती है कि आत्मा के ज्ञानादि प्राणों का कभी नाश नहीं होता, वह सदा अमर रहता है। तब यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि आत्मा मरने से क्यो डरता है? उसके भय का कारण उसका तत्पर्याय सम्बन्धि मोह है, वह अज्ञानवश उसे अपनी मानता है और चाहता है कि यह देह सदा बनी रहे। किन्तु वह अपनी नियत स्थिति तक ही रह सकती है। उसके बाद उसका स्वयं वियोग हो जाता है। लोक में शरीर के इस वियोग को मरण कहा जाता है। शरीर विनष्ट हो जाता है और आत्मा वर्तमान शरीर का परित्याग कर नूतन शरीर धारण करने के लिए चला जाता है। अतः मानवादि पर्याय सम्बन्धी शरीर का वियोग ही मरण है। आत्मा का नही; क्योंकि आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव में सदा स्थित रहता है। उसका कभी मरण नही होता, वह सदा अमर रहता है।

वह मरण दो प्रकार का है एक नित्य मरण और दूसरा तद्भव मरण, प्रति क्षण आयु आदि प्राणो के ह्रास का नाम नित्य मरण है और उत्तर पर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्व पर्याय का विनाश तद्भव मरण है[2]। तद्भव मरण का कषायो और विषय-वासनाओं की तरतमता के कारण आत्म परिणामो पर अच्छा या बुरा असर पड़े बिना नही रहता। अतएव तद्भव मरण को सुधारने के लिए मानव पर्याय के अन्त मे सल्लेखना का प्रयत्न करना आवश्यक है। क्योंकि सल्लेखना से कषायों का उपशम या क्षपण होकर हरा कषाय वृक्ष सूखने लगता है। कषाय रस के शोषण या क्षीण होने पर आत्म-रस से आत्मा विभोर हो जाता है। नित्य मरण का जीवन पर कोई खास प्रभाव नही पड़ता; किन्तु तद्भव मरण का कषायों और विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के कारण आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। अतएव उसे सुधारने अथवा कषाय रस की तीव्रता को कम करने या परिणामों में समता लाने के लिए पर्याय के अन्त मे सल्लेखना का प्रयत्न किया जाता है। आचार्य शिवार्य ने तो सल्लेखना पर बल देते हुए कहा है कि जो भद्र एक

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यान्यानि संयाति नवीन देही॥ —गीता २–६२

२. स्वायुरिन्द्रिय बल संक्षयो मरणम्। स्वपरिणामो पात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः। मरणं द्विविधम्—नित्य मरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्य मरणं समये-समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भव मरणं —भवान्तर प्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभव विगमनम्।
—तत्त्वा० रा० वा० ७—२२

पर्याय में समाधि मरण पूर्वक मरण करता है वह संसार में सात-आठ पर्याय से अधिक भ्रमण नही करता उसके बाद वह अवश्य मुक्ति पा लेता है।

एयम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेन जो मदो जीवो।
णहुसो हिंडंदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ।।

सल्लेखना की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहा है कि सल्लेखना धारक (क्षपक का) भक्ति पूर्वक दर्शन-वन्दन और वैयावृत्य आदि करने वाला व्यक्ति भी देव-गति के सुखों का उपभोग कर उत्तम स्थान को प्राप्त करता है[1]।

जैनागम मे मरण के सत्रह प्रकार बतलाए गये हैं। उनके नाम इस प्रकार है :—

१ आवीचि मरण, २ तद्भव मरण, ३ अवधि मरण, ४ आदि अन्ताय मरण, ५ बाल मरण, ६ पंडित मरण, ७ आसन्न मरण, ८ बाल पडित मरण, ९ ससल्ल मरण, १० बल मरण, ११ वोमट्ट मरण १२ विप्पाणस मरण, १३ गिद्ध पुट्ठमरण, १४ भत्तपच्चक्खाण मरण, १५ परउपसग्ग मरण, १६ इंगिणी मरण और १७ केवलि मरण। इन १७ मरणों से नाम श्वेताम्बरीय समवायांग और उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे भी पाये जाते है। जिनमे कुछ नामो का शाब्दिक अन्तर भी पाया जाता है जो प्राय: नगण्य-सा है। इन मरणो का विस्तृत विवेचन भगवती आराधना और विजयोदया और मूलाराधना टीकाओ में भी पाया जाता है। मरणों के इन १७ भेदों मे तीन मरण ही प्रशसा के योग्य बतलाये हैं। पंडित पडित मरण, पडित मरण और बाल पडित मरण। इनमे चौदहवें गुणस्थान-वर्ती अयोगकेवली का निर्वाण पंडित पडित मरण है। त्रयोदश प्रकार चारित्र के धारक मुनियों का मरण पंडित मरण है और देशव्रती श्रावक का मरण बाल पडित मरण है। अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बाल मरण और मिथ्या-दृष्टि का मरण बाल-बाल मरण है[2]।

आत्मा का अमरत्व

गुण कभी विनष्ट नहीं होते। आत्मा उन गुणों से सदा भरपूर रहता है। आत्मा एक है, शाश्वत है, अखंड है, अविनाशी है और ज्ञान दर्शन लक्षण वाला है। शेष सभी पदार्थ आत्मतत्त्व से बाह्य और संयोग लक्षण वाले है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द के निम्न पद्य से प्रकट है :—

एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणो ।।

अत: शरीरादि पर द्रव्यों से मोह छोड़कर आत्मत्व बुद्धि का परित्याग करना श्रेयस्कर है। चिदानन्दस्वरूप एक ज्ञायक भाव ही मेरा स्वरूप है। उस विमल आत्म-भाव को प्राप्त करना ही मेरा लक्ष्य है। अत: भय परि-णाम मेरा स्वरूप नही है। भय तो चारित्र मोह का परिणाम है। अतएव उपाधिक भाव है। सम्यग्दृष्टि सप्त भयो से रहित निर्भय होता है। वह निश्शंक रहता है। उसे ससार की कोई शक्ति आत्मा के अमरत्व से विच-लित नही कर सकती। ज्ञानी इसी भाव में सुदृढ़ रहकर अपने जीवन को भौतिक उलझनों से दूर रखता है, यही उसके विवेक की महत्ता है। यदि साधक का आत्मा के अमरत्व मे विश्वास न हो, तो उसका उक्त परिश्रम निष्फल ही है।

शरीर की नश्वरता :

शरीर नाशवान है। वह पुदगल के परमाणु-पुंजों से निर्मित हुआ है। वे सब परमाणु जड़ रूप है। इसी से शरीर गल-सड़ जाता है और कभी पूरण हो जाता है। जब तक शरीरादि परपदार्थो मे राग की एक कणिका भी मौजूद रहती है तब तक ही उससे ममता रहती है। और जब शरीर को जड़ स्वभाव, विनश्वर और अनात्मीय जान लिया जाता है, उस समय उसमे से अपनत्व बुद्धि विनष्ट हो जाती है। उसके दूर होते ही आत्मा की स्थिति बाह्य पदार्थों से हटकर अन्तर की ओर चली जाती है, उस समय जड़ पदार्थों की विनाशक्रिया से

१. सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्व-भत्ति राएण।
भोत्तूण य देव-सुख सो पावदि उत्तम ठाणं ।।
—भगवती आ० गाथा ६८१

२. पंडिद-पंडिद मरण च पंडिद बालपंडिद चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्च पस संति ।।
पडिद पडिद मरणं खीण कसाया मरति केवलिणो।
विरदा विरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ।।
—भग० आ० गा० २७, २८

आत्मा खेदित नहीं होता। क्योंकि वह आत्मीय-अनात्मीय अथवा जड़ और चेतन की परिणति से परिचित हो जाता है। शरीर की निष्पत्ति माता-पिता के रज और वीर्य से हुई है। इस शरीर के अन्दर भी मल-मूत्र, कफ आदि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। ऊपर से चमड़े की चद्दर मढ़ी हुई है: इसलिए खून-मास-पीव आदि से लिप्त अस्थि पंजर दिखाई नहीं देता। किन्तु जब शरीर का कोई अंग विकृत या गल-सड़ जाता है। और उसमें से दुर्गन्ध आने लगती है। तब हमें उसके प्रति उतना रागभाव नही रहता। इस शरीर को सुगन्धित द्रव्यों से सज्जित करने और सेवा-सुश्रूषा करने पर भी वह विनष्ट होने से नही बचता। ज्यों-ज्यो हम उसकी रक्षा और सवर्धन का प्रयत्न करत है, त्यों-त्यों वह अरक्षित और दुर्बल बनता जाता है तथा उचित समय पर विनष्ट हो जाता है। अतः शरीर में रागभाव करना उचित नही है।

समाधिस्थ गृहस्थ या मुनि तथा श्रावक के शरीर की अवस्था प्रतिदिन क्षीण हो रही है, क्षीण होना इसका स्वभाव है, परन्तु शरीर के ह्रास से हमारा कोई घात या हानि नही होती। यह ज्ञानी स्वय जानता है। शारीरिक शिथिलता से उसके इन्द्रियादिक अग भी शिथिल हो जाते है किन्तु द्रव्येन्द्रिय के विकृत होने से स्वकीय भाव इन्द्रियां भी कार्य करने मे समर्थ नही हो पातीं। किन्तु मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व की क्या विराधना होती है? मनुष्य जिस समय सोता है उस समय जाग्रत अवस्था के समान ज्ञान नही होता; किन्तु वहां भी संसारोच्छेदक सम्यक्त्व गुण का आंशिक भी घात नही होता। इसी से जैनाचार्यों ने अपर्याप्त अवस्था मे भी सम्यक्त्व के अस्तित्व को स्वीकार किया है[1]। जहां पर केवल तैजस कार्माण शरीर है, उत्तरकालीन शरीर की पूर्णता भी नही है।

वहां भी आहारादि के अभाव में सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। अतः समाधिस्थ साधक को रंचमात्र भी आकुलता करने की आवश्यकता नहीं है कि हमारा शरीर प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। क्योकि शरीर तो पर द्रव्य है। उसके निमित्त से कोई कार्य बने या न बने, इसकी चिन्ता करना निरर्थक है। पर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि आत्मा से सम्बन्धित वस्तु का कभी विनाश नही हो सकता। यदि आत्मा आत्मीय भावो की रक्षा कर लेता है, तो फिर उसका ससार तट समीप ही समझना चाहिए। परमार्थदृष्टि से विचार किया जाय तो श्रद्धान की बलवत्ता ही इसमे कार्यकारी है। अतः आन्तरिक श्रद्धा मे कमजोरी न आये ऐसा प्रयत्न करना आवश्यक है। मै एक चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप हू। रागादि उपाधि भावों से रहित हूँ। इन चर्मचक्षुओ से जो सामग्री देख रहा हूँ, वह परजन्य है, हेय है, उपादेय तो निज आत्मा ही है। यह भी विचारणीय है कि केवल परमात्मा के गुणगान से परमात्मपद नही मिलता, किन्तु परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अवलम्बन करने से परमात्मपद का लाभ मिल जाता है। अतः अन्य सकल्प-विकल्पो को

१. "चारित्तमोह उवसामगा मदा देवेसु उववज्जंति ते अस्सिदूण अपज्जत्तकाले उवसम सम्मत्तं लब्भदि। वेदगसम्मत्त पुण देव-मणुस्सेसु अप्पज्जत्तकाले लब्भदि वेदग सम्मत्तेण सह गद-देव-मणुस्साणमण्णोण्ण-गमणा-गमण-विरोहाभावादो। कदकरणिज्जं पडुच्च वेदग सम्मत्तं तिरिक्ख-णेरइयाणमपज्जत्तकाले लब्भदि। खाइय सम्मत्तं पि चदुसुवि। गदीसु पुव्वायुबधं पडुच्च अपज्जत्तकाले लब्भदि-तेण तिण्णि सम्मत्ताणि अपज्जत्तकाले भवति।"

चारित्रमोह का उपशम करने वाले जीव मरकर देवो मे उत्पन्न होते है। उनकी अपेक्षा अपर्याप्तकाल मे उपशम सम्यक्त्व पाया जाता है। वेदक सम्यक्त्व तो देव और मनुष्यों के अपर्याप्त काल मे ही पाया जाता है; क्योकि वेदक सम्यक्त्व के साथ मरण को प्राप्त हुए देव और मनुष्यों के परस्पर गमनागमन में कोई विरोध नही पाया जाता है। कृतकृत्य वेदक की अपेक्षा तो वेदक सम्यक्त्व तिर्यंच और नारकी जीवों के अपर्याप्त काल मे भी पाया जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व भी सम्यग्दर्शन के पहले बांधी गई आयुके बंध की अपेक्षा से चारो ही गतियों के अपर्याप्त काल मे पाया जाता है इसलिए असंयत सम्यग्दृष्टि जीवके अपर्याप्तकाल में तीनों ही सम्यक्त्व होते है।

छोड़कर केवल एक वीतराग भाव ही मेरे द्वारा उपादेय है और उसी पर मेरा आरूढ़ होना श्रेयस्कर है।

रही बाह्य त्याग की बात, सो उसकी मर्यादा वहीं तक है जहां तक निज परिणामों में क्षति नहीं होती। ऐसे शुभ अवसर बार-बार नहीं मिलते। अतः चित्त में धैर्य रखते हुए दुर्बलता को स्थान न दें; क्योंकि उससे अन्तरग गुणों की क्षति होना संभव है। शरीर की नश्वरता अवश्यंभावी है। प्रयत्न करके भी उसे रक्षित रखना कठिन है। फिर मोह किसका है। जब शरीर ही अपना नहीं है, तब धन, दौलत, मकान और स्त्री-पुत्रादि अपने कैसे हो सकते हैं ? ये न कभी किसी के हुए है और न होगे। आत्मा राग भाव से इन्हें मानता आया है। यह राग भाव ही बन्ध का कारण है। उसका परित्याग करना ही इष्ट है। इस तरह विचार कर नाशवान शरीर से ममता का परित्याग करना आवश्यक है।

वेदना का भय अशान्ति का कारण है। असाता कर्म के उदय से शरीर में जो पीड़ा या कष्ट हो रहा है हे आत्मन् ! वह तेरे ही अप्रशस्त कर्मों का परिणाम है। इष्ट अनिष्ट पदार्थों का समागम कर्मोदय से होता है, प्रशस्त कर्मोदय से सुख-सामग्री मिलती है और अप्रशस्त कर्मोदय से दुख-सामग्री का समागम होता हे। अतः कर्मोदय से जितनी भी अनिष्ट सामग्री मिले उसके प्रति आदरभाव रखते हुए ऋण मोचन पुरुष की तरह व्यवहार करना उचित है। अथवा शमवर्ती उस साधु को तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए, जो दूसरेके द्वारा किये जाने वाले उपसर्ग को साम्यभाव से सहता है पर उपसर्ग करने वाले पर रंचमात्र भी रोष नहीं करता। वह सोचता है कि उपार्जित कर्म फल देकर चला गया, यह अच्छा ही हुआ, उससे भार हलका हो गया। शरीर से रोग का निकलना ही अच्छा है, यदि वह संचित रहता तो अन्य विकार पैदा करता। और उससे अनन्त दुःखो का पात्र बनना पड़ता। ठीक इसी तरह यदि असाता शरीर की जीर्ण-शीर्ण अवस्था द्वारा निकल रही है तो तुझे हर्ष ही होना चाहिए।

क्योंकि वेदना तो कर्मोदय का विपाक है, वह सदा नहीं रहती, और तू अनन्त गुणों का पिण्ड है, चिदानन्द है, टंकोत्कीर्ण है, ज्ञायक स्वरूप है, धीर है, वीर है। यह तो अपना फल देकर नष्ट हो जायगी। तेरा आत्मा तो सदा शाश्वत रहने वाला है। मानव पर्याय का यदि विनाश हो गया तो उससे तेरा कुछ नहीं बिगड़ता। फिर भय से इतना आकुलित क्यों हो रहा है ? अतः पीड़ा आदि से होने वाली चंचलता को छोड, और अपने स्वरूप मे सावधान हो तुझे कितनी सी पीड़ा है। दूसरों की वज्र के समान होने वाली भयंकर पीड़ा जब उन्हें स्वरूप से विचलित नही कर सकी, वे धीर-वीर महामुनि समता रस मे निमग्न रहे, शिर पर अंगोठी जलती रही फिर भी उनका चित्त चलायमान नही हुआ। तपे हुए लोहे के आभूषण पहनाये गये, परन्तु तज्जन्य वेदना के होते हुए भी उससे रंचमात्र भी नही डिगे। इतना ही नही; किन्तु व्याघ्री और उसके बच्चे शरीर का भक्षण करते रहे, फिर भी उस असह्य वेदना से विचलित नही हुए। किन्तु अमित धीरता और विवेक से स्वरूप मे सावधान हो उत्तमार्थ को प्राप्त हुए। हे साधक ! फिर उसके सामने तो तेरी पीड़ा कुछ भी नहीं है, तेरे हाथ में तो सम्यग्दर्शनरूपी वह तलवार है। जो कर्मों का निपात करने में समर्थ है। किन्तु अभी उसकी धार मौथिली है। अतः उसे सम्यक् आत्म-विश्वास द्वारा पैनी करने का प्रयत्न कर। निर्दोष सम्यक् दर्शन को जागृत कर। तेरा आत्मा तो सच्चिदानन्द है और ऐसा ही तूने अपनी दृष्टि से निश्चित किया है। फिर यह देह कही जाओ, इसके विचार से क्या लाभ। किन्तु वर्तमान परिणति में समता भाव ही श्रेयस्कर है। अतः अन्य विकल्पों को छोड़। चोर की सजा देख साधु को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। तू अपनी ज्ञानादि सम्पत्तियों की ओर देख, और जो विचार स्वरूप की प्राप्ति मे बाधक हैं, उन्हे दूर करना ही तेरा पुरुषार्थ है। फिर देख तेरी यह वेदना कैसे दूर नही होती ? अब अपने मे सावधान हो और सच्चिदानन्द रूप ज्ञायक भाव का आश्रय ले। तू तो अनन्त ज्ञान की शक्ति का पिन्ड है। फिर अपनी ठकुराई को क्यों भूल गया ? धर्म का फल तो आत्म-शान्ति है, पर जब तुम अपने स्वरूप को भूल कर अशान्त होगे, तब उस धर्म फल को कैसे पा सकोगे ? इसका विचार कर। और निर्भय होकर एक वीर की तरह इस नश्वर शरीर

का परित्याग कर। जो तू इसे नही छोड़ेगा, तो यह निश्चित है कि यह तेरे से स्वय अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेगा। अतएव इस नश्वर पर्याय मे आस्था करना उचित नही है।

जिस तरह चन्द्रमा की कला शुक्ल पक्ष मे वृद्धि को प्राप्त होती है और कृष्ण पक्ष में उसकी कलाए क्रम से घटती रहती हैं। फिर भी उनसे चन्द्रमा का कुछ नही बिगडता। और पूर्णिमा के दिन वह षोडश कलाओं से परिपूर्ण रहता है। इसी तरह जीव जब उत्पन्न होता है तब उसके शरीर की प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है, वह क्रम से युवा और प्रौढावस्था को पा लेता है। किन्तु वृद्ध अवस्था आते ही वह जवानी धीरे-धीरे ढलती जाती है और अन्त मे शरीर अत्यन्त क्षीणकाय दुर्बल और कार्य करने के अयोग्य बन जाता है। इससे शरीर की अस्थिरता निश्चित है। अथवा जिस तरह पानी का बुदबुदा क्षण-स्थायी होता है वैसे जीवन भी अपनी स्थिति पर्यन्त रहता है। उससे अधिक रखने के लिए कोई भी समर्थ नही है। ऐसी स्थिति मे शरीरादि पर वस्तुओं से ममता का त्याग करना ही कल्याणकारी है।

तृषा की वेदना के जीतने का उपाय :

जब साधक का शरीर क्षीण हो जाता है और आहारादि तथा पेयपदार्थों का परित्याग होने से प्यास की बाधा और असातोदय जन्य पीड़ा अपना प्रभाव अंकित करती है। तब साधक उष्णता की बाधा होने अथवा कण्ठ शुष्क होने से पानी की इच्छा करने लगता है। वेदना के कारण हेयोपादेय का विवेक जब कुछ शिथिल हो जाता है, उसी समय उसे बाधक कारण सताने मे उद्यत हो जाते है। उस समय हमे साधक की अवस्था को देख कर उसे समझा देना चाहिए। उसके हृदय मे प्यास की बाधा को दूर कर देना बड़ी सावधानी और पुरुषार्थ का कार्य है। हमे साधक की प्यास को बुझाने के लिए समता रस की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करना चाहिए, और बतलाना चाहिए कि हे भाई! आप तो ज्ञानी है, वस्तु स्वरूप को समझते है। नरकधरा में कितनी अधिक वेदना होती है, जरा उसका ख्याल तो करो। यहां तो उसका एक अंश भी नही है। वहाँ इतनी अधिक प्यास और भूख लगती है कि समुद्र का सब पानी और तीन लोक का सब अनाज खा जाय तो भी प्यास और भूख न मिटे। तब भी वहाँ एक बूंद पानी और अनाज का एक कण भी नहीं मिलता। ऐसे दुःख इस जीव को सागरों पर्यन्त सहन करने पडते है। तब हे साधक! तुम्हें तो यहा कुछ भी वेदना नही है। और जो कुछ हो रही है वह सब तेरे ही उपार्जित कर्म का फल है। उसे तुम्हे भोगना ही पड़ेगा। तुम्हारे पास तो ज्ञान रूप सुधारस मौजूद है, उसका उपयोग क्यों नही करते। तुम्हारे चैतन्य घन मे जो समतारस भरा हुआ है उससे अपनी प्यास क्यो नही बुझाते? वेदना तो अल्पकालिक है, और तुम्हारा चैतन्य तो हमेशा रहने वाला है। अनन्त शक्ति का पुंज है, तुम स्वय ज्ञानी और साहसी हो, अपने परिणामो की ओर तो देखो; जिन्दगी भर जो तुमने व्रतादि के अनुष्ठान द्वारा पुण्य बीज बोया है अब उसका मधुर फल मिलने वाला है। इतने आतुर क्यो हो रहे हो? ज्ञानी के कोई वेदना नही होती, तुम तो सच्चिदानन्द हो, कर्म का उदय तो क्षणिक है, उस जड़ कर्म की क्या शक्ति है जो तुम्हें दुखी बना सके। तुम्हारी तो वह शक्ति है जो मन वचन काय की दृढता रूप त्रियोग से कोटि जन्म के पाप भी क्षणमात्र मे विनष्ट हो सकते है। तब कायर क्यों होते हो, तुम धीर वीर ज्ञानी हो, अपनी शक्ति की ओर देखो, और दृढता से कर्मपुंज को जलाने का पुरुषार्थ करो, तब शीघ्र ही अनत सुख के भोक्ता बन सकते हो। इसी तरह अन्य वेदनाओं के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए और साधक के परिणामो की सम्हाल का यत्न करना चाहिए।

सल्लेखना का ऐतिहासिक महत्व :

भारतीय क्षितिज पर जैन श्रमण और उनके उपासक श्रावक जन प्राचीन काल से ही तपश्चरण करते हुए अन्त समय में या उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा असाध्य रोगादिक के होने पर संयम की रक्षार्थ समता भावो से शरीर का परित्याग करते थे। वे भीषण उपसर्ग परीषहादिक से आतंकित होने पर भी कर्मोदय के फल मे राग-द्वेष नही करते थे; किन्तु समता भाव से शरीर का परित्याग करना ही अपना कर्तव्य मानते थे। जैन श्रमणों और श्रावक-

श्राविकाओं द्वारा समाधिपूर्वक शरीर छोडकर उत्तमार्थ की प्राप्ति करने के अनेक उदाहरण कथा ग्रंथो, पुराणो और चरितग्रथों एव सैकडों शिलालेखों में उत्कीर्ण किये हुए मिलते है। भगवती आराधना जैसे प्राचीन ग्रथो मे सल्लेखना का और उसके विधि विधान का विस्तृत स्वरूप दिया हुआ है, जिसे यहाँ लेख वृद्धि के भय से छोडा जाता है। सल्लेखना मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप आराधना चतुष्टय के अनुष्ठान द्वारा समता भाव को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है।

सल्लेखना आत्म-घात का कारण नहीं :

सल्लेखना से आत्मघात नही होता; क्योंकि आत्म-घात का कारण कषायभाव है। किसी से विरोध हो जाने पर रोष के तीव्र उदय को न सह सकने के कारण, विष भक्षण करना अग्नि मे जल जाना, कुएं या तालाब आदि मे गिरकर मर जाना, पर्वत से गिर जाना, रेल की पटरी के नीचे दबकर अपने अस्तित्व को खो देना, फांसी लगा-कर मरना अथवा शस्त्रादि के द्वारा अपना घात कर लेना या द्रव्य-भाव प्राणो का विनाश करना आत्म-घात या कषाय मरण कहलाता है। किन्तु जहाँ पर अनेक बाधक कारण-कलापो के उपस्थित होने पर उनसे अपने सयमधर्म की रक्षार्थ काय और कषायो को कृश किया जाता है। कषायों के उदय से होने वाले विभाव भावो का शमन किया जाता है, अथवा समता से शरीर त्यागा जाता है वहां आत्मघात का कोई दोष नहीं लगता। जैसे कोई डाक्टर करुणाबुद्धि पूर्वक नीरोग बनाने की दृष्टि से किसी मनुष्य का आपरेशन करता है और किसी वजह से बहुत सावधानी रखने पर भी चीरा अधिक लग जाने पर यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डाक्टर हिंसक नही कहलाता और न वह दड का भागी ही होता है। उसी प्रकार जीवन भर की आत्म-साधना को सफल बनाने के लिए निष्कषाय भाव से समाधिपूर्वक देह का त्याग करता है तो उसे भी हिंसा का पाप नही लगता और न वह दण्ड का भागी ही होता है। इससे स्पष्ट है कि सल्लेखना समाधि मरण से आत्मघात नहीं होता; किन्तु समाधिमरण की क्रिया आत्मोत्कर्ष का प्रतीक है। मानव-जीवन की सफलता का मापदण्ड है। कष्ट सहिष्णुता और धीरता की कसौटी है।

आराधकों के कुछ पुराने उद्धरण

शिवार्य की भगवती आराधना नामक प्राचीन ग्रन्थों मे अनेक जैन श्रमणों के उपसर्गादि जन्य कष्ट परम्परा को समभाव से सहते हुए समाधि पूर्वक शरीर का परि त्याग कर उत्तमार्थ की प्राप्ति करने वाले श्रमणों के नामों का उल्लेख किया गया है। जिन्होंने दूसरों के द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी अपने समता भाव का परित्याग नहीं किया, किन्तु अपनी वीतराग परिणति द्वारा उदयागत कर्म विपाक (फल) में इष्ट अनिष्ट कल्पनाओ को भी उत्पन्न नहीं होने दिया है, अधीरता मे धीरता को नही छोडा है, उन श्रमणों का जीवन धन्य है। वे ही अशुभ कर्म पुंज को ध्यानाग्नि द्वारा जलाकर स्वात्मोपलब्धि के स्वामी बने है। उदाहरण मे देखो मुनि पुंगव यशोधर के गले मे श्रेणिक (बिम्बसार) ने मरा हुआ सर्प डाला था। पर समभावी मुनि ने उसके ऊपर जरा भी कोप नही किया और न उसका अनिष्ट ही चिन्तन किया है। मुनि ने उस पर करुणा बुद्धि रखी है और उसे अपना अनिष्ट करने से भी रोका है। चेलना द्वारा उपसर्ग दूर होने पर मुनिराज ने श्रेणिक और चेलना दोनों को समान आशी-र्वाद दिया है कि तुम दोनो के धर्म की वृद्धि हो। श्रेणिक ने उस कुकर्म से सातवे नर्क की आयु का बंध किया था।

यहाँ उन दो-चार साधुओं का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिन्होने भयानक उपसर्ग जीतकर उत्तमार्थ की प्राप्ति की है।

पाँचों पाण्डव मुनि जब ध्यानस्थ अवस्था मे तपश्च-रण कर रहे थे, तब उनसे विरोध रखने वाले ईर्षालुओं ने तप से भ्रष्ट करने के लिए उन्हे लोहे के आभूषण बनवा कर और उन्हे गरम करके पहराये। उनकी वेदना सहते हुए भी पाण्डव अपने स्वरूप से जरा भी विचलित नही हुए, किन्तु समाधि मे निष्ठ रहे[1]।

---

१. लोहमयी आभूषण गढ के ताते कर पहराये।
पाँचों पाण्डव मुनि के तन में तौ भी नाहिं चिगाये॥
—समाधि मरण पाठ

अवन्ति देश के महामुनि सुकमाल जब ध्यान द्वारा कर्मरूपी ईंधन को जलाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब उनके पूर्व वैरानुबन्ध से एक स्यालनी अपने बच्चों के साथ तीन दिन तक उनके शरीर को खाती रही[१]। उन मुनिराज ने अपार वेदना सहते हुए भी समता का परित्याग नहीं किया, प्रत्युत समता एवं विवेक द्वारा वस्तु स्वरूप का विचार करते हुए समाधि से शरीर का परित्याग किया। जैसा कि हरिषेण कथा कोष के निम्न पद्यों से स्पष्ट है :—

'पूर्व वैरानुबंधेन तत्पादं रुधिरं तदा।
सा शिवा पातु मारब्धा सुकमाल मुनेरियम् ॥२४९
खादयन्त्या तरां पादं तन्मुनेः शिवया तया।
समाधिमरणेनायं चक्रे कालं दिनत्रये। २५०

—हरिषेण कथाकोश

मुनि सुकौशल और इनके पिता सिद्धार्थ मुनि का शरीर व्याघ्री ने भक्षण किया था। परन्तु श्री मुनि तिर्यंच कृत घोर उपसर्गजन्य वेदना सह कर अपने ज्ञान स्वभाव से जरा भी च्युत नहीं हुए। किन्तु तपश्चरण मे निष्ठ रहने से उन्होंने अहमिन्द्र पद प्राप्त किया[२]। जैसा कि भगवती आराधना की निम्नगाथा से प्रकट है :—

'मोग्गलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थ दइय भयवंतो।
वग्घीण वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४

कुम्भकार नगर मे अभिनंदनादि पांच सौ मुनियों को मंत्री की दुष्टता से राजा ने रोष वश घानी में पिलवा दिया। तो भी मुनियों ने समता का ही आराधन किया।

अभिणंदणादिगा पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि जंतेण ॥१५५५

महामुनि विद्युच्चर जब अपने पांच सौ शिष्यों के साथ ताम्रलिप्तिनगरी के बाह्य उद्यान मे ध्यान मे स्थित थे। तब रात्रि मे चामुंडा देवी के सेवक यक्षों द्वारा की जाने वाली दशमशकादिक की भयकर शारीरिक वेदना को साम्यभावसे सहन की और उत्तमार्थ की प्राप्ति की[३]।

इसी तरह मुनिवर चाणक्य ने, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमंत्री था। उसने अपने अन्तिम जीवन में दिगम्बर दीक्षा ले ली थी और वह अपने शिष्यों के साथ गोधर के समीप ध्यान मे स्थित थे, तब सुबधु के द्वारा आग लगा दिये जाने पर धीर वीर मुनि चाणक्य समभाव से उस अग्नि मे जल गये किन्तु धीरता का परित्याग नही किया। कष्ट सहिष्णु बन कर और उत्तमार्थ की प्राप्ति की[४]।

भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली ने भी अपनी आयु को अल्प जानकर सघ का सब भार विशाखाचार्य को सौपकर अनशन द्वारा—भूख-प्यास की वेदना को—समभावसे सह कर उत्तमार्थ की प्राप्ति की[५]।

इनके सिवाय समतारस के रागी अनेक योगी साधु हुए हैं जिन्होंने समाधि द्वारा शरीर का परित्याग करते हुए भी धीरता का परित्याग नही किया है। और जो

---

१. भल्लुंकीए तिरत्तं खज्जतो घोर वेदणट्टो वि।
आराधणं पवण्णो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठ ॥
—भगवती आराधना १५३९

२. अथ तत्रवने साधू चातुर्मासोपवासिनौ।
तस्थतुर्वृक्षमूले तौ पिता पुत्रौ घनागमे ॥२६८
ततो घनागमातीते पारणार्थं महामुनी।
प्रवृत्तौ नगरं गन्तुं तौ सिद्धार्थ सुकोशलौ ॥२६९
दृष्ट्वा तौ योगिनौ तत्र कोपारुणनिरीक्षणा।
चुकोप सहसा व्याघ्री स तदा परुषस्वना ॥२७०
आदाय तौ निरालम्ब प्रत्याख्यान महामुनी।
ध्यायन्तौ परम तत्त्व कायोत्सर्गेण तस्थतुः ॥२७१
सिद्धार्थं प्रथम व्याघ्री विपाद्य नख कोटिभिः।
ममार चरमं कोपात् तनयं च सुकोशलम् ॥२७२
पिता पुत्रौ तदा साधू कालं कृत्वा समाधिना।
दिवि सिद्धार्थ सिद्धौ तावहमिन्द्रत्वमापतुः ॥२७३
—हरिषेण कथाकोष पृ. ३१३

३. दसेहिय मसएहिं य खज्जतो वेदण परं घोर।
विज्जुचरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५१
—भ० आराधना

४. गोट्ठे पायोयवादो सुबंधुणा गोचरे पलिवदम्मि।
डज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५६
—भ० आराधना

५. ओमोदरिए तिगिच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४४
—भ० आ०

जन सम्पर्क से दूर रहे हैं और जिनका उपलब्ध साहित्य में उल्लेख भी नहीं मिलता।

जैन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि अनेक तपस्वी साधुओं ने अपने अन्तिम जीवन में जीवन की सफलता के लिए समाधिपूर्वक प्राण छोड़ा है। श्रवण बेलगोल के अनेक शिलालेखों में सल्लेखना या समाधिपूर्वक शरीर का परित्याग करने वाले अनेक साधुओं और श्रावक श्राविकाओं के नामों का उल्लेख किया गया है जिनमें से अनेक साधुओं ने एक-एक महीने तक के उपवासों द्वारा समभावों से प्राणों का विसर्जन किया है। और दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तपरूप आराधना चतुष्टय द्वारा आत्म-समाधि में निष्ठ रहकर मानव जीवन को सफल बनाया है।

यहाँ उदाहरण के तौर पर सिर्फ दो साधुओं का उल्लेख किया जाता है जिन्होने एक मास के उपवास पूर्वक समता से जीर्ण शरीर का परित्याग कर देव लोक प्राप्त किया है।

१. मलनूर के पट्टनिगुरु के शिष्य उग्रसैन गुरु ने एक मास तक सन्यास व्रत का पालन कर शरीर का परित्याग किया था। यह शिलालेख शक सवत् ६२२ (वि० सं० ७५७) का है[१]।

२. कुन्दकुन्दान्वय देशी गण के चारुकीर्ति पडित देव के शिष्य अजितकीर्ति देव ने एक मास के उपवास के पश्चात् शक संवत् १७३१ (वि० स० १८६३) में भाद्रपद वदी चतुर्थी बुधवार को स्वर्ग प्राप्त किया[२]।

जैन लेख संग्रह में ऐसे अनेक लेख है जिनमें एक महीने से भी कम समय में सन्यास व्रत का अनुष्ठान करते हुए शरीर का परित्याग कर मानव जीवन को सफल बनाया था।

१. जैन लेख स० भा० १ लेख नं० ८।

२. जैन लेख संग्रह भा० १, लेख नं० ७२।

इनके अतिरिक्त अनेक श्रावक श्राविकाओं ने भी समाधि-मरण द्वारा शरीर का परित्याग किया है। उनमें से यहाँ दो श्राविकाओं का परिचय दिया जा रहा है :—

श्रेष्ठिराज चामुण्ड की पत्नी देमियक्क, जो मूल संघ, देशीगण और पुस्तक गच्छ के विद्वान मुनि शुभचन्द्र सिद्धान्त देव की शिष्या थी। और बूचण की ज्येष्ठ भगिनी थी। बडी विदुषी, पति परायणा, जिन चरणाराधिका और आहारादि चारों दान दात्री थी। बडी धर्मिष्ठा थी, उसने शक सं० ६५० के लगभग धवला की प्रति लिखवाई थी और बूचिराज के स्वर्गवास के पश्चात् शक सं० १०३७ और १०४२ के मध्यवर्ती किसी समय मे शुभचन्द्र भट्टारक को प्रदान की थी। इस देमियक्क या देमति ने शक सं० १०४२ में फाल्गुन वदी ११ बृहस्पतिवार को सन्यास विधि से शरीर का परित्याग किया था[३]।

दण्डनायक गंगराज की धर्मपत्नी लक्ष्मीमति ने जो जिन धर्मपरायणा साध्वी महिला थी, मन्दिर निर्माण आदि कार्यों मे सहयोग देती थी। और दानधर्म मे जिसकी अभिरुचि थी। उसने भी शक सं० १०४४ मे सन्यास विधि से शरीर का परित्याग किया था उसकी पावन स्मृति मे उसके पति दण्डनायक गंगराज ने एक निषद्या बनवाई[४]।

सल्लेखना या समाधिमरण का सक्षिप्त परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित है। आशा है वह पाठकों को रुचिकर और उपयोगी होगा।

३. श्री मूलसंघद देशिगणद पुस्तकगच्छद शुभचन्द्र सिद्धान्त देवर गुड्डि सक वर्ष १०४२ नेय विकारी सवत्सरद फाल्गुण व ११ बृहवार दन्दु सन्यासन विधियि देमियक्क मुडिपिदलु।
—जैन लेख सं० भा० १, लेख नं० ४६, पृ० ७०।

४. जैन लेख सं० भा० १, पृ० ६८।

राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनाएं

डा० गजानन मिश्र एम. ए. पी-एच. डी.

(१) जोधराज गोदीका—

जोधराज गोदीका सागानेर के निवासी थे[१]। इनके पिता का नाम अमरचन्द था। ये खण्डेलवाल जैन थे[२]। जोधराज के नाना कल्याणदास थे[३]। कहा जाता है कि इनके पिता अमरचन्द गोदीका के पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। दूर-दूर तक उनका व्यापार फैला हुआ था। राज-महलों की तरह उनके महलों पर भी ध्वजाए फहराया करती है[४]।

जोधराज के जन्म की निश्चित तिथि अभी ज्ञात नही हो सकी है, लेकिन उनके ग्रन्थो मे दिये हुये रचनाकाल के आधार पर इनका जन्म सं० १६७५ के आसपास होना संभव है। इनका लालन-पालन लाड प्यार मे हुआ। बड़े होने पर जोधराज ने पं० हरिनाथ मिश्र को अपना मित्र बनाकर उनकी संगति से शास्त्र-ज्ञान उपलब्ध किया तथा उनसे अपने पढ़ने के लिए कई हस्तलिखित ग्रन्थो की प्रतिलिपियां भी करवाई[५]। प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात् इन्हें व्याकरण, छंद एव ज्योतिष शास्त्र के ग्रंथों का भी अध्ययन कराया गया[६]।

जोधराज गोदीका अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान थे। सस्कृत, प्राकृत एव व्रज एव राजस्थानी भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। आध्यात्मिक शास्त्रों मे उनकी विशेष रुचि थी। अपनी इसी रुचि के कारण उन्होने सांगानेर को साहित्य का केन्द्र बना दिया और जनता की ज्ञान-पिपासा बुझाने लगे। अद्यावधि उनकी निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध है—

१. प्रीतंकर चरित्र (स० १७२१)।
२. ज्ञान समुद्र (स० १७२२)।
३. धर्म सरोवर (स० १७२४)।
४. सम्यक्त्व कौमुदी भाषा (सं० १७२४)।
५. प्रवचनसार भाषा (१७२६)।
६. जिनस्तुति (१७२६)।
७. कथाकोष भाषा (१७२६)।
८. चौआराधना उद्योत कथा।
९. गौडी पार्श्वनाथ स्तवन।
१०. नेमिजिन स्तुति।
११. भावदीपिका वचनिका।
१२. समन्तभद्र कथा।

प्रीतंकर चरित्र एक प्रबन्ध काव्य है जो सम्भवत: इनकी प्रथम रचना हो सकती है। इसमें प्रीतकर मुनि का जीवन चित्रित किया गया है। यह ग्रंथ पाटोदी के मन्दिर में वेष्टन सख्या ६८२ पर उपलब्ध है।

सम्यक्त्व कौमुदी मे कवि द्वारा रचित अनेक लघु कथाएं सग्रहीत है। यद्यपि मूल रूप में यह सस्कृत का ग्रंथ है लेकिन कवि ने अपनी प्रतिभा से इसमें मौलिकता लाने का प्रयास किया है। जिसे पढ़कर प्रत्येक पाठक को आत्मदर्शन होते है। इसीलिए प्रारंभ मे कवि ने कहा है—

मूल ग्रंथ में ज्यों सुनी, कथा कहै कवि जोध।
सोई ए भाषा सही, दायक दरसन बोध।।

सम्यक्त्व कौमुदी की रचना कवि ने संवत् १७२४ में फाल्गुन वदी त्रयोदशी शुक्रवार को सांगानेर में बनाकर समाप्त की थी, जैसा कि उसके प्रशस्ति पद्य से स्पष्ट है—

संवत सत्रासै चौबीस, फागुन वुदि तेरस शुभ दीस।
सुकरवार सो पूरन भई, यहै कथा समकित गुन ठई।।

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास।
—कामता प्रसाद जैन पृ० १५५

२. जोध कवी सुर होय, वासी सागानेर को।
अमरपूत जग सोय, वणिक जात जिनवर भगत।।
—धर्मसरोवर छद स० ६७३।

३. प्रवचन सार भाषा छद २७-२८।

४. वीरवाणी वर्ष १, पृ० ७०।

५. वही। ६. वही।

यह रचना भी शास्त्र भंडार जैन मन्दिर पाटोदी मे सुरक्षित है। 'प्रवचनसार भाषा' कवि की आध्यात्मिक रचना है। इसमें कवि ने अपने आध्यात्मिक भावों को प्रवचनसार के माध्यम से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम पाण्डे हेमराज ने इसकी वचनिका की थी। उसी के आधार पर कवि ने साहित्य जगत् को एक पद्य मय रचना और भेट कर दी। इसका पूरा इतिहास कवि ने स्वयं ही लिख दिया है[1]।

जोधराज की 'ज्ञानसमुद्र' तथा धर्मसरोवर नामक दोनों कृतियां मौलिक है और दोनों ही नीति प्रधान है। इनकी छद सख्या क्रमशः १४७ और ३८७ है। धर्म सरोवर की रचना स० १७२४ के आषाढ़ माह की है[2]। यह ग्रंथ बाबा दुलीचन्द्र के शास्त्र भडार में उपलब्ध है। इस ग्रंथ में नामबद्ध, धनुषबद्ध, तथा चक्रबद्ध कविताओ के चित्र भी है[3]। इन दोनों ग्रन्थो मे दोहा, सोरठा, चौपाई, सवैया, गाहा, छप्पय कवित्त आदि छदो का बाहुल्य है।

(२) हेमराज—

हेमराज नाम के दो जैन विद्वान हुए है। एक पाडे हेमराज जो संस्कृत प्राकृत के अच्छे विद्वान और कवि थे। और दूसरे हेमराज गोदिका, इनका जन्म सत्रहवी शताब्दी में सांगानेर (जयपुर) मे हुआ था[4]। अपने जीवन के अन्तिम दिनो में ये कामाँ चले गये थे। प्रथम हेमराज के नाम से निम्नलिखित रचनाए मिलती है—

१. प्रवचन सार भाषा[1] (माघ शुक्ला ५ स. १७०९)
२. चौरासीबोल[2]
३. नय चक्र भाषा[1] (फाल्गुन शु. १० सं. १७२६)
४. गोम्मटसार[4] कर्मप्रकृति (१७२०)
५. द्रव्य सग्रह भाषा[5] (माघ शु. १० सं. १७३१)
६. भक्तामर स्तोत्र भाषा[6]
७ परमात्म प्रकाश।
८. गणितसार[7]।
९. दोहाशतक[9]।
१०. हितोपदेश बावनी।
११. साधु की आरती[8]।

पाण्डे हेमराज उत्कृष्ट कोटि के कवि थे। इनका 'चौरासीबोल' छंदोबद्ध काव्य है। इन्होने शार्दूल विक्रीडित, छप्पय और सवैया छदों मे सुन्दर भावो को अभिव्यक्त किया है। इनका दोहा शतक भी श्रेष्ठ काव्य है। इसमे अधिकाशतः नीतिपरक दोहे है। इसकी समाप्ति कार्तिक सुदि ५ सवत् १७२५ मे हुई[9]। इनकी कविता

---

१. मूल ग्रंथ करता भये, कुंद कुंद मुनिराय।
तिन प्राकृत गाथा करी, प्रथम महासुख पाय ॥
तिन ऊपर टीका करी, अमृत चन्द्र सुखरूप।
ससकृत अति सुगम, पडित पूज्य अनूप ॥
ता टीका कौं देखिकै, हेमराज सुखधाम।
करी वचनिका अति सुगम, तत्वदीपिका नाम ॥
देख वचनिका हरिषियौ, जोधराज कवि नाम।
तब मन मे इह धारि कै, किये कवित्त सुखधाम ॥
—प्रवचनसार प्रशस्ति

२. संवत सत्रह से अधिक, है चौईस सुजानि।
सुदि पून्यौ आषाढ़ की, कियौ ग्रथ सुखदानि ॥३८५॥
—धर्म सरोवर

३. राजस्थान के जैन भडारो की सूची—डा० कासलीवाल

४. दोहा शतक–दोहा संख्या ९८, ९९ (हेमराज)

५. वही, दोहा संख्या १००।

१. यह कृति शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर पाटोदी मे उपलब्ध है।

२. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन—नेमिचन्द जैन पृ० २२३।

३. बाबा दुलीचन्द शास्त्र भंडार, वे० स९ १३४ पर उपलब्ध है।

४. जैन मन्दिर पाटोदी के वे० स० १३ पर उपलब्ध है।

५. शास्त्र भंडार, गोधो का मन्दिर के वे० सं० ७३३ पर उपलब्ध है।

६. आमेर शास्त्र भडार के वे० स० १५५० पर है।

७. शास्त्र भडार जैन मन्दिर पाटोदी के वे० सं० १०५ पर है।

८. आमेर शास्त्र भडार मे है।

९. दोहाशतक दोहा सख्या १०२।

[*] यह प्रथम हेमराज अग्रवाल की रचना नही है, किन्तु द्वितीय हेमराज गोदिका की रचना है। इसी तरह गणितसार द्रव्यसग्रह भाषा, हितोपदेश बावनी, साधु की आरती तथा नयचक्र भाषा भी इनकी कृति नही है। —सम्पादक

का नमूना दृष्टव्य है—

प्रलय पवन करि उठी आगि जो तास पटतर।
वमै फुलिंग शिखा उतंग पर जलै निरंतर।।
जगत समस्त निगल्ल भस्म करहैगी मानो।
तडतडात दव अनल, जोर चहु दिशा उठानो।।
सोइक छिन मैं उपशमें, नाम नीर तुम लेत।
होइ सरोवर परिन में, विकसित कमल समेत।।

दूसरे हेमराज की रचना प्रवचनसार पद्यानुवाद है जिसे उन्होंने सं० १७२६ मे बना कर समाप्त किया है। दूसरी रचना दोहा शतक है, जिसे उन्होने कामा (भरतपुर) मे बनाकर समाप्त की थी।

(३) अजयराज पाटणी—

अजयराज का जन्म सांगानेर मे हुआ था। बड़े होने पर इन्होने भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य महेन्द्रकीर्ति के पास ज्ञान ग्रहण किया और अधिकांशत: आमेर मे रहने लगे। इसीलिए डा०प्रेमसागर जैन ने इन्हें आमेर का निवासी बताया है। ये आमेर के प्रसिद्ध सांवला जी के मन्दिर में नित्य पूजा वन्दना करते थे। वहां के नेमिनाथ भगवान की चमत्कारिक मूर्ति से प्रेरणा पाकर उन्होने 'नेमिनाथ चरित्र, लिखा। इनकी अधिकाश कृतिया भक्ति और अध्यात्म से सबंधित है। अजयराज की प्रमुख रचनाएं निम्न प्रकार है—

१. यशोधर चोपाई (कातिक कृष्णा २ स. १६७२)
२. नेमिनाथ चरित्र (आसाढ कृष्णा १३ सं. १७९३)
३. जिनजी की रसोई (जेष्ठ शु. १५ सं. १७९३)
४. पार्श्वनाथ जी का सोलहा (१७९३)
५. आदिपुराण भाषा (१७९७)
६. चरखा चउपई।
७. शिवरमणी का विवाह।
८. विनती।
९. वसन्त पूजा।
१०. कक्काबत्तीसी।
११. शांतिनाथ जयमाल।
१२. पद संग्रह।
१३. बाल्यवर्णन।
१४. सिद्धस्तुति
१५. चतुर्विंशति तीर्थङ्कर पूजा
१६. आदिनाथ पूजा
१७. ओंकार सिद्धा
१८. पंचमेरु पूजा
१९. नन्दीश्वर पूजा
६०. चारमित्रो की कथा
६१. जिन गीत

(१) नेमिनाथ चरित्र—

इसकी रचना आषाढ कृष्णा १३ सं० १७९३ को हुई थी[1]। इस काव्य मे कवि ने अपने आराध्य के गुणों का बखान किया है और कहा है कि इस मूर्ति की वन्दना करने से यह जीव इस समुद्र से पार हो सकता है[2]। आमेर के मध्य एक जिन मन्दिर है, उसके चारों ओर प्राकृतिक वातावरण का मनमोहक चित्रण दृष्टव्य है—

अजयराज यह कीयो बखाण, राज सवाई जयसिंह जाण।
अंबावती सहर सुभ थान, जिन मंदिर जिनदेव विमाण।।
वीर निवाण सोहै वनराई, वेलि गुलाब चमेली जाई।
चम्पो मरवो अरे सेवति, यौ हो जाति नाना विधि कीती।।
बहु मेवा विधिसार, वरणत मोहि लागे बार।
गढ़ मदिर कछु कह्यो न जाई, सुखिया लोग बसे अधिकाई
तामे जिन मंदिर इकसार, तहाँ विराजै श्री नेमिकुमार।
श्याम मूर्ति सोभा अति घणी, ताकी उपमा जाइ न गणी।।

(२) शिव रमणी का विवाह—

१७ छन्दों की यह एक मौलिक रचना है जिसमे आत्मा का परमात्मा के साथ विवाह वर्णित किया गया है। यह एक रूपक काव्य है। इसमे दूल्हा तीर्थङ्कर को बताया गया है। भक्तजनो की बरात बनाई गई है। दूल्हा व बरात पचमगतिरूपी ससुराल मे पहुँचते हैं और वहाँ से मुक्ति रूपी रमणी से विवाह करते हैं। शिव रमणी आत्मा का मन मोह लेती है। उस समय उसके आनन्द का पारावार ही नहीं रहता। वर-वधू ज्ञान सरोवर में

---

१. संवत सतरासै तिराणवे, मास असाढ़ पाई वर्णयौ।
तिथि तेरस अंधेरी पाख, शुक्रवार शुभ उत्तिमदाख।।
—शास्त्र भण्डार, ठोलियों के मन्दिर में स्थित हस्त लिखित प्रति (नेमिनाथ चरित्र)

२. उत्तरपुराण भाषा के अन्त में परिचय।

मिलकर तृप्त हो जाते है—

शिव रमणी मन मोहीयोजी,
जैठे रहे जी लूभाय।
ज्ञान सरोवर में छकि गये जी,
आवागमण निवारि ॥१५॥
आठ गुणां मंडित हुवा जी,
सुख को तहां नही छोर।
प्रभु गुणा गाया तुम तणांजी,
अजैराज करि जोडि ॥१६॥

(३) जिनजी की रसोई—

५३ छन्दों की यह बहुत सुन्दर रचना है। जिसमें वात्सल्य रस का चित्रण हुआ है। इसमे जिनको माता द्वारा परोसे गये विभिन्न खाद्य पदार्थों के नाम गिनाये गये है। भोजन के पश्चात् वन-विहार का भी वर्णन है। इस कृति का एक छन्द दृष्टव्य है जिसमे वात्सल्य भाव का चित्रण है—

यह जिनजी को कहूँ रसोई। ताको सुणत बहुत सुख होई।
तुम रूसो मत मेर चमना। खेलो बहु विधि घर के अगना।
देव अनेक बहुत खिलावै। माता देखि बहुत सुख भासे ॥१॥

(४) चरखा चउपई—

यह भी एक रूपक काव्य है जिसमे ११ छद है। प्रथम तीन छदो मे जिनेन्द्र की वन्दना, सात पद्योमे चरखे का रूपक और अन्त मे उसकी उपयोगिता का वर्णन है। चरखे का रूपक बाधते हुए कवि ने कहा है कि ऐसा चरखा चलाना चाहिए जिसमे खूटे-शील और संयम, ताडियां शुभ ध्यान, पाया शुक्लध्यान, दामन-सेवा, माल-दश-धर्म, हाथनी-चारदान, ताकू-आत्मासार, सूत-सम्यक्त तथा कूकडी बारह व्रत हो। इस प्रकार यह कृति बहुत ही रुचिकर है और साथ ही रसयुक्त भी। इसके प्रारम्भ की पक्तियां दृष्टव्य है—

श्री जिनवर बदू गुणगाय, चतुर नारि चर्षेलाय।
रागदोष बिगता परिहरै, चतुर नारि चरखं चित धरै॥
प्रथम मूल चरखा को जाणि, देव धर्म गुरु निश्चे आणि।
दोष अठारा रहत सुदेव, गुरु निरग्रंथ तिणकरि सेव॥
धर्म जिनेसुर भाषितसार, जयत तत हिरदै अवधार।(?)
ज्यो समकित उपजै सुषकार, ता विन भ्रम्यो भव तू निस्सार॥

(५) कक्का बत्तीसी—

इसकी रचना वैसाख सुदि १३ सोमवार सं० १७८३ मे हुई थी[१]। इसमे ४० छद है। नमूने के लिए दो छद दृष्टव्य है—

नजां निपट नजीक है, निज पद निज घट मांही।
ज्यों जल बीचि कमोदनी, त्यों चेतन जड पांही ॥१४॥
ससां सो अब पाइयो सो कबहु नहीं जाय।
धनि जनेसर धनि गुरु, तिन प्रसाद इन्हें पाय ॥१६॥

---

१. सत्रासै तीयासीये रिति ग्रीषम वैशाष।
सोमवार तेरसि भली, अवर उजालो पाष॥
—कक्का बत्तीसी

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानो और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-सस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बने और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें। इतनी महगाई में भी उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई, मूल्य वही ६) रुपया है। —व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

कलचुरि कला में शासन देवियां

शिवकुमार नामदेव (शोधछात्र)

भारतीय इतिहास मे कलचुरि नरेशों का काल अविस्मरणीय रहेगा। दीर्घकाल के शासनावधि मे कलचुरि नरेशो ने अन्य की भांति कला की भी चहुमुखी उन्नति की। शैव धर्मावलम्बी होते हुए भी इन कलचुरि नरेशो ने अन्य धर्मों के प्रति द्वेष भाव नही रखा, परिणाम स्वरूप सभी धर्म एक स्वच्छंद वातावरण मे फले फूले। इस काल मे हिन्दू एव बौद्ध मूर्तियो की ही तरह जैन मूर्तियों की बहुलता है।

कलचुरि कला मे प्राप्त शासन देवियों की प्रतिमाओ को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—स्थानक एव आसन प्रतिमाएं।

आसन मूर्तियां—

कलचुरि कलीन शासन देवी की आसन प्रतिमाए, कारीतलाई, तेवर, पनागर (जबलपुर जिले मे) तथा सोहागपुर (शहडोल जिले मे) आदि स्थलो से प्राप्त हुई है। इन मूर्तियो मे अबिका, चक्रेश्वरी की प्रतिमाए मुख्य है।

कारीतलाई ने आम्रादेवी की एक मूर्ति प्राप्त हुई है जो आजकल रायपुर (म० प्र०) सग्रहालय मे सरक्षित है। सफेद छीटेदार लाल बलुवा पत्थर से निर्मित इस प्रतिमा में बाइसबे जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी अबिका ललितासन मे सिह के ऊपर बैठी हुई है, जो उसका वाहन है। द्विभुजी यक्षी अपने दाये हाथ मे आम्रलुबि लिए है और बाम हस्त से गोद मे बैठे हुए अपने कनिष्ठ पुत्र प्रियशकर को सम्हाले हुए है। अबिका का ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर अपनी मा के दक्षिण पाद के निकट बैठा हुआ है। अबिका का चेहरा मुस्कराता हुआ दिखलाया गया है। मस्तक के ऊपर स्थित आम्रवृक्ष बाला भाग खडित हो गया है। अबिका का केश विन्यास मनोहर है। उसके अग-अग पर यथोचित आभूषण शोभित हो रहे है। यक्षी के दोनो पार्श्व पर एक-एक परिचारिका खड़ी हुई है। दाहिने ओर की परिचारिका अपने हस्त से अधोवस्त्र पकड़े हुए है, उसके दक्षिण हस्त मे सभवतः पद्म है।

कलचुरि कालीन जैन चक्रेश्वरी की प्रतिमा तेवर (जबलपुर,म०प्र०) बालसरोवर के शैव देवालय की बाह्य पट्टी पर उत्कीर्ण है। उसी देवालय की बाह्य पट्टी पर जैन तीर्थंकर आदिनाथ की अनेकों मूर्तियां है।

पनागर (जबलपुर, म० प्र०) से अम्बिका देवी की एक २॥' ऊँची सुन्दर प्रतिमा प्राप्त हुई है। स्थानीय लोग इस 'खेरदाई' या 'खेरदैय्या' नाम से पूजित करते है। अम्बिका देवी की यह बैठी हुई प्रतिमा को अम्बिका ही मानने के प्रमुख कारण ये है कि देवी के प्रतीक आम्रलुम्ब एव बालक आदि प्रमुख लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।देवी के मस्तक पर भगवान नेमिनाथ की पद्मासनस्थ व पार्श्व मे अन्य खड्गासनस्थ जिन मूर्तियाँ है। पृष्ठभाग मे विस्तृत आम्रवृक्ष उत्कीर्ण है। देवी के मस्तक पर क्रमशः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभु की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण है।

सोहागपुर (शहडोल म० प्र०) से एक और प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसका समीकरण अथवा पहचान अभी संभव नही हो पाई है। देवी के मस्तक के ऊपर बैठी हुई जिन प्रतिमा के मस्तक के ऊपर सर्प के छत्रों का वितान है। देवी के मस्तक के ऊपर भी सर्प छत्रों का वितान है। इससे यह संभव प्रतीत होता है कि देवी सुपार्श्व अथवा पार्श्वनाथ (कालिका या पद्मावती) से सबंधित है। एक मुखी एवं द्वादशभुजी देवी के वाम हस्तों में चक्र, वज्र, परशु, असि, शर तथा एक वरद मुद्रा मे है। दक्षिण हस्तों मे धनु, अंकुश, पाश, दण्ड, पद्म, तथा एक हाथ खण्डित है। देवी के दोनों पार्श्व एवं पादपीठ पर उसके

कालकोट के दुर्ग से प्राप्त एक जैन प्रतिमा

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

मध्यप्रदेश साहित्य व संस्कृति की दृष्टि से ही नही, वरन् इतिहास तथा पुरातत्व की दृष्टि से भी अत्यन्त समृद्ध है। मध्यप्रदेश मे भी मालवा एव पार्श्ववर्ती क्षेत्रों मे अनेक स्थानों पर जैन इतिहास तथा पुरातत्व व्याप्त मिलता लगभग डेढ़ माह पूर्व ही भानपुरा से दक्षिण की ओर लगभग १५-२० किलोमीटर की दूरी पर कालाकोट नामक दुर्ग से भगवान् पार्श्वनाथ की एक दि० जैन प्रतिमा उपलब्ध हुई है।

भानपुरा झालरापाटन और नीमच के बीच एक प्राचीन नगरी के रूप मे अवस्थित है। यह कस्बा मध्यप्रदेश और राजस्थान की सीमा के निकट है। झालावाड़ रोड से लगभग २० किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। पहले यह होलकर स्टेट के अन्तर्गत था। इस पुर मे वर्षों तक भट्टारको की गद्दी रही है। आसपास पहाड़ी स्थान हैं और छोटी-मोटी कई गुफाएं है, जिनमे जैन सांस्कृतिक इतिहास और प्राचीन गरिमा की झलक आज भी दिखलाई पड़ती है।

चित्तौड़ के दुर्ग की भाँति कालाकोट के दुर्ग से अनेक दि० जैन प्रतिमाएं कई वर्षों से प्राप्त हो रही है। जन सामान्य आवश्यकता पडने पर किले से पत्थर लाते रहते है और किसी न किसी भीत के ढहने पर कोई न कोई जैन प्रतिमा निकल पड़ती है। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा स्लेटी रंग की पद्मासन मूर्ति है। इसकी ऊंचाई लगभग ५ फुट और चौड़ाई लगभग तीन फुट है। प्रतिमा अच्छी हालत मे है और मनोज्ञ है। नासिका, वक्ष और हस्तागुलियो के कुछ अंश भग्न हो गये है। यह प्रतिमा इस समय भानपुरा के एक उद्यान मे एक कमरे मे विराजमान है। भक्त लोग इसकी वन्दना करने जाते रहते है। कुछ लोगो के अनुसार इसमें कुछ अतिशय भी है। एक बार जब प्रतिमा लेने के लिए कुछ लोग पहुचे तो निराश लौटना पड़ा। क्योंकि प्रतिमा किसी से उठती ही नही थी। जब दूसरी बार कुछ अन्य भक्त लोग संकल्प लेकर पहुँचे तो प्रतिमा सरलता से उठकर भानपुरा तक आ गयी। कालाकोट भानपुरा से मन्दसौर की ओर मार्ग मे अवस्थित है।

प्रतिमा-लेख इस प्रकार है—

सवत् १३०२ वर्षे पो० १५ गम् लाडवागडा पोरपाटान्वये साहु सहन ·····सा ·····तेोद······प्रतिष्ठिता

प्रतिमा-लेख की लिपि मे खड़ी पाई मिलती है। भानपुरा के श्रावक बन्धुओं से निवेदन है कि वे इस चमत्कारी प्रतिमा को बड़े मन्दिर मे विराजमान कर पुण्य-सचय करने का लाभ प्राप्त करें। प्राचीन प्रतिमा सदा पूज्य होती है। ●

सेविकाओं का अंकन है। दाहिनी ओर नाग एव वाम पार्श्व में तीन घुटने टेकी हुई आकृतियाँ है।

इसी स्थल से एक और जैन देवी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। देवी के ऊपर एक वृहद् जिन की ध्यानस्थ प्रतिमा है, जिसके दोनों पार्श्व पर परिचारक चंवर लिए हुए खड़े है। परिचारकों के दोनों पार्श्व पर एक-एक जिन प्रतिमा की खडी हुई मूर्तियाँ हैं। जिन प्रतिमा के पादपीठ पर जिस पर वे बैठी हुई है, दो सिंह उत्कीर्ण है। जिन प्रतिमा का लांछन खण्डित है। जिसके नीचे शासन देवी की बैठी हुई मूर्ति है। इनके नीचे शासन देवी की बैठी हुई मूर्ति है। देवी के आसन के नीचे दबका सिंह उत्कीर्ण है। देवी के मस्तक के ऊपर आम्र गुच्छ का छत्र है। द्विभुजी देवी के बांये हाथ में आम्र गुच्छ तथा दाहिने मे वे एक बच्चे को लिए हुए हैं। बच्चे के हाथ में भी आम्र गुच्छ है। दोनों पार्श्व पर एक एक बैठी एवं एक-एक खड़ी परिचारिकाएं हैं। देवी ललितासन मुद्रा में बैठी है। ●

गोलापूर्व जाति पर विचार

यशवंत कुमार मलैया, दमोह

भारत में निःसन्देह जाति-व्यवस्था का बड़ा महत्व है। हर सामान्य भारतीय का खान-पान, रीति-रिवाज आदि जाति-व्यवस्था के अनुसार ही शासित होते हैं। भारतीय नरेशों का पतन, मुसलमानों का उत्थान व पतन, ब्रिटिश राज और फिर स्वराज्य, इन सबने जाति-व्यवस्था पर अपना प्रभाव छोड़ा है। वस्तुतः जाति व्यवस्था एक अद्भुद "जीवन्त अवशेष" है—इसका इतिहास वास्तव में बहुसंख्यक भारतीय समाज का इतिहास है।

जाति की एक कामचलाउ परिभाषा इस तरह दे सकते हैं यह वह समूह है जिसके सदस्य आपस में ही विवाह सम्बन्ध करते है। सैद्धान्तिक रूप मे अलग-अलग जाति के लोग अलग-अलग नस्ल (Roce) के होना चाहिए—लेकिन यह पूर्ण रूप से सत्य नही है। [इस विषय पर "Costs System of Northern India"—Blant 1931" में ऊहापोह किया गया है]।

जाति को अन्वय 'कुल', 'वंश', 'जाति' या कई बार भूल से 'गोत्र' भी कहा गया हैं। अंग्रेजों ने इसे 'Caste' कहा है। जाति या उप-जाति शब्द का प्रयोग नया ही है।

जैनों मे चौरासी जातियाँ है। "फूलमाल पच्चीसी" में चौरासी नाम गिनाये गये है। लगभग आधी पहिचान में आती है—दोष के बारे में उल्लेख सुनने में नहीं आये। इन ८४ नामों का संकलन '८४' के मोह से किया गया लगता है। राजस्थान मे ८४ वैश्य (जैन-अजैन दोनों) जातियां मानी गई है। [कर्नल टाड]। एक अर्वाचीन रचना "अथ श्रावकोत्पत्ति वर्णनम्" में खण्डेला (शेखावाटी) के राजा गिरखण्डेल के अधीनस्थ ८४ शासकों द्वारा ८४ जाति के श्रावकों की उत्पत्ति कही गई है। [जैन सन्देश शोधांक—१७]। एक अन्य परम्परा साढ़े बारह जातियों के नाम गिनाने की है (अग्रवालों को आधा माना गया है) [देखिये (१) वर्धमान-पुराण-नवलसाह चंदेरिया, (२) परवार मूर-गोत्रावली, (३) अनेकान्त दिस० '७१, पृ० २१८]। यह उल्लेखनीय है कि इन सब मे तारणपंथियों का ('समैया' व 'चन्नागरे') उल्लेख नहीं है। [१३वीं शताब्दी से पूर्व इनका इतिहास नही है।]

नाम विचार—गोलापूर्व शब्द मे न तो समय के साथ परिवर्तन हुआ है और न ही इसका "संस्कृतीकरण" का प्रयास हुआ है। 'संस्कृतीकरण' के कारण मूल नाम के निश्चय मे बहुधा भ्रम हो जाता है। [संस्कृतीकरण के उदाहरण देखिये: बघेरवाल का व्याघ्रेरवाल, पुरवाड (पुरवार) का पौरपट्ट, कछवाहा (राजपूत) का 'कच्छपघट', 'कुशवाहा' आदि]।

'गोला' किसी स्थान को सूचित करता है। इसी स्थान पर इन जातियों का नाम पड़ा है—गोलापूर्व, गोलालारे (गोलाराडे) गोलसिंघारे और वैष्णवधर्मी गोलापूर्व ब्राह्मण व गोलापूर्व क्षत्रिय। 'जैन-धातु-प्रतिमा लेख संग्रह" में एक प्रतिमा-स्थापक को 'गोलावास्तव्य' लिखा गया है। [श्री अ० भा० गोलापूर्व डायरेक्टरी]। श्रवणबेलगोला के एक लेख (शक सं० १०३७) मे गोला देश से आये गोल्लाचार्य का उल्लेख है। ["दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि" पृ० २६०']। यह वही गोला स्थान हो सकता है। वर्धमान पुराणकार ने 'गोयलगढ़' की कल्पना की थी—जिसे कुछ विद्वानों ने ग्वालियर माना था। परमानन्द शास्त्री का मत गोलाकोट का है। पर इन स्थानो के आस-पास गोलापूर्वों के प्राचीन शिलालेख नहीं मिलते। गोलापूर्व अन्वय के उल्लेख वाले प्राचीनतम शिलालेख पुराने ओरछा व पन्ना स्टेट में व महोबा में मिले है। अन्य स्थानों पर गोलापूर्वान्वय के सं० १३०० से पूर्व के लेख विरले ही हैं। जब भी ओरछा व पन्ना

स्टेट में तथा इनके पास गोलापूर्व की विशेष आबादी है। यहाँ से ही गोलापूर्व अन्य स्थानों को जा-जाकर बसे है। वर्तमान में जो गोलापूर्व बुन्देलखड के दक्षिण में (सागर, दमोह व जबलपुर जिला) बसे हुए है, वे सब उत्तर से (बुन्देलखड के आन्तरिक भागों से) आकर बसे हैं। उदाहरण देखिये—पाटन के रावेले सिंघई ग्रहारक्षेत्र से आकर बसे थे। सागर के फुसकेले सिंघई मदनपुर (जि० झांसी) से आकर बसे है (लगभग सवा सो वर्ष पूर्व आकर बसे हैं। हटा के टैटवार सिंघई बमानी (छतरपुर) से दो सौ वर्ष पूर्व आकर बसे है। रीठी (जि० जबलपुर) के पहले सवा सौ वर्ष पूर्व पता (जि० टीकमगढ) से आये थे। कटनकी के पटवारी कोठिया लगभग ८० वर्ष पूर्व गोरखपुरा से आये थे। दमोह गजेटियर (१९०७) लिखता है कि दमोह के परवार टीकमगढ-टेहरी से आये थे और गोलापूर्व भी उसी ओर से आये थे।

अतः पुराना ओरछा व पन्ना स्टेटों के (आप-पास जिले टीकमगढ, छतरपुर, पन्ना) ही 'गोला' स्थान होना चाहिए।

महोबा में कुआ खोदते समय एक बार २४ जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई थी। इनमें से तीन पर के लेखों मे (सं० १२१९, १२४३, य२४३) गोलापूर्वान्वय का उल्लेख है। शेष पर के लेखो में (इन सं० ८३१, ८२२, ११४४ व १२०९ के लेख भी है) किसी जाति नाम का उल्लेख नहीं है। सम्भव है सभी गोलापूर्वों (या उनके पूर्वजों) द्वारा स्थापित हों।

ऐसा प्रतीत होता है कि सभी प्राचीनतर जैन जातियां लगभग एक ही समय बनी थी। दसवीं शताब्दी के पूर्व जातियों के उल्लेख नही मिलते। वास्तव मे इससे पूर्व की एक-दो शताब्दियों के भारतीय इतिहास में एक धुधलका सा छाया हुआ है।

अधिकतर जातिया एक ही स्थान पर निवास करने वाले जन-समुदाय से बनी हैं। देश-व्यापी उथल-पुथल होने से लोग अपने पूर्वजों का स्थान छोड़-छोड़कर अन्यत्र बसने लगे लेकिन प्राचीन रीति-रिवाजो मे बंधे होने से अपने पुराने बधुओं में ही विवाह आदि सम्बन्ध करते रहे। अपने मूल स्थान आदि के नाम पर अपने समुदाय का नामकरण कर लिया और इस प्रकार जातियों का जन्म हुआ। "आदि-पुरुष" आदि की कल्पना (जैसे अग्रवालों के राजा अग्रसेन आदि) बाद में जोड़ी गई है।

हाँ, अलग-अलग जातियों में अलग शारीरिक विशेषता ढूंढने का प्रयास मुश्किल ही होगा। एक ही जाति में गोरे से गोरे या काले से काले लोग मिल सकते हैं। ऊँची आर्य-नार्डिक नाक वाले या अफ्रीकियों जैसी नाक वाले मिल सकते हैं। जातियों का अध्ययन कुतत्व-शास्त्री (anthropoiogtt) के लिए सिर दर्द ही साबित होगा।

गोलापूर्व ब्राह्मणो व गोलापूर्व क्षत्रियों के बारे में विचार आवश्यक है। वर्तमान मे इनमे व जैन गोलापूर्वों में कोई सम्बन्ध नही है, न ही किसी सम्बन्ध की स्मृति है। गोलापूर्व ब्राह्मण जिला आगरा, मथुरा, बदायुं, एटा, रियासत धौलपुर, ग्वालियर, भोपाल, इदौर, दतिया, कोटा, जयपुर, जोधपुर व जिला होशंगाबाद तथा खंडवा में बसे है। सन् १९४० मे ये अपनी जनसख्या ३-४ लाख बताते थे। [श्री भ० भा० दिगम्बर जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी]। इनके इतिहास के बारे में कुछ ज्ञात नहीं।

गोलापूर्व क्षत्रियो के बारे में कुछ जानकारी 'Caste Eystern of northern India.' में मिलती है। इनके इतिहास के बारे मे कोई उल्लेख नहीं। इन्हें एक कृषक जाति कहा गया है। ये (और दांगी क्षत्रिय) गोकुल करते है। इनके गोत्र ग्रामो के नाम पर से हैं। ये कच्चा भोजन सजातीयों व ब्राह्मणों का बना व पक्का सजातीय ब्राह्मणों, राजपूतों व बराबर की जातियों का ग्रहण करते हैं। मोला (tPboo) के अनुसार वर्गीकरण में इन्हें अग्रवालों आदि के साथ रखा गया है।

ध्यान देने की बात है कि अधिकतर जातियां प्रारम्भिक अवस्था में कृषक-क्षत्रिय ही होती है (जैसे माहेश्वरी जातियां)। अतः अधिकतर वैश्य जातियों का दावा है कि वे क्षत्रिय थे, अनुचित नही कहा जा सकता। बुन्देलखण्ड के 'असाटी' वैश्य, कृषक थे यह अब भी मान्यता है। [(१) दमोह डिस्ट्रिक्ट गजेटियर १९०२ (२) कास्ट सिस्टम आवद नार्दर्न इंडिया]।

लगता है पहले गोलापूर्व वैश्य (जैन) व गोला कृषक-क्षत्रिय एक ही रहे होगे और जैन धर्म मानते हों

गोलापूर्व क्षत्रिय कृषि करते रहे व अन्य जातियों के सम्पर्क में आकर वैष्णव-धर्म में शोषित हो गये। [ऐसा ही अन्य उदाहरण है 'गृहपति' अन्वय का, जो वर्तमान में वैष्णव 'गहोई' वैश्य है]। अन्य जैन बने रहे व वैश्य कर्म करने लगे। गोलापूर्व ब्राह्मण भी 'गोला' स्थान के वासी थे, पर उनका अन्य गोलापूर्वों से जातीय सम्बन्ध है या नही, कहा नही जा सकता।

'गोलापूर्व' में 'पूर्व' का अर्थ क्या है? 'पूर्व' दिशा में रहने वाले यह अर्थ कम सम्भावित प्रतीत होता है। कारण अन्य दिशा सम्बन्धित जातियाँ (जैसे गोला-उत्तर आदि) नहीं है। 'पूर्व' का अर्थ 'पहले' (अर्थात् काल सम्बन्धी) रहा होगा या कोई अन्य लक्षणार्थ रहा होगा।

गोलालारे (गोलाराड) व गोलसिंगारे जातियाँ बाद में उत्पन्न लगती है। प्रतीत होता है कि ये गोलापूर्व जाति की ही शाखाएँ रही हैं। हमें गोलाराडान्वय का प्राचीनतम ज्ञात उल्लेख स० १४७४ व गोलासिंगारों का प्राचीनतम ज्ञात उल्लेख सं० १६८८ का है [अनेकान्त जून '६९]।

बुन्देलखंड के शिलालेखों के तिथि-क्रम के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि दो कालों मे बडी संख्या मे मूर्ति-प्रतिष्ठा हुई है एक लगभग सं० ११४० से सं० १२३७ तक व फेर बीच में बहुत कम प्रतिष्ठाये हुई थीं। इस काल मे सलमानों के आक्रमण के कारण अव्यवस्था रही है व ामाजिक गतिविधि क्षीण रही है। इसी काल मे गोला-ाडे अलग हुए होगे। कम सामाजिक गतिविधि का रा काल स० १५४८ के बाद से स० १८०० तक रहा। इस समय गोलसिंगारे जाति बनी होगी। सं० १८०० पुनः व्यापक रूप से प्रतिष्ठायें होना आरम्भ हुआ था र यह अब भी चल रहा है। [सं० १५४८ में स्थापित यों की सख्या आश्चर्यजनक रूप से अधिक है।]

गोलालारों की संख्या गोलापूर्वों से कम है, गोलसिं-ों की और भी कम, यह बात भी उपरोक्त कथन का र्थन करती है।

इन तीन जातियों के मूल रूप में एक ही होने के न मे एक अन्य तथ्य भी है। द्रोणागिर के सं. १९०७ ति लेख में "इक्ष्वाकुवंशे गोलापूर्वे" है। सं० १५११ के नागकुमार चरित में गोलाराडान्वय को 'इक्ष्वाकुवंश संभूत' [अनेकान्त दिसम्बर '७१] एवं सं० १७२२ के नया मन्दिर लश्कर के यत्र लेख में 'इक्ष्वाकुवशे गोलसिं-घारान्वये' लिखित है। [अनेकान्त जून '६९]। यह इस बात को सिद्ध करने के लिए तो पर्याप्त नहीं है कि वे वास्तव मे इक्ष्वाकुवंशी है, पर इससे तीनों के एक ही होने के पक्ष मे प्रमाण मिलता है।

भेद विचार—वर्धमान पुराण में गोलापूर्वों के तीन भेद कहे गये है बिसविसे, दसविसे और पचविसे। वर्तमान मे केवल विसविसे व पचविसे ही हैं। पचविसे अल्प ही है। इनकी लगभग सम्पूर्ण आबादी रहली (जि० सागर) हटा (जि० दमोह) व जबलपुर जिले मे है। ये यहाँ बहुसख्यक विसविसों के आने के बहुत समय पूर्व से आबाद है।

जिस तरह अन्य जातियों में दसा भेद उत्पन्न हुआ होगा उसी तरह दसविसे व पचविसे भेद उत्पन्न हुए होगे। कुछ विद्वानों का मत है कि किसी समय किसी विवाद मे २०×२०=४०० घर 'एक ओर' १०×२०= २०० घर एक ओर ५×२०=१०० घर एक ओर थे जिनसे क्रमशः बिसबिसे, दसबिसे व पचबिसे भेद उत्पन्न हुए। पर यह कल्पना कृत्रिम प्रतीत होती है। मध्यप्रदेश की ही वैष्णव नेमा जाति मे बीसा, दसा व पचा भेद वर्तमान है जिनमे उपरोक्त गणित लगाना असम्भव है।

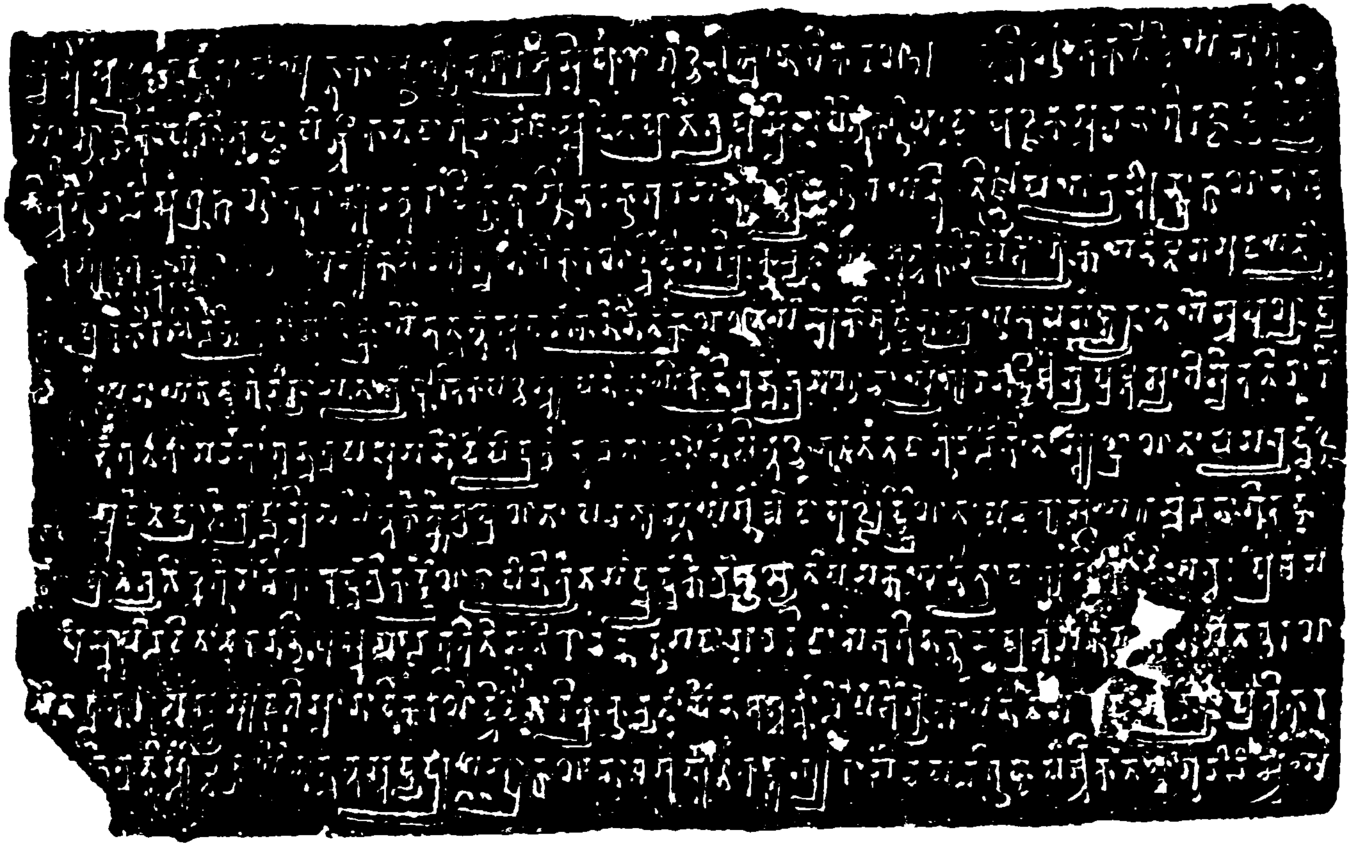
हाँ, बिसबिसे-पचबिसे भेद तीव्र कभी नही रहा। स० १९७८ से, एक कमेटी के निर्णय के बाद परस्पर विवाह सम्बन्ध होने लगे है।

दसविसों का या तो नाश हो गया या वे अन्य दो भेदो मे मिल गये।

गोत्र व पद विचार—वर्धमान पुराण में ५० गोत्र गिनाये गये। अन्य गोत्रावलियों में प्राप्य कुछ अन्य गोत्र मिलाकर ७६ गोत्र होते है। वर्तमान में केवल ३३ गोत्र पाये जाते हैं।

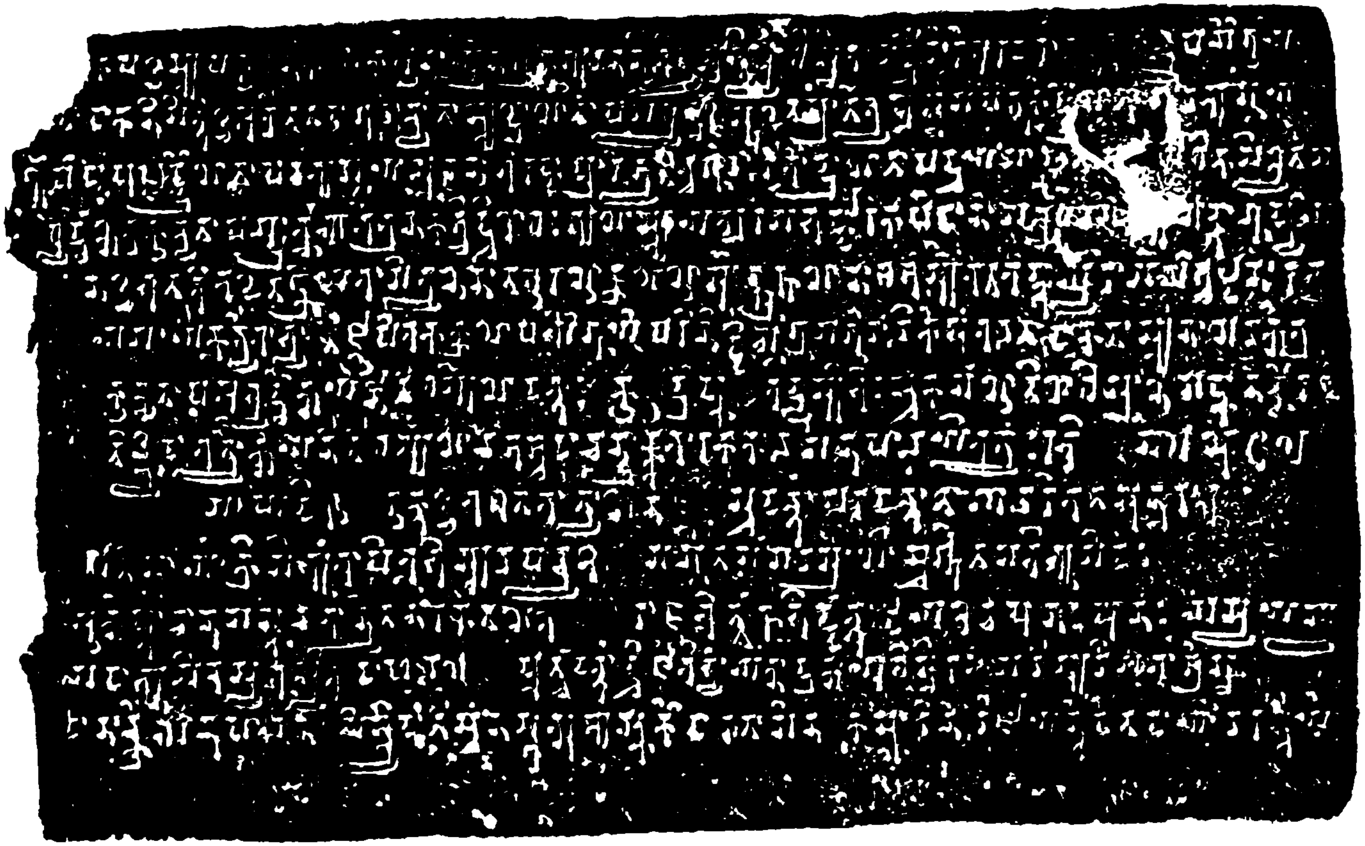
गोत्रों का अध्ययन करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। कुछ गोत्र प्राचीन है तो कुछ समय पर निर्मित होते रहे हैं। कुछ गोत्रों के लोग अन्य जातियों में प्रवेश कर गये। कुछ अपनी किसी पदवी को ही गोत्र रूप मे प्रयुक्त करने

[शेष पृष्ठ ७२



पहाड़पुर का गुप्त-कालीन जैन ताम्र-पत्र (पंचम-शताब्दी) अग्र-भाग ।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से ।



पहाड़पुर का गुप्त-कालीन जैन ताम्र-पत्र (पंचम-शताब्दी) पृष्ठ-भाग।

भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से।

गुप्तकालीन जैन ताम्र शासन

परमानन्द जैन शास्त्री

बंगाल के राजशाही जिले में बदलगाछी थाने के अन्तर्गत और कलकत्ता से १८६ मील उत्तर की ओर जमालगंज स्टेशन से ३ मील पश्चिम की ओर पहाड़पुर है। इस प्राचीन मन्दिर के ध्वसावशेष ८१ बीघो मे है। उनके चारो ओर इष्ट का निर्मित प्राचीर है। इनके मध्य में एक बहुत बड़ा टीला है, इसी कारण उसे पहाड़पुर कहा जाने लगा।

इस टीले मे सबसे प्राचीन ध्वसावशेष गुप्ताब्द १५६ का एक ताम्र पत्र प्राप्त हुआ है। यहाँ की उपलब्ध सामग्री की जाँच-पड़ताल करने से यह ज्ञात होता है कि यह पहाड़पुर जैन, ब्राह्मण और बौद्ध इन तीन महान धर्मों का उच्च विवर्धक केन्द्र रहा है। अतएव विभिन्न स्थानो से यात्रियों का दल आकर अपनी भक्ति प्रदर्शित करता था। और भारत के विभिन्न स्थानो से अनेक छात्र विद्याध्ययन करने के लिए आते थे। जान पड़ता है यह स्थान बहुत पुराना है किन्तु पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्ध से दशवीं शताब्दी तक इसकी विशेष ख्याति रही है।

इस गुप्ताब्द १५६ (सन् ४७८-७६) के इस ताम्र शासन में वटगोहाली ग्रामस्थ श्री गुहनन्दी के एक जैन विहार का उल्लेख है। इसमें पुड्रवर्धन के विभिन्न ग्रामों में भूमि क्रय कर एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा वटगोहाली के जैन विहार के लिए दान दिया जाना लिपिबद्ध किया गया है। लेख उल्लिखित वटगोहाली का जैन विहार निश्चय से पहाड़पुर के इस मूल स्थान पर अवस्थित था।

सन् १८०७ में डाक्टर बुकानन हैमिलटन को यह टीला गोआल भीटा का पहाड़ के नाम से बतलाया गया था, जिसके अन्दर से यह मन्दिर निकला है।

ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी मे उत्तर बंग मौर्यों के शासनाधिकार में था। और पुण्डवर्धन नगर में उनका प्रान्तीय शासक रहता था। गुप्त काल में भी बगाल के इस प्रान्त की राजधानी पुण्ड्रवर्धन थी। आजकल यह स्थान महास्थान के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में उसे ही पौण्ड्रवर्धन कहा जाता था। जो पहाड़पर महास्थान से उत्तर पश्चिम की ओर २६ मील पर, वानगढ (प्राचीन कोटि वर्ष) से दक्षिण-पूर्व की ओर ३० मील पर अवस्थित है। इन दोनो प्रधान नगरो के समीप इस मन्दिर को स्थापित करने का यह आशय था कि त्यागी गण नगरो से बाहर एकान्त मे रहकर शान्ति से धर्मलाभ के साथ विद्याध्ययन करे और नगर-निवासियों को भी धर्मोपदेश का लाभ मिलता रहे। उस समय पौण्ड्रवर्धन और कोटि वर्ष जैनाचार्यो के प्रधान पट्ट स्थान भी थे। इस कारण वहाँ जैनियो का पूर्ण प्राधान्य था। वह एक तरह से जैन केन्द्र बना हुआ था। भद्रबाहु श्रुतकेवली और अर्हद्वली आचार्य पौण्ड्रवर्धन के ही निवासी थे। मुनि सघ का वहाँ पर बराबर आवागमन होता रहता था।

गुप्त साम्राज्य के समय यद्यपि जैनो की प्रधानता रही, किन्तु धीरे-धीरे ब्राह्मणों का प्रभाव भी बढता रहा। हाँ, बौद्धो का प्रभाव वहा उस समय बहुत ही कम था। इसका अनुमान चीनी यात्री के कथन से स्पष्ट हो जाता है। उस समय यहाँ का वातावरण पूर्णतः सहिष्णुता का था, क्योंकि यहाँ जैन बौद्ध और हिन्दू तीनों ही सम्प्रदायों की प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई है।

छठवी शताब्दी मे किसी समय इस मन्दिर के बढ़ाने की योजना की गई और अट्टालिकाओं की ऊंचाई को बढ़ाया गया, जिससे सम्भवतः प्राचीन अट्टालिका आच्छादित हो गई। छठी शताब्दी से गुप्तों का प्रभाव क्षीण होता गया और सातवी शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल मे महाराजा शशांक का आधिपत्य हो गया। शशांक शैव धर्मावलम्बी था, उसने जैन और बौद्धों को बहुत ही सताया था। तो भी जैनों के पाँव यहाँ से नहीं उखड़े। इस शताब्दी में ही जब बंगाल मे अराजकता का विस्तार

हुआ, तब धीरे-धीरे जैन धर्म लुप्त हो गया। ईसा की सातवी शताब्दी मे चीनी परिव्राजक हुएनत्सांग जब बंगाल में आया तब उसने पुण्ड्रवर्धन में २० सघारामों और असंख्य जैन निर्ग्रन्थियों के अस्तित्व का उल्लेख किया था। इससे उस समय मे पुण्ड्रवर्धन मे जैन प्रभाव के अंकित होने का प्रमाण मिलता है। और वटगोहाली का यह गुहनन्दी का जैन विहार भी पौण्ड्रवर्धन और कोटिवर्ष के जैन संस्थानों की तरह क्षति ग्रस्त हो गया। सातवीं शताब्दी तक जैनियों का प्रभुत्व रहा और आठवीं शताब्दी में कुछ समय ब्राह्मणों का भी अधिकार रहा है। जब वहाँ पुनः शान्ति हुई और पाल राज्य आठवीं शताब्दी मे स्थित हुआ उस समय यह स्थान सोमपुर[1] के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था।

पाल राजाओं का अधिकार यहाँ साढ़े तीन सौ वर्षों तक रहा, पाल नरेश बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उनके समय जैनियों की प्रधानता विनष्ट हो गई। जैन विहार पर उनका अधिकार हो गया, नवमी शताब्दी के प्रारम्भ मे पाल वंश के दूसरे सम्राट् धर्मपाल ने इसी विहार के ऊपर महाविहार का निर्माण किया था, उस समय से यह 'सोमपुर महाबौद्ध विहार' के नाम से इसकी प्रसिद्धि हो गई थी। यहीं पर 'दीपंकर' नाम के बौद्धाचार्य ने भव-विवेक के माध्यमिक रत्नद्वीप का अनुवाद किया था।

गुप्त वर्ष १५६ (सन् ४७८ ७९) मे एक ब्राह्मण नाथ शर्मा और उसकी भार्या राम्नी ने वटगोहाली ग्राम मे पंचस्तूपान्वय निकाय के निर्ग्रन्थ (श्रमण) आचार्य गुहनन्दी के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अधिष्ठित विहार मे भगवान अर्हतों (जैन तीर्थङ्करों) की पूजा सामग्री (गन्ध धूप आदि) निर्वाहार्थ तथा निर्ग्रन्थाचार्य गुहनन्दि के विहार मे एक विश्राम स्थान निर्माण करने के लिए यह भूमि सदा के लिए इस विहार के अधिष्ठाता बनारस के पंचस्तूप निकाय सघ के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य प्रशिष्यो को प्रदान की गई।

प्रस्तुत गुहनन्दि पंचस्तूपान्वय के प्रसिद्ध विद्वान थे। पंचस्तूपान्वय की स्थापना अर्हद्बली ने की थी। जो पौण्ड्रवर्धन के निवासी थे। पुण्ड्रवर्धन जैन परम्परा का केन्द्र रहा है। अतः गुहनन्दि का समय इस ताम्र शासन के काल से पूर्ववर्ती है। सम्भवतः वे दूसरी या तीसरी शताब्दी के आचार्य होना चाहिए। ★

१. पहाड़पुर से दक्षिण की ओर एक मील पर अब सोम ग्राम है; वही सोमपुर है।

[पृष्ठ ७० का शेषांस]

लगे। कुछ गोत्रों के नाम कालान्तर मे अपभ्रंश हो गये इस तरह एक ही गोत्र नाम के कई स्वरूप हो गये। बहुत से लोगों को गोत्र नाम का स्मरण ही नही रहा। आदि इनके लिए विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

एक विशेष बातका पता चलता है। जो सपन्न रहे है उनकी वंशवृद्धि अधिक हुई है। सिंघई, सवाई सिंघई, सेठ व सवाई सेठ पद क्रमशः एक, दो, तीन व चार गजरथ-प्रतिष्ठा के बाद प्राप्त होते है—ये पद पूर्वजों की समृद्धि के सूचक हैं। गोलापूर्वों में सबसे अधिक फुसकेले गोत्र के हैं (जनसंख्या १६८७, सभी आंकड़े सन् १९४० के हैं।) ये सिंघई, सवाई सिंघई व सेठ पदों के धारक है। नाग (ज० सं० १५०५) सिं०, स० सिं०, सेठ व सवाई सेठ हैं। चदेरिया (१२३५) सिं० और स० सिं० है। खड़ेले (ज० स० १२०४) अधिकतर सिं० व सेठ है। उधर सामान्य श्रावक साह (=साधु) कहलाते है। छोटे व्यापारी मोदी कहलाते है। इसी तरह राज्य-मान्यता के कारण पटवारी होते है। देखिये-दुगैले (ज० स० केवल एक) साह हैं। छोड़कटे (ज० स० १६) साह व पटवारी हैं। पंचरत्न (ज० सं० १३) पटवारी है। अन्य कम जन-संख्या वाले गोत्रों मे भी अधिकतर साह या मोदी ही कहलाते हैं। [आकड़े अ० भा० दि० गो० डायरेक्टरी के आधार पर है]

साह (या साधु) कहलाने की परंपरा तो प्राचीन ही है। गोलपूर्व सिंघई का प्राचीनतम उल्लेख खुरारा के स० १२७२ के लेख में है। [अ० भा० दि० गो० डायरेक्टरी] पटवारी व चौधरी के उल्लेख गजबासौदा के १५२४ व स० १५४१ के लेख में है। [अनेकान्त जुलाई '७१]

नोट :—१. ब्रेकट मे फुटनोट है।

२. जहां पर रिफरेंश नही दिये गये है वह स्वय की जानकारी के आधार पर लिखा गया है।

पोदनपुर

पं० बलभद्र जैन

क्षेत्र मगल—

निर्वाण भक्ति (सस्कृत) मे पोदनपुर को निर्वाण क्षेत्र स्वीकार किया है, जो इस प्रकार है—

'द्रोणीमतिप्रबलकुण्डलमेढ्के च,
वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।
ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च,
विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च ॥२६॥
ये साधवो हतमला: सुगति प्रयाता: ॥३०॥

इसमे पोदनपुर को निर्वाण भूमि माना है।

प्रसिद्धि—

पोदनपुर की प्रसिद्धि भरत-बाहुबली-युद्ध के कारण विशेष रूप से हुई है। जब भगवान् ऋषभदेव को नीलाजना अप्सरा की आकस्मिक मृत्यु को देखकर ससार से वैराग्य हो गया और वे दीक्षा के लिए तत्पर हुए, तब उन्होने अपने सौ पुत्रों को विभिन्न देशो के राज्य बाट दिए। उन्होने अयोध्या की राजगद्दी पर अपने पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया तथा दूसरे पुत्र बाहुबली को युवराज पद देकर उन्हे पोदनपुर का राज्य दे दिया।

एक ओर भगवान् के दीक्षा कल्याणक महोत्सव की तैयारियां हो रही थी, और दूसरी ओर भरत का राजसिहासन महोत्सव मनाया जा रहा था। भगवान् ने अपने हाथों से भरत के सिर पर राजमुकुट पहनाया और दीक्षा लेने चल दिए। अपार जनमेदिनी, इन्द्रों और देवों ने भगवान् का दीक्षा-महोत्सव मनाया।

महाराज भरत और उसके सभी भाई अपने अपने देश मे शातिपूर्वक राज्य करने लगे। कुछ समय बाद महाराज भरत की आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। भरत विशाल सैन्य को लेकर दिग्विजय के लिए निकले। उन्होंने कुछ ही वर्षों मे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीत लिया। उन्होंने अपने भाइयों को भी आधीनता स्वीकार करने के लिए पत्र लिखे। ६८ भाइयों ने आपस मे परामर्श किया और सब मिलकर भगवान् के पास पहुँचे। भगवान ने उन्हे उपदेश दिया, जिससे उनके मन मे वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे भगवान् के पास ही मुनि बन गये।

दिग्विजय के बाद जब भरत ने अयोध्या मे प्रवेश किया तो उन्हे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चक्र नगर के भीतर प्रवेश नही कर रहा। उन्होने सन्देहयुक्त होकर बुद्धिसागर पुरोहित से इसका कारण पूछा। पुरोहित ने विचार करके उत्तर दिया—'आपके भाई बाहुबली आपकी आज्ञा नही मानते।"

भरत ने परामर्श करके एक चतुर दूत को बाहुबली के पास भेजा। दूत ने बाहुबली की सेवा में पहुँच कर अपना परिचय दिया और अपने आने का उद्देश्य भी बताया। बाहुबली ने भरत की आधीनता स्वीकार करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। जब सम्राट् भरत को यह खबर पहुँची तो वे विशाल सेना लेकर पोदनपुर के मैदान मे जा डटे। बाहुबली भी अपनी सेना सजाकर नगर से निकले और उन्होंने भी भरत की सेना के समक्ष अपनी सेना जमा दी। दोनो सेनाओं मे भयानक मुठभेड़ हुई, जिसमे दोनो ओर के अनेको व्यक्ति हताहत[1] हुए। तब दोनो राजाओं के मन्त्रियों ने परस्पर परामर्श करके निश्चय किया कि देशवासियो का व्यर्थ नाश न हो, अत. दोनो राजाओ मे धर्मयुद्ध होना चाहिए। दोनो भाइयो ने मंत्रियों के इस परामर्श को स्वीकार किया और दोनो मे दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध करने का निश्चय हुआ। बाहुबली सवा

१. पद्मपुराण ४।६६। पउमचरिउ स्वयंभू कृत सन्धि ४।१०।

पांच सौ धनुष के थे और भरत पांच सौ धनुष के थे। इस ऊंचाई का लाभ बाहुबली को मिला। वे दृष्टियुद्ध मे जीत गये। फिर जलयुद्ध हुआ। उसमें भी बाहुबली की विजय हुई। अन्त मे मल्लयुद्ध हुआ। दोनों ही अप्रतिम वीर थे। किन्तु बाहुबली शारीरिक बल में भी भरत से बढ़ चढ़ कर थे। उन्होने क्षण मात्र मे भरत को हाथों मे ऊपर उठा दिया। बाहुबली ने राजाओ मे श्रेष्ठ, बड़े भाई तथा भरत क्षेत्र को जीतने वाले भरत को जीतकर भी 'ये बड़े हैं' इस गौरव से उन्हे पृथ्वी पर नही पटका, बल्कि उन्हें अपने कंधे पर बैठा लिया।

बाहुबली की तीनो ही युद्धों मे निर्णायक विजय हो चुकी थी। सब लोग उनकी जय-जयकार कर रहे थे। इस अपमान से क्षुब्ध होकर भरत ने बाहुबली के ऊपर चक्ररत्न चला दिया। किन्तु चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर वापस लौट आया। बाहुबली भरत के भाई थे तथा चरमशरीरी थे, इसलिए चक्र उनके ऊपर कुछ भी प्रभाव नही डाल सका। वे मन मे विचार करने लगे—'बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए यह कैसा लज्जा-जनक कार्य किया है। यह राज्य व्यक्ति को छोड़ देता है किन्तु व्यक्ति राज्य को नहीं छोड़ना चाहता। धिक्कार है इस क्षणिक राज्य और राज्य की लिप्सा को।' यह विचार कर आहिस्ते से उन्होने भरत को एक ऊंचे स्थान पर उतार दिया और भरत से अपने अविनय की क्षमा मांग कर और अपने पुत्र महाबली[१] को राज्य सौंपकर गुरू के निकट मुनि[२] दीक्षा ले ली। उन्होने गुरू की आज्ञा मे रहकर शास्त्रो का अध्ययन किया तथा गुरू की आज्ञा से वे एकल विहारी रहे। फिर कैलाश[३] पर्वत पर जाकर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण करने का नियम लेकर घोर तप किया। एक वर्ष तक उसी स्थान पर खड़े रहने के कारण दीमकों ने उनके चारों ओर वामी बना ली। वामियों मे सर्प आकर रहने लगे। वामियों मे लतायें उग आईं। चिड़ियो ने उनमे घोसले बना लिए। एक स्थान पर निराहार खड़े रहकर ध्यान लगाना कितना दुर्धर तप है।

किन्तु बाहुबली के मन मे एक विकल्प था कि मेरे कारण भरत को क्लेश पहुँचा[४] है। जब एक वर्ष समाप्त हुआ तो चक्रवर्ती भरत ने आकर उन्हें प्रणाम किया। तभी बाहुबली को केवलज्ञान होगया। चक्रवर्ती ने केवलज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व भी मुनिराज बाहुबली की पूजा की और केवलज्ञान होने के अनन्तर अर्हन्त भगवान् बाहुबली की पूजा की। इन्द्रो और देवो ने भी आकर उनकी पूजा की।

भगवान् बाहुबली केवलज्ञान के बाद पृथ्वी पर विहार[५] करते रहे और फिर भगवान् ऋषभदेव के सभासद[६] हो गये, तथा कैलाश पर्वत पर जाकर मुक्त हुए।

पोदनपुर की अवस्थिति —

पोदनपुर क्षेत्र कहाँ था, वर्तमान मे उसकी क्या स्थिति है, अथवा क्या नाम है, इस बात को जनता प्रायः भूल चुकी है। कथाकोषों और पुराणों मे पोदनपुर मे घटित कई घटनाओ का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनसे पोदनपुर की भौगोलिक स्थिति पर विशेष प्रकाश नही पड़ता। फिर भी दिगम्बर पुराणों, कथाकोषों और चरित्रग्रंथो आदि मे इधर-उधर बिखरे हुए पुष्पो को यदि एकत्र करके उन्हे एक सूत्र मे पिरोया जाय तो उनसे सुन्दर माला बनाई जा सकती है।

पोदनपुर के लिए प्राचीन ग्रथो मे कई नामो का प्रयोग मिलता है। जैसे पोदन, पोतन, पोदनपुर। प्राकृत और अपभ्रंश मे इसे ही पोयणपुर कहा गया है।

समाज मे पोदनपुर के सम्बन्ध मे एक धारणा व्याप्त है कि यह दक्षिण मे कहीं था। भगवान् ऋषभदेव ने पुत्रो को राज्य देते समय भरत को अपने स्थान पर अयोध्या का राजा बनाया और अन्य ९९ पुत्रों को विभिन्न देशों या नगरों के राज्य सौंप दिये। बाहुबली ने अपनी राजधानी पोदनपुर बनाई।

हरिषेण कथाकोष कथा २३ मे पोदनपुर के संबन्ध

१. पउमचरिउ, स्वयम्भू के अनुसार सोमप्रभ।
२. आदि पुराण ३६।१०४
३. हरिवंश पुराण ११।९८
४. स्वयम्भू कृत पउम चरिउ के अनुसार उनके मन मे यह कषाय थी कि मै भरत की धरती पर खड़ा हूँ।
५. आदि पुराण ३६।२०२
६. हरिवंश पुराण ११।१०२

में साधारण सा संकेत इस प्रकार दिया गया है—

अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदननामनि ।
राजा सिंहरथो नाम सिंहसेनास्य सुन्दरी ।।३।।

अर्थात् पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था।

इसी प्रकार कथा २५ मे 'तथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरे ऽभवत्' यह पाठ है। इससे तो लगता है कि पोदनपुर दक्षिणा पथ मे नहीं, उत्तरापथ मे अवस्थित था। किन्तु अन्य पुष्ट प्रमाण इसके विरुद्ध है और उनसे पोदनपुर दक्षिण मे था, ऐसा निश्चित होता है। जनता की परम्परागत धारणा का अवश्य कोई सबल आधार रहा है।

दक्षिणापथ मे होने की इस धारणा को वीर मार्तण्ड चामुण्डराय के चरित से अधिक बल मिला है। श्रवणबेल-गोल के शिलालेख नं० २५० (८०) मे श्रवणबेलगोल की बाहुबली प्रतिमा और प्रतिष्ठा सम्बन्धी एक कहानी दी गई है, जो वह प्रचलित हो चुकी है।

भरत चक्रवर्ती ने पोदनपुर मे ५२५ धनुष ऊंची स्वर्णमय बाहुबली प्रतिमा बनवाई थी। कहते है, इस मूर्ति को कुक्कुट-सर्प चारो ओर मे घेरे रहते थे, इसलिए आदमी उसके पास नहीं जा सकता था।

एक जैनाचार्य अजितसेन थे। वे दक्षिण मथुरा गये। उन्होंने पोदनपुर की इस मूर्ति का वर्णन चामुण्डराय की माता काललदेवी से किया। उसने यह नियम ले लिया कि जब तक मुझे इस मूर्ति का दर्शन नही होगा, मै दूध नही पीऊँगी। इस नियम का समाचार गंगवंशी महाराज राचमल्ल के मन्त्री चामुण्डराय को उनकी स्त्री अजितादेवी ने बता दिया। तब चामुण्डराय ने उस मूर्ति की तलाश के लिए चारो ओर अपने सैनिक भेजे और स्वय अपनी माता को लेकर चल दिये। मार्ग मे 'चन्द्रगिरि' (श्रवण-बेलगोल) मे ठहरे। रात्रि को पद्मावती देवी ने चामुण्डराय को स्वप्न दिया कि सामने दोड्डबेट्ट (विन्ध्यगिरि अथवा इन्द्रगिरि) पर्वत पर श्री गोम्मट स्वामी की मूर्ति झाडी जंगल के भीतर छिपी हुई है। यदि तू यहाँ से खडे होकर सामने पर्वत पर तीर मारेगा तो मूर्ति प्रगट होगी। चामुण्डराय ने ऐसा ही किया। सुबह उठकर णमोकार मन्त्र पढ़कर सामने पर्वत पर तीर मारा। तीर लगते ही मूर्ति का मुख प्रगट हुआ। तब उन्होंने ५०० कारीगर लगाकर गोम्मटेश्वर बाहुबली की उस अद्भुत मूर्ति का निर्माण कराया। चामुण्डराय ने अपने गुरु श्री अजितसेन की आज्ञा से अपनी माता को समझाया कि पोदनपुर जाना हो नहीं सकता, तुम्हारी प्रतिज्ञा यहीं पूर्ण हो गई।

इस कथा का समर्थन कई शिलालेखों और चन्द्रगिरि पर स्थित एक अभिलिखित पाषाण से—जो चामुण्डराय चट्टान के नाम से प्रसिद्ध है—भी होता है। सम्भवतः दक्षिण मे बाहुबली की विशाल प्रतिमाएं इसी कारण बनी।

राजावली कथे और मुनिवंशाभ्युदय काव्य मे बताया है कि बाहुबली की मूर्ति की पूजा श्री रामचन्द्र, रावण और मन्दोदरी ने की थी।

इन उल्लेखों को पढ़कर मन में यह बात जमती है कि पोदनपुर कहीं दक्षिण में रहा होगा।

इस सम्बन्ध मे यहा मदनकीर्ति विरचित शासन चतुस्त्रिंशिका के दो श्लोक उल्लेखनीय है— पद्य नं० २ और ७। पद्य संख्या २ में ऋषि-मुनि और देवताओं द्वारा वंदनीय पोदनपुर के बाहुबली स्वामी के अतिशय का वर्णन है। तथा पद्य संख्या ७ मे जैनबद्री मे देवो द्वारा पूजित दक्षिण गोम्मटदेव की स्तुति की गई है।

भरत-बाहुबली का युद्ध कहाँ हुआ था? इस प्रश्न का उत्तर पद्मपुराण और हरिवंश पुराण मे मिलता है। पद्मपुराण ४।६७-८ मे बताया है कि चक्रवर्ती भरत अपनी चतुरंग सेना के द्वारा पृथ्वीतल को आच्छादित करता हुआ युद्ध करने के लिए पोदनपुर गया। हरिवंश पुराण मे इस प्रश्न का और भी अधिक स्पष्ट उत्तर दिया है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

पोदनान्निर्ययौ योद्धु-
मक्षौहिण्या युतो द्रुतम् ।।११।७८।।
चक्रवर्त्यपि सम्प्राप्तः
सैन्यसागररुद्धदिक् ।
विततापरदिग्भागे
चम्वोः स्पर्शरतयोरभूत ।।११।७९।।

अर्थात् वे (बाहुबली) शीघ्र ही अक्षौहिणी सेना

साथ युद्ध के लिए पोदनपुर से निकल पड़े। इधर सेना रूपी सागर से दिशाओं को व्याप्त करते हुए चक्रवर्ती भरत भी आ पहुँचे, जिससे वितता नदी के पश्चिम भाग में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई।

इस समस्या का स्पष्ट समाधान आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' मे किया है—

जम्बूविशेषणे द्वीपे
भरते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र
विस्तीर्णं पोदन पुरम् ॥७३।६॥

अर्थात् जम्बू द्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र मे एक सुरम्य नाम का बड़ा भारी देश है और बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है।

श्री वादिराजसूरि ने भी पार्श्वनाथ चरित सर्ग १, श्लोक ३७-३८ और सर्ग २, श्लोक ६५ मे पोदनपुर को सुरम्य देश में बताया है।

कभी-कभी ग्रन्थों की साधारण लगने वाली बातें शोध-खोज के सन्दर्भ मे बड़ी महत्वपूर्ण बन जाती है। पार्श्वनाथ चरित में सुरम्य देश को शालि चावलों के खेतो से भरा हुआ बताया है। यह कथन पोदनपुर को चावल बहुल प्रदेश मे होने का संकेत करता है।

आदिपुराण में कथन है कि जब भरत का दूत पोदनपुर पहुँचा तब वहाँ नगर के बाहर खेतों मे पके हुए धान खड़े थे—

बहिःपुरमथासाद्य
रम्याः सस्यवती भुवः।
पक्वशालिवनोद्देशान्
सपश्यन् प्राप नन्दथुम् ॥३५।२८॥

सोमदेव विरचित उपासकाध्ययन (यशस्तिलक चम्पू) मे लिखा है—

रम्यकदेशनिवेशोपेतपोदनपुरनिवेशिनो[1]।

अर्थात् रम्यक देश मे विस्तृत पोदनपुर के निवासी।

यहा भी पोदनपुर को रम्यक देश में बताया है। पुण्यास्रव कथाकोष कथा-२ में 'सुरम्यदेशस्य पोदनेश' वाक्य है। अर्थात् उसमें भी पोदनपुर को सुरम्य देश में माना है।

बौद्ध ग्रन्थ चुल्ल कलिंग और अस्सक जातक मे पोटलि (पोतलि) को अस्मक जनपद की राजधानी बताया है और अस्सक देश को गोदावरी नदी के निकट सह्य पर्वत पश्चिमी घाट और दण्डकारण्य के मध्य अवस्थित लिखा है। सुत्तनिपात ९७७ में अस्सक को गोदावरी के निकट बताया है। पाणिनि १।३७३ अश्मक को दक्षिण प्रान्त मे बताते है। महाभारत (द्रोणपर्व) मे अश्मक पुत्र का वर्णन है। उसकी राजधानी पोतन या पातलि थी। इसमें पोदन्य नाम भी दिया है।

हेमचन्दराय चौधरी ने पोदन्य और बौद्ध ग्रन्थों के पोत्तन को एक मान कर उसकी पहचान आधुनिक बोधन से की है। यह आन्ध्र प्रदेश के मजिरा और गोदावरी नदियो के सगम से दक्षिण मे स्थित है। इस मान्यता का समर्थन 'वसुदेव हिण्डि' के निम्नलिखित उद्धरण से होता है—

"उत्तिण्णामो गोयावरिं नदिं।
तत्थ वहामा कयण्हिगा सोहवाहीहिं
तुरएहिं पत्ता मो पोयणपुरं[2]।"

अर्थात् गोदावरी नदी को पार कर पोदनपुर पहुँच गया।

उपर्युक्त प्रमाणों से पोदनपुर अश्मक, सुरम्य अथवा रम्यक देश मे गोदावरी के निकट था। जो आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का बोधन मालूम पड़ता है।

श्वेताम्बर परम्परा—

हमे आश्चर्य होता है कि इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा म नामों मे एकरूपता नही है।

महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण इन सबमे बाहुबली के नगर का नाम पोदनपुर मिलता है। श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओ के मध्यमार्गी अथवा यापनीय सघ के आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरिउ' मे कई स्थानो पर बाहुबली की नगरी का नाम तक्खसिला (तक्षशिला) दिया है। यथा—

१. उपासकाध्ययन कल्प २८, पृ. १७७ में असत्य-फल की कथा।

२. वसुदेव हिण्डी २५वाँ पद्मावती लम्ब पृ० ३५४।२४०, पचम सोम श्री लम्ब पृ० १८७।२४१।

"तक्खसिलाए महप्पा
बाहुबली तस्स निच्चपडिकूलो।
भरहनरिंदस्स सया
न कुणइ आणा-पणामं सो ॥४।३८॥

तक्षशिला मे महान बाहुबली रहता था। वह सदा भरत राजा का विरोधी था और उनकी आज्ञा का पालन नही करता था।

पत्तो तक्खसिलपुरं जयसद्दुग्घुट्ठ कलयलारावो।
जुज्झस्स कारणत्थं सन्नद्धो तक्खणं भरहो ॥४।४०॥

भरत तक्षशिला पहुँचे और तत्क्षण युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। उस समय जय शब्द के उदघोष का कल-कल शब्द सर्वत्र फैल गया।

बाहुबली वि महप्पा
भरहनरिन्द समागमं सोउं।
भडचडयरेग महया
तक्खसिलाओ विणिज्जाओ ॥४।४१॥

महात्मा बाहुबली भी भरत राजा का आगमन सुन कर सुभटो की महती सेना के साथ तक्षशिला में से बाहर निकला।

विमलसूरि मानते है कि दोनो मे दृष्टि और मुष्टि युद्ध हुआ।

विमलसूरि ने कई कथानको मे पोदनपुर का उल्लेख किया है। वे कथानक दिगम्बर पुराणो मे भी उपलब्ध होते है—जैसे मधुपिंगल और कुण्डलमण्डित, गजकुमार आदि। किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि बाहुबली के चरित्र मे उन्होने पोदनपुर का उल्लेख नहा किया। वहाँ उन्होने पोदनपुर के स्थान पर तक्षशिला का ही उल्लेख किया है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे जहाँ पर भी बाहुबली का चरित्र-चित्रण किया है, वहाँ सर्वत्र बहली (वाल्हीक) देश और तक्षशिला नगर का उल्लेख मिलता है। एक प्रकार से श्वेताम्बर साहित्य मे पउमचरिउ की ही परम्परा का अनुसरण मिलता है। यहाँ इस प्रकार के कुछ उद्धरण देना समुचित होगा—

"बहुलीदेशसीम्नि गतः सैन्य च तत्र स्थापितवान्।"

—कल्पसूत्र, कल्पलता व्याख्या पृ. २०९।

अर्थात् बाहुबली भी भरत को आया जानकर सेना सहित बहली देश की सीमा पर आया।

ततो भरतेन बहुविलापदुःखितेन बाहुबलिपुत्राय सोम-यशसे तक्षशिलाराज्यं दत्वा अयोध्यानगर्यां समागतम्।

—कल्पसूत्र पृ. २११, कल्पलता व्याख्या

अति विलाप से दुखी भरत तब बाहुबली के पुत्र सोम-यश को तक्षशिला का राज्य देकर अयोध्या नगरी मे वापस आ गया।

"तक्खसिला–बहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्याम्।"

—अभिधान राजेन्द्र कोश

— तक्षशिला बहली देश मे बाहुबली की नगरी।

'तक्खसिलाइपुरीए बहलीविसयावयंसभूयाए।"

—कुमारपाल प्रतिबोध २१२

तक्षशिला बहली देश का एक अंगभूत।

"स्वामिशिक्षां दौत्यदीक्षामिवादाय स सौष्ठवाम्।
सुवेगो रथमारुह्याचलत्तक्षशिलां प्रति ॥१।५।२५॥

—त्रि. श. पु. च.

स्वामी की शिक्षा को दौत्य की दीक्षा के समान स्वीकार करके वह सुन्दर सुवेग रथ पर चढ़कर तक्षशिला के लिए चला।

"षड्भ्यो भरतखण्डेभ्यः
खण्डान्तरमिव स्थितम्।
भरताज्ञानाभिज्ञं स
बहलीदेशमासदत् ॥"

—त्रि. श. पु. च. १।५।४९

वह भरत के अज्ञान को समझने वाले बहली देश में पहुँचा जो छह भरत खण्डो से पृथक् खण्ड की तरह स्थित था।

"भरतावरजोत्कर्षाकर्णनाद् विस्मृतं मुहुः।
अनुस्मरन् वाचिकं स प्राप तक्षशिलापुरीम् ॥

—त्रि. श. पु. च. पर्व १।५।५३

वह भरत के लघु भ्राता बाहुबली के उत्कर्ष की बातें सुनकर बराबर भरत के दिये हुए आदेशों को भूल जाता था और बराबर वह उन्हे याद करता था। इस प्रकार वह तक्षशिला पुरी पहुँचा।

"दिने दिने नरपति—
र्गच्छंश्चक्रपदानुगः।

राइयंतरवियाविल्यो
बहलीदेशमासदत् ।"

—त्रि. श. पु. च. १।५।२८३

सम्राट् भरत दिन-रात चलता हुआ बहली देश पहुंचा, मानो सूर्य एक राशि से चक्कर लगाता हुआ दूसरी राशि मे पहुँचा हो।

"बाहुबलिणो तक्खसिला विण्णा।"

—विविध तीर्थ कल्प, पृ० २७

बाहुबली को तक्षशिला दी।

"तक्षशिलायां बाहुबली विनिर्मितं धर्मचक्रं।"

—विविध तीर्थ कल्प, पृ० ८५

बाहुबली ने तक्षशिला में धर्मोपदेश दिया।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बर ग्रंथों के अनुसार बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिला था। तक्षशिला बहली देश मे स्थित थी। अर्थात् उस प्रदेश को बहली अथवा बाल्हीक कहा जाता था और तक्षशिला उसकी राजधानी थी।

तक्षशिला का स्थापना काल—

इसमें सन्देह नही है कि तक्षशिला बहली देश मे थी। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि ऋषभदेव के काल मे तक्षशिला नाम की कोई नगरी थी भी या नही।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार श्री रामचन्द्र ने भरत को उसके ननिहाल केकय देश का राज्य दिया था। रघुवंश के अनुसार उसे केकय के साथ सिन्धु देश भी मिला था। केकय और सिन्धु दोनो देश मिले हुए थे।

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता कनिंघम[1] आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान स्थित गुजरात, शाहपुर और जेहलम जिलो को प्राचीन केकय देश मानते है। केकय देश की राजधानी उन दिनों राजगृह या गिरिव्रज थी, जिसकी पहचान जेहलम नदी के किनारे पर बसे हुए आधुनिक गिरजाक (जलालपुर) वस्ती से की गई है।

भरत के पुत्र (रामायण के अनुसार) तक्ष और पुष्कर थे। उन दोनों ने गान्धार देश को जीता और दोनों ने अपने नाम पर तक्षशिला और पुष्करावती नामक नगरियां बसाई। तक्षशिला नगरी बड़े महत्वपूर्ण स्थान पर बसाई थी। वह पंजाब से काश्मीर तथा पंजाब से कपिश देश जाने वाले मार्ग पर नियन्त्रण रखती थी। पुष्करावती नगरी कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदी के सगम पर थी। उत्तर भारत के मैदान से कपिश और उड्डीयान (स्वात की उत्तरी दून) जाने वाला रास्ता पुष्करावती[2] होकर जाता था।

इस विवरण से स्पष्ट है कि तक्षशिला की स्थापना श्री रामचन्द्र के काल में या उनके कुछ समय पश्चात् हुई थी। ऋषभदेव के काल मे तक्षशिला नाम की कोई नगरी नही थी। ऐसी स्थिति में श्वेताम्बर ग्रन्थों मे बाहुबली की नगरी का नाम तक्षशिला किस कारण दिया, यह अवश्य विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस काल में आगम ग्रन्थ लिखे गये, उस समय उन आगम ग्रन्थों के कर्त्ता आचार्यों के सामने तक्षशिला की अत्यधिक प्रसिद्धि रही थी। उसकी ख्याति से प्रभावित होकर ही उन आचार्यों ने तक्षशिला नाम का प्रयोग करना उचित समझा। फिर उस परम्परा के परवर्ती ग्रंथकारों ने इस नाम को ही अपना लिया।

पोदनपुर को ही तक्षशिला कहा जाने लगा, यह सभावनामूलक कल्पना है। उसके लिए कोई ठोस आधार नही है।

विमलसूरि कृत पउमचरिउ[3] के अनुसार पोतन नगर (पोदनपुर) श्री रामचन्द्र जी के काल मे अत्यन्त समृद्ध था। जब रामचन्द्र लंका विजय करके अयोध्या लौटे, तब एक दिन उन्होने लघु भ्राता शत्रुघ्न से कहा—इस पृथ्वी पर तुम्हें जो प्रिय नगर हो, वह मांगो। मै वह दूंगा। इस साकेतपुरी को ग्रहण करो अथवा पोदनपुर, पुण्ड्रवर्धन या अन्य कोई अभीष्ट देश।

उपर्युक्त कथन से ऐसा लगता है कि श्री रामचन्द्र के काल में भी पोदनपुर विख्यात और समृद्ध नगर था। तक्षशिला इससे भिन्न थी, जिसे भरत के पुत्र तक्ष ने बसाया और अपनी राजधानी बनाया।

एक नवीन कल्पना —

एक मधुर कल्पना यह भी की गई है कि बाहुबली

---

१. Archeological Survey Report.

२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृ. १५६।

३. पउमचरिउ ८६।२।

को उत्तरापथ और दक्षिणापथ दोनों तरफ राज्य दिया गया था। उन्होंने उत्तरापथ के अपने राज्य की राजधानी तक्षशिला बनाई और दक्षिणापथ की राजधानी पोदनपुर बनाई। जब भरत ने आक्रमण किया तो उन्होंने तक्षशिला पर आक्रमण किया पोदनपुर के ऊपर नहीं किया। क्योंकि बाहुबली प्रायः तक्षशिला में ही रहते थे।

इस कल्पना का आधार कुछ भी नही है। 'विविध तीर्थकल्प' हस्तिनापुर कल्पके अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने बाहुबली को तक्षशिला और हस्तिनापुर का राज्य दिया था। इससे इस कल्पना का खण्डन हो जाता है कि बाहुबली ने अपने दक्षिण राज्य की राजधानी पोदनपुर बनाई थी।

आदिपुराण[1] मे भगवज्जिनसेन ने बताया है कि भगवान् ऋषभदेव ने राज्य व्यवस्था के लिए चार व्यक्तियो को दण्डधर (राजा) नियुक्त किया—हरि, अकम्पन, कश्यप और सोमप्रभ। सोमप्रभ भगवान् से कुरुराज नाम पाकर कुरुदेश का राजा हुआ और कुरुवंश का शिखामणि कहलाया।

हरिवंशपुराण[2] मे सोमप्रभ का नाम सोमयश दिया है और उन्हे बाहुबली का पुत्र तथा सोमवंश (चन्द्रवंश) का कर्ता बताया है।

उक्त पुराणो के अनुसार हस्तिनापुर का राज्य सोमप्रभ को दिया था, न कि बाहुबली को। बाहुबली को तो पोदनपुर का ही राज्य दिया था। सोमप्रभ और बाहुबली को भगवान् द्वारा राज्य देने का काल भी भिन्न-भिन्न है। जिस काल मे भगवान् समाज-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, विवाह व्यवस्था मे लगे हुए थे, उस समय दण्ड नीति की व्यवस्था के लिए अन्य तीन व्यक्तियो के साथ सोमप्रभ को भी राजा बनाया था और उसे कुरु जांगल देश का राज्य दिया था। किन्तु दीक्षा लेने से पूर्व भगवान ने अपने सौ पुत्रों को राज्य दिया। उनमे बाहुबली को पोदनपुर का राज्य दिया।

इन प्रमाणों से बाहुबली को तक्षशिला और पोदनपुर मिलने की कल्पना का निरसन हो जाता है।

१. आदिपुराण १६।२५५-८।

२. हरिवंशपुराण

कुछ पौराणिक घटनायें—

हस्तिनापुर[1] के राजा महापद्म और सुरम्य देश के पोदनपुर के राजा सिंहनाद मे बहुत समय से शत्रुता चली आ रही थी। अवसर पाकर महापद्म ने पोदनपुर के ऊपर आक्रमण कर दिया। पोदनपुर मे सहस्रकूट नामक एक चैत्यालय था, जिसमे एक हजार स्तम्भ लगे हुए थे। महापद्म चैत्यालय को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसके मन मे भी यह भावना जागृत हुई कि मैं भी अपने नगर मे इसी प्रकार का सहस्र स्तम्भ वाला चैत्यालय बनवाऊगा। उसने एक पत्र अपने अमात्य को लिखा—'महास्तम्भसहस्रस्य कर्तव्यः सग्रहो ध्रुवम्' अर्थात् तुम एक हजार स्तम्भ अवश्य सग्रह कर लो।

पत्रवाचक ने स्तम्भ के स्थान पर स्तभ पढा और उसका अर्थ हुआ कि तुम हजार बकरे इकट्ठे कर लेना। तदनुसार उन्होने एक हजार बकरे इकट्ठे कर लिए। जब महाराज आये और उन्हे पत्र वाचक की इस भूल का पता चला तो बड़े क्रुद्ध हुए और वाचक को कठोर दण्ड दिया।

एक अनुस्वार की भूल का कैसा परिणाम निकला। पाटलिपुत्र नरेश गन्धर्वदत्त की पुत्री गन्धर्वदत्ता अत्यन्त रूपवती थी। उसने प्रतिज्ञा की थी कि जो मुझे गन्धर्व विद्या मे पराजित कर देगा, उसे ही वरण करूगी। अनेकों कलाकार आये और पराजित होकर लौट गये। एक दिन विजयार्ध पर्वत के निकटवर्ती पोदनपुर के निवासी पचाल उपाध्याय ने गन्धर्वदत्ता की प्रतिज्ञा सुनी। वह अपने पाँच सौ शिष्यों को लेकर पाटलिपुत्र पहुँचा और वहाँ राजकन्या को पराजित करके उसके संग विवाह किया।

इस कथा मे पोदनपुर को विजयार्ध पर्वत के निकट बताया है।

द्वारका नगरी मे वासुदेव कृष्ण की महारानी गन्धर्वदत्ता का पुत्र गजकुमार था। पोदनपुर नरेश अपराजित को पराजित करने के लिए श्रीकृष्ण ने कई बार

१. आराधना कथाकोष, कथा ६५। हरिषेण कथाकोष, कथा २५ मे पोदनपुर को उत्तरापथ में बताया है, जबकि आराधना कथाकोष मे उसे सुरम्य देश मे बताया है।

प्रयत्न किया, किन्तु वह अपराजित ही रहा। तब गजकुमार सेना लेकर अपराजित के नगर तक पहुँचा। दोनो सेनाओं मे भयानक युद्ध हुआ और गजकुमार ने अपराजित को पराजित कर दिया। नारायण श्रीकृष्ण ने इसका समुचित सम्मान किया।

किन्तु विजय पाकर गजकुमार उच्छृङ्खल हो गया। वह स्त्रियों का शीलभग करने लगा। एक दिन भगवान् नेमिनाथ का समवसरण द्वारका नगरी मे आया। भगवान् का उपदेश सुनकर गजकुमार को वैराग्य हो गया। उसने भगवान् के निकट मुनि-दीक्षा ले ली। फिर विहार करते हुए गजकुमार मुनि गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ वे ध्यान लगाकर खड़े हो गये। वहाँ पामुल नामक व्यक्ति ने उन पर घोर उपसर्ग किये। सधियों मे कीले ठोक दी। किन्तु फिर भी मुनिराज ध्यान से विचलित नही हुए। उन्होने समाधिमरण द्वारा शरीर का त्यागकर स्वर्ग प्राप्त किया।

— आराधना कथाकोष, कथा ५६

अयोध्या नरेश त्रिदशजय नरेश के पुत्र जितशत्रु का विवाह पोदनपुर नरेश व्यानन्द की पुत्री विजया के साथ हुआ। जिनकी पवित्र कुक्षि से द्वितीय तीर्थङ्कर भगवान अजितनाथ का जन्म हुआ।

भगवान पार्श्वनाथ अपने पूर्वभव मे पोदनपुर के राजा अरविन्द के पुरोहित विश्वभूति के पुत्र मरुभूति थे। उनका भाई कमठ था जो दुष्ट प्रकृति का था। मरुभूति की अनुपस्थिति मे उसने मरुभूति की स्त्री के साथ दुराचार किया। ज्ञात होते ही राजा ने कमठ को कठोर दण्ड दिया और नगर से निकाल दिया। तब कमठ पोदनपुर से चलकर भूताचल पर पहुँचा। वहा एक तापसाश्रम में कुतप करने लगा।

इस प्रकार अनेक पौराणिक घटनाओ का सम्बन्ध पोदनपुर के साथ रहा है। किन्तु इतने प्रसिद्ध और समृद्ध नगर का विनाश किन कारणों से और किस काल मे हो गया अथवा प्रकृति के प्रकोप से नष्ट हो गया, इस संबध में कोई स्पष्ट उल्लेख प्राचीन साहित्य में अथवा इतिहास ग्रंथों में कही भी देखने में नही आया।

तक्षशिला—

तक्षशिला पाकिस्तान मे वर्तमान रावलपिंडी जिले मे था। जनरल कनिंघम के मतानुसार यह कला का सराय से एक मील, कटक और रावलपिंडी के बीच मे और शाहघेरी के निकट था। आजकल यहाँ इस प्राचीन नगरी के खण्डहर पड़े हुए है। इन खडहरो मे जो भी गाव के नीचे है, वे तक्षशिला की सबसे पुरानी बस्ती के है।

सैण्ट मार्टिन इसे हमन अब्दुल, जो शाहघेरी से आठ मील दूर है, के उत्तर-पश्चिम में आठ मील दूर बताता है।

इस नगर की स्थापना जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्री रामचन्द्र के भ्राता भरत ने अपने पुत्र तक्ष के नाम पर की थी। तक्ष यहाँ का राजा[1] बनाया गया था।

कथा सरित्सागर के अनुसार तक्षशिला वितस्ता (झेलम) के तट पर अवस्थित थी।

यह नगर कुछ समय तक गान्धार देश की भी राजधानी रहा। उस समय गान्धार मे पूर्वी अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी पजाब था।

इस नगर पर सूर्यवंशी राजाओं का बहुत समय तक अधिकार रहा। किन्तु तक्ष के वश मे कौन-कौन राजा हुए, इसका कोई व्यवस्थित और प्रामाणिक इतिहास नही मिलता। महाभारत युद्ध ने समूचे आर्यावर्त और विशेषकर पजाब के राज्यो को कमजोर कर दिया था। अतः कही-कही उत्पात होने लगे थे। गान्धार देश के नागो ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया।

कहा जाता है, जिस दिन महाभारत युद्ध समाप्त हुआ उसी दिन अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ से परीक्षित का जन्म हुआ था। पाण्डवों के पीछे हस्तिनापुर की गद्दी पर परीक्षित बैठा।

तक्षशिला के नाग धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। उन्होंने पजाब पर अधिकार कर लिया। फिर पंजाब, लाँघकर, हस्तिनापुर पर भी उन्होने आक्रमण कर दिया। अब कुरु राज्य इतना निःशक्त था कि राजा

---

१. रामायण, उत्तरकाण्ड, ११४-२०१।

परीक्षित को नागों ने मार डाला। इस समय तक्षशिला के नागों का राजा तक्षक था[1]।

परीक्षित का पुत्र जनमेजय प्रतापी राजा था। उसने अपनी शक्ति खूब बढाई और अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए नागवश को निर्मूल करने का सकल्प कर लिया। वासुकी, कुलज, नीलरक्त, कौणप, पिच्छल, शल, चक्रपाल, हलोमक, कालवेग, प्रकालग्न, सुशरण, हिरण्यबाहु, कक्षक, कालदन्तक, तक्षकपुत्र, शिशुरोम, महाहनु आदि अनेक नाग सरदारों को सम्राट् जनमेजय ने जीता जला दिया था। पीछे नागराज वासुकी के भागिनेय आस्तीक ने बड़े अनुनय विनय से नागो की सधि कराई। इन नागो ने अपना प्रभाव-विस्तार खूब किया। मथुरा पर नागो की सात पीढियो ने राज्य[2] किया। काश्मीर मे भी उनका राज्य था। ईसा पूर्व छठवी शताब्दी मे विदिशा मे नागराज शेष, पुरजय भागी, रामचन्द्र, चन्द्राशु, घनधर्मण, नगर और भूतनाद प्रसिद्ध नाग राजा हुए।

जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय तक्षशिला का राजा अम्भि था। उसने सिकन्दर से बिना लड़े ही उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी। उसकी सहायता से सिकन्दर की सेना ने सिन्धु पार की और तक्षशिला पहुँचकर अपनी थकान उतारी।

मौर्य सम्राट् बिन्दुसार के काल मे तक्षशिला ने दो बार विद्रोह किया और एक बार अशोक को और दूसरी बार कुणाल को वहाँ विद्रोह दबाने को जाना पडा। विद्रोह दबाने के लिए किसी शक्ति का प्रयोग नही करना पड़ा, बल्कि बड़े रोचक और नाटकीय ढग से स्वयं शान्त हो गया। जब कुमार अशोक तक्षशिला के निकट पहुँचा तो तक्षशिला के पौर नगरी से साढ़े तीन योजन आगे तक सारे रास्ते को सजाकर मंगल घट लिए हुए उसकी सेवा में उपस्थित हुए और कहने लगे—"न हम कुमार के विरुद्ध है, न राजा बिन्दुसार के। किन्तु दुष्ट अमात्य हमारा पराभव[3] करते है।"

इसके पश्चात् जब अशोक राजगद्दी पर बैठा, तब उसने अपने पुत्र कुणाल को तक्षशिला का उपरिक (गवर्नर) बनाया। कुणाल जन्म से ही सुरूप और सुकुमार था। उसकी आँखे बडी सुन्दर थी। अशोक ने वृद्धावस्था मे तिष्यरक्षिता नामक एक युवती से विवाह किया था। एक बार एकान्त पाकर तिष्यरक्षिता कुणाल की आखों को देखकर उस पर मुग्ध हो गई। विमाता के इस घृणित प्रस्ताव को कुणाल ने अस्वीकृत कर दिया। इससे तिष्यरक्षिता उसकी शत्रु बन गई। एक बार अवसर पाकर उसने तक्षशिला के परिजनो को एक कपट लेख भेजकर अशोक के नाम से यह आदेश दिया कि कुमार को अन्धा कर दिया जाय। इस आदेश को पाकर पौर जन भयभीत हो गये। तब कुणाल ने इस आदेश को राजा और पिता का आदेश मानकर उनकी आज्ञा को पालना अपना कर्तव्य समझा और खुशी से अपनी आंखे निकलवा दीं। जब कुणाल अपनी स्त्री काचनमाला के साथ पाटलिपुत्र आया और अशोक को इस भयानक षड्यन्त्र का पता चला तो उसने तिष्यरक्षिता को जिन्दा जलवा दिया। तथा तक्षशिला मे जिस स्थान पर कुणाल ने अपनी आँखें निकलवाई थी, वहाँ स्तूप खडा करवा दिया, जो चीनी यात्री ह्वान च्वाग के समय तक वहाँ मौजूद था। इस स्तूप के खडहर सिरकाप के डेढ मील पूर्व मे बरपल नामक गाव मे पड़े हुए है। ये खडहर रावलपिंडी से उत्तर-पश्चिम मे २६ मील पर है और कलाकार सराय रेलवे स्टेशन से २ मील है। इस नगर की भूमि पर अब हाहधेरी, सिरकाप, सिरमुख, कच्छाकोट गाव बस गये है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे बैक्ट्रिया से निकाले जाने पर कुशाणो ने इसे अपनी राजधानी बनाया था सिकन्दर ने इसको ईसा पूर्व ३२६ मे जीता था। उसके चार वर्ष बाद मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तने इसे अपने राज्यमे मिला लिया। ईसा पूर्व १६० मे डेमिट्रियस ने इसे जीत लिया और यह ग्रीक राजाओं की भारतीय राजधानी बन गया। उसके बाद यह शक, पल्लव और कुषाण राजाओं के आधिपत्य में रहा।

विख्यात विश्वविद्यालय—

यहाँ ईसा की प्रथम शताब्दी तक पश्चिम के बलभी,

---

१. महाभारत।
२. वायु और ब्रह्माण्ड पुराण।
३. । दिव्यावदान

पूर्व के नालन्दा, दक्षिण मे कांचीपुरम् और मध्य भारत के घन कटक के समान उत्तरापथ का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था पाणिनि जैसा वैयाकरण, विख्यात वैद्य जीवक यही पढ़े थे। संभवतः चाणक्य ने भी यही शिक्षा प्राप्त की थी। इस विश्वविद्यालय में शस्त्र और शास्त्र दोनों प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था थी। दूर दूर से लोग यहाँ पढने आते थे। सिरकाय से चार मील पर विशाल भवनों के भग्नावशेष पड़े हुए है। यही पर यह विश्वविद्यालय था। इसकी ख्याति सुदूर देशो तक थी।

जैन धर्म का केन्द्र—

सिकन्दर ईसा पूर्व ३२६ मे अटक के निकट सिन्धु नदी को पार करके तक्षशिला मे आकर ठहरा उसने दिगम्बर जैन मुनियो के उच्च चरित्र, उन्नत ज्ञान और कठोर साधना के सम्बन्ध मे अनेक लोगो से प्रशंसा सुनी थी। इससे उसके मन मे दिगम्बर जैन मुनियो के दर्शन करने की प्रबल आकांक्षा थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि नगर के बाहर अनेक नग्न जैन मुनि एकान्त मे तपस्या कर रहे है, तो उसने अपने एक अमात्य ओनेसीक्रेटस को आदेश दिया—तुम जाओ और एक जिम्नोसाफिस्ट (दिगम्बर-जैन मुनि) को आदर सहित लिवा लाओ।

ओनेसीक्रेटस वहाँ गया, जहाँ जगलमे जैन मुनि तपस्या कर रहे थे। वह जैन सघ के आचार्य के पास पहुँचा और कहा—आचार्य ! आपको बधाई है। आपको परमेश्वर का पुत्र सम्राट् सिकन्दर, जो सब मनुष्यो का राजा है, अपने पास बुलाता है। यदि आप उसका निमत्रण स्वीकार करके उसके पास चलेगे तो वह आपको बहुत पारितोषिक देगा। यदि आप निमंत्रण अस्वीकार करके उसके पास नही जायेगे तो सिर काट लेगा।

श्रमण साधु सघ के आचार्य दौलामस (सभवतः धृतिसेन) सूखी घास पर लेटे हुए थे। उन्होने लेटे हुए ही सिकन्दर के अमात्य की बात सुनी और मुस्कराते हुए बोले—सबसे श्रेष्ठ राजा बलात् किसी की हानि नही करता, न वह प्रकाश, जीवन, जल, मानव शरीर और आत्मा का बनाने वाला है, न इनका संहारक है। सिकन्दर देवता नही है क्योकि उसकी एक दिन मृत्यु अवश्य होगी। वह जो पारितोषिक देना चाहता है, वे सभी पदार्थ मेरे लिये निरर्थक हैं। मैं तो घास पर सोता हूँ। ऐसी कोई वस्तु अपने पास नही रखता, जिसकी रक्षा की मुझे चिन्ता करनी पड़े, जिसके कारण अपनी शान्ति की नीद भग करनी पड़े। यदि मेरे पास सुवर्ण या अन्य कोई सम्पत्ति होती तो मै ऐसी निश्चित नीद न ले पाता। पृथ्वी मुझे सभी आवश्यक पदार्थ प्रदान करती है, जैसे बच्चे को उसकी माता सुख देती है। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ, वहां मुझे अपनी उदर पूर्ति के लिए कमी नही, आवश्यकतानुसार सब कुछ (भोजन) मुझे मिल ही जाता है। कभी नही भी मिलता तो मै उसकी कुछ चिन्ता नहीं करता। यदि सिकन्दर मेरा सिर काट डालेगा तो वह मेरी आत्मा को तो नष्ट नही कर सकता। सिकन्दर अपनी धमकी से उन लोगो को भयभीत करे जिन्हे सुवर्ण, धन आदि की इच्छा हो या जो मृत्यु से डरते हो। सिकन्दर के ये दोनो अस्त्र हमारे लिए शक्तिहीन है, व्यर्थ है। क्योकि न हम स्वर्ण चाहते है, न मृत्यु से डरते है। इसलिए जाओ, सिकन्दर से कहदो कि दौलामस को तुम्हारी किसी वस्तु की आवश्यकता नही है। अतः वह तुम्हारे पास नही आवेगा। यदि सिकन्दर मुझसे कोई वस्तु चाहता है तो वह हमारे समान बन जावे।

ओनेसीक्रेटस ने सारी बाते सम्राट से कही। सिकंदर ने सोचा जो सिकन्दर से भी नही डरता, वह महान है। उसके मन में आचार्य दौलामस के दर्शनो को उत्सुकता जाग्रत हुई। उसने जाकर आचार्य महाराज के दर्शन किये। जैन मुनियो के आचार-विचार, ज्ञान और तपस्या से वह बडा प्रभावित हुआ। उसने अपने देश में ऐसे किसी साधु को ले जाकर ज्ञान प्रचार करने का निश्चय किया। वह कल्याण मुनि से मिला और उनसे यूनान चलने की प्रार्थना की। मुनि ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली यद्यपि आचार्य किसी मुनि के यूनान जाने की बात से सहमत नहीं थे।

जब सिकन्दर तक्षशिला से अपनी सेना के साथ यूनान को लौटा, तब कल्याण मुनि भी उसके साथ-साथ विहार कर रहे थे। मुनि कल्याण ने एक दिन मार्ग में ही सिकन्दर की मृत्यु की भविष्यवाणी की। मुनि के वचनों के अनुसार ही वैबीलौन पहुँचने पर ई० पू० ३२३

में अपराण्ह वेला मे सिकन्दर की मृत्यु हो गई। मृत्यु से पहले सिकन्दर ने मुनि महाराज के दर्शन किये और उनसे उपदेश सुना। सम्राट् की इच्छानुसार यूनानी कल्याण मुनि को आदर के साथ यूनान' ले गये। कुछ वर्षों तक उन्होने यूनानियों को उपदेश देकर धर्म प्रचार किया। अन्त में उन्होंने समाधिमरण किया। उनका शव राजकीय सम्मान के साथ चिता पर रखकर जलाया गया। कहते है, उनके पाषाण-चरण एथेन्स मे किसी प्रसिद्ध स्थान पर बने हुए है।

तक्षशिला में उस समय दिगम्बर मुनि रहते थे, इस बात की पुष्टि अनेक इतिहास ग्रन्थों से होती है। 'एलैक्जैण्डर (सिकन्दर) ने उन दिगम्बर मुनियों के पास ओनेसीक्रेटस को भेजा। उसका कहना है कि उसने तक्षशिला से २० स्टैडीज दूर १५ व्यक्तियों को विभिन्न मुद्राओं में खड़े हुए, बैठे हुए या लेटे हुए देखा, जो बिलकुल नग्न थे। वे शाम तक इन आसनो से नहीं हिलते थे। शाम के समय शहर मे आ जाते थे। सूर्य का ताप सहना सबसे कठिन काम था।'

—प्लूटार्च, ऐंशियण्ट इंडिया, पृ० ७१

'दिगम्बर जैन धर्म प्राचीन काल से अब तक पाया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिम्नोसोफिस्ट' जिनको यूनानियों ने पश्चिमी भारत में देखा था, वे जैन मुनि थे, वे ब्राह्मण या बौद्ध नहीं थे। सिकन्दर ने दिगम्बर मुनियों का समुदाय तक्षशिला में देखा था। उनमे से कल्याण नामक मुनि फारस तक उसके साथ गये थे। इस युग मे इस धर्म का उपदेश चौबीस तीर्थंकरों ने दिया है। और महावीर उनमें अन्तिम तीर्थंकर है।'

—ई० आई-थामस बुद्ध का जीवन

इसी पुस्तक मे एक स्थान पर लिखा है कि सिकन्दर के आदमियो ने जैन-बौद्ध धर्म को बैक्ट्रिया, ओक्सियाना तथा अफगानिस्तान—भारत के बीच की घाटियों में उन्नत रूप से फैला हुआ पाया था।

मेजर जनरल जे० एस० फर्लांग ने अपनी पुस्तक तुलनात्मक धर्म-विज्ञान (

) मे तक्षशिला मे दिगम्बर जैन मुनियो के होने की बात का समर्थन किया है।

इन प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला जैन धर्म का केन्द्र था और यहा अनेक दिगम्बर मुनि रहते थे। ●

ब्र० शीतलप्रसाद और उनकी साहित्य-साधना

श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद लखनऊ के निवासी थे। इनके पिता का नाम मक्खन लाल और माता का नाम श्रीमती नरायणी देवी था। आपका जन्म सन् १८७८ मे काला महल मे हुआ था। आपने मैट्रिकुलेशन परीक्षा १८ वर्ष की उम्र मे प्रथम श्रेणी मे पास की थी। और ४ वर्ष बाद रुड़की इंजीनियरिंग कालेज से अकाउन्टशिप की परीक्षा पास की थी। परीक्षा पास करने के बाद उन्हें गवर्नमेंट सर्विस मिल गई। यह स्वाभाव से ही चचल, कार्य करने में पटु, उदीयमान विचारक और लेखक थे। आपका विवाह कलकत्ता के वैष्णव अग्रवाल छेदीलाल जी की पुत्री से हुआ था। आपने अपनी पत्नी के धार्मिक सस्कारों को आदर्श बनाया था। सन् १९०४ में महामारी से १३ फरवरी को आपकी पत्नी का वियोग हो गया। और ६ मार्च को जननी तथा अनुज पन्नालाल का भी देहान्त हो गया। दुर्दैव के इस घटनाक्रम से शीतलप्रसाद जी के चित्त को बड़ा आघात पहुँचा। उस समय महामारी से देश मे तहलका मचा हुआ था।

अग्नि परीक्षा - स्नेही जनो के आकस्मिक वियोग का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यद्यपि वे निरन्तर स्वाध्याय और सामयिक सेवाओ के कारण पर्याप्त बल पा चुके थे। एक ओर सरकारी नौकरी का प्रलोभन पदोन्नति, वेतन वृद्धि। और प्रौढ़ावस्था की उमड़ती

हिलोरें। कौटुम्बिक सहयोगियों का पुन: गृहस्थी बसाने का आग्रह, कन्याओं का सौन्दर्य और योग्यता, उनके अभिभावकों द्वारा सम्बन्ध स्वीकार करने की प्रार्थना और दूसरी ओर समाज सेवा की उत्कट लगन, और स्वाध्याय द्वारा आत्म स्वरूप को प्राप्त करने, तथा समझाने का यत्न। इस अग्नि परीक्षा में शीतल प्रसाद जी खरे उतरे। उन्हें सांसारिक भोगाकांक्षा अपने लक्ष्य से विचलित न कर सकी। अत: ब्रह्मचारी रहकर समाज सेवा में संलग्न कर जीवन बिताना अच्छा समझा। इसी से सन् १९०५ मे सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। और समाज सेवा के कार्य मे योग देने लगे।

सन् १९०२ में महासभा के मुख पत्र हिन्दी जैन गजट का सम्पादन किया। जिससे उसकी काया पलट गई। और सन् १९०९ मे वे जैनमित्र के सम्पादक नियुक्त हुए और उन्होंने उसका सम्पादन सन् १९२९ तक २० वर्ष किया। इसके अतिरिक्त समाज संगठन, जैन प्रचार, शिक्षाप्रसार, समाज-सुधार, ऐतिहासिक खोज तथा अनेक धार्मिक ट्रैक्टो के अतिरिक्त स्वाध्यायोपयोगी ग्रंथो का हिन्दी अनुवाद कर ग्रंथ प्रकाशित कराये। प्रत्येक वर्ष मे एक ग्रंथ जैन मित्र के उपहार मे नया लिख कर प्रकाशित करते थे। आपके द्वारा लिखित, सम्पादित, अनुवादित पुस्तको की संख्या ७५ के लगभग है। जिनका परिचय नीचे दिया जाता है—

१ अध्यात्मिक निवेदन—लेखक ब्र० शीतलप्रसाद, प्रकाशक मूलचन्द्र किशनदास कापडिया सूरत, पृष्ठ १६ प्रका० १९२५।

२. अध्यात्मज्ञान—संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया, सूरत, पृ० १२८, प्रका० सन् १९३१।

३. अनुभवानंद—संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० जैनमित्र-कार्यालय, बम्बई, पृ० १२८, प्रका० सन् १९१२।

४ अहिंसा—लेखक ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० जैनमित्र-मंडल देहली, पृ० २०, प्रका० सन् १९३२ (कई संस्करण छपे)।

५ आत्मोन्नति या खुद की तरक्की—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० जैन मित्र मंडल देहली, पृ० २४, प्रका. सन् १९३६।

६. आत्मध्यान का उपाय—संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० सवाई सेठ खुशालचन्द जैन चौरई (छिंदवाड़ा) पृ० ५६, प्रका० १९२८।

७. आत्म धर्म—लेखक ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० १५६ प्रका० सन् १९१९।

८. आध्यात्मिक चौबीस ठाणा—टीका० ब्र० शीतलप्रसाद लेखक तारण स्वामी, प्र० सेठ मन्नूलाल जैन आगासौद पृ. १२४ प्रका० १९३९।

९. आध्यात्मिक सोपान—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० ३२५ प्रका० सन् १९३१।

१०. आत्मानंद का सोपान—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० २० प्रका० सन् १९२३।

११. इष्टोपदेश टीका श्री पूज्यपाद स्वामी—टीका ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० २५६ प्रका० १९२३।

१२. उपदेश शुद्ध सार—ले० तारणतरण स्वामी, अनु० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० सेठ मन्नूलाल आगासौद, पृ० ३२३ प्रका० १०३६।

१३. गृहस्थ धर्म—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० ३१४, प्रका० सन् १९२३ (कई संस्करण छपे)।

१४. छह ढाला—ले० कविवर दौलतराम, टीका ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जे. पी. बम्बई, पृ. ५८ प्रका० १९१२ (कई संस्करण छपे)।

१५. जिनेन्द्र मत दर्पण (प्रथम भाग)—ले० बाबू बनारसीदास, संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० जैन मित्र मंडल देहली, पृ० ३२ प्रकाशन सन् १९२६ (कई संस्करण छपे)।

१६. जैन धर्म की विशेषताएं—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० जैन मित्र मंडल देहली, पृ० २० प्रका० सन् १९३९)।

१७. जैनधर्म क्या है—ले० ब्र० शीतलप्रसाद प्रका० जैन मित्र मंडल देहली, पृ० १८।

१८. जैनधर्म प्रकाश—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० परि-

षद पब्लिशिंग हाउस बिजनौर, पृ० २६५, प्रका० सन् १९३९ (कई संस्करण छपे)।

१९. जैनधर्म में अहिंसा—ले० ब्र० शीतलप्रसाद प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० १४३, प्रका० सन् १९३९।

२०. जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ—ले० ब्र० शीतलप्रसाद प्रका० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० १६७, प्रका० सन् १९४१ (कई सस्करण छपे)।

२१. जैन नियम पोथी—सग्र० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० मुंशीलाल एण्ड सस देहली, पृ० ३० प्रका० सन् १९४२ (कई सस्करण छपे)।

२२. जैन बौद्ध तत्त्व ज्ञान—ले० सं० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० स्वय, पृ० ३५२ प्रकाशन सम् १९३४।

२३. जैन बौद्ध तत्त्व ज्ञान—(दूसरा भाग) ले० सपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० २६४, प्रका० १९३७।

२४. जम्बू स्वामी चरित्र—ले० पाडे रायमल्ल, अनु० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ० २१३ प्रका० सन् १९३९ (कई सस्करण छपे)।

२५. तत्त्व भावना (वृहत्सामायिक पाठ)—ले० अमितगति आचार्य, टीका ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ३४४ प्रका० सन् १९६०।

२६. तत्त्व माला—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० भारत जैन महामंडल, पृ० १०४, प्रका० सन् १९११ (कई संस्करण निकले)।

२७. तत्त्व सार टीका—ले० देवसेनाचार्य, टीका ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० १६२ प्रका० सन् १९३८।

२८. तारणतरण श्रावकाचार—ले० तारणतरण स्वामी, टीका ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मथुराप्रसाद बजाज सागर, पृ० ४३९, प्रकाशन सन् १९३३।

२९. दानवीर सेठ माणिकचन्द्र—ले० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ९२० प्रका० सन् १९१९।

३०. दीप मालिका विधान—संग्र० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० २४, प्रका० सन् १९५१ (कई सस्करण छपे)।

३१. नियमसार—ले० कुन्दकुन्दाचार्य, सं० टी० पद्मप्रभ मलधारिदेव, हिन्दी अनु० ब्र० शीतलप्रसाद, प्रका० जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, पृ० २२३, प्रका० सन् १९१६ (कई सस्करण छपे)।

३२. निश्चय धर्म का मनन—सपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ३९७, प्रका० सन् १९२९।

३३. पंचास्तिकाय टीका (प्रथम भाग)—ले० कुन्दाकुन्दाचार्य, अनु० टी० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ४२४ प्रका० सन् १९३७।

३४. पंचास्तिकाय टीका (दूसरा भाग)—ले० कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० टीका० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० २४५, प्रका० सन् १९२८।

३५. प्रतिष्ठासार सग्रह—सपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० २२३, प्रकाशन सन् १९२९।

३६. प्रवचन सार टीका (प्रथम खंड)—ले० कुन्दकुन्दाचार्य, टीका अनु० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ३७३ प्रका० सन् १९२४।

३७. प्रवचन सार टीका (द्वितीय खंड)—ले० कुन्दाकुन्दाचार्य, टीका अनु० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ३९६ प्रकाशन सन् १९२५।

३८. प्रवचन सार टीका (तृतीय खड)—ले० कुन्दकुन्दाचार्य, अनु० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ३६२, प्रकाशन सन् १९२७।

३९. परमार्थ वचनिका तथा उपादान निमित्तकी चिट्ठी—ले० कविवर बनारसीदास, टीका ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ० ७६, प्रकाशन सन् १९५६।

४०. बंगाल विहार उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक—संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० दि० जैव पुस्तकालय सूरत, पृ० १३२ प्रकाशन सन् १९५१ (कई संस्कर छपे)।

४१. बम्बई प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक—संग्र० संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० सेठ माणिकचन्द पानाचन्द जौहरी बम्बई, पृ. २३१, प्रकाशन सन् १९२५।

४२. भगवान महावीर और उनका सन्देश—ले० ब्र०

शीतलप्रसाद, प्र० जैन मित्रमंडल देहली, पृ. ४२, प्रका० सन् १९४२।

४३. भगवान महावीर की शिक्षाएं—लेखक ब्र० शीतल प्रसाद, प्र० दि० जैन भ्रातृसंघ आगरा, पृ. ११ सन् १९२५।

४४. मद्रास-मैसूर प्रान्त के जैन स्मारक—संग्र० संपादक ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. ३३४, प्रकाशन सन् १९२८।

४५. मध्य प्रान्त, मध्य भारत व राजपूताने के स्मारक—संग्र० संपा० ब्र० शीतलप्रसाद, प्र० मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ २०४, प्रका० सन् १९२६।

४६. ममल पाहुड (प्रथम भाग)—ले० तारणतरण स्वामी, अनु. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. मथुराप्रसाद बजाज सागर, पृ. ४२०, प्रका. सन् १९३७।

४७. ममल पाहुड (द्वितीय भाग)—ले. तारणतरण स्वामी अनु. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. मथुराप्रसाद बजाज सागर, पृ. ४५०, प्रका. सन् १९३८।

४८. ममल पाहुड (तृतीय भाग)—ले. तरणतारण स्वामी अनु. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. मथुराप्रसाद बजाज सागर, पृ. ३१८, प्रका. सन् १९३९।

४९. महिला रत्न मगनबाई—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि. जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. २०२, प्रकाशन सन् १९३३

५०. मानव धर्म—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, पृ. १६८, प्रका. सन् '३०।

५१. मिथ्यात्व निषेध—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. जैन मित्र मंडल देहली, पृ. २४, प्रका. सन् १९३३।

५२. मुक्ति और उसका साधन—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. जैन मित्र मंडल देहली, पृ. २८। प्रका. सन् १९२९।

५३. मोक्षमार्ग प्रकाशक (द्वितीय भाग)—ले. ब्र. शीतल-प्रसाद, प्र. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. ६४४, प्रका. सन् १८३३।

५४. योगसार—ले. योगीन्द्रदेव टी. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. ६६४, प्रका. सन् १८४१।

६५. विद्यार्थी जैन धर्म शिक्षा—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. जैन पुस्तकाल सूरत, पृ. २१६, प्रकाशन सन् १९५२ (कई सस्करण छपे)।

५६. विधवाओं और उनके संरक्षकों से अपील—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. जैन बाल विधवा सहायक सभा देहली, पृ. १६, प्रका. सन् १९२८।

५७. बृहज्जैन शब्दार्णव (द्वितीय खड)—संग्र. मा. बिहारी लाल, संपा. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. ३९१, प्रका. सन् १९३४।

५८. वृहत्स्वयंभू स्तोत्र—ले. समन्तभद्राचार्य, टी. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृष्ठ ६१६, प्रकाशन सन् १९३२।

५९. सच्चे सुख का उपाय—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि० जैन मालवा प्रान्तिक सभा बड़नगर, पृ. २९, प्रका. सन् १९३२।

६०. सनातन जैनमत—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. प्रेमचन्द जैन देहली, पृ. ७४ प्रकाशन सन् १९२७।

६१. समाधिशतक टीका—ले. पूज्यपादाचार्य, टीका ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. प. फतहचन्द देहली, पृ. १७५, प्रका. सन् १९२२।

६२. सामयिक पाठ—ले. अमितगति आचार्य, अनु. ब्र. शीतलप्रसाद, प्रका. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. २४, प्रका. सन् १९२३ (कई सस्करण छपे)।

६३. सुखसागर भजनावली—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्रका. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. ४०२, प्रका. सन् १९१९ (कई संस्करण छपे)।

६४. सुलोचना चरित्र—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. ११५, प्रकाशन सन् १९२४।

६५. समयसार—ले. कुदकुन्दाचार्य, टीका ब्र. शीतल-प्रसाद, प्र. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. ३४२, प्रकाशन सन् १९१८।

६६. समयसार कलशा—ले. अमृतचन्द्राचार्य, हिन्दी टीका पांडे रायमल्ल, अनु. सपा. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. ३६६, प्रका. सन् १९३१।

६७. स्वतंत्रता का सोपान—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. मूल-चन्द किशनदास कापडिया सूरत पृ. ४१५, प्रका. सन् १९४४।

६८. स्वसमरानंद अथवा चेतन कर्मयुद्ध—संपा. ब्र. शीतल-प्रसाद, प्र. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. ८१, प्रकाशन सन् १९२३।

६९. सहज सुख साधन—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. मूलचन्द किशनदास कापडिया सूरत, पृ. ३९२, प्रका. सन् १९३३ (कई संस्करण छपे)।

७०. सहजानंद सोपान—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्रका. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. २७४, प्रका. सन् १९३७।

७१. संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक—संग्र. ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. हीरालाल जैन एम. ए. प्रयाग, पृ. १११, प्रकाशन सन् १९२३।

७२. सारसमुच्चय सार टीका—ले. कुलभद्राचार्य, टीका ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. दि० जैन पुस्तकालय सूरत, पृ. २३२, प्रका. सन् १९३७ (कई संस्करण छपे)।

७३. त्रिभंगी सार—ले. तारणतरण स्वामी टीका ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. सेठ मन्नूलाल जैन आगासोद पृष्ठ १३५, प्रका. सन् १९३९।

७४. ज्ञान समुच्चयसार—ले. तारणतरण स्वामी, टीका ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. सेठ मन्नूलाला जैन आगासोद पृ. ५०४, प्रकासन सन् १९३५।

७५. भूला पथिक—ले. स्व. ब्र. सीतलप्रसाद, प्र. अखिल भारतीय दि० जैन परिषद बडौत, पृ. २४, प्रकाशन सन् १९६६।

नोट :—जो पुस्तकें देहली की लायब्रेरियों, भडारो मे नहीं मिली परन्तु ब्र० जी द्वारा लिखी बताई जाती है उनके नाम इस प्रकार है।

१. जैन धर्म दर्पण। २. दश लक्षण धर्म।

३. सच्चे सुख की कुंजी। (सुख शाति की सच्ची कुजी)—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, प्रका. आत्मधर्म सम्मेलन सूरत, पृ. ३२, प्रकाशन सन् १९१७।

४. सच्चे सुख की सच्ची कुंजी।

अंग्रेजी मे ब्र० जी का साहित्य

१. Acomparative study of Jainism and Budhism ले० ब्र० शीतल प्रसाद, प्र० दी जैनामिशन सोसाइटी मदरास, पृ. २०४, प्रकाशन सन् १९३४।

१. Jainism A Key true Happiness—लेखक ब्र० शीतल प्रसाद, प्रकाशन दि० जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी महावीर जी जयपुर, पृष्ठ १३३ प्रकाशन सन् १९६१।

३. **गोमट सार (कर्मकांड भाग २)**—ले. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अनुवादक, बैरिस्टर जुगमन्दरदास सहायक ब्र. शीतल प्रसाद, प्रकाशक सेन्ट्रल जैन पब्लिशिग हाउस लखनऊ पृष्ठ ४२३ प्रकाशन सन् १८३८।

सहायता दी

४. **नियमसार**—लेखक कुन्दकुन्दाचार्य, अनुवादक उग्रसेन जैन एम० ए० एल० एल० बी० सहायक ब्र० शीतलप्रसाद प्रकाशक सेन्ट्रल जैन पब्लिशिग हाउस लखनऊ पृष्ठ ८८ प्रकाशन सन् १८३१।

५. **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**—लेखक आचार्य उमास्वामी, अनुवादक क० जुगमन्दर लाल जैनी, सहायक ब्र० शीतल प्रसाद पृष्ठ २४० प्रकाशन सन् १९३० प्रकाशक कुमार देवेन्द्र प्रसाद आरा।

६. **समयसार**—लेखक कुन्दकुन्दनाचार्य, अनुवादक रा० ब० जुगमन्दर लाल जैनी एम० ए० सहायक ब्र० शीतल प्रसाद प्र० पंडित अजित प्रसाद एम. ए. एल. एल. बी. लखनऊ, पृष्ठ २१४ प्रकाशन सन् १९६०।

७. **आत्मानुशासन**—लेखक गुणभद्राचार्य अनुवादक रा० ब० जुगमन्दर लाल जैनी एम. ए. वार एटला, सहायक ब्र० शीतल प्रसाद, प्रकाशक प० अजितप्रसाद, एम. ए. एल. एल. बी. लखनऊ पृष्ठ ७५ प्रकाशन सन् १९२८।

८. **गोमटसार (जीवकांड)** लेखक नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अनु. रा. ब. जुगमन्दरलाल जैन, सहायक ब्र. शीतल प्रसाद प्रकाशक अजित प्रसाद एम. ए. एल. एल. बी. लखनऊ पृष्ठ ६४७ प्रकाशन सन् १९२७।

९. गोमट सार (कर्मकांड)—भाग १ लेखक नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अनु. रा. ब. जुगमन्दर लाल जैनी एम. ए. सहायक ब्र. शीतलप्रसाद, प्रकाशक अजितप्रसाद एल.एल.बी. लखनऊ पृ. २५५ प्र. सन् १९२७।

अनुवादित हुए

१०. आत्मधर्म—ले. ब्र. शीतलप्रसाद, अनुवादक चम्पतराय जैन प्रकाशक अनुवादक स्वयं पृष्ठ ६७ प्रकाशन १९३७ (कई सस्करण छपे)।

११. इष्टोपदेश—ले. पूज्यपादाचार्य, अनुवादक चम्पतराय जैन Discourse Divine प्रस्तावना में ब्र. शीतलप्रसाद के नाम का उल्लेख किया है हिन्दी टीका का प्रकाशक स्वयं पृष्ठ ४८ प्रकाशन १९२५।

जो पुस्तके लिखी गई परन्तु हमें नहीं प्राप्त हुई

१२. What is Jainism.

१७. २३ तीर्थङ्करों का चरित्र अंग्रेजी में लिखकर बैरिस्टर चम्पतराय को भेजा परन्तु छपा नही।

१४. वारह भावना का अंग्रेजी अनुवाद।

इस तरह ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने साहित्य की बड़ी भारी सेवा की है। जैन समाज को उनकी अमूल्य सेवा का मूल्यांकन करना चाहिए।

सम्पादकीय नोट

'गोलापूर्व जाति पर विचार' नाम के लेख मे श्री यशवन्तकुमार जी मलैया ने कुछ बातें ऐसी लिखी है जिनसे दूसरों को मतभेद हो सकता है। फिर प्रमाण न देने से वह प्रामाणिक नहीं बन सका। अतः उस पर यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

अग्रोहा से अग्रवालों का निकास हुआ है। अग्रसेन अग्रोहा के राजा थे, उनके १८ पुत्रों के नाम से १८ गोत्र बतलाये जाते है। वे लोहाचार्य के उपदेश से जैनधर्म मानने लगे थे। ये काष्ठा संघ के अनुयायी थे। उन्होने राजा का नाम बाद में कल्पित नहीं किया। किन्तु अग्रोहा उनका निकास स्थान था। उसे कल्पित नही कहा जा सकता।

गोलापूर्वोंकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए, जो यह कल्पना की है कि इक्ष्वाकु वशी होने से गोलापूर्व, गोलालारे और गोल सिंघारे तीनों एक है। गोलालारे और गोलसिंघारे दोनों गोला पूर्वो की शाखा है उचित नहीं कहा जा सकता, यदि इक्ष्वाकुवंश को उपजातियों ने अपनी प्रतिष्ठा एवं गौरव के लिए अपना लिया हो, तो इक्ष्वाकुवंशी मात्र कहने से उनका एकत्व सिद्ध नहीं होता और न वे गोलापूर्वो से कभी मिले वा अलग ही हुए हैं। वे तीनों उपजातिया स्वतन्त्र है। कोई किसी का अंश नही है, ऐसा उपलब्ध सामग्री के आधार से कहा जा सकता है। बिना किसी पुष्ट प्रमाण के यह कल्पना निराधार जान पड़ती है। किसी उपजाति की संख्या कम होना भी इस बात का द्योतक नहीं हो सकता कि अमुक बड़ी जाति का भेद है, या उससे वह पृथक् हुई है। दूसरे गोलालारे, गोलसिंघारो की संख्या का कोई निर्धारण नहीं किया गया जिससे उनकी अल्पता का प्रामाणिक चित्र खीचा जा सके। उनके अल्प होने की कल्पना आनुमानिक है। दूसरे गोलापूर्वादि किसी जाति में ऐसी कोई शक्ति भी नही दिखाई देती, जिससे वह किसी दूसरी उप जाति को अन्तर्मुक्त कर सके।

देश में अनेक उप जातियाँ रही हैं, जिनके निकास का इतिवृत्त भी अनुपलब्ध है। उनका गठन अनेक ग्रामो, नगरों और कार्यादि पर से किया गया है। उनमें अनेकों का उल्लेख मिलता है, वे जाति अब नही मिलतीं। पर किसी समय वे महत्व की रही हैं, सहल वाल जाति के अनेक मूर्ति लेख मिलते है। पर मुझे उनके अस्तित्व का पता ज्ञात नही है। धर्कट जाति बड़ी धर्मात्मा रही है, पर आज कोई धर्कट जाति का व्यक्ति दिखाई नही देता, इसी तरह अन्य अनेक उप जातिया है, जिनका अस्तित्व होते हुए भी उनका इतिवृत्त नहीं मिलता।

उप जातियाँ कैसे बनी? यह विचारणीय है। अधिकतर उप जातियों का निकास भट्टारकों, साधुओं या महापुरुषो के निमित्त से उपदेशादि द्वारा धर्म परिवर्तन तथा बिना किसी परिवर्तनादि के द्वारा ग्रामों, नगरो व कार्यों आदि पर से हुआ है। जैसा कि कविवर बनारसीदास के अर्ध कथानक से स्पष्ट है :—

> **याही भरत सुखेत मैं मध्यदेश शुभ ठाँव।**
> **बसै नगर रोहतगपुर निकट बिहोली गांउ ॥**
> **गांउ बिहोली में बसै, राजवंश रजपूत।**
> **ते गुरुमुख जैनी भए, त्यागि करम अघभूत ॥**
> **पहिरी माला मंत्र की पायो कुल श्रीमाल।**
> **थाप्यो गोत्र बिहोलिया, बीहोली रखपाल ॥**

—अर्ध कथानक पृ० २

रोहतक के निकट विहोली नामक एक गांव था, उसमे राजवशी राजपूत रहते थे। वे गुरु के उपदेश से अघभूत कर्म छोड़कर जैनी हो गये और नमोकार मन्त्र की माला पहिन कर उन्होने श्रीमाल कुल और बीहोलिया गोत्र प्राप्त किया।

अत: हमें उप जातियों के सम्बन्ध मे विस्तृत अध्ययन कर उनके सम्बन्ध मे प्रामाणिक आधार देकर विचार करना चाहिए। आशा है मलैया जी इस सम्बन्ध में अनुसन्धान करेगे और उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार कर लिखेगे। लिखने से पहले अपने विचारों के अनुकूल प्रमाणों का संकलन प्रामाणिक रूप से करना उचित होगा, झट-पट कल्पना करने से उनकी प्रामाणिकता नही रहती।

—परमानन्द शास्त्री

साहित्य-समीक्षा

१. जैन धर्म में अहिंसा—लेखक डा० वशिष्ट नारायण सिन्हा सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति अमृतसर। पृष्ठ स० ३१२ प्राप्ति स्थान पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी। मूल्य बीस रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक एक शोध प्रबन्ध है, जो बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से पी. एच. डी. के लिये स्वीकृत हो चुका है। पुस्तक पाच अध्यायो मे विभक्त है। १ जैनेतर परम्पराओ मे अहिंसा, २ अहिंसा सम्बन्धी जैन साहित्य, ३ जैन दृष्टि मे अहिंसा, ४ जैनाचार और अहिंसा, ५ गाधीवादी अहिंसा और जैन धर्म प्रतिपादित अहिंसा।

लेखक ने प्रथम अध्याय मे जैनेतर परम्पराओ मे अहिंसा का विवेचन किया है। इसमे महाभारत ग्रथ की महत्ता ज्ञात होती है। लेखक ने लिखा है कि शान्ति पर्व मे एक जगह कहा है कि क्षत्रिय कोई गृहस्थ हिंसा का त्याग कर ही नही सकता। सुखशान्ति प्राप्त करने के अर्थ यह आवश्यक है कि दूसरे को कष्ट दिया ही जाय, किन्तु इसी पर्व मे अन्यत्र अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि की है। लेखक ने यह भी लिखा है कि शान्ति पर्व उस हालत मे मास भक्षण की अनुमति देता है जब प्राण सकट मे हो। किन्तु किसी भी हालत मे धर्म के नाम पर यज्ञ मे पशु बलि का विधान शान्ति पर्व मे नही है।

लेखक ने यह भी लिखा है कि यद्यपि सभी वैदिक दर्शनो ने वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, इस सिद्धान्त को अपनाया है। परन्तु साख्य ने इसकी कडी आलोचना की है। वैष्णव परम्परा के रामानुजाचार्य बल्लभाचार्य आदि ने भी वैदिक यज्ञो को शुद्ध माना है क्योकि उन मे मारा गया पशु स्वर्ग जाता है

सिक्खो मे भी महाप्रसाद मे मास चलता है। लेखक का मतव्य है कि माँस लोलुप सिक्खो ने गुरु साहब का आशय ठीक नही समझा। गुरु साहब का अभिप्राय था कि यदि कोई मास खाये बिना नही रह सकता तो ऐसी हालत मे स्वय किसी पशु का वध करके उसका मांस भक्षण करे ताकि पशु की हत्या करते समय उसके मन मे दया भाव जग सके। गुरु ग्रथ साहब मे कहा गया है—

जो रत लोग कपडे जाया होए पलीत।
जो रत पीवे मासा तिन क्यों निर्मलचीत।

अर्थात जो रक्त या खून लग जाने से वस्त्र गन्दा हो जाता है, तब रक्त से सना मास खाने से चित्त निर्मल कैसे हो सकता है? यह कथन अहिंसा का पोषक है।

इस अधिकार मे लेखक ने निष्पक्ष भाव से सभी धर्मों का विश्लेषण किया है। जैन दृष्टि से अहिंसा के विवेचन मे लेखक ने अनुकम्पा दान के सम्बन्ध म तेरा पथी श्वेताम्बरो के मत का निर्देश किया है। कि वे अनुकम्पा दान से एकान्त पाप मानते है। किन्तु जवाहरलाल जी महाराज ने उसका खडन किया है और बतलाया है कि अनुकम्पा दान एकान्त पाप का साधन नही है किन्तु पुण्य का साधन है।

महावीर के उत्तर कालीन अहिंसा का विवेचन करते हुए लेखक ने कहा है कि महावीर के बाद अहिंसा मे बहुत अपवाद आ गए। निशीथ भाष्य या चूर्णि मे कहा है कि यदि कोई शत्रु आचार्य का वध या साध्वी के साथ बलात्कार करना चाहे तो उसकी हत्या करके आचार्य की रक्षा करना चाहिये।

गाधीवादी अहिंसा का विश्लेषण करते हुए लेखक ने गाधी जी के वचनों को उद्धृत करते हुए दया और अहिंसा के सम्बन्ध मे लिखा है कि गाँधी जी ने दया और अहिंसा मे उतना ही अन्तर बतलाया है जितना सोने और उससे बने गहनो मे या बीज और वृक्ष मे है। दया के बिना अहिंसा नही हो सकती।

लेखक ने सभी धर्मों की अहिंसा पर मध्यस्थ दृष्टिकोण से विचार किया है। विषय की दृष्टि से पुस्तक पठनीय है अभिनन्दनीय है पाठको को मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

—परमानन्द शास्त्री

R. N. 0591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूपित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य ·२५

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपडे की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

5212/3

द्वै मासिक

वर्ष २५ : किरण ३ | अगस्त १९७२

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र



देवगढ़ की तीर्थंकर मूर्तियां

विषय-सूची

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के सभी ग्राहकों का मूल्य गत किरण ६ के साथ समाप्त हो गया है। २५वें वर्ष की तीसरी किरण भेजी जा रही है। अतः ग्राहकों से सानुरोध निवेदन है कि वे अनेकान्त के २५वें वर्ष के ६) रुपया मनी आर्डर से भिजवा कर अनुगृहीत करें। जिन्होंने अभी वार्षिक मूल्य के ६) रुपया नहीं भिजवाए हैं वे शीघ्र ही भिजवाने की कृपा करें। अन्यथा अगला अंक ७-५० की वी. पी से भेजा जावेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्
का
स्वर्ण जयन्ती समारोह

शनिवार, रविवार दिनांक ६ व ७ जनवरी ७३ को कोटा (राजस्थान) में होना निश्चित हुआ है।

जैसा कि आपको विदित ही है कि यह समारोह १ व २ अक्टूबर को हो रहे थे। छात्रों द्वारा हिंसक उपद्रवों के कारण स्थगित करने पड़े।

जैन समाज की सभी संस्थाओं, आदरणीय महानुभाव विद्वान, एवं कार्यकर्ताओं से प्रार्थना है कि वह अपने कार्य-क्रमों से इन तिथियों को बचाकर रखें, जिससे कि आप इस समारोह में सुगमता से भाग ले सकें।

निमंत्रणादि यथा समय प्रेषित किये जायेंगे।

—प्रार्थी—

जम्बू कुमार जैन	सुकुमार चन्द्र जैन
स्वागताध्यक्ष	प्रधानमन्त्री
स्वागत समिति जैन भवन	अ० भा० जैन परिषद्
स्टेशन रोड, कोटा (राज०)	२०४, दरीबाकला, दिल्ली
दूरभाष : ४०२७, ८१६	दूरभाष : २७७६४७

दिनांकः २६-१०-७२

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष २५ किरण ३	वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ वीर निर्वाण संवत् २४६८, वि० सं० २०२६	जुलाई-अगस्त १६७२

अर्हत-परमेष्ठी-स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात्-
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते ।
तस्मात्साम्य मथात्मबोधनमतोजातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ॥३

—पद्मनन्द्याचार्य

अर्थ—जिस अरहंत परमेष्ठी के परिग्रहरूपी पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अरहंत परमेष्ठी के विद्वानों द्वारा द्वेष की संभावना भी नहीं की जा सकती है। इसीलिए रागद्वेष रहित हो जाने के कारण उनके समता भाव आविर्भूत हुआ है। अतएव कर्मों के क्षय से अर्हंतपरमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणों के आश्रय को प्राप्त हुए हैं। वे अर्हंतपरमेष्ठी सर्वदा आप लोगों की रक्षा करें।

———

मुक्तक काव्य (अध्यात्म दोहावली)

अध्यात्मी पांडे रूपचन्द

(गत किरण २ से आगे)

अपने रस जो (में) लवण ज्यों, विश्व विषैं चिद्रूप ।
शुद्ध बुद्ध आनन्द मैं, जानहुँ वस्तु स्वरूप ।। ६५
मैन गयो गलि मूसि मैं, वारिषु अंबर होय ।
पुरुषा कार जु ज्ञान में, वस्तु सुजाने कोय ।। ६६
वस्तुत्व-मिव चैतन्य मैं, लियैं छिपैं जो नांहि ।
जदपि सु नव तत्त्वनि मिल्यो, मिलै न काहू मांहि ।। ६७
तनु-मन-वचन अगम्य है, इन्द्रियनि तैं पुनि दूरि ।
वस्तु सु अनुभव ज्ञान के, गम्य कहे निज सूरि ।। ६८
वस्तु सुजानहु जिहि विषै, गुन-परजय सहवासु ।
अरु जिहिं संतत ही घटै, थिति उत्पत्ति विनासु ।। ६९
सहभावी गुन जानिए, वस्तु विधानु जु काय ।
क्रमवर्ती परजय कह्यो, वस्तु विकारु जो सोय ।। ७०
उपजै बिनु जो ऊपजै, नाशै बिनु जु नशाय ।
जैसो को तैसो रहै, वस्तु सु प्रति परजाय ।। ७१
नित्या नित्यादिक विविध ! धर्ममय जु नरु आहि ।
झगरत विमल जि रूप के, अंध दन्ति विधि ताहि ।। ७२
नय विभाग बिनु ग्रन्थ ते, कल्पित जुगति बनाय ।
वस्तु स्वरूप न जानहीं, मरत बहिर मुख धाय ।। ७३
अनेकान्त मत वादिनी, जिन वानी जु रमाय ।
नित्या नित्यादिक घटा, ताके हृदय समाय ।। ७४
जिन वाणी तप भेद कै, धावै दोऊ पक्ष ।
ता बिनु मुनि चित मोह क्यों, लखतै वस्तु अलक्ष ।। ७५
व्यंजन पर्यय नित्य जो, निहचैं नय समवाय -
व्यवहारैं सु वस्तु है, क्षणिक अर्थ परजाय ।। ७६
निहचै तप जो वस्तु है, ज्ञायक रूपें एकु ।
दर्शन ज्ञान चरित्र कै, व्यवहारे सु अनेक ।। ७७
अमूरतीक स्वभाव कै, निहुँच के जु विचारु ।
मूरतीकु सो बाधते, वस्तु कह्यो विवहार ।। ७८
निहचै तप परभाव कै, करता भुक्ता नाहि ।
व्यवहारैं घटकार ज्यों, सुकरै भुगतै नाहि ।। ७९
शुद्ध निरञ्जन ज्ञानमय, निहचै नय जो कोय ।
प्रकृति मिले व्यवहार कै, मगन रूप है सोय ।। ८०
निहचै नय न प्रमत्तजो, अरु अप्रमत्त न होय ।
गुण संज्ञा व्यवहार सों, पावै जानक सोय ।। ८१
निहचै मुकत स्वभाव तैं, बन्ध कह्यो व्यवहार ।
एव मादि नय जुगति कै, जानहु वस्तु विचार ।। ८२
नय-प्रमाण निक्षेप के, परखि गहहु निज वस्तु ।
चिन्तामणि ज्यों कर चढ़ैं, त्यों कर चढ्यो समस्त ।। ८३
जिहि देखैं सब देखिए, जाये सब जिहि जानि ।
जिहि पाये सब पाइये, लेहु न तबहि पिछानि ।। ८४
चेतन चित परचय बिना, जप तप सबै निरत्थु ।
कण बिनु तुष जिमि फटक तैं, आवै कछु न हत्थु ।। ८५
चेतन सो परच्यो नही, कहा भर व्रत धारि ।
सालि विहूनै खेत की, वृथा बनावत बारि ।। ८६
तौ लगि सब रुचत हैं, अरु सब विषय कहानि ।
ज्यों लगि चेतन तत्त्व सो, नहीं कहूँ वच हानि ।। ८७
बिना तत्त्व परिचै लगत, अपरभाव अभिराम ।
ताम और रस रुचत हैं, अमृत न चाख्यो ताम ।। ८८
सुने परिचये अनुभवे, बार-बार परभाव ।
कबहुँ भूलि न परिचये, ज्ञायक शुद्ध स्वभाव ।। ८९
कहा कहा न भई, तुम्हें, सुर नर पद की रिद्धि ।
पर कबहूँ भूलि न भई, चेतन के बल सिद्धि ।। ९०
अनादि दर्शन मोह तै, रही न सम्यक् दृष्टि ।
तातैं चेतन तत्त्व सों, भई न कबहूँ धृष्टि ।। ९१
जो लगि मोह न उपश मैं, सति जति का लैं पाय ।
तौ लगि निर्मल दृष्टि बिनु, तत्त्व न जान्यो जाय ।। ९२
ग्रन्थ पढ़ै अरु तप तपैं, सहैं परीषह मांहि ।
केवल तत्त्व पिछानि बिनु, कहूँ नही निरवाहि ।। ९३
चेतन तुम जु अनादि तैं' कर्म कर्म यहि फेरि ।
समल अमल जल ज्यों भरे, सहत स्वभावहि मेटि ।। ९४

(शेष पृ० ६३ के नीचे)

विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के पुरातत्त्व संग्रहालय की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएँ

डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य एम. ए. पी-एच. डी.

प्राचीन भारतीय मूर्ति कला के क्षेत्र में मालव भूमि का विशिष्ट महत्व है। सांची, धार, दशपुर (मंदसौर), बदनावर, कानवन, बड़नगर, उज्जैन, मक्सी, नागदा, भौंरासा, देवास, आष्टा, कायथा, सीहोर, सोनकच्छ, गंधावल, नेवरी कन्नौद, सुन्दरसी' बागली, जावरा, नीमथूर, बड़वानी, झारड़ा, करेडी, जामनेर, गोंदलमऊ, आगर, नलखेडा, महीदपुर, बिलयांक आदि ऐसे कला केन्द्र हैं जहां ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओं के साथ जैन धर्म की मूर्तियां मिलती हैं। साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर तो चंडप्रद्योत ने स्वयं जैनधर्म में दीक्षित होकर महावीर की चन्दन निर्मित मूर्तियों को उज्जयिनी, दशपुर एवं विदिशा में स्थापित किया था।[1] उज्जैन के गढ़ उत्खनन (१९५३-५४) से प्रद्योत निर्मित काष्ठ प्राचीर के अवशेष तो मिले हैं, परन्तु ईसापूर्व की शताब्दियों से सम्बन्धित किसी जैन प्रतिमा के पुरातात्विक प्रमाण नही मिले।

ईसा की प्रथम शताब्दी में मौर्य वंश के कुणाल व संप्रति नामक शासकों का उज्जयिनी पर आधिपत्य ग्रहण व तत्पश्चात् यहीं से जैनधर्म के प्रचार की सूचनाएं जैन आगम ग्रन्थ देते हैं। डा० देव का कहना है कि जो कार्य व श्रम अशोक ने बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए किया था वही जैन धर्म के प्रचारार्थ उज्जयिनी के संप्रति ने किया था। (देखें-जैन मोनाकिज्म, पृष्ठ ९४) संप्रति ने उज्जयिनी में अनेक जिन मंदिरों का निर्माण करवाया व मूर्तियों की स्थापना की। जैन आगम ग्रन्थ संपत्ति को 'जैन धर्म कुसुम, कहते थे। शकों के साथ कालकाचार्य का प्रसिद्ध कथानक जुड़ा हुआ है, और अब इधर के सिक्कों की प्राप्ति से यह प्रमाणित हो चुका है कि हमुगभ, वाकाट, सोम आदि शक नरेश उज्जयिनी में प्रारम्भिक शक शासक थे जिन्हें कालकाचार्य नामक जैन मुनि ने गर्द्ध भिल्ल नामक इन्द्रियासक्त शासक से अपनी बहन सरस्वती को बचाने हेतु शक स्थान से निमंत्रण देकर बुलाया था।[2] इन्हीं शकों का उच्छेदन विक्रमादित्य नामधारी व्यक्ति ने ५७ ई. पू. में किया था जिसे जैन आगम ग्रन्थों में जैन धर्मानुयायी कहा गया है।

सिद्धसेन दिवाकर के विषय मे कहा जाता है कि इन्होंने उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर की शिव प्रतिमा को जिन प्रतिमा में परिवर्तित कर दिया था। क्षपणक को कुछ विद्वानों ने सिद्धसेन दिवाकर से तदात्म्य किया है। विक्रम नामधारी गुप्त शासकों के ९ रत्नों मे ये प्रसिद्ध थे। परन्तु उज्जैन के जैनावशेषों में १०वीं शताब्दी के पूर्व के किसी भी प्रतिमावशेष के प्रमाण नहीं मिले हैं।

साहित्यिक प्रमाणों मे उज्जैन में जैनधर्म के पर्याप्त विकास के अनेक उल्लेख प्राप्य हैं जिनसे प्राचीन भारत की प्रमुख नारियों की भांति उज्जयिनी में भी यह धर्म पूर्णरूपेण प्रचलित था।

परन्तु प्रस्तुत विवरण में उज्जैन के विश्वविलद्याय में नवनिर्मित पुरातत्व संग्रहालय की 'तीर्थंकर वीर्था' में विद्यमान प्राचीन तीर्थंकर प्रतिमाओं का वर्णन लिया गया है। अतः उसी तक सीमित रखा गया है।

विक्रम विश्वविद्यालय का पुरातत्व संग्रहालय प्राचीन मालवा व उज्जयिनी के अवशेषों से सम्पन्न है। नगर के प्रमुख जैनावशेष सुरक्षा प्रेमी व जैन संग्रहालय के उत्साही कार्यकर्त्ता श्री सत्यंधर कुमार जी सेठी के आग्रह से संग्रहालय में एक 'तीर्थंकर वीर्था' का निर्माण किया गया

१. त्रिषष्ठि शलाका, पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग २, पृ० १५७।

२. जर्नल ऑफ इण्डियन न्यूमेसमेटिक सोसाइटी, १९७१, के. डी. वाजपेयी का लेख।

जिसमें प्राचीन उज्जयिनी से प्राप्त ६७ तीर्थङ्कर प्रतिमाओं को काल क्रमानुसार रखा गया। संग्रहाध्यक्ष श्री विष्णु श्रीपद नाकणकर ने इनको एकत्रित करने में पर्याप्त श्रम किया। श्री भाटी जी ने आखलेश्वर नामक स्थान से, जो शिप्रा तट पर कालियादह नामक स्थान के क्षेत्रफल मे हैं, एक विशाल जैन तीर्थंकर प्रतिमा को नदी के अथाह जल मे निकालकर विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय को प्रदान की।

उज्जैन में एक अन्य वृहद् जैन मूर्ति संग्रहालय है जो "जयसिंह पुरा जैन मूर्ति संग्रहालय" के नाम से प्रसिद्ध है। वह संग्रहालय जैन पुरातत्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यहाँ प्रतिवर्ष अनेक शोधकर्ता जैन प्रतिमाओं का अध्ययन करने आते है। इस संग्रहालय मे प्राचीन मालवा-प्रदेश की एकत्रित जिन मूर्तियाँ है। ज्ञानपीठ के सौजन्य से इस संग्रहालय को व्यवस्थित करने का कार्य लगभग डेढ वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया गया। ज्ञानपीठ के प्रमुख लक्ष्मीचन्द्र जी जैन व कार्यकर्ता श्री गोपीलाल जी 'अमर' ने इस दिशा में विशेष रुचि लेकर पूर्ण संग्रहालय की जैन प्रतिमाओ को ऐतिहासिक काल क्रम में रखने, उन पर क्रमांकीकरण करने और यहाँ की लगभग ५१३ प्रस्तर एव कास्य प्रतिमाओं का 'केटलाग' बनाने का कार्य मुझे सौंपा। 'केटलाग' ज्ञानपीठ की ओर भेजा जा रहा है जो महावीर भगवान के ढाई हजार वर्ष के समारोह पर प्रकाशित किया जायेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण मालव प्रदेश की जैन प्रतिमाओ का विवरण, कला सौन्दर्य व उनकी जैन प्रतिमा विज्ञान के ग्रन्थो पर पहचान, नाप, अभिलेख आदि विवरण रखा गया और यह जैन शोधकर्ताओं के लिए प्रमुख क्षेत्र बना।

विश्वविद्यालय मे स्थित तीर्थङ्कर प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

मूर्ति क्रमांक २०६ में आदिनाथ का अकन है। इस सर्वतोभद्र प्रतिमा में जटाए कन्धों तक है जिन्हें कर्ण भी कहा जा सकता है। पद्मासन मे ध्यानस्थ आदिनाथ दोनों हाथ गोदी में रखे हुए है। आकार २६×२०×१० से० मी० व प्रतिमा संगमरमर की है। १२वीं शताब्दी की जैन प्रतिमा पारदर्शी झीने वस्त्र पहने है। पाद स्थल पर पद्म का है व पुष्प अलंकरण है। संग्रहालय मू. क्र. २०७ मे जेरपर (Jarper) निर्मित मुनि सुव्रतनाथ की प्रतिमा है। वाहन या पादस्थल पर कच्छप उत्कीर्ण है। प्रतिमा मे पद्मासन व ध्यान मुद्रा है। प्रभा मडप मे चपक वृक्ष है व दोनो ओर वरुण यक्ष व नरदत्ता यक्षिणी है जो ललितासन मे है। इस प्रस्तर फलक का आकार ६६×२२×१० से० मी० का है। प्रतिमा प्राप्ति का स्थान कठाल है जिसे मेडम क्राउभे ने 'कान्तारवन' कहा है (देखे विक्रम स्मृति ग्रन्थ में लेख-उज्जैन में जैन धर्म) प्रतिमा के पाद स्थल पर दो पक्ति का अभिलेख है—कुछ अस्पष्ट रूप से 'आचार्य श्री विजयराज सूरि विराजिता', अंकित है। लिपि पूर्णतया परमार काल के अन्तिम समय की है अर्थात् १४१५ ई० के आस-पास मे स्थापित की गई।

आठवे (तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की प्रतिमा विशेष कलात्मक है। पद्मासन मे ध्यान मुद्रा मे यह संगमरमर की प्रतिमा है, नीचे चिन्ह चन्द्रमा उत्कीर्ण है। आकार २५×१८×११ से० मी० है व उज्जैन के हासामपुरा से उपलब्ध हुई है। श्री वत्स लांछन है व ध्यानमग्नता का भाव अंकित है। इसका क्रमांक २०८ है।

तत्पश्चात् मूर्ति क्रमांक २०९ व २१० में पार्श्वनाथ व ऋषभनाथ अंकित है। सप्तफण छाया व अन्य पर वृषभाकृति से यह पहचानी जाती है। दोनों काले सलेटी पत्थर से निर्मित है। आकार २६×२४×१० से० मी० है। दोनों ही अवति सुकुमाल का जैन मन्दिर (खारा कुआ-उज्जैन) जहाँ स्थित है उसके पीछे के खण्डहर में नवनिर्मित मकान की नींव खुदाई के समय उपलब्ध हुई। अब ये विश्वविद्यालय के संग्रहालय में 'तीर्थङ्कर दीर्घा' मे प्रतिष्ठित है।

अगली तीर्थङ्कर प्रतिमा है ४४×३३×२० से० मी० के आकार की पार्श्वनाथ मूर्ति जिस पर अभिलेख अंकित है। पद्मासन मे ध्यानस्थ मुद्रा मे प्रतिमा सुन्दर मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रतिमा संगमरमर की है और लिपि के अनुसार १५वी शताब्दी के अंतिम शतक में निर्मित है।

अगली १० प्रतिमाएं, सर्वतोभद्र महावीर की मूर्तियां हैं जिन पर पारदर्शी वस्त्र है अतः श्वेताम्बर धर्म की प्रतिमा है। सभी प्रतिमा मे महावीर पद्मासन में ध्यान-मग्न मुद्रा मे अंकित हैं। प्राप्ति स्थल उज्जैन की नयापुरा बस्ती है जहाँ आज भी अनेक जैन मन्दिर स्थित है।

मूर्ति क्र. २२७ मे प्रस्तर फलक का ऊपरी भाग है और शेष भग्न है। ऊपर तीर्थङ्कर शीर्ष पर पूर्ण घट लिए अभिषेक रत हाथी, किन्नर, वादक मडल, व दोनो कोनो में पद्मासन में अन्य दो तीर्थङ्कर अंकित हैं। इसका आकार २३×२४×२३ से० मी० का है। एक अन्य भव्य तीर्थङ्कर प्रतिमा ८५×६६×३३ से० मी० के आकार की है। सीवत्स लांछन व संगमरमर का बारीक कार्य दृष्टव्य है।

क्र० २२८ में पद्मप्रभु की ध्यानमग्न तीर्थङ्कर प्रतिमा है आकार ७३×५७×३२ से० मी० है। यह जवास नामक स्थान से मिली है। काले पत्थर मे यहाँ प्रतिमा है व दो पक्तियों का अभिलेख है जिससे १३वीं शताब्दी मे निर्मित होना स्पष्ट होता है। इस प्रतिमा के नीचे निम्न-लिखित अभिलेख अंकित है :—"संवत १२२३ वर्ष माघ सुदी ७ भौमे श्री मूलसघ···श्री विशालकीर्तिदेव तस्य शिष्य रत्नकीर्ति श्री मेडतवालान्वये। नये सा० भोगा भार्या सावित्री पुत्र मखिल भार्या बिल्हन पुत्र परम भार्या पद्मावती व्याप्त विणि पुत्र ··· प्रणमति नित्यम्॥ प्रतिमा के वक्ष पर श्री वत्स चिह्न उत्कीर्ण है।

अगली तीर्थङ्कर प्रतिमा में महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा मे हैं व खड्गासन में अंकित हैं। आकार है ७२×६६×३० से० मी०।

संग्रहालय में चक्रेश्वरी देवी की ३ प्रतिमाए हैं। एक अन्य प्रस्तर फलक पर केवल पाद स्थल ही शेष है ऊपर प्रतिमा का भाग भग्न है। नीचे स्वास्तिक उत्कीर्ण है अतः सुपार्श्वनाथ (सातवें तीर्थङ्कर) की प्रतिमा है यह पहचान होती है। शिरीषवृक्ष की छाया व सर्प फण सुस्पष्ट हैं।

इस प्रकार संग्रहालय की जैन तीर्थङ्कर प्रतिमाओं से जैन धर्म का व्यापक विस्तार ज्ञात होता है। कला की दृष्टि से इन पर चदेल शैली व परमार शैली का मिश्रण है। परमार कला में निर्मित गोलाकार मुख व सुचिक्कणता विशेषकर रही और यही इन प्रतिमाओं पर अंकित है।

(पृष्ठ ९० का शेषांश)

भेद ज्ञान अरु कतक फल, सद्गुरु दियौ बताइ।
चेतन निर्मल तत्त्व यहु, सम तब केतिकु पाइ॥ ९५
गुरु बिन भेद न पाइये, को पर को निज वस्तु।
गुरु बिन भवसागर विषै, परत गहै को तत्थु॥९६
जो गुन भीजै गुरुन के, तो जन होवै सिद्ध।
लोहा कंचन हेम ज्यौं, कचन रस के विद्ध॥९७
गुरु माता अरु गुरू पिता, गुरु बन्धव गुरु मित्त।
हित उपदेशै कमल ज्यौं, विकसावै जिन चित्त॥९८
गुरु न लखायो मैं न लख्यौ, वस्तु रम्य पर दूरि।
मानसु सरम के नाल है, सून रह्यौ भरपूरि॥९९
रूपचन्द सद् गुरुनि की, जनि वलिहारी जाइ।
आपनु जे शिवपुर गए, भव्यनि पथ लगाइ॥१००

★

कलचुरि काल में जैन धर्म

शिवकुमार नामदेव (शोधछात्र)

भारत वर्ष के प्राचीन इतिहास में कलचुरि नरेशों का महत्वपूर्ण स्थान है। ६वीं शताब्दी में कृष्णराज ने माहिष्मती[1] में इस वंश की नीव डाली। तत्पश्चात् ७वीं शताब्दी के अन्तिम काल में वामराल देव ने त्रिपुरी[2] में इस वंश की स्थापना की जो त्रिपुरी के नाम से विख्यात हुए। इस वंश में अनेक ऐसे प्रतापी नरेश हो गये हैं जिन्होंने अपने शौर्य में अन्य भूभागों को विजित कर अपने वंश के गौरव को बढ़ाया। इनकी अन्य शाखाएं सरयू पार कलचुरि दक्षिण कौशल के कलचुरि एवं कल्याण के कल चुरियों के नाम से इतिहास में विख्यात हैं।

पुरातात्विक एवं साहित्यक परिशीलन से कलचुरि काल में जैनधर्म की अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि कलचुरि नरेश शैव धर्मावलम्बी थे किन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप अन्य धर्म भी इस काल में खूब फले फूले।

कलचुरियों के काल में बौद्ध धर्म की भांति जैन-धर्म का भी प्रचार था। जैनधर्म की अपेक्षा अधिक समृद्ध था। स्व० पूज्य ब्र० शीतलप्रसाद जी ने 'कलचुरि' नाम का अन्वयार्थ उनके जैनत्व का द्योतक बताया है। उनका मत है कि कलचुरि नरेश जैन मुनिव्रत धारण करते और कर्मों को नष्ट करके शरीर बन्धन से मुक्त होते थे इसलिए वे कलचुरि कहलाते थे। 'कल' का अर्थ शरीर है जिसे वे चूर मूर (चूरी) कर देते थे। निःसंदेह कलचुरि वंश जैन धर्म का पोषक रहा था। उसके आदि पुरुष सहस्ररश्मि कार्तवीर्य ने मुनि होकर कर्म को नष्ट करने का उद्योग किया था।[3]

कलचुरि नरेश प्रारम्भ में जैन धर्म के पोषक थे। ५वीं ६वीं शताब्दी के अनेक पल्लव और पाण्ड्य लेखों में वर्णित है कि 'कलभ्र लोगों ने तामिल देश पर आक्रमण कर चोल, चेर एवं पाण्डवों को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया। प्रोफेसर रामस्वामी आयगर ने वेल्विकुडी के ताम्र पत्र तथा तामिल भाषा के पेरियपुराणम् से यह सिद्ध किया है कि कलभ्र प्रतापी राजा जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। इनके तामिल देश में पहुँचने से जैन धर्म की वहां बहुत उन्नति हुई। श्री आयंगर का अनुमान है कि कलभ्र कलचुरि नरेश जैन धर्म के पोषक थे। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उनका राष्टकूटों से घनिष्ट सम्बन्ध था। ये राष्टकूट नरेशों की जैन धर्मावलम्बी थे।

त्रिपुरी के कलचुरि एवं जैन धर्म—त्रिपुरी के कल-चुरि नरेशों के काल में जैन धर्म का प्रसार था। बहुरी बंद (जबलपुर) से एक विशाल जैन तीर्थङ्कर शांतिनाथ की अभिलेख युक्त मूर्ति प्राप्त हुई। जिससे ज्ञात होता है कि 'साधु सर्वहार के पुत्र महाभोज ने शांतिनाथ का मंदिर का निर्माण करवाया था। तथा उस पर सूत्रधार ने श्वेतछत्र का निर्माण कराया'।

इसके अतिरिक्त त्रिपुरी से प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति जबलपुर के हनुमान ताल जैन मन्दिर की ऋषभनाथ प्रतिमा, पनागर एवं सोहागपुर से प्राप्त अंबिका की प्रति-माएं एवं त्रिपुरी से प्राप्त चक्रेश्वरी मूर्ति के अतिरिक्त इस क्षेत्र से प्राप्त जैन मूर्तियों की बहुलता से जैन धर्म का व्यापक प्रभाव सिद्ध होता है।

आचार्य मिराशी का अनुमान है कि सोहागपुर में जैन मन्दिर थे। सोहागपुर में ठाकुर के महल में अनेक जैन मूर्तियां हैं। इससे स्पष्ट रूपेण कहा जा सकता है कि त्रिपुरी के कलचुरि नरेशों के काल में जैन धर्म बौद्ध की अपेक्षा अधिक समृद्ध था।

---

१. आधुनिक महेश्वर—खरगांव जिला (म० प्र०)
२. जबलपुर से ६ मील आधुनिक तेवर ग्राम।
३. संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खण्ड ४ (दक्षिण भारत का मध्यकालीन अंतिम पाद का इतिहास) कामता प्रसाद जैन पृ० ६।

दक्षिण कौशल के कलचुरि एवं जैनधर्म—दक्षिण कौशल के कलचुरियों के अभिलेखों में जैनधर्म का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। परन्तु उस क्षेत्र के अनेकों स्थल से प्राप्त जैन मूर्तियो से उस क्षेत्र में जैनधर्म के प्रसार एवं अस्तित्व का बोध होता है। जैन मूर्तियां, रतनपुर, मल्लार एवं आरंग स्थलों से प्राप्त हुई हैं।

कल्याण के कलचुरि एवं जैन धर्म—कल्याण के कल चुरि नरेशो के काल मे भी जैनधर्म का अस्तित्व प्रमाणित होता है। इस वंश के प्रमुख नरेश विज्जल एवं उनके अनेक राज कर्मचारी जैन धर्म के पोषक थे। सन् १२०० में कलचुरि राजमत्री रेचन्मय ने श्रवण बेलगोला में शांतिनाथ भगवान की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। विज्जल के काल मे जैन धर्म का अस्तित्व घट गया एवं लिंगायत संप्रदाय का प्राबल्य हुआ। 'बासव-पुराण' एवं विज्जल वीर चरित' मे जैन एवं शैव धर्मावलम्बियो के मध्य हुए सघर्ष का वर्णन है।

शैवों ने धर्म प्रचार हेतु हठयोग का आश्रय लिया। वे चमत्कारिक कृत्यों द्वारा जनता को मुग्ध करने लगे। उनमें एकांत रामय्य मुख्य था। उस समय अब्बलूर जैन धर्म का केन्द्र था। रामय्य ने जैनियों को सताया एवं उनकी मूर्तियों को तोड़ना प्रारम्भ किया। जैनियों द्वारा विज्जल से शिकायत की गई। विज्जल ने रामय्य को समझा कर एवं उसके सोमनाथ के मंदिर को कुछ भेट कर बिदा किया। इस मन्दिर में जैनो पर अत्याचार के चित्र भी उत्कीर्ण हैं।[४] किन्तु जैन धर्म इन अत्याचारों को भी सहन कर जीवित रहा, यह उसके सिद्धान्त की विशेषता थी।

विज्जल देव के राजत्व काल में जैनधर्म उन्नत रहा।[५] सम्राट् स्वयं धर्म की प्रभावना के लिए अग्रसर रहते थे। उन्होंने स्वय कई जैन मन्दिरों का निर्माण कराया[६]। उनका अनुकरण उनके सामंतों और प्रजा जनो ने किया था। वि. सवत १०८३ मे माणिक्य भट्टारक के निमित्त से कन्नडिगे मे एक जिन मंदिर बना था। सं० १०८४ में कीर्ति सेट्टि ने योन्नवति वेल हुगे और वेण्णे चूर में श्री पार्श्वनाथ के मदिर बनवाये थे।[७] कलचुरियों के शिलालेखों में जिन भगवान की मूर्ति यक्ष-यक्षणियों सहित अंकित रहने का वर्णन है।

लिंगायतों के वासव पुराण में लिखा है कि विज्जल के प्रधान बालदेव जैन धर्मानुयायी थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके भांजे वसव की प्रसिद्धि एव सद्गुणों से प्रभावित हो विज्जल ने उसे अपना सेनापति एव कोषाध्यक्ष नियुक्त किया। बासव ने अवसर का लाभ उठकार अपने धर्म प्रचार हेतु राजकोष का खूब रुपया खर्च किया। इस प्रकार विज्जल एवं वसव मे मनोमालिन्य बढ़ गया। विज्जल ने हल्लेइज एवं मधुवेय्य नामक दो जंगमो की आंख निकलवा ली। यह सुन वरुव कल्याणी से भाग गया परन्तु उसके द्वारा भेजे गये जगदेव नामक व्यक्ति ने विज्जल का अंत कर दिया।

---

४. मीडिवल जैनिज्म—श्री भास्कर आनंद पृ० २८१, जैनिज्म एन्ड कर्नाटक कल्चर—शर्मा १९४० पृ० ३५ से ३८।

५. विज्जल के समय जैन धर्म एक प्रमुख धर्म था—फ्लीट डाइनेस्टीज आफ कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स पृ० ६०।

६. मीडिवल जैनिज्म—श्री भास्कर आनन्द पृ० २८१, जैनिज्म एण्ड कर्नाटक कल्चर शर्मा पृ० ३५–३८।

७. जैन ऐण्टीक्वेरी ६, पृ० ६७–६८।

आहड़ के जैन मन्दिर का अप्रकाशित शिलालेख

श्री रामवल्लभ सोमाणी

आहड़ उदयपुर नगर के समीप स्थित है। यह प्राचीन नगर किसी समय बड़ा उन्नत था। जैन संस्कृति का यह केन्द्र रहा है। आज भी यहां ६ बड़े मध्यकालीन जैन मंदिर हैं। यहां खुदाई में ८वीं शताब्दी की जैन प्रतिमा भी मिली है जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय में केमिकल ट्रीटमेंट के लिये गई हुई है। यहां दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के मंदिर हैं प्रस्तुत लेख को सर्व प्रथम गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने देखा था और इसका संक्षिप्त अंश इन्होंने राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट में छपाया भी है। पूरा भाग अब तक अप्रकाशित है। लेख में केवल ५ पक्तियां ही मिली है। ऊपर का भाग भी कुछ टूटा हुआ है। लेख के प्रारम्भ में सम्भवतः अल्लट का वर्णन है। इसमें "देवपाल" को मारने का वर्णन है। यह प्रतिहार राजा देवपाल[1] था। प्रतापगढ़[2] का वि. स. ९९९ के शिलालेख में मेवाड़ के शासक भर्तृ पट्टको "महा-राजाधिराज" लिखा है और इसमें प्रतिहार राजा का नाम स्वेच्छा से छोड़ दिया है। जब कि इसी लेख के आगे के भाग प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल एवं उसके तंत्रपाल माधव द्वारा दान दने का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि प्रतिहारों और मेवाड़ के शासकों के मध्य अच्छे सम्बन्ध नही थे। राष्ट्रकूट[3] राजा कृष्ण के करहाड़ और देवली के लेखों में उल्लेखित किया है कि जब उसके दक्षिण के महत्वपूर्ण दुर्गों पर विजय प्राप्त कर ली तो प्रति-हार राजाओं के दिल में चित्तौड़ को वापस हस्त-गत करने की इच्छा समाप्त हो गई इससे प्रतीत होता है कि मेवाड़ के शासकों को राष्ट्रकूट राजाओं ने प्रतिहारों के विरुद्ध सहायता दी थी। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि अल्लट राजा की मां, और भर्तृपट्ट की रानी राष्ट्रकूट वंश की थी। आहड़ के वि सं० १००८ और १०१० के शिलालेख में वहां कर्नाट प्रदेश के व्यापारियों के निवास का भी उल्लेख किया गया है।

देवपाल का शासन काल बहुत ही अल्पकालीन रहा था। प्रतापगढ़ के वि सं० १००३ के लेख में महेन्द्रपाल का शासक के रूप में उल्लेख है। इसके वि सं० १००५के सियोडोनी के[4] लेख में देवपाल के उत्तराधिकारी का इस प्रकार देवपाल सं० १००४ में राज्यगद्दी पर बैठा और मेवाड़ के शासक अल्लट से युद्ध करते हुये यह वीरगति को प्राप्त हुआ। अल्लट के सारणेश्वर के मंदिर आहड़ के वि सं० १००८-१०१० के लेख में उसके अक्षपट्ट लिक का उल्लेख है। इसी अक्षपट्टलिक[5] मयूर के वशकों का यह प्रस्तुत लेख है। इसकी स्वामी शक्ति की प्रशसा की गई है। इसका पुत्र श्री पति-हुआ जो राजा नर वाहन के समय अक्ष पट्टलिक था। नर वाहन के शासनकाल का वि. सं. १०२८

---

१. ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास i पृ० १२४ का फुटनोट अल्लट के शासन काल मे श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में शास्त्रार्थ होने के वर्णन मिलते हैं।

२. एपिग्राफिया इण्डिका भाग १४ पृ० १७६-८६।

३. उक्त भाग ५ पृ० १५४। भाग ४ पृ० २८४।

४. उक्त भाग १ पृ० १६२-१७६।

५. "अक्षपट्टलिक" एवं उच्च राजकीय अधिकारी था। यह उच्च रेवेन्यू रेकार्डस एवं लेखा विभाग से सम्बन्धित था।

का एक शिलालेख[६] एक लिंग मंदिर से मिला है। श्रीपति के २ पुत्र मत्तट और गुन्दल हुये। ये दोनों राजा शक्तिकुमार[७] के समय उच्च पदों पर थे। शक्तिकुमार का शासनकाल का वि सं १०३४ का शिलालेख मिला है।

लेख आगे से भी कुछ खंडित है। ३ पंक्ति का प्रारम्भ का कुछ भाग और अन्त का पद श्लोक में ठीक नहीं बैठते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवत: आगे का भी कुछ खंडित हो।

लेख पढ़ने में सुन्दर खुदा हुआ है। लिपि बहुत ही सुन्दर है लेख पढ़ने में डा० दशरथ शर्मा और रत्नचन्द्र अग्रवाल से सहायता ली है अतएव मैं कृतज्ञ हूं।

लेख का मूल अंश

(खंडित)

(१) [दु]उर्द्धरमरि यो देवपाल बलात्। चचच्चंड गदाभिघात विदलद्वक्षस्थलं संयुगे। निस्त्रिंश क्षत कंधरोदरसिराबंधं कबंधं व्यधात्। अस्याक्षपटलाधीशो मयूरोमधुरध्वनिः। अभूद-भ्युद्धृतः स्वामी सत्पक्षः प्रभुशर्म्मिभृत्। उत्पत्तिः कुल भूषणाय विभवो दोनार्त(र्त्ति) विच्छि [त्त]

(२) ये। कर्म्म सकलं धर्माय शांतात्मनः प्रज्ञा शास्त्रविवेचनाय जनता त्राणाय शस्त्रग्रहः कायो यस्य परोपकारविधये सत्याय गीं. केवलम्॥ गभीरान्महतः श्रियोऽधिवसतेरतः स्फुरत्तेजसः। सत्वाद्याद्विबुधापभुक्तविभवा स्वच्छन्दमुक्तस्थितेः।

(३) म वपुस्तापार्ति भृत्प्राणिनां क्षीराब्धेरिवशी-तदीधितिर भूत्तस्मात्युतः श्रीपतिः। श्रीमदल्लट नराधिपात्मजो यो बभूव नर वाहनाह्वयः। सोध्यतिष्ठत पितुः पद सुधीश्चेतमक्षपटले न्यवेशयत्। दृष्टस्तेनात्मना तुल्यः स प्रकृत्या समाश्रितः कर(रु)णा निधि युंजाने····

(४) विप्रेभ्यो विधिवद्वितीर्ण्ण विभवाद्वैकुण्ठनि-ष्ठात्मनः शांताद्वाक्यपदप्रमाणविदुष(:) तस्मादभून्मत्तटः। सत्यत्यागपरोपकार करुणा सौ (शौ)र्य्यार्ज्जने(वै)क स्थितिः श्री मान्गुन्दल इत्य ××× हिमाभ्राता नुजोस्या-भवत्। तौ गुणातिशय शालिनावुभौ राजनीति-निपुणौ महो[जसौ]·····

(५) मन्त्रिस्वपि पदमावापूतः(पतू:) क्रमे[ण]। सर्व्व व्यापारकर्त्तारौ तौ द्वौ कटक भूषणौ राज्ञा शक्तिकुमारेण कल्पितौ स्वौ भुजाविव। एत-स्मिन्प्रणत क्षितोश्वर शिरश्चूडामणि ××× ××त पाद पंकजयुगे मन्वादि मार्गानुगे चद्रा-दित्यमरुत्कुबेरमघवद्वैवस्वता गि········ ×××

६. नरवाहन के शासन काल मे शैवों जैनों और बौद्धो मे शास्त्रार्थ हुआ था। दिगम्बर आचार्य समरचन्द्र ने जो षष्ठि शलाका पुरुष चरित ग्रथ के कर्त्ता थे इसमे भाग लिया था।

७. राजा शक्तिकुमार के राज्य में प्रसिद्ध ग्रंथ "जम्बूदीवपण्णत्ति" लिखी गई थी।

कार्य तीन परिणाम एक

कुम्भकार जंगल मे गया और मिट्टी खोदने लगा। मिट्टी ने सवेदना भरे शब्दों में कहा—भाई कुम्भकार! तू निर्दय होकर मेरे पर तीक्ष्ण प्रहार कर्ता हुआ मेरे अस्तित्व को ही कुरेद रहा है, पर सावधान रहना, एक दिन तुझे भी मेरे साथ मिलना पड़ेगा।

लकड़ियों का गट्ठर लाने के लिए एक लकड़हारे ने घर से प्रस्थान किया। यही उसकी आजीविका का मुख्य साधन था। सघन निर्जन वन में जाकर तीक्ष्णतम कुल्हाड़े से वृक्ष काटने लगा। तीखे प्रहार लगते ही पेड़ कराह उठा और रुदन के साथ पुकार उठा—लकड़हारे! अभी तो तू मुझे काट कर मेरे स्वर्णिम जीवन को समाप्त कर रहा है, पर याद रखना एक दिन तुझे भी मेरे साथ जलना पड़ेगा।

माली उद्यान में गया और सुकोमल कलियों को तोड़ने लगा। कलियों को यह सब कैसे सह्य हो सकता था। माली से तर्जना की भाषा में कलियाँ बोल पड़ीं—मालाकार! हमारे जीवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों हो रहा है? क्या हमारे जीवन का कोई मूल्य नहीं है। माली रुका नहीं, कलियों ने उष्ण नि.श्वास छोड़ते हुए कहा—माली! वह दिन भी दूर नहीं है, जब एक दिन तुझे भी हमारी तरह मुरझाना पड़ेगा।

पनागर के भग्नावशेष

कस्तूरचन्द जैन एम. ए.

मध्यप्रदेश में जबलपुर शहर से ११ मील दूर एक नगर आज भी प्राचीन वैभव के प्रतीक कतिपय अवशेषों को लिए हुए स्थित है। यहाँ मधू काछी के मकान के ठीक पीछे एक घेरे में कतिपय शिल्पावशेष विद्यमान है, जिनकी जैनेतर समाज द्वारा प्रतिदिन पूजा-अर्चा सम्पादित होती है। इस संग्रहालय में जैन अवशेषो की बहुलता है, जिनका अकन निम्न रूपेण प्राप्त होता है :—

देशी पत्थर पर अकित शिरविहीन पद्मासन मुद्रा मे एक प्रतिमा के गले की तीन रेखाए स्पष्ट दिखाई देती हैं। कन्धों पर केशराशि का अंकन है। प्रतिमा का आसन जबलपुर हनुमान ताल बड़े मन्दिर में विराजमान प्राचीन प्रतिमा के समान त्रिपुष्पाकृतियो से अलकृत है। पुष्पाकृतियों के नीचे दो सिंहाकृतिया दोनो ओर अकित है, जिनके मध्य एक वृषभाकृति भी दिखाई देती है।

प्रतिमा के दायें-बांये शासन देवताओ का अकन दिखाई देता है। एक ओर अलंकृत वेशभूषा मे एक नारी का अंकन है। दूसरी ओर भग्नावस्था मे एक मानवाकृति अकित है। केश राशि एव अंकित वृषभाकृति से यह प्रतिमा आदिनाथ की रही ज्ञात होती है। ऐसी प्रतिमाएँ बहुत कम देखने मे आई है जिनमे ऐसी दोनो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

द्वितीय प्रतिमा का केवल शिर ही शेष है। एक अवशेष भामण्डल, शिरोपरि त्रि-छत्र, एव उद्घोषक से युक्त है। एक ओर सवार से युक्त गजाकृति का अकन भी है।

प्रथम मूर्ति के समान ही अलकृत शिरविहीन एक ऐसी प्रतिमा है जिसके आसन मे चिन्ह स्थल पर एक नारी आकृति सी अकित दिखाई देती है। इस प्रतिमा के परिकर मे अंकित देवो के अकन से ऐसा ज्ञात होता है मानो उक्त आकृति नीलांजना की अंकित की गई हो और ऐसा दिखाकर मानो आदिनाथ की अविचल ध्यानस्थ मुद्रा को अकित किया गया हो।

एक प्रतिमा का आसन मात्र शेष है। इस अवशेष से प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा मे अकित रही ज्ञात होती है। आसन पर त्रि-पुष्पाकृतिया है। उनके नीचे दोनों ओर सिंहाकृतियाँ तथा उनके मध्य मे एक पुष्पाकृति के रूप मे अलंकरण है। इसके एक ध्यानस्थ मुद्रा मे छोटी प्रतिमा का अंकन है जिसके नीचे एक वृषभाकृति का अकन भी है। इससे प्रतिमा आदिनाथ की अकित रही ज्ञात होती है।

एक अवशेष इस संग्रहालय मे ऐसा भी है जिसकी एक ओर एक अलकृत देवी का अकन है। यह देवी अपने बाये हाथ से एक बालक को सम्भाले हुए है। इसी प्रतिमा के समीप कायोत्सर्ग मुद्रा मे दो तीर्थंकरों का अकन भी दृष्टव्य है।

प्राचीन कालीन एक मानस्तम्भ का शीर्ष भाग भी अवशेषों मे विद्यमान है। अवशेषो के चारो ओर छोटी आकृति में प्रतिमाओं का अकन आज भी स्पष्ट है। अवशेष का कुछ अश भूमि मे दबा हुआ है।

एक शासन देवी का अंकन भी सग्रहीत है। देवी का वाहन सिंह रहा दिखाई देता है। वाहन मुख विहीन अवस्था मे है। देवी के शीर्ष भाग पर तीर्थंकर प्रतिमा का अंकन है। देवी की आकृति सुन्दर है। उसके एक हाथ में बालक है। गले मे हार और पीछे भामण्डल भी है। अकन से प्रतिमा अम्बिका देवी की रही ज्ञात होती है।

परिकर के ऊपरी अश में उड्डायमान सपत्नीक देवों को दोनों ओर निर्मित किया गया है। उनके नीचे दोनों ओर सिंहाकृतियाँ तथा उनके नीचे देवों का अकन है।

भट्टारक गद्दी

भ० शान्तिनाथ मन्दिर के समीप बलेहा तालाब के किनारे छह और अष्ट स्तम्भों पर आधारित तीन मढ़ियाँ विद्यमान हैं जिनमें चरण रखे हुए हैं। मन्दिर मे जती बाबा की गद्दी आज भी बताई जाती है।

नन्दीश्वर द्वीप मन्दिर में तथा हरिसिंग सिंघई के मन्दिर में प्रतिमाओं पर क्रमशः देवेन्द्रभूषण तथा नरेन्द्रभूषण के नाम मिलते हैं जिन्हें क्रमशः सम्वत् १८५३ और १८७५ से सम्बद्ध बताया गया है।

प्रतिमाओं पर अंकित भट्टारकों के नामो से ऐसा ज्ञात होता है कि ये चरण उन्ही भट्टारको के है जिन्हें उनकी भक्ति से प्रेरित होकर उनके श्रद्धालुओं ने निर्मित कराया होगा।

नगर की प्राचीनता

प्राप्त अवशेषों से ऐसा ज्ञात होता है कि १२वीं-१३वी शती के आस-पास यह स्थान जैन सस्कृति का केन्द्र रहा है। यहाँ के जैन वैभव सम्पन्न, धर्म प्रेमी रहे ज्ञात होते है।

वर्तमान में क्या हो ?

वर्तमान मे समाज की धार्मिक प्रवृत्तियाँ उनकी प्राचीनता की परिचायक है। ये अवशेष अपनी मूक वाणी से समाज का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित करना चाहते है। अच्छा होगा कि समस्त जैन अवशेषों को समाज अपने अधिकार मे लेकर उन्हें सुरक्षित स्थानों में रखे जिससे कि उन्हे कोई क्षति न पहुँचे।

तालाब पर निर्मित मन्दिरों का जीर्णोद्धार हो और वर्ष में सामूहिक रूप से एक-दो बार वहाँ समाज अवश्य जाकर पूजनादि करे। मन्दिरो को कँटीले तार से घेर देना भी आवश्यक है ताकि मन्दिरो के निकट कोई शौचादि न करे और स्वच्छता बनी रहे। भ० महावीर की २५००वी जयन्ती की स्मृति में इन कार्यो को कराने के लिए समाज प्रार्थनीय है।

नगर मे सचालित जैन पुत्रीशाला मे अजैन प्राचार्य का रहना, सस्था की प्रगति तथा जैनाचार व्यवस्था के लिए अवरोध प्रतीत होता है। आशा है कि अविलम्ब समाज इस ओर भी अपना ध्यानाकर्षित कर अधिक से अधिक जैन पाठिकाओ को सेवा करने का अवसर प्रदान करेगी। ★

अज्ञात कवि हरिचंद का काव्यत्व

डा० गंगाराम गर्ग

मध्य युग में अनेक जैन कवियो ने चरितग्रन्थो के अतिरिक्त पर्याप्त पद, सवैये और दोहे लिखे है; किन्तु इनके फुटकर रूप में मिलने से यह निश्चित कर सकना अभी कठिन है कि किस कवि की छद सख्या कितनी है ? अज्ञात कवि हरिचंद के २० पद और २८ सवैये ही प्राप्त हुए है; किन्तु उनकी काव्य-गरिमा और भाषा-प्रवाह से उनकी रचनाएं अधिक होने के सकेत मिलते है।

रचनायें—हरिचंद की रचनाए पडित भवरलाल जी पोल्याका के सौजन्य से पाटोदी मन्दिर जयपुर में प्राप्त हुई। पाटोदी मन्दिर में प्राप्त एक गुटके में इनकी तीन रचनाएँ संगृहीत हैं—१. पद, २. जिन चौबीसी की स्तुति, ३. वीनती। हरिचद की प्रथम रचना 'पद' मे भक्तिपरक, विरहात्मक, नीतिपरक तथा आध्यात्मिक चारों ही प्रकार के पद मिलते है। द्यानतराय, बुधजन, पार्श्वदास आदि प्रमुख जैन कवियों के समान हरिचंद की भी आध्यात्मिक होली बड़ी काव्यात्मक है :—

गिरनार पै आज मची होरी ॥ टेर
नेम जिनद अनुभव जल मांहीं, तप सुरंग केसर घोरी।
पंच समति पिचकारी भरि, निज हित कारण सिव पै छोरी।
पंच महाव्रत गुपति अरगजा, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
दश वृष सोलह कारण मेवा, तीहू जग मांहि बढ़ायो री।
ऐसी होरी मचाय जिनेश्वर, 'चंद' अषै निधि पायोरी।

'जिन चौवीसी की स्तुति' में सवैया, अडिल्ल, दोहा आदि ३० छद है। प्रमुख छद सवैया ही है। चौवीसों तीर्थङ्करो की सविनय स्तुति करते समय भक्त हरिचद का ध्यान तीर्थङ्करों का गुण-वर्णन मे अधिक रमा है। अनन्तगुण-धारी भगवान् महावीर के प्रति कवि की 'वदना' दृष्टव्य है—

श्री जिन वीर नमो महाधीर, तू ही महावीर सदा सुखदाई।
वद्धमान सुसन्मति नाम कहू, सुभ पच सुरासुर ध्याई।
राजित हो गुण अनंत धरे, तुम ही जिन केवलज्ञान उपाई।
नासि अघाति भये सिव रूप, नमैं पव 'चंद' सबै वुष जाई।

'वीनती' रचना में कवि का उद्देश्य चौवीसों तीर्थङ्करों की विनय-भाव से वीनती करना है। हरिचद की 'विनतियो' मे अपने आराध्य के प्रति विनम्र याचना सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है :—

अभिनंदन अरज सुणो मेरी ।।टेक।।
तुम करमन को नाश कीयो है, मोकूं नहीं छोरं बैरी।
आठौं मिलि मोय घेरि लियो है, ज्यौं रवि अभ्र पटल घेरी।
चहू गति मैं या बसि दुष पायो, ज्यों पावक लोहा संग केरी।
अधम उधारण विरद निहारो तारचौ 'चंद' सरण तोरी।

भक्ति :—हरिचंद की सभी रचनाओ का मूल स्वर भक्ति है। अपनी रचनाओं में सभी तीर्थङ्करों का स्मरण करने पर भी कवि का भक्तिभाव तीर्थकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के प्रति अधिक है। प्रभु का गुणगान, स्वदोषों का निरूपण, अनन्यता आदि दास्यभावी भक्त की विशेषताएं हरिचद मे विद्यमान है। आराध्य का गुणगान करते समय वह उनके अठारह दोषो व राग-द्वेष के अभाव के अतिरिक्त उनकी दयालुता और उद्धार प्रवृत्ति का स्मरण भी करते है :—

वीर जिनेश्वर पाय मुक्त के कारणे।
दोष अठारह रहित हो जी, प्रभु छियालीस गुण धार।
चौतीसौ अतिसै धणी सजि, जै जं भव दुष हार।
समव सरण जुत तुमल सौजि प्रभु, नख दुति भान लजाय।
अधम उधारण विरद तिहारो, नमूं सीस निज नाय।
तीन लोक फिर मैं लषेजि प्रभु, तुम सम देव न कोय।
राग द्वेष कर सहित सर्व है, या तै पूजू तोय।
तुम ही तारण तिरण हो जि प्रभू, जगपति दीनदयाल।
भव आताप मिटाय जिनेश्वर 'चंद' नमै निज भाल।

हरिचद जिनेन्द्र के अनन्य भक्त है। वह केवल उन्ही के चरणों की सेवा करते है तथा अष्ट द्रव्य से उन्ही का पूजन करते हैं। जिनेन्द्र की शरण प्राप्त कर उन्ही से मोक्ष की याचना भी करते है।

तुम प्रभु दीनदयाल कहावो,
कीज्यो कृपा मो पं दीन जानि कं ।।टेर।।
पुण्य उदै श्रावग कुल पाया,
कीन्हीं सेव तुम चरण आनि कं।
अष्ट दरब ले पूजौं निस दिन,
देहू सुमति प्रभु कुमति हानि कं।
पांय पडूं मैं करूं जी वीनती,
तुमरी सरण हू नाहिं आन के।
हो जिन स्वामी 'चंद' नमामी,
द्यो सिव वसुविधि नाश ठानि के।

जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'दशधा भक्ति' मे से तीर्थङ्कर भक्ति के अतिरिक्त श्रुत भक्ति', 'तीर्थ भक्ति' एव आचार्य भक्ति' का स्वरूप भी हरिचद के पदों मे विद्यमान है। उन्होने कई पदो मे जिनवाणी को निर्विकार अनक्षर, सुखकारी, सकटहरण तथा स्व-पर-तत्त्व का ज्ञान कराने वाली कह कर उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है—

नमन करूं मैं श्री जिनवाणी, स्व पर तत्त्व दरसावण जानी।
श्री जिन मुष अंबुज तं निकसी, निर्विकार अनअक्षर जानी।
सप्त धातुमल रहित अनोपम,
श्री गणराज हिये निज आणी।
संसै तिमर हरण सुषकारी,
गुण अनत की षानि बषाणी।
सुरपति निज थल माहि उचारं
ध्यान करं श्री मुनिवर ज्ञानी।
जन्म मरण आताप हरण घन,
भवि जन मन पंकज रवि ध्यानी।
मात तुही बहु जीव उधारे, चद नमैं दीज्यों सिवरांणी।

हरिचद ने भक्त के पवित्र आचरण पर बडा बल दिया है। वह क्रोध को इतना भयकर मानते है कि उसकी विद्यमानता मे साधक का तप, जप, सयम, ध्यान ज्ञान, पूजा और सामायिक सभी निष्फल हो जाता है—

तप जप सजम ध्यान ज्ञान अरु पूजा दान सामाई।
जाकं हिरदं क्रोधानल है करणी निरफल जाई।

हरिचद की दृष्टि मे किसी के मन को दुःख पहुचाने वाले वचन न कहना मोक्ष प्राप्त कराने का महत्वपूर्ण साधन है—

जो वच सुणि निज मन दुष पावै सो पर कूं नै कहानौ।
कोटि बात की बात यही है चंद' अर्थ निधि पानौ।

उक्त विवेचन के आधार पर हरिचद जैन भक्ति काव्य परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी प्रतीत होते हैं। उन जैसे अज्ञात कवियों की रचनाओं के शीघ्र प्रकाशन की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। ★

कुंभारिया के संभवनाथ मंदिर की जैन देवियां

मारुतिनंदन प्रसाद तिवारी शोधछात्र

उत्तरी गुजरात के बनासकांठा जिले में कुंभारिया स्थित सभी पांच जैन मंदिर, जो क्रमशः सम्भवनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ और महावीर को समर्पित और श्वेताम्बर सम्प्रदाय से संबंधित है, ११वी शती ईसवी से १३वीं शती ईसवी के मध्य निर्मित हुए हैं। कुम्भारिया स्थित समस्त जैन मंदिरों का स्थापत्यगत विशेषताओ व भित्तियों, स्तम्भों, छतों पर उत्कीर्ण अलंकरणो, देव चित्रणों व तीर्थकरों के जीवन काल से सबधित कुछ प्रमुख दृश्यों के आधार पर जैन शिल्प व स्थापत्य के अध्ययन में विशिष्ट स्थान होने के संदर्भ मे भी महत्वपूर्ण स्थान है। १३वी शती मे निर्मित सम्भवनाथ मदिर चारों ओर दीवार से घिरा है और कुम्भारिया के अन्य चार मदिरों के विपरीत इसमे देवकुलिकाओ का अभाव है। उत्तर की तरफ मुख किये सम्भवनाथ मंदिर गर्भगृह, अन्तराल, दो ओर ओसारो (Porcher) से युक्त गूढमडप व सामने ओसारे से युक्त सभामंडप से युक्त है। प्रस्तुत लेख मे हम मंदिर की बाह्य भित्ति और द्वारो पर उत्कीर्ण मूर्तियो का अध्ययन करेंगे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत लेख की सामग्री मेरे शोध कार्य के सदर्भ में गुजरात और राजस्थान के देखे गये कुछ प्रमुख जैन मंदिरों की मूर्तियों के विस्तृत अध्ययन पर आधारित है।

यहां इस बात का उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा कि कुम्भारिया के जैन शिल्प मे देवियो मे १६ विद्या-देवियों, उनमे भी रोहिणी, चक्रेश्वरी (अप्रतिचक्रा), महाकाली, काली पुरुषदत्ता वैरोटया अच्छुप्ता, सर्वास्त्र महाज्वाला और महामानसी, को विशेष लोकप्रियता प्राप्त थी। जैन शासन देवताओ मे यथा सर्वानुभूति और यक्षी अम्बिका को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त थी और इन्हे ही लगलग सभी तीर्थकरो के यक्ष-यक्षी के अतिरिक्त गोमुख, ब्रह्मशांति और धरणेन्द्र यक्षों, और चक्रेश्वरी निर्वाणी व पद्मावती यक्षियो का भी अकन प्राप्त होता है। अन्य देवियों मे लक्ष्मी, सरस्वती व एक ऐसी देवी जिनका उल्लेख प्रतिमानिरूपण संबन्धी ग्रंथो मे अप्राप्य है (ऊपरी भुजाओं में त्रिशूल व सर्प धारण किये व कभी-कभी वाहन के रूपमे बैल का प्रदर्शन) का चित्रण अनेकशः प्राप्त होता है। देवताओं में अष्ट-दिग्पालों और गणेश (नेमिनाथ मंदिर के पश्चिमी अधिष्ठान पर उत्कीर्ण चतुर्भुज, गज मस्तक युक्त नागयज्ञोपवीत, आसन के समक्ष मूषकः भुजाओ मे निचले दाहिने से बडी के क्रममें: हाथीदांत (tusk), परशु, सनालपदम, मोदक पात्र) का चित्रण उल्लेखनीय है। अन्य प्रमुख चित्रणों में ऋषभनाथ, शांतिनाथ नेमिनाथ पार्श्वनाथ व महावीर आदि तीर्थकरो के जीवनकाल की प्रमुख घटनाओं (केवल शांतिनाथ और महावीर मदिरों की छतो पर) व २४ तीर्थकरों के माता-पिता का (कही सिर्फ माताओं का) का पैनेल में अंकन आता है। जैन देवी-देवताओ के अकन में प्रतिमाशास्त्री ग्रथों के निर्देशों का निर्वाह सबधित देवों के ऊपरी हाथों के प्रमुख आयुधों व वाहन तक ही सीमित, और निचली दो भुजाओं मे कलाकार ने इच्छानुसार मुद्रा (वरद या अभय) और फल (मातुलिंग) या कलश प्रदर्शित किया है।

सम्भवनाथ मन्दिर के गूढ मण्डप और मूल प्रासाद की बाह्य भित्तियाँ रथिकाओ से स्थापित तीर्थङ्करो और देवियों का चित्रण करती है। यह आकृतियां मन्दिर के जंघा व अधिष्ठान (कुम्भी) दोनो पर ही उत्कीर्ण है। मूल प्रासाद के तीन ओर की दीवारों के मध्य की रथिकाओं मे स्थापित तीर्थङ्कर प्रतिमाओ का सम्प्रति केवल सिहासन व परिकर ही अवशिष्ट है और मूलनायक की आकृति सभी मे गायब है। विवरण मे समान तीनो मूर्तियों मे सिंहासन के मध्य मे चतुर्भुज देवी को आसीन प्रदर्शित किया गया है (शान्ति देवी), जिनकी ऊपरी दोनों भुजाओं में पद्म और निचली दाहिनी व बायी मे क्रमशः वरद व फल प्रदर्शित है। मध्यवर्ती देवी क्रमशः दोनों ओर दो गज और सिंह (सिंहासन का प्रतीक) आकृतियों से वेष्टित है। देवी के नीचे उत्कीर्ण धर्मचक्र के दोनों पार्श्वों मे दो मृग आकृतियाँ अवस्थित है। यक्ष-यक्षी के रूप मे चतुर्भुज सर्वानुभूति (वरद, अकुश, पाश, धन का थैला (रुपया) और निर्वाण (वरद, पद्म, फल) को सिंहासन के दोनो कोनो पर आसीन प्रदर्शित किया

गया है। दो चामरधारी सेवकों से वेष्टित मध्यवर्ती जिन आकृति के शीर्ष भाग मे कलश व हाथ जोड़े एक मानव आकृति से युक्त त्रिछत्र उत्कीर्ण है। ऊपरी परिकर के प्रत्येक भाग में एक उड्डायमान मालाधर, नृत्यरत आकृति और (सूंड मे कलश लिए गज को मूर्तिगत किया गया है। त्रिछत्र के दोनों पार्श्वों मे नगाड़ा लिए देवी सगीतज्ञो को प्रदर्शित किया गया है।

गूढ़ मण्डप की पूर्वी भित्ति की जघा पर अतिभग मुद्रा में खड़ी चतुर्भुज वज्राकुश (चौथी विद्या देवी) की मूर्ति उत्कीर्ण है। पद्मासन पर स्थित देवी की ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओ मे क्रमश: अकुश व वज्र प्रदर्शित है; जबकि निचली भुजाओ में क्रमशः वरद मुद्रा और कलश। देवी के वाम पार्श्व मे उसके वाहन गज को उत्कीर्ण किया गया है। देवी करण्ड मुकुट, ग्रीवा मे हारों, स्तनहार, चोली, पैरो तक प्रसारित धोती, घुटनो तक प्रसारित माला, कर्णफूल, पायजेब, बाजूबन्द आदि आभूषणों से सुसज्जित है। देवी के दोनों पार्श्वों में दो सेविकाएं अवस्थित है, जिनको एक भुजा मे स्कन्ध के ऊपर स्थित चामर प्रदर्शित है और दूसरी भुजा कटि पर आराम कर रही है। विवरणों मे समान चतुर्भुज वज्राकुशा की एक अन्य खडी मूर्ति मूल प्रासाद के पश्चिमी भित्ति की जघा पर उत्कीर्ण है, जिसमे देवी ने उपर्युक्त मूर्ति के विपरीत अपनी वाम भुजा में कलश के स्थान पर फल धारण किया है। उल्लेखनीय है कि पार्श्ववर्ती चामरधारी सेविकाओ को इस उदाहरण मे नही उत्कीर्ण किया गया है। वज्रांकुशा का एक अन्य चित्रण मन्दिर के पूर्वी अधिष्ठान पर देखा जा सकता है, जिसमे चतुर्भुज देवी ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण है। देवी ने उपर्युक्त मूर्तियो के विपरीत वज्र व अकुश क्रमश दाहिनी व बायी भुजाओ मे धारण किया है और निचली दाहिनी व बायी भुजाओं मे क्रमशः वरद मुद्रा और फल प्रदर्शित है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अधिष्ठान की छोटी आकृतियों (१५-३"×६-४" में देवियों को अधिकाशतः उत्कीर्ण नही किया गया है।

मूल प्रासाद के पूर्वी भित्ति की जंघा पर महाकाली (आठवीं महाविद्या) की अति भंग मुद्रा में खड़ी चतुर्भुज आकृति उत्कीर्ण है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः वज्र और घण्ट (जिसका ऊपरी भाग त्रिशूल की भाँति निर्मित है) चित्रित है; और निचली भुजाओं में उसी क्रम में वरद और अभय मुद्रा प्रदर्शित है। सभी सामान्य अलकरणों से युक्त देवी के वाहन का अकन यहाँ अनुपलब्ध है।

महाकाली के समीप ही चतुर्भुज रोहिणी (पहली विद्या देवी) की अतिभग मुद्रा में खड़ी आकृति उत्कीर्ण है। देवी की ऊपरी दाहिनी व वाम भुजाओं में क्रमशः बाण और धनुष स्थित है; जबकि निचली भुजाओं में उसी क्रम में वरद मुद्रा और कमण्डलु प्रदर्शित। दाहिनी पार्श्व में उत्कीर्ण देवी के वाहन का स्वरूप काफी अस्पष्ट है, फिर भी ग्रथो के निर्देशों के अनुरूप उसे गाय का चित्रण होना चाहिए।

मूल प्रसाद के दक्षिणी भित्ति की जंघा पर उत्कीर्ण चतुर्भुज चक्रेश्वरी (पांचवी विद्या देवी) की अतिभङ्ग मुद्रा मे खडी मूर्ति की विशेषता अन्य आभूषणों के साथ किरीट मुकुट से सुशोभित होना है। देवी ने ऊपरी दोनों भुजाओं मे चक्र धारण किया है, और सरस्वती निचली दाहिनी भुजा से वरद मुद्रा प्रदर्शित करती है, किन्तु वाम भुजा की वस्तु अस्पष्ट है। दोनों ओर दो स्त्री चामरधारी सेविकाओं से वेष्टित देवी के वाम पार्श्व मे मानव रूप में हाथ जोड़े गरुड़ की आकृति उत्कीर्ण है। समान विवरणों वाला चक्रेश्वरी का एक अंकन पश्चिमी भित्ति की जंघा पर देखा जा सकता है। इसमे देवी की निचली वाम भुजा में शख चित्रित है। गरुड़ का अकन पूर्ववत् है पर चामरधारी सेविकाओं का नहीं उत्कीर्ण किया गया है। एक अन्य समान विवरणों वाली मूर्ति जिसमें देवी की निचली वाम भुजा खण्डित है। पश्चिमी अधिष्ठान पर देखी जा सकती है। किरीट मुकुट से अलंकृत देवी को मानव रूप मे प्रदर्शित गरुड़ पर ललितासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित किया गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा विद्या देवी, जिसे कि प्रतिमा लाक्षणिक ग्रन्थों मे चारों भुजाओं में चक्र धारण किए उत्कीर्ण किए जाने का विधान है, को जैन शिल्प में मात्र राजस्थान के ओसिया और घणेरा स्थित महावीर मदिरों व कुछ अन्य उदाहरणों को छोड़ कर (जिनमें अप्रति चक्रा की चारों भुजाओं में चक्र स्थित

है) सदैव केवल ऊपरी दोनो भुजाओं में ही चक्र धारण किये प्रदर्शित किया गया है। विमलवसही और लूणवसही मन्दिरों (दिलवाड़ा : राजस्थान) और शांतिनाथ मंदिर (कुंभारिया: उत्तरी गुजरात) के छतों पर उत्कीर्ण १६ देवियों के सामूहिक अंकन में भी अप्रति चक्रा को केवल ऊर्ध्व दो भुजाओं में चक्र धारण किये प्रदर्शित किया गया है। फलतः सम्भवनाथ मंदिर की उपर्युक्त सभी आकृतियों को निःसन्देह विद्या देवी अप्रतिचक्रा का चित्रण स्वीकार किया जा सकता है। वैसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी भी शिल्प मे प्रचलित विद्या देवी अप्रतिचक्रा के स्वरूप की तरह ऊपरी दोनो हाथो मे चक्र धारण करती है पर चूकि कुभारिया मदिरों की भित्तियों पर यक्ष-यक्षियों का चित्रण लगभग अप्राप्य है, अतः दोनो भुजाओं मे चक्र से युक्त देवी की विद्यादेवी अप्रतिचक्रा से पहचान ही उचित व तर्क संगत है।

मूल प्रसाद के दक्षिणी भित्ति पर उत्कीर्ण एक चतुर्भुज देवी अतिभग मुद्रा में खडी है। देवी के ऊपरी दाहिनी व वाम भुजाओं मे क्रमशः गदा (स्रुक?) व वज्र स्थित है, जब कि निचली दाहिनी व वाम भुजाओं मे वरद मुद्रा और फल चित्रित है। देवी के दाहिने पार्श्व मे उसका वाहन भैंस (?) उत्कीर्ण है। वाहन के कारण देवी की निश्चित पहचान सन्देहास्पद हो गई है; क्योंकि जहाँ आयुधो के आधार पर देवी की निश्चित पहचान सातवीं विद्या देवी काली से की जानी चाहिए, वहीं वाहन उसे छठी विद्या देवी पुरुषदत्ता का चित्रण प्रतिपादित करता है। जो भी हो आयुधों के आधार पर देवी की पहचानकाली से करके गलत वाहन का चित्रण कलाकार की भूल मानी जा सकती है।

मूल प्रसाद की पश्चिमी भित्ति की जंघा पर चतुर्भुज सरस्वती की त्रिभंग मुद्रा में खड़ी) मूर्ति उत्कीर्ण है। दो पार्श्ववर्ती चामरधारी सेविकाओं से वेष्टित सरस्वती की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः सनाल कमल (long salk spiral lotus) व पुस्तक चित्रित है; जब कि निचली दाहिनी व बायी भुजाओं मे क्रमशः वरदाक्ष और कमंडलु प्रदर्शित है। देवी के बायी ओर वाहन हस उत्कीर्ण है।

दक्षिणी अधिष्ठान पर चतुर्भुज सर्वास्त्र-महाज्वाला (ग्यारहवी विद्या देवी)की ललितासन मुद्रामे उत्कीर्ण मूर्ति मे देवी की दो ऊर्ध्व भुजाओं मे दो ज्वाला पात्र स्थित है, और निचली दाहिनी मे वरद मुद्रा प्रदर्शित है। देवी की निचली वाम भुजा की वस्तु भग्न है। देवी के चरणों के समीप वाहन मेष को उत्कीर्ण किया गया है, जब कि ग्रन्थों मे देवी का वाहन शूकर बताया गया है।

पश्चिमी अधिष्ठान पर उत्कीर्ण चतुर्भुज देवी की ललितासन मुद्रा मे भद्रासन पर आसीन मूर्ति मे देवी की ऊपरी दाहिनी बायी भुजाओं मे क्रमशः धन का थैला व अकुश अकित है; जबकि निचली दाहिनी भुजा से वरद-मुद्रा प्रदर्शित है और समक्ष की वाम भुजा भग्न है। ऊपरी भुजाओं में स्थित धन के थैले और अंकुश के आधार पर इस देवी की निश्चित पहचान सर्वानुभूति (कुबेर के समान) यक्ष की शक्ति से की जा सकती है, जिसका उल्लेख प्रतिमाशास्त्रीय ग्रथों मे सर्वथा अप्राप्य है।

मन्दिर के पूर्वी व पश्चिमी प्रवेश द्वारो के डयोढी (door sill) पर द्विभुज अबिका का चित्रण देखा जा सकता है, जिसमे दाहिनी भुजा मे आम्रलुंब से युक्त देवी वाम भुजा से गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है। गूढमण्डप के द्वार की आकृतियाँ काफी भग्न हैं पर द्वार शाखा के नीचे (dor frame) चतुर्भुज चक्रेश्वरी की आकृति उत्कीर्ण है, जिसकी अवशिष्ट दो ऊपरी भुजाओं में चक्र प्रदर्शित है। सोहवती (door lintel) पर उत्कीर्ण लक्ष्मी की ६ आकृतियों मे समान रूप से देवी की ऊपरी दोनों भुजाओं मे पद्मचित्रित है; और निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं मे क्रमशः वरदमुद्रा और फल प्रदर्शित है।

सप्त सर्पफणों के घटाटोपो से शीर्षभाग में आच्छादित पार्श्वनाथ की १५वी शती की दो सपरिकर प्रतिमाएँ गूढ़मण्डप में स्थापित है। दोनों ही मूर्तियो मे मूलनायक की आकृति गायब है। गर्भगृह मे स्थापित संभवनाथ की प्रतिमा भी १५वीं शती से पूर्व की नही प्रतीत होती है।

संभवनाथ मन्दिर की मूर्तियों के अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट है कि अप्रतिचक्रा व वज्रांकुशा को इस मन्दिर में सर्वाधिक महत्व दिया गया है। ★

जैन दृष्टि में अचलपुर

चन्द्रशेखर गुप्त (शोध छात्र)

विदर्भ के अमरावती जिले में स्थित अचलपुर का मध्य काल में धार्मिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैसे तो इसकी तिथि प्राचीन भोजकट राज्य मे है तथापि यह उतना प्राचीन है यह कहना कठिन है। भोजकट का उल्लेख महाभारतादि[1] ग्रन्थो मे ही नही वरन् ईस्वी पहली और दूसरी शती पूर्व तथा वाकाटक अभिलेखों में भी प्राप्त होता है[2]। अचलपुर जैन धर्म का केन्द्र ग्यारहवीं शती में ही बन चुका था, किन्तु यह कब बसा इस पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा।

इस प्रदेश में (विदर्भ) दो अचलपुर नामक नगरो का उल्लेख प्राप्त होता है। दोनों नगरों का जैन साहित्य मे उल्लेख आया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये दोनों अभिन्न थे किन्तु जैसा कि हम देखेंगे यह तथ्य नही है। दोनों अलग-अलग स्थानों पर बसे थे और दोनो की नीव विभिन्न कालों मे पड़ी।

वाकाटक महाराज द्वितीय प्रवरसेन के ३८वें वर्ष में प्रवरपुर से दिये गये ताम्रपत्र मे, जो पवनी (जिला भण्डारा, विदर्भ) से प्राप्त हुआ है, दुर्गार्य नामक एक ब्राह्मण को अचलपुर में ५० निवर्त्तन भूमि दान में देने का उल्लेख पाया जाता है[3]। इस ताम्रपत्र में यद्यपि उत्कीर्णक की असावधानी के कारण अचलपुर के स्थान पर अचलपुक उत्कीर्ण हो गया है तथापि उसे यहाँ अभिलषित शब्द अचलपुर ही है इसमे सन्देह नही। इसके सम्पादक ने इस अचलपुर की पहचान अमरावती जिले के अचलपुर से की है[4]। किन्तु यह ठीक नही है क्योंकि इसी ताम्रपत्र के अनुसार अचलपुर कृष्णालेशालि नामक कटक में समाविष्ट था जबकि अमरावती वाले अचलपुर का समावेश इसी वाकाटक राजा के चम्पक ताम्रपत्र में (चम्मक से अचलपुर ४ मील पर स्थित है) वर्णित भोजकट (वर्तमान भातकुली, जिला अमरावती) में होता था[5]। दोनों अभिलेख एक ही काल के होने के कारण यह अभिन्नता उपयुक्त सिद्ध नही होती।

इस अचलपुर का उल्लेख जैन आगम साहित्य में होता है। पिण्डनिज्जुत्ति (५०३), आवश्यक टीका (पृ. ५१४) तथा देववाचक क्षमाश्रमण (पृ. ५० अ.) आदि जैन ग्रन्थों मे कहा गया है कि अचलपुर आभीर देश में स्थित था। इस अहिट्ठाण के समीप कण्हा और वेण्णा नदियां बहती थी। इन नदियों के दोआब को बम्भदीव कहते थे तथा यहाँ ५०० तावस रहते थे।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने इसे एलिचपुर (अचलपुर अमरावती जिला) से अभिन्न माना है[6]। किन्तु यह भी

१. भोजकट विदर्भ की प्राचीन राजधानी थी जिसे कृष्ण से हारने पर रुक्मी ने बसाया था। इसके पूर्व कुण्डिनपुर राजधानी थी। जैन साहित्य में भी यह उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत (गीता प्रेस सस्क०), सभापर्व, ३१।११-१२; उद्योगपर्व १५८। १४-१५। डा० जगदीशचन्द्र जैन आगम साहित्य मे वर्णित भारतीय समाज, पृ. २७४।

२, भरहुत अभिलेख क्र. ए. २३, २४ कार्पस इन्स्क्रिपशनम् इण्डिकेरम् खं. २, भाग २, पृ. २२, पूर्वोक्त ख. ३, पृ. २३५ ई.; वा. वि. मिराशी, वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख (डा. अनयमित्र शास्त्री द्वारा अनूदित), पृ. १५५-१६१।

३. डा. वि. भि. कोलते, द्वितीय प्रवरसेन का पवनी ताम्रपट, विदर्भ सशोधन मण्डल वार्षिक १०६७, पृ. २०-३०।

४. पूर्वोक्त, पृ. २६।

५. वाकाटक राजवश का इतिहास, पृ. १५५ ई०।

६. लाइफ इन एंशिएण्ट इण्डिया एज डिपेक्टेड इन जैन कैनन्स, पृ. २६३।

उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस अचलपुर की स्थिति उपरोक्त वर्णित कण्हा और वेण्णा नदियो के समीप नहीं है। कण्हा नदी वर्तमान कन्हान नदी है जो नागपुर जिले के रामटेक तहसील से बहती हुई भण्डारा जिले में वैनगंगा को मिलाती है। वेण्णा वर्तमान वैनगंगा ही है। पुराणों मे इसे इसी नाम से उल्लिखित किया गया है[7]।

इस उल्लेख की पुष्टि रामटेक तहसील में ही नगरधन (प्रचीन नन्दिवर्धन) ग्राम से प्राप्त एक ताम्रपत्र से होती है जिसे स्वामिराज नामक राजा के अनुज नन्नराज ने कलचुरि संवत् ३२२ में दिया था। इसमें एक अचलपुर अग्रहार का उल्लेख सीमा बताने के प्रसंग में आया है[8]। प्रतीत होता है यह अचलपुर अग्रहार वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय द्वारा पवनी ताम्रपत्र में दिये गये दान के अचलपुर ग्राम से अभिन्न है। यह वाकाटक ताम्रपत्र नगरधन ताम्रपत्र के थोडे समय पूर्व ही दिया गया था और दोनों के प्राप्ति स्थान की स्थिति अधिक दूरी पर नहीं है। यद्यपि इस अचलपुर की पहचान सम्पादकों ने नही की है तथापि उसकी ताम्रपत्र मे वर्णित स्थिति को देखते हुए मुझे प्रतीत होता है कि यह अचलपुर रामटेक तहसील (जिला नागपुर) में स्थित अडेगाव से सम्भवतः अभिन्न होगा जो रामटेक से करीब १० मील पश्चिम मे स्थित है[9]।

जैन साहित्य में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसकी स्थिति आभीर देश में बताई गई है। यह कुछ विचित्र सी बात है; क्योंकि यह प्रदेश प्राचीनकाल से ही विदर्भ कहलाता रहा है। हो सकता है आभीरों के इस स्थान पर कुछ काल प्रभुत्व के कारण इस प्रदेश को आभीर देश कहा गया हो[10]।

अमरावती जिले के अचलपुर का सबसे प्राचीन उल्लेख एक राष्ट्रकूटवंशी राजा नन्नराज के तिवरखेड तथा मुलताई ताम्रपत्रो मे पाया गया है[11]। इसी राजा का एक ताम्रपत्र विदर्भ के अकोला जिले के सागलूद ग्राम से भी पाया गया था[12]। इन ताम्रपत्रो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये राष्ट्रकूट मान्यखेट के राष्ट्रकूटो से भिन्न थे। तिवरखेड ताम्रपत्र जाली है; क्योंकि उसमे शक संवत् ५५३ (ई० ६३१) दिया गया है जबकि शेष दो मे क्रमशः शक ६३१ (ई० ७०९-१०) और ६१५ (ई. ६९३) पाया जाता है। इन अभिलेखों मे नन्नराज की वंशावली निम्न दी गई है—

दुर्गराज
|
गोविंदराज
|
स्वामिकराज
|
नन्नराज युद्धासुर

---

७. मार्कण्डेय तथा वायु पुराणों मे से इसे वेण्वा तथा मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराणों मे वेणा कहा गया है— एस. एम. अली, ज्योग्राफी ऑफ दि पुराणास, पृ. १२०।

८. वा० वि० मिराशी, कलचुरि नृपति आणि त्यांचा काल, पृ० १२८-९; कार्पस इन्स्क्रि० इण्डि०, ख० ४, पृ० ६१२ इ०।

९. नगरधन ताम्रपत्र में अंकोल्लिका नामक गांव दान में दिया गया। इसके क्रमशः पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में अचलपुर अग्रहार, श्रीपर्णिका ग्राम तथा शूल नदी थी। मिराशी जी ने केवल शूल नदी और अंकोल्लिका की पहचान सूर नदी और अरोली गाँव मे की है। हमारे अनुसार श्री पर्णिका सिरपुर, अंकोल्लिका असोली तथा अचलपुर अडेगांव से अभिन्न हैं और इनकी स्थिति वर्णनानुसार है।

१०. विदर्भ के विषय में लोगों में परम्परा है यहाँ आरम्भ में गवली (अहीर) राज्य करते थे। एक सिद्धान्तानुसार आभीर जाति उत्तर-पश्चिम भारत से क्रमशः स्थानान्तरित हो दक्षिण मे बस गई। आन्ध्र प्रदेश-महाराष्ट्र के आभीर नरेश सम्भवतः इसी जाति के थे। अतः यह सम्भव है कि ये जाति विदर्भ में बसी हो जिसकी स्मृति जैन आगमों मे सुरक्षित रही।

११. एपि ग्राफिया इण्डिका, ख० ११, पृ० २७६ इ; इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, ख० १८, पृ० २३० इ; बगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, ख० ६, पृ० ८६९ इ। रायबहादुर हीरालाल, इन्स्क्रिपशन्स इन सी० पी० एण्ड बरार, क० १६१-२, पृ० ८८-१०।

१२. य० खु० देसपाण्डे, वराास, वर्ष० २, अं० १; मो० गं० दीक्षित० मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व की रूप-रेखा, पृ० १९।६१।

प्रथम दो ताम्रपत्र अचलपुर से और तीसरा पद्मनगर से जारी किया गया था। ये अचलपुर निश्चित रूप से अमरावती जिले में स्थित अचलपुर ही है। इस शहर को राजधानी बना राज्य करने वाले ये राष्ट्रकूट सम्भवतः मुख्य शाखा के अधीनस्थ और सम्बन्धी ही थे। कुछ विद्वान इन्हें पूर्वोल्लिखित नगरधन ताम्रपत्र वाले राजा से सम्बन्धित मानते हैं। इनके अनुसार ये बरार के राष्ट्रकूट प्रारम्भ में नगरधन प्रदेश पर राज्य करते थे। और प्राद्य कलचुरियों के माण्डलिक थे। बाद में बादामी के चालुक्यों के सामन्त बने और अचलपुर से राज्य करने लगे। किन्तु यह उपयुक्त नहीं है। नगरधन ताम्रपत्र कलचुरि वंश के शासक का है। इनके पश्चात् इन राष्ट्रकूटों ने विदर्भ पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। प्रथम शासक यही नन्नराज युद्धासुर था, क्योंकि इसके पूर्वजों के नामोल्लेख होने पर भी स्वतन्त्र लेखादि प्राप्त नहीं होते।[13] इसके बाद राष्ट्रकूटों की मुख्य शाखा के ईसवी ७७२ से ईसवी ६४० तक के अभिलेख प्राप्त होते हैं।[14] कलचुरियों की त्रिपुरी शाखा से इस वंश के वैवाहिक सम्बन्ध थे अतः कलचुरि एवं शिलाहार राजाओं के लेखों में प्रसंग वश इस प्रदेश का उल्लेख प्राप्त होता है।

शिलाहार राजा अपराजित के मुरुड ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि तृतीय अमोघवर्ष ने कर्कर नामक राष्ट्रकूट की राजधानी पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। यह कर्कर अचलपुर पर राज्य करने वाले राष्ट्रकूट सामंत कर्कर से अभिन्न प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि कुछ अन्य अभिलेखों से प्राप्त होती है।[15] कलचुरि नरेश प्रथम कोकला के दामाद द्वितीय कृष्ण अकालवर्ष को पूर्वी चालुक्य राजा तृतीय विजयादित्य के विरुद्ध युद्ध में त्रिपुरी नरेश ने सहायता की थी।[16] विजयादित्य के सेनापति पाण्डुरंग ने चक्रकूट (बस्तर जिला मध्य प्रदेश) और किरणपुर (बाला घाट जिला, मध्य प्रदेश) को लूटा और जलाया तथा अचलपुर तक पहुँच उसे नष्ट भ्रष्ट कर दिया था।[17]

इसी काल में अचलपुर जन धर्म वा एक प्रमुख केन्द्र बन गया, दृष्टिगत होता है। इसका परिसरवर्ती प्रदेश भी जैनधर्म की दृष्टि से काफी समृद्ध था। 'इसके परिसरवर्ती प्रदेश से जैनधर्म सम्बन्धी पुरातत्त्व की उपलब्धि एक स्वतन्त्र लेख का विषय है।[18] इस काल में रचित तीर्थमालाओं तथा अन्य ग्रन्थों में जैन मुनियों एवं आचार्यों ने अचलपुर का कई स्थानों पर उल्लेख किया है।

विक्रम सं० ६१५ (ई० ८५८) में जैन आचार्य जयसिंह ने अपना धर्मोपदेशमाला नामक ग्रंथ लिखा जो वृत्ति-परक है। इसमें अचलपुर का अयलपुर कहकर उल्लेख किया गया है।[19] इस ग्रंथ मे एक अरिकेसरी राजा का उल्लेख आया है जिसने एक महाप्रासाद बनवाकर तीर्थंकर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी।

> **अयलपुरे दिगम्बर भत्तो अरिकेसरी राया।**
> **तेणय काराविओ महापासाओ,**
> **पराट्ठावियाणि तित्थयर-बिम्बाणि॥**

(अचलपुर में एक अरिकेसरी नामक दिगम्बर राजा हुआ। उसने महाप्रसाद बनवाकर तीर्थंकर बिम्ब की प्रतिष्ठा की।)

१३. वा. वि. मिराशी, विदर्भा चे राष्ट्रकूट, संशोधन मुक्तावलि, सर २, पृ. १११ इ; युगवाणीनागपुर, १६५०, (दिवाली अंक), पृ. ४१६-४२०। का. इं.इं. ख. ४, पृ. १३३ (भूमिका)।

१४. द्रष्टव्य—हीरालाल, पूर्वोद्धृत, क्र. ६, १५; एपि. इण्डि., ख. ५, पृ. १८८; ख. १४, पृ. १२१, ख. २३, पृ. ८, २०४, २१४ ई.।

१५. बहिग अमोघवर्ष के दामाद द्वितीय बतुग सूदी ताम्रपत्र, एपि. इण्डि. ख. ३, पृ. १७६; इण्डियन हिस्टा. क्वा., ख. २५, पृ. ६१२; कुवलूर ताम्रपत्र, पूर्वोक्त।

१६. कलचुरि नृपति आणि त्यांचा काळ, पृ. १४-१५।

१७. डा० अजयमित्र शास्त्री, त्रिपुरी, भोपाल २६७१, पृ. ४६, साउथ इण्डियन इन्स्क्रिपशन्स, ख. १, पृ. ३६-४०; मिराशी का. इं. इं. ख. ४, भूमिका पृ. १३२-३३।

१८. चन्द्रशेखर गुप्त, विदर्भ का जैन पुरातत्त्व, जैन मिलन, नागपुर, (डा० हीरालाल जैन विशेषांक) वर्ष २, सं. २, पृ. ४६-६८।

१९. मुनि कान्तिसागर, खण्डहरों का वैभव, वाराणसी, १६५६, पृ. १५६-१५७।

अरिकेसरी राजा कौन था ? कहा नहीं जा सकता। चालुक्य वंश में हुए प्रथम और द्वितीय अरिकेसरी में से यह एक होगा। मुनि श्री कांतिसागर जी के अनुसार यह नाम न होकर विशेषण मात्र है। और यह राजा पौराणिक नही हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो सम्प्रदाय सूचक विशेषण मिलता।[२०]

धनपाल ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ धम्मपरिक्खा यहीं पर वि० सं० १०४४ में पूर्ण की थी।[२१] अचलपुर ईल या एल नामक राजा द्वारा बसाया गया ऐसा उल्लेख किवदन्तियो में प्राप्त होता है। यह राजा जैन धर्मावलम्बी था। इसने पूजार्थ श्री पुर-सिरपुर गाँव चढ़ाया था। इसने मुक्तागिरि तीर्थ पर भी अभयदेव सूरि द्वारा पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी थी। शीलविजय जी ने इस तीर्थ की यात्रा की थी। ये अभयदेव सूरि नवांगी वृत्तिकार अभयदेव से भिन्न थे, तथा मलधारी थे। इन्होंने सिरपुर के अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा वि० सं० ११४२ माघ सुदी ५, रविवार को की थी।[२२]

श्वेताम्बर तीर्थमालाओं में अचलपुर का एलजपुरि रूप प्राप्त होता है। यथा—[२३]

एलजपुरि कारंजा नयर..................२१ ॥

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण में अचलपुर की प्रासंगिक चर्चा की है। च और ल वर्णों का विपर्यय बताते हुए वे अचलपुर का उदाहरण देते है।[२४] अचलपुर से अचलपुर हुआ, फिर एलचपुर, एलिचपुर, एलिजपुर आदि विभिन्न रूपों में प्रचलित रहा। महानुभाव साहित्य मे अलजपुर रूप मिलता है।[२५] भोसलों के काल में अचलपुर एक सूबा बनाया गया था। तत्कालीन कागज पत्रों मे इसके आलजपुर और अलजपुर रूप मिलते है।[२६]

अचलपुर के आठ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित मुक्तागिरि तीर्थ की महत्ता से समीपवर्ती अचलपुर भी प्रभावित हुआ। एक गाथा मे कहा गया है।[२७]

> अचलपुर वरणिय वे।
> ईसाने मेघ गिरि सिहरे ॥
> अट्ठट्ठय कोडियो निव्वाण।
> गया नमों तेसि ॥
> अयलपुरे दिगम्बर भत्तो अरिकेसरी राया।
> तेणय काराविओ महापासाओ,
> परट्ठावियाणि तित्थयर-बिम्बाणि ॥

---

२०. पूर्वोक्त, पृ. १५७।

२१. पूर्वोक्त, पृ. १५६।

२२. पूर्वोक्त, पृ. १५६।

२३. प्राचीन तीर्थ माला संग्रह, भा. १, पृ. ११४। मुनि कान्तिसागर, पूर्वोद्धृत, पृ. १६०-१६१।

२४. अचपुरे चलोः अचलपुरे चकारलकारयोर्व्यत्ययो भवति अचलपुरम् ॥२।११८ शब्दानुशासन।
—मुनि कान्तिसागर, पूर्वोद्धृत पृ. १५६ पर उल्लिखित।

२५. श्री गोविंदप्रभु चरित्र (वि. भि. कोलते द्वारा सम्पा.) प्रस्तावना पृ. १२; पृ. ४४, ४५, ६६, ७३, १८३, २२०, ३१८ ई.; लीलाचरित्र—एकांक (गो. नेने द्वारा सम्पा.) पृ. १२, २७।

२६. नागपुरकर भोंसल्याची बखर, काशीराव राजेश्वर लिखित, (या. मा. काळे सम्पा.), नागपुर १९३६, पृ. ३९, ११५, १३६, १४०।

२७. इण्डि. ऐण्टि., ख. ४२, पृ. २२०।

काम घट

मुनि श्री महेन्द्रकुमार प्रथम

अकल्पित प्रसंग को देखकर प्रत्येक व्यक्ति के मानस में जिज्ञासा उभरती है। राजा के मन में भी प्रश्न था। उसने मंत्री से पूछा—"तूने हमारा इतना सत्कार किस बल पर किया ? क्या तेरे पास कोई अमोघ शक्ति है ?"

मंत्री ने श्रद्धावनत होकर निवेदन किया—राजन् ! यह सब तो धर्म का प्रभाव है। जब आपने साधन विहीन करके देशान्तर भेजा था, उस समय मुझे काम घट की प्राप्ति हुई थी। वह महाप्रभावक है। यह जो कुछ भी आप देख रहे हैं, वह सब मेरा नहीं; उसी का है।"

राजा ने कहा—"ऐसी दिव्य वस्तु तो राजभण्डार में चाहिए। शत्रुओं का पराभव करने में यह विशेष उपयोगी होगी।"

मंत्री ने कहा—"अधार्मिक व्यक्ति के पास ऐसी वस्तु नहीं ठहर सकती। आप इसकी इच्छा न करें।"

राजा ने मंत्री के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"यह मेरे पास ठहर जायेगी। एक बार तू मुझे इसे दे दे। यदि नहीं देगा तो मैं बलात् इसे ले लूंगा और तुझे कदर्थित भी करूंगा।"

मंत्री अपने में सावधान था। उसने काम घट राजा को समर्पित कर दिया। राजा ने उसे राजभण्डार में स्थापित कर उसकी सुरक्षा में एक हजार सैनिकों को नियुक्त कर दिया। उन्हें तीन दिन तर्क पूर्ण सजग रहने के लिए निर्देश प्रदान किये।

दूसरा दिन हुआ। मंत्री ने दण्ड को निर्देश दिया, काम घट लाओ। दण्ड पूर्णतः आज्ञाकारी था। वह तत्काल राज-भण्डार में पहुँचा। सैनिकों को मार-पीट कर उसने आहत किया। उसमें से बहुत सारे मूच्छित होकर गिर पड़े तथा बहुत सारे मुंह से खून उगलने लगे। दण्ड ने काम घट को लिया और मन्त्री के पास पहुँच गया। राजा को जब यह ज्ञात हुआ, वह खिन्नमना मन्त्री के घर पहुँचा। उसने अपनी अधार्मिकता को स्वीकार करते हुए कहा—"काम घट मेरे पास नहीं ठहर सका, प्रत्युत् मेरा अनर्थ हो गया। सैनिकों की दुरवस्था को देखकर मेरा कलेजा मुंह की ओर आता है। तू उन सब को स्वस्थ कर।"

मन्त्री ने अपनी भद्रता का परिचय दिया। उसने चमर को सैनिकों पर बींज कर उन्हें स्वस्थ किया और राजा से कहा—"धर्म के प्रत्यक्ष प्रभाव के प्रति अब तो आप नतमस्तक हैं।" राजा मन्त्री के कथन का प्रतिवाद न कर सका। न केवल राजा ने ही, अपितु समस्त नागरिकों ने भी धर्म के माहात्म्य को स्वीकार किया।

दबी हुई भावनाए समय पाकर उभर भी जाती हैं। राजा कुछ दिनों तक धर्म-परायण रहा। फिर क्रमशः धार्मिकता का प्रभाव क्षीण होता गया और नास्तिकता का नशा उस पर छाने लगा। एक दिन उसने मन्त्री से कहा—"विगत में जो कुछ भी तूने बतलाया था, वह तो घुणाक्षर न्याय से फलित हो गया होगा। उसमें धर्म का क्या लेना-देना है ? पापी व्यक्ति भी ऐसा करके दिखला सकता है। मैं तब इसे स्वीकार कर सकता हूँ, जब कि तू काम घट, दन्ड, चमर, युगल आदि मुझे सौंपकर पत्नी के साथ खाली हाथ पुनः देशान्तर जाए और समृद्धि-सम्पन्न होकर लौटे।"

धार्मिक व्यक्ति सरलाशय होते है। वे छल प्रपंचों से दूर रहते है, अतः बहुधा उन्हें समझ भी नहीं पाते। मन्त्री ने राजा के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। घर की सार-सम्भाल राजा को सौंपकर उसने पत्नी के साथ प्रस्थान कर दिया। अनवरत चलता हुआ वह समुद्र के तटवर्ती नगपुर में पहुँचा। नगर की निकटवर्ती वाटिका मे विश्राम किया। जनता से इसने सुना, सागरदत्त व्यापार के लिए जा रहा है। वह जनता को मुक्तहस्त से दान दे रहा है। मन्त्री के पास कुछ भी धन नही था। वह पत्नी को वाटिका मे छोड़कर सागरदत्त के पास पहुँचा। याचकों

को वहाँ बहुत भीड़ थी। मन्त्री सबसे पीछे था। दान देते-देते ही जहाज चल पड़ा। मन्त्री खाली हाथ था। वह किसी प्रकार जहाज पर चढ़ गया। कुछ दूर जाने पर उसने सेठ से याचना की। सेठ ने उसे दान दिया। मन्त्री वापस आने के लिए ज्यों ही मुड़ा, उसने देखा, जहाज तो अथाह जल मे प्रवेश कर चुका है। हाथों से तैर कर तट तक नही पहुँचा जा सकता। वह जहाज मे ही रहा। सयोगवश सेठ और मन्त्री का वार्तालाप हुआ। मन्त्री बहुत चतुर था, उसने वार्ता प्रसग मे सेठ से अत्यधिक निकटता बढ़ा ली। पारस्परिक मित्रता ने एक-दूसरे में आत्मीयता को भी बढाया। सेठ ने मन्त्री को योग्य समझ कर बही-खातों का काम सौंप दिया।

मन्त्री की पत्नी विनयसुन्दरी वाटिका में अकेली बैठी प्रतीक्षा करती रही। बहुत समय तक भी जब वह लौट कर नहीं आया तो वह उसकी खोज मे निकली, किन्तु सब प्रयत्न बेकार रहे। वहाँ उसका कोई परिचित नहीं था। सौभाग्यवश वह एक कुम्भकार के घर पहुँच गई। आँखे मिलते ही आत्मीयता बढ़ी। वह कुम्भकार ही उसका आश्रय-स्थल बन गया। वह वहाँ निःसंकोच रहने लगी। जब तक मन्त्री से पुनः मिलन न हो, तब तक के लिए उसने प्रतिज्ञाये की—"भूमि-शयन करूंगी। स्नान नही करूंगी। लाल कपड़े नही पहनूंगी। पुष्प धारण नहीं करूंगी। विलेपन का प्रयोग नही करूंगी। पान नही खाऊंगी। लवग,इलायची आदि का व्यवहार नही करूंगी। दही, दूध, खीर, पकवान, मिठाई आदि सरस आहार का वर्जन करूंगी। सदैव एकासन करूंगी। किसी विशेष प्रयोजन के बिना घर से बाहर नही जाऊंगी। छज्जों मे नहीं बैठूंगी तथा विवाह आदि उत्सवो मे भी सम्मिलित नहीं होऊंगी। आलाप-संलाप मे भी विवेक को प्रधानता दूंगी।" अध्यात्म-परायण होकर वह अपने समय का निर्गमन करने लगी।

सेठ सागरदत्त के साथ मन्त्री रत्नद्वीप पहुँचा। वहाँ सुरपुर नगर मे शकपुरन्दर राजा का राज्य था। सेठ ने सारा सामान जहाज से उतारा और गोदामों मे भर दिया। मन्त्री की विश्वसनीयता तथा चतुरता से सेठ इतना प्रभावित हुआ कि व्यवस्था का सारा दायित्व उस पर छोड दिया। स्वय आनन्द-मग्न शहर में घूमता रहता। दैव-योग से वहाँ की वेश्या के साथ उसकी प्रीति हो गई। उसने अपने स्थान पर रहना छोड़कर वेश्या के घर पर ही रहना आरम्भ कर दिया। कुछ दिन बीत गये, सेठ के पास वही धन पहुँच जाता। वेश्या ने एक दिन सोचा, जो व्यक्ति सेठ का व्यापाराधिकारी है, वह अवश्य ही बहुत कुशल होना चाहिए। यदि उसके साथ प्रीति हो जाए, तो धन का स्रोत फूट पड़ेगा। उसने प्रयत्न आरम्भ किया, पर कोई सफलता नहीं मिली। वह स्वयं मन्त्री के पास आई और उसे विचलित करने के लिए प्रयत्नशील हुई। मन्त्री स्वदार-सन्तोष व्रती था। उस पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ा। वह अपने प्रयत्न मे निष्फल होकर लौट आई।

मन्त्री व्यवसाय-कुशलता तथा सदाचारता से सारे शहर में प्रख्यात हो गया।

एक बार राजा ने एक तालाब खुदवाया। वहाँ कुछेक ताम्रपत्र निकले। मजदूरों ने उन्हे राजा तक पहुँचाया। राजा के मन मे उनमे लिखित विवरण को जानने की उत्कण्ठा हुई, पर वहां उस लिपि का विशेषज्ञ उसे कोई नही मिला। राजा ने उद्घोषणा करवाई, जो व्यक्ति इसे पढ़ सकेगा, उसे आधा राज्य तथा राजकन्या दी जायगी। सहस्रों व्यक्तियों ने उसे पढ़ने का उपक्रम किया, किन्तु सफलता नही मिली। मन्त्री को जब यह सूचना मिली, वह राजसभा में उपस्थित हुआ। उसने उसे पढ़ा। उसमे लिखा था—"जहाँ यह ताम्र-पत्र प्राप्त हो, वहाँ से पूर्व दिशा में सात हाथ की दूरी पर कटि-प्रमाण भूमि खोदने पर एक बड़ी शिला निकलेगी। उसके नीचे दस लाख स्वर्ण-मुद्राए मिलेगी।"

ताम्र-पत्र मे उल्लिखित रहस्य को जानने की उत्सुकता सभी के मन मे थी राजा को सबसे अधिक थी। उसी समय पूरे परिवार के साथ राजा वहाँ आया। उल्लेख के अनुसार उत्खनन किए जाने पर सब कुछ वैसे ही मिला। अप्रत्याशित दस लाख मुद्राएँ पाकर राजा हर्ष-विभोर हो गया। मन्त्री के बौद्धिक सामर्थ्य से राजा तथा जनता दोनोंही बहुत चमत्कृत हुए। राजा ने सौभाग्यसुन्दरी कन्या का मन्त्री के साथ विवाह किया तथा आधा राज्य दहेज

में दान किया। उसके साथ हाथी, घोड़े तथा मणिमाणिक्य आदि से भरे हुए बत्तीस जहाज भी अर्पित किये।

साथी की प्रगति को देखकर उस पर प्रसन्न होने वाले विरल होते हैं। मध्यस्थ रहने वाले भी विरल होते हैं, किन्तु उस पर जलने वालों की सख्या अत्यधिक होती है। सेठ सागरदत्त तृतीय श्रेणी का व्यक्ति था। मंत्री की राज-मान्यता तथा अपार समृद्धि उसके चुभन पैदा करने लगी। किन्तु उसका उपचार भी क्या था? सागरदत्त ने निश्चय कर लिया, अब यहां नही रहना है। अपना अवशिष्ट माल उसने बेच दिया और वहाँ से अनेक प्रकार का माल खरीद कर जहाज भर लिया। मन्त्री को प्रस्थान के अभिप्राय से सूचित कर दिया। मन्त्री को भी अपने घर की याद सताने लगी। उसने भी राजा से अनुमति ली और तैयारी करने लगा। राजा ने आधे राज्य के अनुपात से धन-धान्य दिया। उससे आठ जहाज भर गये। राजकीय सम्मान के साथ उन्हें विदा किया गया।

मन्त्री के पास कुल चालीस जहाज थे। एक जहाज सागरदत्त का था। मन्त्री की प्रचुर सम्पदा तथा सौभाग्यसुन्दरी रानी को देखकर सेठ का मन ललचा गया। उन्हे अपने अधीन करने के लिए उसने एक षड्यन्त्र रचा। एक दिन उसने मन्त्री से कहा— 'पृथक्-पृथक् जहाज में बैठ कर हम एक दूसरे के साथ मैत्री नही निभा सकते। अच्छा हो, तुम मेरे जहाज मे चले आओ। पहले की तरह सहभोजन, सहक्रीडा तथा हास्य-विनोद करते हुए समय का निर्गमन करेंगे।"

सज्जन अपने विचारों के अनुरूप ही दूसरे को दूसरे का अकन करता है। उसके मन मे पाप नही होता। मंत्री सागरदत्त के जहाज मे आ गया। कुछ समय तक दोनो में मुक्त चर्चाएँ होती रही। सध्या का समय हुआ। सेठ ने कहा—"सूर्य के पश्चिम में चले जाने पर कितना रमणीय दृश्य हो जाता है। आओ, जहाज के छोर पर बैठ कर समुद्रीय लहरो को देखने का आनन्द लें।" दोनों वहाँ पहुँच गये। अपार जल-राशि को पार करते हुए जहाज आगे बढ़े जा रहे थे। सूर्य अस्त हो चुका था। अन्धेरे ने सारे समुद्र को लील लिया था। केवल आकाश मे कुछेक तारे टिमटिमा रहे थे। दोनों मित्र वहीं किसी अज्ञात चर्चा में खोये हुए थे। अवसर पाकर सेठ ने मन्त्री को धक्का दे दिया। मंत्री समुद्र के गहरे पानी में समा गया। कष्ट के समय भी उसने 'णमोक्कार' महामंत्र का स्मरण किया। एक काष्ठ फलक उसके हाथ लगा। वह उसके सहारे तैरने लगा। जहाज आगे निकल गये।

योजना के सफल हो जाने पर सेठ की बाछें खिल उठी। उसने बनावटी शोक व्यक्त करते हुए सौभाग्यसुन्दरी के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। सौभाग्यसुन्दरी बड़ी चतुर थी। उसने सारी परिस्थिति को तत्काल भाँप लिया। सेठ की दुश्चेष्टाएँ बढ़ती जा रही थी। उसकी ओर से उसके पास नाना प्रस्ताव आए। उन्हें निष्फल करने के अभिप्राय से उसने समय पर सोचने का सकेत दिया। कुछ ही दिनों मे सारे जहाज गम्भीरपुर नगर के बन्दरगाह पर पहुँचे। सौभाग्यसुन्दरी ने स्फूर्ति से काम लिया। वह तत्काल वहाँ से चली और भगवान ऋषभदेव के मन्दिर में पहुँच गई। कपाट बन्द किए और बोली—यदि मेरे शील का प्रभाव हो, तो मेरे द्वारा बिना खोले कपाट न खुले।" वह वही धर्माराधना में लीन हो गई।

मन्त्री भी तट पर पहुँचा। पास में ही एक नगर था। पर वहाँ निर्जनता प्रतीत हो रही थी। वह उस ओर ही बढ़ा। बड़ा नगर, भव्य सजावट, बाजार मे नाना प्रकार की सामग्री से सज्जित बड़ी-बड़ी दुकाने थी। किन्तु पूर्णतः शून्यता थी। किसी मानव के वहाँ दर्शन नही हो रहे थे। मन्त्री नगर के अनेक राजमार्गों में घूमता हुआ राजमहल की सातवीं मजिल पर पहुँचा। एक पल्यंक बिछा हुआ था। उस पर एक ऊँटनी बैठी थी। कुछ ही दूरी पर कृष्ण और श्वेत, दो प्रकार के अजन तथा दो अंजन शलाकाएँ वहाँ पडी थीं। मन्त्री का आश्चर्य और बढा। उसने प्रतिभाबल से काम लिया। श्वेत अंजन को शलाका में भर कर ऊँटनी की आँखों मे डाला। ऊँटनी दिव्य कन्या के रूप मे बदल गई। उसने मन्त्री का अभिवादन करते हुए भव्य आसन की ओर संकेत किया।

आश्चर्य ने और अधिक आश्चर्य को उत्पन्न किया। मंत्री ने एक ही साथ कन्या से बहुत सारे प्रश्न पूछ डाले—"तुम कौन हो? किसकी कन्या हो? तुम्हारी ऐसी

स्थिति क्यों है ? यह कौन-सा नगर है ? जन-शून्य क्यों है ?"

कन्या के नेत्रों से अश्रु टपकने लगे। उसने केवल इतना ही कहा—"महाभाग ! आप शीघ्रता से यहां से चले जाएँ। आपका यहां रहना विपदाओं से भरा है। मैं नहीं चाहती, आप किसी अनालोचित संकट से घिर जाएँ।"

मंत्री अविचलित रहा। उसने निर्भयतापूर्वक कहा—"यहां भय ? स्पष्ट करें, किसका भय है ? पराक्रमी के लिए कोई भय नहीं है।"

कन्या ने विनम्रता से कहा—"यहां एक राक्षसी रहती है। वह बहुत क्रूर है। उसके आने का समय हो रहा है, इसलिए निवेदन है, आप प्रस्थान की शीघ्रता करें।"

मंत्री ने कहा—"मैं तो उससे साक्षात्कार के लिए उत्सुक हूँ। यदि उसके इतिहास की तुझे कोई जानकारी हो, तो मुझे बतला।"

कन्या ने कहना प्रारम्भ किया—"इस नगर के राजा भीम मेरे पिता थे। वे तापस-भक्त थे। एक दिन एक मास की तपस्या कर पारणा करने के लिए एक तापस यहां आए। राजा ने उन्हें राजमहलों मे निमंत्रित किया। भोजन परोसने का दायित्व मुझे सौंपा गया। तापस मेरे सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। रात्रि में वह मेरे महलों की ओर आ रहा था। द्वारपालों ने उसे गिरफ्तार कर लिया। प्रातः राजा ने उसे शूली पर चढ़ा दिया। आर्त्तध्यान मे मर कर वह राक्षसी हुआ। उसने प्रतिशोध की भावना से राजा को मार डाला। भयभीत नागरिक सम्पत्ति को ज्यों-त्यों छोड़कर चले गये। नगर शून्य हो गया। मेरे प्रति उसकी आसक्ति थी, अतः उसने मुझे नहीं मारा। ऊँटनी के रूप मे वह मुझे यहां रखती है तथा प्रतिदिन यहां आकर मेरी सार-सभाल भी करती है। अब वह आने ही वाली है, अतः महाभाग ! आप छुप जाएँ।"

कन्या ने स्मित हास्य के साथ आगे कहा—"एक दिन मैंने उस राक्षसी से कहा—मैं अकेली यहां क्या करूँ ? तुम मुझे भी मार डालो। मेरा सारा जीवन नष्ट हो रहा है। राक्षसी ने तब मुझे कहा था, किसी योग्य वर की खोज मे हूँ। मिलते ही तेरा विवाह उसके साथ कर दूंगी। सम्भव है, आपको देखते ही वह मुझे आपको समर्पित कर दे। यदि ऐसा हो गया, तो मै तो निहाल हो जाऊँगी।" कन्या की आंखें झुक गईं। अगले ही क्षण उसने कहा—"यदि मेरा भाग्य चमक जाए, तो आप राक्षसी से आकाशगामिनी विद्या, महाप्रभावक खड्ग बहुमूल्य रत्न-मजूषा, अति प्रभावक रक्त व श्वेत कनेर की दो छड़िया तथा दिव्य रत्नों की दो मालाएँ अवश्य माँग ले।"

मन्त्री वहीं छुप गया। कुछ ही समय मे राक्षसी वहां आई। कन्या के साथ आमोद की बातें करने लगी। उचित अवसर देखकर कन्या ने वर की याचना की। राक्षसी ने कहा—"मैं तो चाहती हूँ, पर कोई योग्य वर अब तक भी मेरी नजर में नहीं आया।"

कन्या ने कहा—"एक वर तो मैं बता सकती हूँ यदि आपको पसन्द हो तो।"

"क्यों नहीं ? बताओ तो सही।" राक्षसी ने वत्सलता से कहा।

मन्त्री तत्काल राक्षसी के समक्ष उपस्थित हुआ। राक्षसी उसके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुई। उसने दोनों को उसी समय प्रणयसूत्र मे आबद्ध कर दिया। कर-मोचन के अवसर पर मन्त्री द्वारा अभियाचित सारी वस्तुएँ राक्षसी ने उन्हे प्रदान कर दी। राक्षसी क्रीड़ा के लिए अन्यत्र चली गई।

मन्त्री और कन्या हास्य-विनोद कर रहे थे। सहसा कन्या ने कहा—"यहां रहते हुए मेरा मन ऊब चुका है। यहां से मुझे अपने घर ले चलो।"

मन्त्री ने उत्तर दिया—"किन्तु मार्ग की अनभिज्ञता से हम अपनी मंजिल तक कैसे पहुँच पायेंगे, यह एक जटिल पहेली है।"

कन्या ने कहा—"इसका समाधान तो मेरे पास है। हम दोनों प्रभावक खट्वा पर बैठ जाएँ। दिव्य रत्नों की दोनों मालाओं को साथ ले ले। श्वेत कनेर की छड़ी से आप खट्वा को पीटें। यह हमको तत्काल ले उड़ेगी और इच्छित नगर में उतार देगी। किन्तु इसमे एक कठिनता है और वह है राक्षसी की। उसे ज्ञात होते ही वह हमारा

पीछा करेगी और आगे बढ़ने नहीं देगी। उसका भी प्रतिकार है। जब वह राक्षसी हमारे निकट आए, रक्त कनेर की छडी से आप उसे पीटे। उस पर स्नेह न दिखाएँ, वह निष्प्रभ होकर लौट जायगी।"

इच्छित मार्ग के मिल जाने से मन्त्री ने कन्या के साथ वहाँ से प्रस्थान किया। कुछ ही क्षणों में राक्षसी महलों में लौटी। कन्या और मन्त्री दोनो ही वहाँ नहीं थे। वह समझ गई, धोखा देकर दोनों ही यहाँ से चले गये है। उसने उनका पीछा किया। मन्त्री सावधान था। ज्यों ही राक्षसी निकट आई, रक्त कनेर की छडी से मंत्री ने उसको पीटा। कुछ समय तक तो वह मार खाती हुई उनके साथ चलती रही, पर अन्यत: हतप्रभ होकर लौट आई।

खट्वा गम्भीरपुर के उद्यान मे जाकर रुकी। मन्त्री ने कन्या को वहाँ छोड़ा और आवास के लिए मकान का शोध करने हेतु स्वय शहर की ओर चल पडा। उद्यान मे उस समय एक वेश्या आई। कन्या के सौन्दर्य पर वह मुग्ध हो गई। उसने उसे अपने जाल में फंसाने का प्रयत्न आरम्भ किया। पास मे जाकर आत्मीयता से कहने लगी—"बेटी! तुम कौन हो? कहाँ से आयी हो? तुम्हारा पति कहाँ है? यहाँ अकेले कैसे हो?"

कन्या ने सहजता मे अपना पूरा परिचय दिया। वेश्या ने अपनी बात को मोड देते हुए कहा—"बहुत प्रसन्नता की बात है। तुम तो मेरी भाभी हो। मन्त्री तो मेरा भाई है। और वह तो मेरे घर पहुँच गया है। उसने तुम्हें मेरे घर बुलाने के लिए भेजा है। चलो अपने घर।'

वेश्या के कपट को कन्या नहीं समझ पाई। वह उसके घर पहुँच गई। किन्तु वहाँ के वातावरण को देखकर उसको सन्देह हुआ। उसने पूछा—'मेरे पतिदेव कहाँ हैं?"

"यहा प्रतिदिन बहुत पति आयेंगे। तुम निश्चित रहो और जीवन का आनन्द लूटो।" वेश्या ने व्यग्य कसते हुए कहा।

कन्या के पैरो के नीचे स धरती खिसक गई। उसने अपनी सुरक्षा के लिए एक कमरे मे प्रविष्ट होकर कपाट बन्द कर लिया। वेश्या ने उन्हे खोलने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु वे खुल न पाये।

विनय-सुन्दरी कुम्भकार के घर रह रही थी। एक दिन एक कामुक राजकुमार ने उसे बहुत क्षुभित किया। वह स्थिर रही। राजकुमार की एक न चली। जब उसने उसका पीछा नही छोड़ा, तो वह भी अपने कमरे के दरवाजे बन्द कर धर्म जागरण मे लीन हो गई।

नगर मे सर्वत्र यह चर्चा होने लगी, तीन कन्याएं द्वार बंद कर अनशन मे बैठी है। कोई भी शक्ति उसके द्वार को नही खोल सकता। राजा के कानो तक भी यह बात पहुँची। उसने उद्घोषणा करवायी—"जो व्यक्ति इनके द्वार खुलवा देगा और तीनों कन्याओं का मौन समाप्त करवा देगा, उसे आधा राज्य तथा राजकुमारी दी जायेगी।

मन्त्री निवास के लिए मकान खोज कर तथा भोजन सामग्री लेकर उद्यान में पहुँचा। वहाँ उसे पत्नी नही मिली। दिग्भ्रमित-सा नगर मे घूमने लगा। उसने भी राजा की उद्घोषणा को सुना। सोचा, यह तो मेरे ही घर बीती है। उसने तत्काल उद्घोषणा का स्पर्श किया और सैकड़ों व्यक्तियों से घिरा हुआ पहले पहल वह कुम्भकार के घर पहुँचा। नगर-प्रस्थान से विनय सुन्दरी को वाटिका मे छोड़े जाने तक की सारी घटना उसने सुनाई। विनय सुन्दरी ने तत्काल कपाट खोले और बोल उठी—'आगे क्या हुआ?,'

जन-समुदाय के साथ मन्त्री श्री ऋषभदेव के मंदिर मे आया। वहाँ उसने सेठ सागरदत्त के साथ व्यवसाय आदि से लेकर स्वय के समुद्र मे गिरने तक की घटना पर प्रकाश डाला। सौभाग्य-सुन्दरी ने स्वर से मन्त्री को पहचान लिया और दरवाजे खोल दिये। जन-समुदाय चकित था।

तीसरी कन्या किस घटना पर बोलेगी, यह भी प्रश्न रह-रहकर सभी के मस्तिष्क मे उभर रहा था। सहस्रों व्यक्तियों के साथ मन्त्री वेश्या के घर पहुँचा। वहाँ भी उसने अपने इतिवृत का पूरा ब्योरा कुशलता से सुनाया। तीसरी कन्या ने भी मन्त्री को पहचान लिया और कपाट खोल दिये। तीनो पत्नियों को पाकर मन्त्री अतिशय प्रमुदित हो रहा था। राजा ने आधा राज्य मन्त्री को दिया तथा राजकुमारी का विवाह भी उसके साथ कर दिया।

प्राकृत भाषा और नीति

डा० बालकृष्ण अकिंचन एम. ए. पी-एच. डी.

धार्मिक विश्व में जैन ग्रन्थो और उन जैन ग्रन्थों में प्राकृत भाषा का महत्त्व असंदिग्ध है। भारत के प्राचीन भाषा-परिवार में भी प्राकृत का अपना स्थान है। इसके महत्व से न केवल भारतीय अपितु विंटरनिट्स तथा पिशॅल जैसे विदेशी विद्वान भी आकर्षित हुए हैं। गाथा सप्तशती तथा वज्जालग्ग जैसे ग्रन्थ विश्व-काव्य माने जाते है।

"गाहा सत्तसई (गाथा सप्तशती)" जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। लगभग सात सौ गाथाओं का संग्रह है। ये गाथाएं किसी एक कवि की न होकर, केसव, गुणाढ्य, मकरन्द, कुमारिल, अवन्तिवम्म, भोज और मल्लसेण आदि प्राकृत काव्य के सर्वश्रेष्ठ एवं सफल कवियों की रचनाएं हैं। कहते है कि आरम्भ में इसका नाम 'गाहा कोस' था, इस संग्रह के संकलनकर्ता आंध्र प्रदेशीय सातवाहन राजा हाल थे। वे स्वय भी कवि थे और उन्होंने अपनी कुछ गाथाएं इस संग्रह में दी भी है। कहते है कि उन्होंने 'एक करोड़ प्राकृत पद्यों में से केवल ७०० पद्यों को चुन कर रखा था।' ये पद्य अपनी काव्यमयता में बेजोड हैं। यदि समूचा प्राकृत काव्य नष्ट हो जाय और हाल की सतसई बची रहे तो भी प्राकृत भाषा के काव्य सौष्ठव, सम्पन्नता एवं सम्मान पर, कोई आंच नहीं आ सकती। जिस प्रकार उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान, अभिज्ञान शाकुन्तल के, काव्योत्कर्ष, हिमालय की उत्तुंगता, गगा की पावनता तथा ताजमहल की कलात्मकता पर संसार के सभी विद्वान एकमत हैं, उसी प्रकार गाथा सप्तशती के काव्य वैभव की महत्ता पर पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी विपश्चितों में मतैक्य है।

डा० जगदीशचन्द्र जैन ने इसे 'पारलौकिकता की चिन्ता से मुक्त, संसार के साहित्य की बेजोड़ एवं अनमोल रचना कहा है'[1]। प० भगवत् शरण उपाध्याय ने इसे 'संसार के जन-साहित्य में प्रणय-संवाद की प्राचीनतम और अनुपम' कृति बताया है[2]। वैसे तो यह श्रृंगार रस की कृति है। किन्तु जीवन के प्रवृत्ति मार्ग मे आनन्द अनुभव करने वाले ऊंचे कवियों की वाणी से मानव-व्यवहार-सम्बन्धी सरस उक्तियाँ न निकलें यह असम्भव है। यही कारण है कि गाथा सप्तशती में नीति काव्य भी

१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५६६।
२. विश्व साहित्य की रूपरेखा, पृ० ५०७।

सागरदत्त और वेश्या का उदन्त जब राजा को ज्ञात हुआ, तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने सागरदत्त से सारा धन मन्त्री को दिलाया और उसे दण्डित किया। वेश्या को भी देश से निर्वासित कर दिया गया।

चारों पत्नियों के साथ मन्त्री आनन्दपूर्वक रह रहा था। एक दिन पिछली रात्रि में वह जाग रहा था। सहसा उसके अध्यवसाय उभरा—पापबुद्धि राजा को शिक्षा देनी चाहिए। तत्काल निर्णय लिया और सदल-बल अपने नगर की ओर चला। पापबुद्धि राजा असावधान था। बड़ी सेना को देखकर उसका साहस टूट गया। नगर-द्वार बंद कर वह बैठ गया। मन्त्री ने दूत को भेज कर कहलवाया—"सोने का समय नही है। युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर आओ। यदि ऐसा साहस न हो, तो मुंह में तृण लेकर मेरे सामने आओ।'

पापबुद्धि राजा के स्वाभिमान पर ठेस लगी। उसने ज्यों-त्यों साहस को बटोरा और रण भूमि मे आया। मन्त्री ने अपना पौरस दिखलाया और राजा को बांध लिया। मन्त्री ने राजा से कहा—"पहचानों, मैं कौन हूं। क्या धर्म का प्रत्यक्ष फल दिखाने के लिए और भी किसी प्रमाण की अपेक्षा है ?"

राजा अपने ही मन्त्री को समृद्धि-सम्पन्न देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपने दुराग्रह को छोड़ा और धर्म के प्रति श्रद्धाशील हुआ। राजा और मंत्री की आत्मीयता से नागरिक भी धर्म प्रवण हुए। ●

(जैन भारती से साभार)

सहज ही प्राप्त हो जाता है। 'नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का कथन है—"विषय वस्तु की दृष्टि से 'गाथा सप्तशती' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में कृषिजीवी भारतीय जीवन का चित्र अंकित है। इसमे मानवीय प्रवृत्तियों एवं चरित्रो का निदर्शन है। यह एक प्रकार से तत्कालीन रीति-नीति तथा आचार-विचार का कोश ग्रन्थ है, जहाँ अधिकतर जन-साधारण का ही जीवन मुखर है'। विषय को अधिक न बढाते हुए हम नीतिसम्बन्धी कुछ गाथाए प्रस्तुत करते हैं :—

चत्तर धारिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थ पइअ।
असई सअजिआ दुग्गआ अण हु खण्डिअं सीलम्॥१।३६

अर्थात् चौराहे पर जिसका घर हो, फिर भी स्त्री प्रिय दर्शना हो, जो स्त्री स्वय तरुणी हो, फिर भी जिसका पति प्रवासी हो; एवं सती कामिनी स्वयं कामिनी पड़ोसिन होकर भी जो दरिद्रा हो, इस प्रकार की नारियों का चरित्र खंडित होता ही है।

अद्दंसणेण महिला अणस्स अहदंसणेण णीअस्स।
मुक्खस्स पिसुणअण जम्पिएण एमेअ वि खलस्स॥१।८२

अर्थात् महिलाओं का प्रेम बिना देखे, नीचों का प्रेम अधिक देखे जाने पर, मूर्खों का प्रेम दुष्टों के वाक्य से एवं खल का प्रेम अकारण ही दूर हो जाता है।

पउरजुवाणो गामो महुमासो जो अणं पइठेरो।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ॥२।९७

अर्थात् गाव मे अनेक युवक रहते है, मास भी मधुमास है, नायिका पूर्ण युवती है, किन्तु उसका पति स्थविर है, सुरा भी पुरानी है, जिसको इतनी स्वाधीनता है, वह युवती असती नही होगी तो क्या मरेगी।

हसिअं अदिट्ठदन्तं भमि अमणि क्कन्त देहली वेसम्।
दिट्ठंमणुक्खित्तमुँहं एसो मग्गो कुलवहूणं।।६।२५

अर्थात् कुल वधुओ की यह रीति है कि उन्हे बिना दाँत दिखाये हंसना चाहिए, देहली के आगे बढ़े विना घूमना चाहिए एव मुंह ऊपर उठाये बिना देखना चाहिए। इसी प्रकार के अनेक कथन सरलता पूर्वक देखे जा सकते हैं, सरलता की दृष्टि से गाथा सप्तशती की अपेक्षा वज्जालग्ग की उपयोगिता अधिक जान पडती है।

श्वेताम्बर जैन मुनि जयवल्लभ द्वारा सकलित 'वज्जालग्ग' संग्रह प्राकृत नीति-काव्य की दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी है। इस सग्रह मे धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी तीन प्रसंगों पर काव्य-संकलन हुआ है। विभिन्न प्रतियो मे आर्याओ की सख्या भिन्न होते हुए भी यह प्रधानतः एक सप्तशती ही है। मानव जीवन की सफलता का क्रियात्मक रहस्य खोलने वाला यह नीति-निदर्शन देखिए :—

अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परिहिय च कायव्वं।
अप्पहिय परहियाणं अप्पहिय चेव कायव्वं॥[1]

अर्थात् पहले अपना हित करना चाहिए, सम्भव हो तो दूसरे का। अपने और दूसरे के हित मे अपना हित ही मुख्य है। समर्थ पुरुष यदि अवसर निकल जाने पर दान दें तो क्या लाभ—वारिद के सम्बन्ध में एक अन्योक्ति उपस्थित है—यह गाथा दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ की है जिनका समय प्रथम शताब्दी माना जाता है गाथा का भाव महत्त्वपूर्ण है—

वरिसिहिसि तुमं जलहर ! भरिहिसि भुवणन्तराइ नीसेसं।
तहासुसियसरीरे मुयम्मि वप्पी हयकुडुंबे।

अर्थात् हे जलधर ! तुम बरसोगे और समस्त भुवनांतकों को जल से भर दोगे, लेकिन कब ? जबकि चातक का कुटुंब तृष्णा से शोषित होकर परलोक पहुँच जायेगा'। व्यंग्यार्थ है कि दानियों को दीनों की सहायता समय रहते ही करनी चाहिए। गृहणी-परिवार मे किस प्रकार आचरण करे कि वह लक्ष्मी कहला सके :—

भुजइ भुंजियसेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणं सयले।
पढमं चेय विबुज्झइ घरस्स लच्छी न मा घरिणी॥

अर्थात् जो परिवार के जनों से बाकी बचा भोजन करती है, सब परिजनो के सो जाने पर स्वय सोती है, सबसे पहले उठती है, वह गृहणी नही लक्ष्मी है। मांगना मरण के समान है, इसलिए सज्जन कष्ट भोगना उचित

१. 'हिन्दी गाथा सप्तशती' नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, चौखम्भा विद्या-भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१७, पृ० २२।

१: तुलनीय—तृषित वारि बिनु जो तन त्यागा।
मुआ करिय का सुधा तड़ागा॥
—रा० च० मानस (अयो० काण्ड)

समझता है, पर मांगता नहीं :—

झीण विहवो वि सुयणो, सेवइ रण न पत्थर अन्नं ।
मरणं वि अइमहग्घ, न, विक्कणइ माण माणिक्कं ।।

अर्थात् सज्जन क्षीण विभव हो जाने पर वन को प्रस्थान कर देगा, पर मांगेगा नही। मरने पर भी वह मान रूपिणी बहुमूल्य मणि को बेचना पसन्द नहीं करता। धनवानों के कजूस, शोषक तथा स्वार्थी स्वभाव पर कितना जबरदस्त व्यग्य इस आर्या मे है :—

जम्म दिणे थणनिवडण भएण दिज्जन्ति धाइउच्छङ्गे ।
पहुणो जं नीयरया मन्ने तं खीरमाहप्पं ।।

अर्थात् स्तनों के निचुड़ जाने के भय से बच्चे को उसके जन्मदिन पर ही धाय के सुपुर्द कर दिया जाता है। यदि पैसे वाले नीचगामी हों तो, मैं इसे दूध का ही माहात्म्य मानता हूँ। व्यग्यार्थ है कि कमीनापन धनवानों को विरासत मे मिलता है। स्वार्थ उनकी फितरत मे शामिल रहता है।

मुक्तक ही नही, महाकाव्य भी अपनी महानतम सज-धज के साथ प्राकृत मे विद्यमान है। इन महाकाव्यों मे सेतु बन्ध, गउडवहो और लीलावई आदि प्रमुख है।

ये महाकाव्य विदग्धता मे अपना सानी नही रखते। इनमे तत्कालीन जन-जीवन और रीति-नीति का जैसा वर्णन हुआ है वैसा इतिहास-ग्रथो मे भी नही है। इस दृष्टि से 'सेतुबंध' बहुत उपयोगी है। बानर वाहिनी के प्रस्थान से लेकर रावण-वध के अन्त तक होने वाली कथा-वस्तु में बिखरे नीति-कथन बहुत ही उपयोगी है। सत्पुरुषो की विरक्तता पर एक कथन इस प्रकार है। "बिना कुछ कहे हो कार्य (दूसरों का) सम्पन्न कर डालने वाले सत्पुरुष विरले ही होते है। विना पुष्पों के ही फल प्रदान करने वाले वृक्ष उगते ही कितने हैं। अर्थात् थोड़े ही है[1]। समर्थ एवं सक्षम व्यक्तियों का लक्षण देते हुए कहा गया है—सामर्थवान सत्पुरुष संशय की समुपस्थिति मे धैर्य तथा संग्राम के समय मे वीरता अपनाते हैं। सुख, दुख दोनों की स्थिति में वे अग सम्मान से रहते है और जब सकट का समय होता है तब विचार पूर्वक कार्य करते है[2]। नीतिवान को यह भी जानना आवश्यक है—'जो स्त्रियां विलास भावना से विदग्ध होती है, वे अकस्मात् आये प्रिय को देखकर चचल तो नही हो उठती है। हाँ उस समय वे कभी अपने केशों का स्पर्श करती हैं, तो कभी कड़ों को ऊपर-नीचे करती हैं तथा कभी वस्त्रों को ठीक-ठाक करती हुई सखी से झूठमूठ का वार्तालाप करने लगती है और ये सब उनकी व्यग्रता पूर्ण उत्सुकता के ही प्रतीक है[3]। नवोढाओ मे तो ये चिह्न भी स्पष्ट नही होते। उनको प्रेम क्रीडाओ के लिए बड़ी कोमलता से तैयार करना चाहिए। प्रथम समागम के समय—"नवोढ़ा स्त्री प्रिय द्वारा उपस्थित किये हुए मुख का पान नही करती, प्रिय द्वारा याचित किये हुए अधर को नही झुकाती, प्रिय द्वारा जबरदस्ती आकृत अधरो को छुडाना चाहती है। इस प्रकार प्रथम समागम मे युवतियाँ बड़ी कठिनता से रति सम्पन्न कराती है।" समागम अवसरो पर मदिरापान करके पुरुष अपनी कोमल चित्ता प्रेमिकाओ के कोपभाजन बनते हैं। अतः मदिरा की बडी तीव्र अवमानना है। कुछ कवियों ने मदिरा के नशे से भी अधिक विनाशक मद, धन को माना है। इस सम्बन्ध मे वाक्पति के कथन बहुत अनूठे हैं।

वाक्पति राज का लगभग ७५० ई० मे रचित (सम्भवतः अपूर्ण) काव्य 'गउडवहो' (गोडवध) महाराष्ट्री प्राकृत की सुप्रसिद्ध रचना है। यह प्रबन्ध काव्य १२०९ गाथाओ मे प्राप्त है। इसमे कवि ने अपने आश्रयदाता कन्नौज के महाराज यशोवर्मा की प्रशस्ति की है। नीति सम्बन्धी गाथाएं भी प्रसग वशात् आई है—लक्ष्मी और मदिरा के नशे का यह विरोधाभास कितना सुन्दर बन पडा है :—

पेच्छह विवरीयमिम बहुया, मइरा मएइ ण हु थोवा ।
लच्छी उण थोवा जह, मएइ ण तहा इर बहुया ।।

अर्थात् देखो कितनी विपरीत बात है। बहुत मदिरा पान करने से नशा चढता है, थोड़ी पीने से नहीं। परन्तु थोडी लक्ष्मी मनुष्य को जितना मत्त बना देती है, उतना अधिक लक्ष्मी नही। यह एक अनुभव सिद्ध तथ्य है और

१. सेतु बंध ३।२०।

२. वही १०।७०।

३. वही १०।७८।

कवियों ने परिस्थितियों का ताना-बाना बुनकर इनको और भी सटीक बना दिया है। कथा के प्रवाह के मध्य से नीति कथन मे प्रकृत कवि बहुत ही कुशल है।

देव और मानव लोक के पात्रों से सवलित 'लीलावई' दिव्य मानुषी प्रबन्ध काव्य, 'कोऊहल' नामक ब्राह्मण की रचना है। इसमे सिंहल देश की राजकुमारी लीलावती और प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन की प्रेम कथा का, प्राय: अनुष्टुभ् छन्दों में वर्णन किया गया है। प्रसगवश नीति परक कथन भी आ गये हैं—यथा भाग्यानुसार ही सुख-दुख मिलता है, इस सम्बन्ध में एक उक्ति इस प्रकार है :—

तह वि हु मा तम्म तुम मा झुरसु मा विमुच अत्ताणं।
को देइ हरइ को वा सुहासुहं जस्स जं विहियं ।। ५७३

अर्थात् (मनुष्य को) किसी भी अवस्था मे दुखी नही होना चाहिए, अपने धैर्य का परित्याग नही करना चाहिए, क्योंकि जितना सुख-दुख विहित है, उससे अधिक न कोई दे सकता है, न छीन सकता है। कवि ने निष्कर्ष निकाला है कि शक्तिभर प्रयत्न करना मनुष्य का काम है, शेष दैवाधीन है। इसलिए बहुत दुखी नही होना चाहिए। क्योकि ये दुख भी जीवन के अनिवार्य अग हैं। कवि ने कन्या का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि, 'इस संसार मे लोगो को अपनी कन्या जैसी और कोई वस्तु मन को कष्टदायी नही होती। कन्या के लिए मनचाहा वर तीन लोक मे भी मिलना दुर्लभ है।' कोऊहल के समान ही अन्य प्राकृत कवियों ने कन्या-सम्बन्धित मार्मिक उल्लेख किये हैं। हेमचन्द्र ने तो उन्हें दुष्ट पिताओं से भी सावधान रहने का सकेत किया है। हेमचन्द्र अपने समय के स्वनामधन्य आचार्य कवि, वैयाकरण, विद्वान सभी कुछ एक साथ थे। उन्होंने कई चरित काव्यों का प्रणयन किया था। इनके काव्यों मे नीति कथन पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। उक्त प्रसंग के संदर्भ में 'कुमार पाल चरित' का एक कथन उद्धरणीय है :—

जीअन्ति मित्त मज्जं रम्मन्ति सुअं बहुं पवअन्ति।
जीलुक्कान्त च गुरु गेहिणीं पि काम-वक्ष-परि अलिया ।।

अर्थात् कामांध, मित्र-वधू, स्वपुत्री (यहां तक कि) गुरु गृहिणी से भी रमण करने में संकोच अनुभव नहीं करते[1]।

प्राकृत भाषा मे श्रव्य काव्यों के दृश्य काव्य भी प्राकृत में हैं। सस्कृत के दृश्य काव्यों में भी प्राकृत भाषा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। वहाँ साधारण विदूषक तथा भृत्यादि के द्वारा प्राकृत ही बुलवाने का आदेश है[2]। इन स्थानों पर भी प्रसंगवश नीति कथन प्राप्त होते हैं। उदाहरण—मृच्छकटिक मे धन को हरने वाली कुलनाशिनी वेश्याओं तथा मुद्राराक्षस मे मोहादि के प्रसंग थे। प्रकारान्तर से नैतिक प्रशिक्षण की योजना की गई है। पाखड पर मृच्छकटिक के भिक्षु की करारी चोट देखिए :—

"सिर और गाल तो मुंडित कर लिए हैं, परन्तु इससे होता क्या है। मुंडवाने की वस्तु तो मन है। जिसके मन मुंड गया, उसे सिर तथा गाल तो अपने आप ही मुड़े समझो।

काव्य के अतिरिक्त व्याकरण, ज्योतिष, रसायन शास्त्र, छन्द शास्त्र, राजनीति तथा अर्थ शास्त्रादि अन्य विधाएं भी प्राकृत मे है। इनमे भी प्रसग उपस्थित होने पर व्यवहार और नीति सम्बन्धी कथन आये है। उदाहरणार्थ—'अत्थसत्य' (अर्थ शास्त्र) की गाथा उपस्थित की जा सकती है :—

विसेसेणमायाए सत्थेण य हंतव्वो ।
अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तुत्ति ।।

अर्थात् अपने बढ़ते हुए शत्रु का विशेष माया से या शस्त्र से (जैसे भी बने) संहार करना चाहिए। शास्त्रों मे इस प्रकार के कथन खोजने पर मिल जाते है। किन्तु इनका प्राचुर्य काव्यों में ही है और विशेषत: ऐसे काव्यों मे जिनका आधार धर्म है, धर्म मे प्रमुख श्रेय जैन कृत धर्मानुयायी कवियों को है। उदाहरण के लिए हम विमल सूरि कृत पउमचरिउ प्राकृत (रामायण) को ले सकते हैं। महर्षि वाल्मीकि के कुछ असंगत प्रसंग योजनायों से क्षुब्ध हो सूरि ने यह रचना महावीर निर्वाण के ५३० वर्ष पश्चात्—६० ई० के लगभग महाराष्ट्री प्राकृत के आर्या छन्द मे की थी। मानवीय जीवन मूल्यों की स्थापना की

१. कु० पा० चरित (सं० १९३६, बम्बई) सप्तम सर्ग
२. भरत मुनि नाट्य शास्त्र, १७, ३१, ४३।

दृष्टि से इस ग्रंथ की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है। जैन मुनियों को दूर तक यह श्रेय प्राप्त है। गुणपाल मुनि के प्रसिद्ध 'जंबु चरियं (जंबू चरित)' से एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

जं कल्ले काव्वं अज्जं चिय त करेह तुरमाण।
बहुविग्घो या मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह।

अर्थात् जो कल करना है उसे आज ही जल्दी से कर डालो। प्रत्येक मुहूर्त्त बहुविघ्नकारी हैं, अतएव अपहरान्ह की प्रतीक्षा मत करो। साधनेश्वर की 'सुरसुन्दरी चरिय' में अनेक नीति परक गाथाएं है। राजरोष से कौन बच सकता है। एक सुन्दर उदाहरण देकर यह तथ्य इस प्रकार कहा गया है :—

काउं राय विरुद्धं नासंनो कत्थ छुट्टसे पाव।
सूयार साल वडिओ ससउव्व विणस्ससे इण्हिं॥

अर्थात् हे पापी! राजा के विरुद्ध कार्य करने से भाग कर तू कहाँ जायेगा? रसोइये की पाकशाला मे आया हुआ खरगोश भला कहीं बचकर घर जा सकता है? नारी हृदय की एक टीस, एक खीज की सजीव प्रतिध्वनि, आचार्य प्रवर नेमिनाथ के 'रयणचूडरायचरिय' (रत्नचूडराज चरित) में से दो सखियों के वार्तालाप मे सुनिए :—

"मर जाना अच्छा है, गर्भ में नष्ट हो जाना श्रेयस्कर है, बर्छियों द्वारा घायल हो जाना उत्तम है, प्रज्वलित दावानल मे फेंक दिया जाना ठीक है, हाथी से भक्षण किया जाना श्रेयस्कर है, दोनों आँखों का फूट जाना उत्तम है, निर्धनता श्रेयस्कर है, अनाथ रहना अच्छा है, कुरूप होना अच्छा है, निर्गुण रहना श्रेयस्कर है, लूला-लगडा हो जाये तो भी कोई बात नहीं, भिक्षा माँग कर खाना उत्तम है, लेकिन कभी अपने पति को सपत्नियो के साथ-साथ देखना अच्छा नहीं।" इस दुःख से नारी का उद्धार करने वाला अर्थात् गृहस्थियों को पर नारी ससर्ग के पाप को समझाने वाला व्यक्ति निश्चित ही लोकोपकारी है। गुप्त चन्द्रमणि की रचना 'महावीर चरित' में ऐसे लोकोपकारियों को मित्र की सज्ञा दी गई है :—

भवगिह मज्झम्मिपमाय, जलणजलियम्मि मोह निद्दाए।
जो जगवइ स मित्तं, वारंतो सो पुण अमित्त॥

अर्थात् ससार रूपी घर के प्रमाद रूपी अग्नि से जलने पर मोह रूपी निद्रा मे सोते हुए पुरुष को जो जगाता है, वह मित्र है और जो उसे जगाने से रोकता है वह अमित्र है। इस प्रकार के असंख्य मार्मिक कथन भारतीय नीति काव्य को, प्राकृत कवियों ने प्रदान किये हैं। इसमे भी प्राकृत के जैन कवियों का योगदान तो अत्यधिक सराहनीय है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होने अपने नीति पूर्ण ग्रंथों मे प्राकृत के साथ अन्य भाषाओ का भी प्रयोग किया है। जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य देवेन्द्र सूरि (मृत्यु सं० १८७० ई०) के 'सुदसणाचरिउ' (सुदर्शन चरित) प्राकृत पद्य, जिसमे यत्र-तत्र सस्कृत तथा अपभ्रंश का भी प्रयोग हुआ है, नीति वचनों से पूर्ण ऐसा ही ग्रन्थ है : इस प्रकार के मिश्रित एवं विशुद्ध प्राकृत ग्रथों का न जाने कितना भण्डार काल के कराल गाल मे चला गया। जो शेष है उनका भी न जाने कितना भाग जैन मन्दिरों तथा अन्य स्थानों पर अप्रकाशित पड़ा है। ●

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करे। इतनी महगाई में भी उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई, मूल्य वही ६) रुपया है। —व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

सामान्य रूप से जैनधर्म क्या है ?

लाला महेन्द्र सेन जैन

कुछ ऐसे आधारभूत (fundamental) सिद्धांत हैं जो जैन धर्म की अन्य धर्मों से भिन्नता अथवा विशिष्ठता दर्शाते हैं :—

(१) एक वाक्य में : आत्मा का शुद्ध होना ही परमात्मपद है और आत्मा को शुद्ध कराने के विज्ञान का ही नाम "जैन धर्म ,, है।

(२) अन्य धर्म बहुधा एक परमात्मा को सृष्टा मानते हैं। जैन धर्म हर आत्मा को परमात्मपद का अधिकारी मानता है। जैनधर्म का मत है कि सृष्टि को न किसी ने बनाया था, न इसका कभी अन्त होगा। यह सदा से थी और सदा रहेगी।

अब ऊपर जो न० (१) में बात कही गई है उसका आधार समझ लेना जरूरी है।

यह समस्त संसार छः मूल द्रव्यों से भरा हुआ है। इन छहों द्रव्यों का अपना-अपना अलग अस्तित्व है और ये कभी, किसी भी अवस्था मे, एक दूसरे से मिलकर एक नहीं हो सकते। यद्यपि एक ही स्थान पर, एक ही समय मे विभिन्न द्रव्य मिली-जुली अवस्था में पाए जाते हैं, फिर भी उनका अपना-अपना अस्तित्व (existence) कभी भी मिट कर दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो सकता— यदि ऐसा हो जाता तो कोई ऐसा भी समय आ सकता था कि छः में से किसी द्रव्य का सर्वथा अभाव हो जाता। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ और न होगा, इसका इतिहास व विज्ञान साक्षी है। ये द्रव्य इस प्रकार है:—

(ङ) आकाश-द्रव्य : या जिसको अंग्रेजी में space कहते हैं—इसमें अवगाहन (accommodation) शक्ति होती है। यही इसका गुण है और इसके सिवा या इसके विपरीत यह और कोई कार्य नहीं करता। संसार की हर वस्तु किसी ···जगह··· में है। जगह न हों तो वस्तु भी नहीं हो सकती। वस्तु को होने के लिए जगह जरूरी है। इसी जगह का नाम ···आकाश द्रव्य···है।

(च) काल-द्रव्य : या जिसको अंग्रेजी मे time कहते हैं। यह भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य का ज्ञान कराता है। और वह हरेक द्रव्य के परिणमन मे उदासीन रूप से सहायक है।

(ग) धर्म-द्रव्य (Ether) : यह वह चीज है जो वस्तुओं को चलने मे उदासीन रूप से (indirectly) सहायक होता है। यानी कोई वस्तु चलना चाहे तो इसकी सहायता से चल सकती है। परन्तु यदि कोई वस्तु चलना न चाहे तो उसे यह जबरदस्ती चला नही सकती। जैसे पानी मछली के चलने में सहायक है परन्तु मछली चलना न चाहे तो वह उसको जबरदस्ती नही चला सकता।

(घ) अधर्म-द्रव्य (Anti-Ether) : यह धर्म-द्रव्य का उल्टा है। अर्थात् अधर्म द्रव्य वस्तुओं को रुकने मे उदासीन रूप से (indirectly) सहायक होता है।

(ख) अजीव-द्रव्य : इसको जड़, अचेतन, पुद्गल, इत्यादि नामों से भी पुकारा जाता है। इसके असंख्य परमाणु हैं। इसमें ज्ञान (soul) या चैतन्य (feeling) नही होती। इस द्रव्य में वर्ण (colour), स्पर्श (shape or form which can be felt by touch) रस (taste) और गन्ध (smell) गुण होते हैं। परन्तु यह जीव द्रव्य के संयोग (combination) से जानदार मालूम पड़ने लगता है। जैसे हमारा शरीर तो जड़ (पुद्गल) है परन्तु हमारी आत्मा के संयोग से चलता-फिरता तथा अन्य क्रियायें करने के योग्य बना हुआ है। यदि इससे आत्मा अलग कर दी जाए तो इसका असली रूप सामने आ जाएगा।

(क) जीव द्रव्य : या जिसको आत्मा कहते हैं। यह द्रव्य अनन्त है। इनका गुण है जानना और देखना। जिसको शास्त्रीय भाषा में कहते हैं ज्ञान और दर्शन। परन्तु इनमें अनादि काल से अजीव द्रव्य का खोट मिला

हुआ है जिसके कारण इसके ये गुण बुरी तरह से दबे हुए है। जैसे खान से निकले सोने में खोट अनादि काल से मिला हुआ होता है और उसकी चमक-दमक और सौन्दर्य को ढके या कम किए रखता है। साफ तपाया हुआ सोना, जिसमें से खोट सर्वथा निकाल दिया जाता है, अपने स्वाभाविक रूप-गुण को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार यदि इस आत्मा मे से खोट या मिलावट या विकार सर्वथा दूर हो जाए तो इसके जो स्वाभाविक गुण है वे पूर्ण विकसित हो जाएंगे और यह मात्र अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (शक्ति) का अखण्ड पिण्ड भर रह जाएगा। ऐसी ही आत्मा को सिद्ध परमात्मा कहते हैं और जो इस अवस्था को प्राप्त करने का रास्ता है, वही जैन धर्म है। सिद्ध परमात्मा पुन: विकृत अवस्था (संसार) को प्राप्त नही होता।

अनादिकाल से यह जीव राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से जकड़ा सर्वथा अशुद्ध बना हुआ है और उसी पुदगल के साथ संयोगी अवस्था को अपनी वास्तविक अवस्था मान बैठा है। ठीक उस सिंह के बच्चे की भाँति जो संयोग से जन्म से ही भेड़ियों के बच्चो के बीच पला और अपने आपको उन्ही के अनुरूप मान कर वैसा ही आचरण करता रहा। उसको अपने असली स्वरूप का बोध ही नही था तो फिर वर्तमान अवस्था से निकलने का प्रयास कैसे करता? भगवान जिनेन्द्र देव अपनी वीतरागी मुद्रा से सच्चे गुरुओं और सच्चे शास्त्र के द्वारा हमें यह बोध करा रहे है कि तेरा असली स्वरूप तो यह है—अनन्त सुख, अनन्त वीर्य (शक्ति) अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन से युक्त शुद्ध परम चैतन्य मात्र।

सिंह के बच्चे को जब उसकी शक्ल पानी मे दिखाई गई और उसने उसका मिलान सिंह से किया तो उसे अपने असली स्वरूप का श्रद्धान होने में देर न लगी यद्यपि सिंह के जैसा आचरण करने मे उसे समय अवश्य लगा होगा। इसी प्रकार सच्चे देव-शास्त्र गुरू के द्वारा जब हम अपने असली स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान-श्रद्धान कर लेगे और यह समझ लेंगे कि ज्ञान-दर्शन मात्र कार्य करने वाला जो यह जीव है वह तो मैं हूँ शेष समस्त भाव, वे चाहे जो भी हों, विकारी है तथा मेरे अपने नही हैं, और त्याज्य है। तभी हम अपनी आत्मा के कल्याण के मार्ग पर लग सकेंगे। इसी दृढ़ सच्ची श्रद्धा को शास्त्रीय भाषा मे सम्यक् दर्शन कहा गया है।

परन्तु, जन्म-जन्मान्तर से संचित इन विकारों को दूर करने मे बहुत समय व पुरुषार्थ लगेगा। शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए अपनी आत्मा मे ही निर्विकल्प ठहर जाना बहुत ही दुर्लभ है। अत: प्रश्न उठता है कि जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक क्या करें? तो ऐसे ही जीवों के लिए शुभ व अशुभ भावों का विवेचन किया गया है। जो भाव या कार्य कषायों को मन्द करे, वीतरागता की पुष्टि करें और जीव को शुद्धता की ओर बढ़ावा दें वे शुभ भाव हैं और जब तक शुद्धता प्राप्त नहीं होती, ग्राह्य हैं जैसे दान पूजा आदि और जो भाव या कार्य राग-द्वेष-कषाय के पोषक हों और उन विकारों को बढ़ावा दें वे अशुभ भाव हैं और सर्वथा त्याज्य हैं जैसे सप्त व्यसन आदि।

हमे चाहिए कि हम परम उद्देश्य-शुद्ध परमात्मपद की प्राप्ति को दृष्टि मे रख कर उसके प्राप्त न होने तक वीतरागत्व की आराधना करते हुए शुभ भावों को अपनाएँ और विकारी अशुभ भावों से बचें। इससे हम न सिर्फ अच्छे नागरिक ही बनेगे बल्कि अन्ततोगत्वा विषय-कषायों पर विजय प्राप्त कर मोक्ष अर्थात् सच्चे सुख की प्राप्ति के मार्ग मे लग सकेंगे।

नयनार मन्दिर

ले० टी. एस. श्रीपाल

अनुवादक : **पं० बलभद्र जैन**

मइलापुर (मद्रास) में त्रिवल्लुवर मन्दिर को सभी जानते हैं। यद्यपि यह मन्दिर आजकल त्रिवल्लुवर मंदिर कहलाता है, किन्तु बीस वर्ष पूर्व तक यह नैनार मन्दिर के रूप में प्रसिद्ध था। नैनार शब्द का अर्थ जिन। सिलप्पादिकरम् में इलंगोवाडिगल मधुराइ कण्डं शीर्षक अध्याय का प्रारम्भ भी अर्हत्प्रार्थना से करता है। मंगलाचरण की टीका में अडयरप्पुनल्लार कहता है कि अर्हंत्मन्दिर का अर्थ नैनार मन्दिर है। आजकल भी यह देखा जा सकता है कि कलुगु मलाई मे जैन मुनियों के सम्बन्ध मे जो शिलालेख लिखे गये है। उनसे यह प्रदर्शित होता है कि वे नयनार थे। थेरूवडिकाई मे उपलब्ध शिलालेखों मे जैन मन्दिर को नयनार मन्दिर बतलाया है। थिरुप्परित्तिकुन्रम् मन्दिर में शिलालेख है। जिसमें तीर्थङ्करों को नयनार लिखा गया है। मिलाईनथर ने नन्नूल व्याकरण की अपनी टीका में एक जैन विद्वान को अविनैनार लिखा है। कुछ प्राचीन शिलालेखों में जैन मुनियों और तीर्थंकरों को नैनार लिखा गया है। कोलियनूर (विलमुपुरय जेक्शन) मे जैन मन्दिर में एक लेख है जिसमे लिखा है 'स्वस्ति श्री नैनार मन्दिर' और कलियनूर के दूसरे मन्दिर में लेख इस प्रकार उत्कीर्ण हैं—"नल्लुर नैनार मन्दिर।" इस प्रकार पहले जैन तीर्थंकरों को नैनार कहा जाता था।

इस पृष्ठभूमि मे हम थिरुवल्लुवर मन्दिर अथवा मइलापुर में थिरुकुरल के कर्ता का इतिहास और उसके उपनाम नैनार और थीवर के संबंध में कुछ जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करे। थीवर का अर्थ जैन मुनि। मइलापुर में पहले नेमिनाथर का मन्दिर था। 'थेरूनुद्रन्थति' नामक पुस्तक में नेमिनाथर की प्रशंसा में अनेकों गीतिकाएं हैं। मइलापुर में इस प्रकार की कविताएं, पाषाण मूर्तियाँ और शिलालेख बहुसंख्या में भूगर्भ से प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि यह स्थान विद्वान जैनों का केन्द्र था। इस स्थान पर नल्लुन के भाषाकार मिलयनाथर अविरोधनाथर गुणवीर पडित रहते थे। इसलिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि प्राचीन मइलापुर के जैन मन्दिर मे थिरुक्कुरल के कर्ता का मंदिर बन पाया था, उसमें थीवर के चरण चिह्न स्थापित किये थे और वे लोग उनकी पूजा करते थे।

जैनों ने ही सर्वप्रथम अपने तीर्थङ्करों, आचार्यों और मुनियों के चरण चिन्हों की स्थापना और पूजा की। तीर्थङ्करों के विशेष उल्लेखनीय चरण चिन्ह अब भी कैलाश, चम्पापुरी, सम्मेद शिखर, पावापुरी और गिरनार मे मिलते है। तमिलनाडु मे थिरुकुरल के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द के चरण चिन्हे उनकी जन्मभूमि कुन्दकुन्द पर्वत, पोन्नूर पहाड़ी मे अकलंक थीवर के चरण चिन्ह थिरुप्परमूल मे बावन मुनि के जिन काञ्ची में और गुणसागर के चरण चिन्ह विजुक्कम में विद्यमान हैं। भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त मौर्य के चरण चिन्ह श्रवणवेलगोला मे पूजे जाते हैं। जो कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत मे उनकी यात्रा के स्मारिक हैं। इस परम्परा के अनुसार प्राचीन मइलापुर के जैन थिरुकुरल के कर्ता के चरण चिन्हों की पूजा करते थे और उन्हें थिरुवल्लुवर नैनार और थिरुवल्लुवर थीवर इन नामों के साथ स्मरण करते थे। इस पूजा आराधना में अजैन लोग भी बड़ी भक्ति पूजा से सम्मिलित होते थे। ये जब पूजा के लिए जाते थे तब वे इस मन्दिर को बड़े प्रेम से नैनार मन्दिर कहते थे।

एक दशक पहले अगर कोई थिरुवल्लुवर मन्दिर के संबंध में पूछता था तो उस गली में मन्दिर के आस पास

रहने वाले लोग अपनी अज्ञानता जाहिर करते थे। किन्तु यदि कोई नैनार मन्दिर के बारे में पूछता था तो फौरन वे मदिर की तरफ सकेत कर देते थे। वे मन्दिर को नैनार मदिर क्यों कहते थेक ? इसका एक मात्र कारण यह था कि १७वीं शताब्दी तक मइलापुर के अधिकाश निवासी नैनार (जैन) थे। मइलापुर उन दिनो मे जैनो का केन्द्र था इसका उल्लेख प्राचीन थिरुत्तोरत्तु (प्रार्थना-गीतो का सग्रह) मे संकलित है और वह मइलापुर पट्टु कहलाता है। प्राचीन रचनाओं से मालूम पड़ता है कि मइलापुर में सम्पन्न श्रावक लोग रहा करते थे। तमिलनाडु में जैनों को अब भी नैनार के नामों से पहिचाना जाता है।

जिन जैनों ने दूसरे धर्मों को स्वीकार कर लिया, उन्होंने भी नयनार पद को नहीं छोडा। जैसे नैल्लीकुपम के नीरपूशी, वेल्लारस, पनरुति, जिनजी, आरनी, कप्पालूर, कलश, पलायम् आदि गांवों में नैनार पद अब तक प्रचलित है। दक्षिण भारत के अनेक मुसलमानों में भी नैनार पद का अब भी प्रचलन है। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि जैन धर्म को छोडकर ये लोग मुसलमान बने हैं। तिन्नेलवेली जिले के कुछ भागों मे अब तक अपने आपको नैनार पिल्लई कहते है। इसके अतिरिक्त तमिलनाडु के बहुत से भागों में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि इन स्थानों में जैन बहुसख्या मे रहते थे। इन ठोस प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि थिरुवल्लुवर मन्दिर ही नैनार मन्दिर था।

यह जानना अत्यन्त रुचिकर होगा कि इस मन्दिर मे जिन चरण चिन्हों की पूजा की जाती थी उनका क्या हुआ। स्पष्ट ही ये चरण चिन्ह थिरुकुरल रचयिता के थे। प्राचीन मइलापुर के जैन जो थिरुकुरल के रचयिता के चरण चिन्हो की पूजा किया करते थे, वे उदासीन हो गये, उनके मन्दिर की मूर्तियां या तो परिवर्तित कर दी गई या दबा दी गई। सौ या एक सौ बीस वर्ष पहले थिरुकुरल के रचयिता के नाम पर एक छद्म (नकली) मूर्ति का निर्माण किया गया, यह मूर्ति बनाकर चरण चिन्हो के पीछे रख दी और इसके कुछ ही दिन बाद पादुका चरण चिन्ह गायब हो गए। इस शरारत के विरुद्ध एक आन्दोलन उठ खडा हुआ जिससे भयभीत होकर चरण चिन्हो का कुछ खण्डित और परिवर्तित करके मन्दिर के बाहर एक हाल मे रख दिया गया। इस दशा मे ये चरण चिन्ह हाल मे कुछ साल तक रक्खे रहे। उसके पश्चात् वे फिर गायब हो गए, इस बार उन्हे मन्दिर की दीवार में जड दिया गया।

इन सब घटनाओ की कहानी लगभग दो दशक पहले लेखक ने बुजुर्गों से सुनी जो मन्दिर के सामने वाले मकान में रहते थे। उसने इस बात की चर्चा कुछ विद्वानो से की उन्होने इसकी स्वय जांच की और सही पाया। सन् १९४५ में लेखक ने इन चरण चिन्हों का ब्लाक बनवा कर एक पम्फलेट मे छपाकर प्रकाशित किया। १९४७ मे थिरुवल्लुवर की जन्म जयन्ती के अवसर पर इस लेखक ने उस समारोह की अध्यक्षता की और इस मन्दिर का वास्तविक इतिहास जनता को बतलाया और प्रार्थना की कि इसकी प्राचीनता की रक्षा करने की आजकल भारी आवश्यकता है। उसने भारतीय पुरातत्त्व के विद्वानों को मन्दिर ले जाकर मन्दिर की दीवाल मे लगे हुए चरण चिन्हों को भी दिखलाया। उन्होने एक वृद्ध महिला से यह प्रश्न भी किया कि तुम मन्दिर के नाम के बारे मे कुछ जानती हो क्या ? उस महिला ने बिना किसी हिचकिचाहट के उत्तर दिया कि यह एक नैनार मन्दिर था। विद्वानो ने इस उत्तर को सुनकर हर्ष प्रकट करते हुए कहा कि थिरुवल्लुवर के नामपर नकली मूर्ति विराजमान किये जाने के बावजूद भी जनता के दिमाग मे अभी तक नैनार मन्दिर ही है और पवित्र चरण चिन्हो मे कोई परिवर्तन नही किया गया।

अतः हमारा पवित्र कर्तव्य है कि हम आगे आयें और थिरुकुरल के रचयिता के चरण चिन्हों को उनके मूल स्थान पर विराजमान करें और इस मन्दिर को जैनों के अधिकार में दे। वस्तुतः यह जिनका मन्दिर है।

—: o :—

पं० दौलतराम कासलीवाल

परमानन्द जैन शास्त्री

हिन्दी साहित्य के जैन विद्वानो मे पं दौलतराम जी कासली वाल का नाम उल्लेखनीय है। आप १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९वी शताब्दी के प्रारम्भ के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे। संस्कृत भाषा पर आपका अच्छा अधिकार था। खास कर जैन पुराण ग्रन्थों के विशिष्ट अभ्यासी टीकाकार और कवि थे। आपके पिता का नाम आनंदराम था, और वे जयपुर स्टेट के बसवा[1] नामक ग्राम के रहने वाले थे। इनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र कासलीवाल था। आपके मकान के सामने जिन मन्दिर था। किन्तु उनकी अभिरुचि उस समय जैनधर्म के प्रति प्रायः नही थी। रामचन्द्र मुमुक्षु के अनुसार संस्कृत पुण्याश्रव कथाकोष की टीका प्रशस्ति के अनुसार पंडित दौलतराम जी को अपनी प्रारम्भिक अवस्था मै जैन धर्म का विशेष परिज्ञान न था और न उस समय उनकी विशेष रुचि ही जैन धर्म के प्रति थी। किन्तु उस समय उनका झुकाव मिथ्यात्व की ओर हो रहा था। इसी बीच उनका कारणवश आगरा जाना हुआ। आगरा में उस समय आध्यात्मिक विद्वान पं० भूधरदास जी की, जिन्हें पंडित दौलतराम जी ने भूधरमल[2] नाम से सम्बोधित किया है। अध्यात्मिक शैली का प्रचार था। पंडित भूधरदास जी आगरा मे शाहगज में रहते थे। और आप को चित पट् कर्मो मे प्रवीण तथा अच्छे विद्वान और कवि थे। स्याह(शाह) गज के मदिर मे वही शास्त्र प्रवचन करते थे। अध्यात्म ग्रंथो की सरस चर्चा मे उन्हें विशेष रस आता था। उस समय आगरे मे साधर्मी भाइयों की एक शैली थी। जिसे अध्यात्म शैली के नाम से उल्लेखित किया जाता था। और जो मुमुक्ष जीवों को तत्व चर्चादि सत्कर्मों मे अपना पूरा योग देती थी। यह अध्यात्म शैली वहाँ विक्रम की १७वी शताब्दी से बराबर चली आ रही थी। उसी की वजह से आगरावासी लोगों के हृदयों में जैन धर्म का प्रभाव अंकित हो रहा था। इसी तरह की अध्यात्म शैलिया जयपुर, दिल्ली, खतौली और सहारनपुर आदि मे थी, जो जैन सस्कृति का प्रचार करती थी। उस समय इस शैली मे हेमराज, सदानद, अमरपाल, बिहारीलाल, फतेहचद' चतुर्भुज और ऋषभदास के नाम खास-

१. बसवा जयपुर स्टेट का एक कस्बा है जो आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध है। यह देहली से अहमदाबाद जाने वाली रेलवे का स्टेशन है। यहां एक बडा शास्त्र-भंडार भी है जो देखने योग्य है।

२. इनका अधिक प्रचलित नाम पंडित भूधर दास था। यह १८वीं-शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इन्होंने संवत् १७८१ में जिनशतक और संवत् १७८९ में पार्श्व पुराण की रचना की है। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त आध्यात्मिक पद सग्रह भी इन्ही का बनाया हुआ है, ये सब रचनाए प्रकाशित हो चुकी हैं। ये तीनों ही कृतियाँ बड़ी सुन्दर और सरल है। इनकी कविता भाव पूर्ण सरल तथा मनमोहक है। इनके सिवाय 'कलियुग चरित' नामक ग्रन्थ का और भी पता चला है जो स० १७५७ में आलमगीर (औरगजेब) के राज्य मे लिखा गया है। जैसा कि उस पुस्तक के निम्न पद्यों से प्रकट है—

संवत सत्तरह सौ सत्तावन जेठ मास उजियारा।
तिथि सावन अरुणाभ प्रथम ही वार जु मगलवारा।।

× × ×

कही कथा भूधर सुकवि आलमगीर के राज।
नगर मुलकपुर पर बसे दया धर्म के काज।।

पर इस समय ग्रन्थ प्रति सामने न होने से यह निश्चय करना कठिन है कि उक्त ग्रन्थ इन्ही पंडित भूधरदास की कृति है। या अन्य किसी भूधर दास की।

तौर पर उल्लेखनीय है[१]। उनमें से ऋषभदास जी के उपदेश से पंडित दौलतराम जी को जैन धर्म की प्रतीति हुई थी और वह मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्वरूप में परिणित हो गई थी। इसी से पंडित जी ने भगवान ऋषभदेव का जयगान करते हुए उनके दास को सुखी होने की कामना व्यक्त की है। जैसा कि पुण्यास्रव कथा कोष टीका प्रशस्ति गत निम्न दो पद्यों से स्पष्ट है—

ऋषभदास के उपदेश सौं, हमें भई परतीत।
मिथ्यामत को त्याग के, लगी धरम सौं प्रीत।
ऋषभदेव जयवंत जग, सुखी होहु तसु दास।
जिन हमको जिन मत विषै, कियौ महा जुगदास।

पं० दौलतराम जी को आगरे में रामचंद्र मुमुक्षु के 'पुण्यास्रव कथा कोष' नाम के ग्रन्थ को सुनने का अवसर मिला था और जिसे सुनकर उन्हें अत्यंत सुख हुआ, तथा उसकी भाषा टीका बनाई। उक्त कथा कोष की यह भाषा टीका सं० १७७७ में समाप्त हुई[२]। इसके पश्चात् पं० दौलतराम जी सं० १७८६ के आस-पास[३] जयपुर के वकील बनकर उदयपुर गये। उदयपुर में पंडित जी जयपुर के तत्कालीन राजा सवाई जयसिंह और उनके पुत्र माधवसिंह जी के वकील अथवा मंत्री थे। उनके संरक्षण का कार्य भी आप ही किया करते थे। उस समय उदयपुर में राणा जगत सिंह जी का राज्य था और वे उन्हें अपने पास ही रखते थे। जैसा कि उनकी सं० १७९८ में रचित 'अध्यात्म बारहखडी, की प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है—

वसवा का वासी यहै अनुचर जय को जानि।
मंत्री जय सुत को सही जाति महाजन जानि॥
जय को राखै राण पै रहे उदयपुर मांहि।
जगत सिंह कृपा करै राखै अपने पांहि॥

इसके अतिरिक्त सं० १७९५ में रचित क्रिया कोष की प्रशस्ति में भी वे अपने को जयसुत का मन्त्री और जय का अनुचर व्यक्त करते हैं। चूंकि राणा जगत सिंह जी द्वितीय का राज्य संवत् १७९० से १८०८ तक रहा है। अतः पंडित जी का सं० १७९८ में जगतसिंह जी की कृपा का उल्लेख करना समुचित ही है। क्योंकि वे वहाँ सं० १७९५ से पूर्व पहुँच चुके थे।

उदयपुर में धान की मंडी के अग्रवाल दिगम्बर जैन मंदिर में प्रवचन करते थे। उसमें अनेक साधर्मी जन आकर शास्त्र श्रवण करते थे। इससे वहाँ के निवासी श्रावक-श्राविकाओं में तथा आगंतुक साधर्मी जनों में जैन धर्म के प्रति विशेष उल्लास और जिन वाणी के प्रति श्रद्धा का प्रचार हुआ। उनके जीवन में धार्मिक वातावरण बना। साधर्मियों के धार्मिक वात्सल्य में अभिवृद्धि हुई। वहाँ उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना व टीकादि का निर्माण किया। पंडित जी वहाँ राजकार्यों का विधिवत् संचालन करते हुए जैन ग्रन्थों के अभ्यास में समय व्यतीत करते थे। और अपने दैनिक नैमित्तिक कार्यों के साथ गृहस्थोचित देव पूजा और गुरू उपासनादि षट् कर्मों का भी भली भाँति पालन करते थे। जिससे उस समय वहाँ के स्त्री पुरुषों में धर्म का खासा प्रचार हो गया था[४]। और वे अपने आवश्यक कर्तव्यों के साथ स्वाध्याय, तत्व चिंतन और सामायिकादि कार्यों का उत्साह के साथ विधिवत

---

१. देखो पुण्डास्रव टीका प्रशस्ति।

२. संवत् सत्रह सौ विख्यात,
ता ऊपरि धरि सत्तरि अरु सात।
भादव मास कृष्ण पख जानि,
तिथि पाँचे जानौ परवानि॥ २८
रवि सुत को पहलो दिन जोय,
अर सुर गुरु के पीछै होय।
वार है गनि लीज्यौ सही,
तादिन ग्रन्थ समापत सही॥ २९

३. सन् १९२९ (वि. सं. १७८६) में जयपुर नरेश सवाई जयसिंह जी माधोसिंह और उनकी माता चंद्रकुंवरि को लेकर उदयपुर गये हैं और उनके लिये 'रामपुरा' का परगना दिलाया गया है। देखो; राजपूताने का इतिहास चतुर्थ खण्ड।

इससे मालूम होता है कि सवाई जयसिंह ने इसी समय सन् १७२९ (वि० सं० १७८६) में पं० दौलतराम जी को भी उदयपुर रखा होगा। इससे पूर्व वे जयपुर या अन्यत्र (आगरा) में रहकर राज्य कार्य करते रहे होंगे।

४. देखो, रायमल्ल का परिचय, वीर वाणी अंक २.

अनुवाद करते थे। इनके अतिरिक्त वहां रहते हुए इन्होंने साहित्यिक कार्य भी किया। अनेक ग्रन्थों की टीकाए भी बनाई और कुछ ग्रन्थो का निर्माण भी किया। उनके नाम इस प्रकार है – अध्यात्म बारह खडी, वसुनदि श्रावकाचार टव्वा टीका, क्रिया कोष, जीवंधर चरित, श्रीपाल चरित, श्रेणिक चरित, तत्त्वार्थ सूत्र टव्बा टीका और सार समुच्चय टीका का निर्माण।

अध्यात्म बारह खड़ी—यह एक पद्य बद्ध ग्रन्थ है जिसे उन्होने स० १७६८ मे बनाकर समाप्त किया था।[१] इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे उस समय के उदयपुर निवासी कितने ही साधर्मी सज्जनो का नामोल्लेख किया गया है। पडित जी के इस प्रयत्न से तत्कालीन उदयपुर में साधर्मी सज्जन गोष्ठी और तत्त्व चर्चादि का अच्छा समागम एव प्रभाव हो गया था। अध्यात्मबारह खडी की प्रशस्ति मे दिये हुए साधर्मी सज्जनो के नाम इस प्रकार है— पृथ्वीराज, चतुर्भुज, मनोहर दास, हरिदास, बखतावर दास, कर्णदास, और पडित चोमा। इन सबकी प्रेरणा एवं अनुरोध से उक्त ग्रथ की रचना की गई है। जैसा कि प्रशस्तिगत निम्न पद्यो से ज्ञात होता है—

उदियापुर में रुचिधरा कैयक जोव सुजोव।
पृथ्वीराज चतुर्भुजा श्रद्धा धरहिं अतीव ॥ ५
दास मनोहर अरहरो, द्वै बखतावर कर्ण।
केवल केवल रूप कों, राखै एकहि सर्ण॥ ६
चीमा पंडित आदि ले, मन में धरिउ विचारि।
बारह खड़ी हो भक्तिमय, ज्ञान रूप अविकार॥ ७
भाषा छंदनि मांहि जो, अक्षर मात्रा लेय।
प्रभु के नाम बखानिये, समुझे बहुत सुनेय॥ ८
इह विचार सब जना, उर धर प्रभु की भक्ति।
बोले दौलतराम सौ, करि सनेह रस व्यक्ति॥ ६
बारह खड़ी करिये भया, भक्ति प्ररूप अनूप।
अध्यातम रस की भरी, चर्चा रूप सरूप॥ १०

ग्रंथ बहुत अच्छा है। कविता सुन्दर है, पर यह अभी तक अप्रकाशित है। दूसरा ग्रन्थ 'त्रेपन क्रिया कोश' नाम का है। जिसमे गृहस्थ की ५३ क्रियाओ का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ भी पद्य बद्ध है। इसका रचना काल स० १७६५ भाद्र पद शुक्ला द्वादशी मगलवार है।

तीसरी कृति जीवधर चरित है जो पद्यात्मक खण्ड काव्य है। जिसे कवि ने सस्कृत स हिन्दी मे रूपान्तर किया है। इसमे जीवधर कुमार का जीवन परिचय अकित किया गया है। ग्रन्थ मे ७२५ पद्य है और जीवधर की जीवन गाथा को दोहा चौपाई, अरिल्ल, भुजग प्रयात और वेसरी आदि विविध छदो मे गूथा गया है। ग्रन्थ पॉच अध्यायो मे विभक्त है। जिनमे नगर वर्णन, विरह, मिलन और युद्धादि का सुन्दर सजीव वर्णन किया गया है। यद्यपि जीवधर का चरित्र चित्रण विविध कवियो द्वारा सस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी आदि भाषाओ में किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा सीधी-सादी है, किन्तु घटनाचक्र को बड़े ही सरल शब्दो मे व्यक्त किया गया है। भाषा मे ढुढारी के साथ व्रजभाषा का मिश्रण है। चरित नायक ने अपने खोए हुए राज्य को कैसे प्राप्त किया? और उसे प्राप्त कर कुछ समय भोग कर उसका परित्याग किया और अन्तर बाह्य ग्रथि का परित्याग कर दिगम्बरी दीक्षा अगीकार की। और घोर तपश्चरण द्वारा कर्म, शत्रुओ का विनाश कर अविचल स्थान प्राप्त किया। ग्रन्थ का कथा भाग सक्षिप्त, सरल, सुन्दर और सजीव बन पडा है।

कवि ने जीवन्धर की बाल्य लीला का उल्लेख करते हुए उसकी बुद्धिमत्ता का दिग्दर्शन कराया है। बालक जीवन्धर अपने अन्य साथियों के साथ लाख की गोलियो से खेल रहा था। वह प्रारम्भ से ही कुशाग्र बुद्धि और तत्काल उत्तर देने वाला था। उन्हे गोली खेलते देख उनसे एक साधु ने पूछा कि नगर कितनी दूर है? उसका उत्तर कुमार ने बड़े ही सुन्दर शब्दो मे दिया है :—

"एक दिवस या पुर के पासा,
कुँवर करत है केलि किलासा।

१. सवत् सत्रह सौ अट्ठाणव, फागुन मास प्रसिद्धा।
शुक्ल पक्ष दुतिया उजयारा, भायो जगपति सिद्धा। ३०
जबै उत्तरा भाद्र नक्षत्रा, शुक्ल जोग शुभकारी।
बालव नाम करण तब वरतै, गायौ ज्ञान बिहारी॥ ३१
एक मुहूरत दिन जब चढ़ियौ मीन लगन तब सिद्धा।
भगतिमाल त्रिभुवन राजा कौं, भेंट करी परसिद्धा॥
(अध्यात्म बारह खडी)

लाखतनी गोली करिवाला,
खेलत है रस रूप रसाला ।।
बोले कुवर सबै इह जानै,
बालक खेलक पंथ पिछाणें ।
तू अति वृद्ध ज्ञान न तोकों,
किनो दूर पुर पूंछत मोकों ।।
तरुवर सरवर बाग विसाला,
वहुरि देखिये खेलत बाला ।
तहां क्यों न लखिये पुर नीरा,
संसै कहा राखिये वीरा ।।
ज्यों लखि धूम अगनिहूं जानै,
तो बालक लखि पुर परवानै ।"

ग्रंथ में कथानक के साथ कवि ने धार्मिक सिद्धान्तों का भी अच्छा परिचय दिया है। जीवन्धर कुमार का जीवन अनेक घटनाओ से परिपूर्ण है, उनमें कितनी ही घटनाए कौतूहलपूर्ण है, फिर भी उन्होने उन पर विजय प्राप्त कर जीवन का उच्चादर्श स्थापित किया है। इसी से इनका जीवन परिचय संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा मे लिखा गया है। कवि को जीवधर का यह काव्य लिखने के लिए काला डेहरा के चतुर्भुज अग्रवाल, पृथ्वीराज और सागवाडा निवासी सेठ बेल जी हुँवड ने बनाने की प्रेरणा की थी[1]। और कवि ने उसे स० १८०५ आषाढ़ शुक्ला द्वितीया गुरुवार के दिन समाप्त किया था[2]।

चौथी कृति श्रीपाल चरित है। इस चरित की रचना उदयपुर में हुई, किन्तु ग्रंथ के सामने न होने से उसके सम्बन्ध मे कुछ लिखना शक्य नही है। यद्यपि ग्रन्थ मे राजा श्रीपाल का चरित वर्णित है।

पांचवी कृति तत्त्वार्थ सूत्र की टव्वा टीका है, यह सामने न होने से परिचय नहीं दिया जा सकता।

छठवीं कृति सार समुच्चय की टीका है, यह कुलभद्राचार्य के ग्रंथ की टीका है। यह ग्रंथ देखने मे नही आया और अब सामने नही है।

श्रेणिक चरित सातवी कृति है। जिसमे भगवान महावीर और गौतम बुद्ध के समकालीन मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार का जीवन परिचय दिया गया है, इस समय यह ग्रन्थ भी मेरे सामने नही है, अत: उसके सबंध मे अभी विचार करना सम्भव नही है।

सवत १८१० मे ब्रह्म रायमल्ल जी उदयपुर मे आपसे मिलने गए थे। तब वे पडित जी की सास्कृतिक लगन से बड़े प्रसन्न हुए थे। आठवी कृति वसुनन्दिश्रावकाचार की टव्वा टीका है, जिसे कवि ने उदयपुर मे निवास करते हुए सेठ बेल जो सागवाड़ा के अनुरोध से स० १८१८ में बनाकर समाप्त किया था।[3] इसकी एक प्रति दीवान जी कामा के मदिर के शास्त्र भडार मे सुरक्षित है। उसमे उसका रचना काल सवत १८१८ दिया हुआ है।[4] पडित दौलतराम जी इसके पश्चात् किसी समय उदयपुर से जयपुर आ गये जान पड़ता है। क्योकि सवत् १८०६ या १८०७ मे जयसिह जी के सुपुत्र माधव

---

१. तबे बोलियो अग्रवाला वासी काला डेहरको।
चतुर चतुरभुज नाम चरची ग्रथ पथ सिव सहर को।
जो हूं है गिरथ अनूप देश भाषा के माही,
बांचे बहुतहि लोक लोक या महि ससै नाही।
सब ग्रथ को वर्णन आवै तो यह जीवंधर तनी,
अवसिमेव करनी सुरिभाषा प्रथीराज इह भनी।
सुनी चतुरमुख बात मोहि दौलत उर धरी,
सेठ बेल जी सुधर जाति हूँमड हितकारी।
सागवाड है वास श्रवण की लगन घनेरी,
तब साधरमी लोक धरै श्रद्धा श्रुत केरी।
तिन नै आग्रह करि कहि फुनि दौलत के मन बसी,
संस्कृत तैं भाषा कीनी इह कथा है नौ रसी ।।
—जीवंधर चरित प्रशस्ति

२. अठारहसै, जु पच आषाढ़ सुमासा।
तथि दोइज गुरुवार पक्ष सुकल जु तुम भासा ।।
—जीवंधर चरित्र प्रशस्ति

३. उदयापुर में कियो बखान, दौलतराम आनन्दसुत जान।
बाच्यो श्रावक वृत्त विचार, वसुनन्दी गाथा अविकार ।।
बोले सेठ बेल जी नाम, सुन नृपमंत्री दौलतराम।
टबा होय जो गाथा तनो, पुण्य ऊपजै जियको घनो।
सुनिकै दौलत वैनसुवैन, मन भरि गायो मारग जैन ।।
—टव्वा टीका प्रशस्ति

४. देखो, ग्रन्थ सुची पंचम भाग पृ. १६२।

सिंह के बालक हो जाने पर जयपुर की राजगद्दी के उत्तराधिकार का वाद-विवाद छिड़ा। तब जयपुर नरेश ईश्वरी सिंह जी को विषपान द्वारा देहोत्सर्ग करना पड़ा था; क्योंकि उनमें इतनी सामर्थ्य नही थी कि वे मेवाड़ाधीश राणा जगत सिंह जी और महाराष्ट्र नेता होल्कर के समक्ष विजय प्राप्त कर सके। अतएव उन्हें मजबूर होकर आत्मघात में प्रवृत्त होना पड़ा था। ईश्वर सिंह जी के बाद माधव सिंह जी को जयपुर राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। माधव सिंह जी के सत्तारूढ हो जाने पर सं० १८१८ मे या उसके कुछ समय पश्चात् वे उदयपुर से जयपुर आ गये होंगे। क्योंकि उनका वहा का कार्य समाप्त हो गया था। और जिनके वे मंत्री थे वे अब जयपुराधीश थे। तब मंत्री का उदयपुर में रहना किसी तरह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता। अत: प० दौलतराम जी उदयपुर से जयपुर आकर वहाँ कार्य करने लगे होंगे।

संवत् १८२१ की ब्र० रायमल्ल जी की पत्रिका से ज्ञात होता है कि उस समय उसमे पद्मपुराण की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका के बन जाने की सूचना दी हुई है। इतनी बड़ी टीका के निर्माण मे चार पाँच वर्ष का समय लग जाना कुछ अधिक नही है। टीका का शेष भाग बाद मे लिखा गया और इस तरह वह टीका वि० स० १८२३ मे समाप्त हुई है। यह टीका जयपुर में ही ब्रह्मचारी रायमल्ल जी की प्रेरणा व अनुरोध से बनाई गई है। रायमल्ल जी एक निष्पृह त्यागी और चरित्रनिष्ठ व्यक्ति थे। धर्म और साहित्योद्धार की उनकी लगन स्पृहणीय थी। उनका त्याग विवेक पूर्वक था, वे दयालु और परोपकारी थे। पं० दौलतराम जी ने उनका निम्न वाक्यो मे उल्लेख किया है—

रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घट में स्व-पर-विवेक।
दयावान गुणवन्त सुजान, पर उपगारी परम निधान।।

इस पद्य में ब्रह्मचारी रायमल्ल के व्यक्तित्व का कितना ही परिचय मिल जाता हैं और उनकी विवेकशीलता, क्षमा और दया आदि गुणों का परिचय प्राप्त हो जाता है। पं० टोडर मल जी ने उन्हें विवेक से धर्म का साधक बतलाया है[1]। वे विवेकी, क्षमावान, बाल ब्रह्मचारी दयालु और अहिंसक थे। उनमें मानवता टपकती थी। वे जैनधर्म के श्रद्धानी थे और उसके पवित्रतम प्रचार की अभिलाषा उनकी रग-रग मे पाई जाती थी और वे शक्ति भर उसके प्रचार का प्रयत्न भी करते थे। प्राचीन जैन ग्रन्थों के उद्धार के साथ उनकी हिन्दी टीकाओं के कराने तथा उन्हें अन्यत्र भिजवाने का प्रयत्न भी करते थे। समयसारादि अध्यात्म ग्रंथों की तत्त्व चर्चा में उन्हे बड़ा रस आता था और वे उससे आनन्द विभोर हो उठते थे। स० १८२१ में लिखी एक निमंत्रण पत्रिका से उनकी कर्तव्य परायणता और लगन का सहज ही आभास हो जाता है। वे विद्वानों को कार्य के लिए स्वय प्रेरित करते थे और दूसरो से भी प्रेरणा दिलवाते थे। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप जो मधुर फल लगे, उससे पाठक परिचित ही है।

पद्मपुराण टीका—पुण्यास्रव कथा कोष, क्रिया कोष, अध्यात्म बारह खड़ी और वसुनन्दि के उपासकाध्ययन की टव्वा टीका, जीवधर चरित्र, तत्त्वार्थ की सूत्र टव्वा टीका और सार समुच्चय टीकाके अतिरिक्त श्रीपाल चरित्र, श्रेणिक चरित तथा विवेकविलास परमात्मप्रकाश टीका आदि की रचना की। यह सब प० दौलतराम जी की मधुर लेखनी का प्रतिफल है। आज पंडित जी अपने भौतिक शरीर मे नहीं हैं परन्तु उनकी अमर कृतियाँ जैन-धर्म के प्रचार से ओत-प्रोत हैं, उनकी भाषा बड़ी सरल तथा मनमोहक है। इन टीका ग्रन्थों की भाषा ढूंढाहड़ देश की तत्कालीन हिन्दी गद्य है। जो ब्रजभाषा के प्रभाव से प्रभावित है, उसमें कितना माधुर्य और कितनी सरलता है यह उसके अनुशीलन से सहज ही ज्ञात हो जाता हैं। उनकी भाषा उन्नीसवीं शताब्दी की परिमार्जित और मुहावरेदार है। यह उसके निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

हे देव! हे विज्ञान भूषण! अत्यन्त वृद्ध अवस्था करि हीन शक्ति जो मैं सो मेरा कहा अपराध? मो पर आप क्रोध करो सो मैं क्रोध का पात्र नाहीं, प्रथम अवस्था

१. रायमल्ल साधर्मी एक, धर्मसधैया सहित विवेक।
सो नाना विध प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज थयो।।
—लब्धिसार प्रशस्ति

विषै मेरे भुज हाथी के सुंड समान हुते, उरस्थल प्रबल था। अर जांघ गज बन्धन तुल्य हुती; अर शरीर दृढ हुता। अब कर्मनि के उदय करि शरीर अत्यन्त शिथिल होय गया। पूर्व ऊंची नीची धरती राजहँस ही न्याई उलंघ जाता, मन वाछित स्थान पहुँच जाता। अब स्थानक से उठा भी न जाय है, तुम्हारे पिता के प्रसाद करि मैं यह शरीर नाना प्रकार लड़ाया था सो अब कुमित्र की न्याईं दुख का करण होय गया। पूर्व मुझे वैरिनि के विदारने की शक्ति हुती सो अब लाठी के अवलम्बन करि महाकष्ट से फिरू हूँ। बलवान पुरुषनि करि खींचा जो धनुष वा समान वक्र मेरी पीठ हो गई है अर मस्तक के केश अस्थि समान श्वेत हो गए हैं और मेरे दाँत गिर गए, मानों शरीर का आताप देख न सके। हे राजन् ! मेरा समस्त उत्साह विलय गया, ऐसे शरीर करि कोई दिन जीऊँ हूँ। सो बडा आश्चर्य है। जरा से अत्यन्त जर्जर मेरा शरीर साँझ-सकारे विनश जायगा। मोहि मेरी काया की सुध नाहीं तो और सुध कहाँ से होय। पके फल समान जो मेरा तन ताहि काल शीघ्र ही भक्षण करेगा, मोहि मृत्यु का ऐसा भय नही जैसा चाकरी चूकने का भय है। अर मेरे आपकी आज्ञा का ही अवलम्बन है और अवलम्बन नाहीं : शरीर की अशक्तिता करि विलम्ब होय, ताकूं कहा करूँ। हे नाथ ! मेरा शरीर जरा के आधीन जान कोप मत करो, कृपा ही करो, ऐसे वचन खोजा के राजा दशरथ सुनकर वामा हाथ कपोल के लगाय चिन्तावान होय विचारता भया, अहो ! यह जल के बुद-बुदा समान असार शरीर क्षणभंगुर है, अर यह यौवन बहुत विभ्रम को धरै संध्या के प्रकाश समान अनित्य है। अर अज्ञान का कारण है। बिजली के चमत्कार समान शरीर अर सम्पदा तिन के अर्थ अत्यन्त दुःख के साधन कर्म यह प्राणी करै है। उन्मत्त स्त्री के कटाक्ष समान चचल, सर्प के फण समान विष के भरे, महाताप के समूह के कारण ये भोग ही जीवनकौं ठगै हैं तातै महाठग हैं, यह विषय विनाशीक, इनसे प्राप्त हुआ जो दुःख सो मूढों को सुख-रूप भासै है, ये मूढ जीव विषयों की अभिलाषा करै हैं। अर इनको मनवाछित विषय दुष्प्राप्य है। विषयो के सुख देखने मात्र मनोज्ञ है, अर इनके फल अतिकटुक हैं, ये इन्द्रायण के फल समान हैं, संसारी जीव इनको चाहै हैं सो बडा आश्चर्य है। जे उत्तम जन विषयों को विष तुल्य जान करि तजै है अर तप करै है वे धन्य है। अनेक विवेकी जीव पुण्याधिकारी महाउत्साह के धरण हारे जिन शासन के प्रसाद से प्रबोध को प्राप्त भए हैं। मैं कब इन विषयों का त्याग कर स्नेह रूप कीच से निकस निवृत्ति का कारण जिनेन्द्र का मार्ग का आचरण करूँगा। मैं पृथ्वी की बहुत सुख से प्रतिपालना करी अर भोग भी मनवाछित भोगे ? अर पुत्र भी मेरे महापराक्रमी उपजे। अब मैं भी वैराग्य मे विलम्ब करूँ तो यह बड़ा विपरीत है। हमारे वंश की यही रीति है कि पुत्र को राजलक्ष्मी देकर वैराग्य को धारण कर महाघोर तप करने को वन मे प्रवेश करे। ऐसा चिन्तवन करि राजा भोगनि तैं उदास चित्त कई एक दिन घर में रहे।"

—पद्मपुराण टीका, पृ० २६५-६

इसमे बतलाया गया है कि राज दशरथ ने किसी अत्यन्त वृद्ध खोजे के हाथ (गधोदक् जैसी) कोई वस्तु रानी केकई के पास भेजी थी, जिसे वह शरीर की अस्थिरता वश देर से पहुँचा सका, जबकि वही वस्तु अन्य रानियों के पास पहले पहुँच चुकी थी। अतएव केकई ने राजा दशरथ से शिकायत की। तब राजा दशरथ उस खोजे पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए। तब उस खोजे ने अपने शरीर की जर्जर अवस्था का जो परिचय दिया है उससे राजा दशरथ को भी सांसारिक भोगों से उदासीनता हो गई। इस तरह इन कथा पुराणादि-साहित्य के अध्ययन से आत्मा अपने स्वरूप को ओर सम्मुख हो जाता है।

ऊपर के उद्धरण से जहाँ इस ग्रंथ की भाषा का सामान्य परिचय मिलता है वहाँ उसकी मधुरता एवं रोचकता का भी आभास हो जाता है। पं० दौलतराम जी ने पाच-छह ग्रथों की टीका बनाई है। पर उन सबमे सब से पहले पुण्यास्रव कथा कोष की और सबसे बाद मे हरिवंश पुराण की टीका बनकर समाप्त हुई है। अर्थात् स० १७७७ मे लेकर १८२९ तक ५२ वर्ष का अन्तराल इन दोनों टीका-ग्रंथों के मध्य का है।

इस टीका ग्रन्थ का मूल नाम 'पद्मचरित' है। उसमें सुप्रसिद्ध राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की झांकी

का अनुपम चित्रण किया गया है। इसके कर्ता आचार्य रविषेण है जो विक्रम की आठवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में (वि० सं० ७३३ मे) हुए है। यह ग्रं। अपनी सानी का एक ही है। इस ग्रन्थ की टीका श्री ब्रह्मचारी रायमल्ल के अनुरोध से स० १८२३ में समाप्त हुई है[1]। यह टीका जैन समाज में इतनी प्रसिद्ध है कि इसका पठन-पाठन प्राय: भारतवर्ष के विभिन्न नगरों और गांवों में जहाँ-जहाँ जैन बस्ती है वहाँ के मन्दिरों, चैत्यालयों और अपने घरो मे होता है। इस ग्रथ की लोकप्रियता का इससे बडा सबूत और क्या हो सकता है कि इसकी दस-दस प्रतियाँ तक कई शास्त्र भडारो मे देखी गई है। सबसे महत्व की बात तो यह है कि इस टीका ग्रथ के अध्ययन से अनेकों ने अपने को जैनधर्म मे आरूढ़ किया है। उन सब मे स्व० पूज्य बाबा भागीरथ जी वर्णी का नाम खास तौर से उल्लेखनीय है जो अपनी आदर्श त्याग वृत्ति के द्वारा जैन समाज मे प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके है। आप अपनी बाल्यावस्था मे जैन धर्म के प्रबल विरोधी थे और उसके अनुयायियों तक को भी गालियाँ देते थे। परन्तु दिल्ली में जमना स्नान को रोजाना जाते समय एक जैन सज्जन का मकान जैन मदिर के समीप ही था, वे प्रतिदिन प्रातः काल पद्म पुराण का स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन आपने खडे होकर उसे थोड़ी देर सुना और विचार किया कि यह तो रामायण की ही कथा है मै उसे जरूर सुनूगा और पढ़ने का अभ्यास भी करूगा। उस दिन से वे रोजाना उसे सुनने लगे और थोड़ा-थोड़ा पढने का अभ्यास भी करने लगे। यह सब कार्य उन्हीं सज्जन के पास किया। अब आपकी रुचि पढने तथा जैन धर्म का परिचय प्राप्त करने की हुई और उसे जानकर जैनधर्म मे दीक्षित हो गये। वे कहते थे कि मैंने पद्मपुराण का अपने जीवन मे कई बार स्वाध्याय किया है, यह बडा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस तरह न मालूम उक्त कथा ग्रन्थ और उसकी टीका से जैनधर्म का प्रभाव तथा लोगों की श्रद्धा का कितना संरक्षण एवं स्थिरीकरण हुआ है। इसी तरह पं० दौलतराम जी की अन्य आदिपुराण, हरिवंश पुराण की टीकाएँ है जिनका सक्षिप्त परिचय आगे दिया गया है वे सब मधुर एवं प्राजल भाषा को लिए हुए हैं और जिनके अध्ययन से हृदय गद्गद हो जाता है, और श्रद्धा से भर जाता है। इसका प्रधान कारण टीकाकार की आन्तरिक भद्रता, निर्मलता सुश्रद्धा और निष्काम साहित्य-सेवा है। पंडित जी के टीका ग्रन्थों से जैन समाज का बड़ा उपकार हुआ है और उनसे जैनधर्म के प्रचार में भी सहायता मिली है।

आदिपुराण टीका—पडित दौलतरामजी ने आदिपुराण की टीका जयपुर नगर में की है। उस समय जयपुर में जैन धर्म और जैन सस्कृति का विशेष प्रचार था। शास्त्र सभा में जब आदिपुराण पर प्रवचन हुआ। तब सार्धर्मियों ने उसकी भाषा करने की प्रेरणा की। कवि के मित्र उस समय रतनचन्द दीवान थे, जो ज्ञानी और जिनमार्ग के श्रद्धानी थे, जो राजद्वार के सेवक थे। कुछ साधर्मियो ने भी प्रेरणा की, उनमे रतनचन्द जी मुघडिया और पडित टोडरमल जी के दोनो पुत्र हरिचन्द और गुमानी लाल और बाल ब्रह्मचारी देवीदास गोधा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उस समय वहाँ रायमल्ल जी साधर्मी की अध्यात्म शैली का प्रचार था। टीकाकार ने सबकी भावना को साकार करने के लिए आदिपुराण की टीका स० १८२४ आश्विन कृष्णा एकादशी शुक्रवार के दिन जयपुर मे बनाकर समाप्त की है[1]।

पंडित दौलताम जी ने स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टब्बा टीका इन्द्रजीत के बोध कराने के लिए सवत् १८२६ में ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन पूर्ण की है, जैसा कि उनकी निम्न प्रशस्ति वाक्यो से प्रकट है:—

सुखी होहु राजा प्रजा, सुखी होई चौसंग।
पावहु शिवपुर सज्जना, सो पद सदा अलंघ ॥
इन्द्रजीत के कारनै, टवा जु बाला बोध।
भाष्यो दौलतराम नै, जाकर होय प्रबोध ॥

---

१. सवत् अष्टादश सत जान, ता ऊपर तेईस बखान।
शुक्लपक्ष नौमी शनिवार, माघमास रोहिणी रिखिसार ॥
—पद्मपुराण टीका प्रशस्ति

१. अट्ठारह स सम्वता ता ऊपर चौवीस।
कृष्ण पक्ष असोज को पुष्प नक्षत्र वरीश ॥
शुक्रवार एकादशी पूरण भयो ये ग्रन्थ।
—आदिपुराण प्रशस्ति

पं० टोडरमल जी के लगभग ५० वर्ष की उम्र मे दिवगत हो जाने पर, पुरुषार्थसिद्धयुपाय की उनकी अधूरी टीका को भी आपने रतनचन्द जो दीवान के अनुरोध से स० १८२७ मे पूर्ण किया है।

हरिवंशपुराण टीका—

रायमल्ल जी जयपुर से जब मालव देश में गए। वहां उन्होंने पद्म पुराण और आदि पुराण की टीका पढ़कर सुनाई।[२] जिससे वहां के श्रावकों में धर्म-रुचि अधिक बढ़ी। उस समय वहां के लोगों ने ब्र० रायमल्ल जी से कहा कि आप हरिवश पुराण की टीका दौलत राम जी से बनवाइये। तब रायमल्ल जी ने अपने मित्र दौलत राम जी को पत्र लिखा, और प्रेरणा की कि आप हरिवश पुराण की टीका और बनाइए, जिससे सब साधर्मी जन उसे पढ़कर लाभ उठा सकें, और चैत्यालय में सब साधर्मियो ने भी प्रेरित किया कि आप हरिवंश की टीका बनाओ और दीवान रतनचन्द्र के भाई बधीचन्द जी दीवान, जो पडित दौलतराम जी के मित्र थे, उनकी प्रेरणा और सहयोग से कवि ने हरिवश पुराण की टीका सं० १८२९ चैत्र शुक्ल पूर्णमासी के दिन समाप्त की।[३]

टीकाकार दौलत राम जी ने धर्म और साहित्य की जिस लगन से सेवा की है वह अनुकरणीय है। टीका की भाषा मुहावरेदार और मधुर है ढुढारी भाषा होते हुए भी सरल है। विवेक विलास उनकी छोटी से पद्य बद्ध कृति है। उसके दोहा बड़े प्रिय है। जिन ग्रथों का परिचय इस लेख मे नही दिया जा सका, उनकी प्रतियां लेखकको देखने को नही मिली अन्यथा उनका परिचय अवश्य दिया जाता। पडित जी की सबसे पहली टीका सं० १७७७ की है। उसके बाद सं० १८२९ तक साहित्य की जो महान् सेवा की है, वह महत्वपूर्ण है। ऐसे विद्वानों के प्रति समाज का बहुमान और आदर होना नितान्त आवश्यक है। टीकाकार का अधिकांश साहित्य अभी तक अप्रकाशित है। समाज का कर्तव्य है कि वह उसे प्रकाशित करे। ★

२. रायमल्ल के रुचि बहुत, व्रतक्रिया परवीन।
गये देश मालव विषे, जिनशासन लवलीन ॥८॥
तहां सुनाया ग्रंथ उन, भाषा आदिपुराण।
पद्मपुराणादिक तथा, तिन को कियो बखान ॥९॥
—हरिवंशपुराण प्रशस्ति

३. अठारह सौ सवता तापर धर गुणतीस।
वार शुक्र पून्यो तिथि, चैत्र मास रुति ईस ॥२७
—हरिवश पुराण प्रशस्ति

धर्म की महिमा

धर्म से मनुष्य को मोक्ष मिलता है और उससे धर्म की प्राप्ति होती है; फिर भला धर्म से बढ़कर लाभदायक वस्तु और क्या है ?

धर्म से बढ़कर दूसरी और कोई नेकी नही, और उसे भुला देने से बढ़कर दूसरी कोई बुराई भी नहीं है।

नेक काम करने में तुम लगातार लगे रहो, अपनी पूरी शक्ति और सब प्रकार से पूरे उत्साह के साथ उन्हें करते रहो।

अपना मन पवित्र रक्खो, धर्म का समस्त सार बस एक इसी उपदेश में समाया हुआ है। बाकी और सब बातें कुछ नहीं, केवल शब्दाडम्बर मात्र है।

ईर्षा, लालच, क्रोध और अप्रिय वचन इन सबसे दूर रहो। धर्म प्रगति का यही मार्ग है।

यह मत सोचो कि मैं धीरे-धीरे धर्ममार्ग का अवलम्बन करूँगा। बल्कि अभी बिना देर लगाये ही, नेक काम करना शुरु कर दो; क्योंकि धर्म ही वह वस्तु है जो मौत के दिन तुम्हारा साथ देने वाला अमर मित्र होगा। —तमिलवेद

राजस्थान के जैन कवि और उनकी कृतियाँ

डा० गजानन मिश्र एम. ए. पी-एच. डी., आर. ई. एस.

खुशालचन्द काला—

खुशालचन्द के पूर्वज टोडारायसिंह के निवासी थे। वहाँ से वे व्यापारिक दृष्टि से सांगानेर में आकर बस गये थे।[1] यहीं (सांगानेर) में इनका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दर तथा माता का नाम अभिधा था[2] इनके गुरु पं० लखमीदास थे।[3] जो क्षमावान, ज्ञानवान और विवेकवान थे। ऐसे उत्तमकोटि के विद्वान के पास रह कर खुशालचन्द ने विद्या प्राप्त की थी। शिक्षा ग्रहण के उपरान्त ही वे दिल्लीके पास जयसिंहपुरा (नई दिल्ली) मे रहने लग गये थे।[4] उन दिनों जयसिहपुरा सभी प्रकार से अच्छा स्थान था। यहीं वे गोकुलचन्द के सम्पर्क मे आये। इन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की। अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर उन्होंने इसका उल्लेख किया है।[5] खुशालचन्द की जाति खण्डेलवाल तथा गोत्र काला था।[6]

अद्यावधि कवि की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं :—

१. हरिवंश पुराण[1] वैसाख शुक्ला ३ सं. १७८०)
२. यशोधर चरित्र[2] (कार्तिक शुक्ला ६ सं. १७८१)
३. पद्मपुराण[3] (स. १७८७)
४. व्रत कथाकोश[4] (२४ कथाओं का संग्रह, १७८७)
५. जम्बू स्वामी चरित्र।
६. धन्यकुमार चरित्र[5]।
७. सद्भासितावली (श्रावण शुक्ला १४ सं. १७९४)
८. उत्तर पुराण[6] (मार्गशीर्ष शुक्ला १० सं. १७९९)
९. सिद्धों की आरती[7]।
१०. चौबीस स्तुति पाठ।
११. वर्द्धमान पुराण।
१२. शान्तिनाथ पुराण[8]।
१३. पद[9]।

हरिवंश पुराण—

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि कवि ने इस पुराण का पद्यानुवाद गोकुलचन्द की प्रेरणा से जयसिहपुरा मे किया। सभी रचनाओं के संवत् देखने से विदित होता है कि यह कवि की प्रथम रचना है। जिस प्रकार पद्मपुराण को जैन रामायण कहा जाता है कि

---

१. उत्तर पुराण भाषा के अन्त मे कवि परिचय।

२. और सुणो आगे मन लाय, मैं सुन्दन को नन्द सुभाय।
सिंहतिया अभिधा मम माय,
ताहिकूखिमें उपजो आय।
चंद खुशाल कहै सब लोक, भाषा कीनी सुणत अशोक
—प्रशस्ति संग्रह (व्रत कथा कोश) पृ० २५७

३. पंडित भये नाम तहां लखमीदास।
चतुर विवेकी श्रुतज्ञान कूं उपाय के॥
तिनै पास मैं भी कछु अलासो प्रकाश भयो।
फेरिमें वस्यो जिहानाबाद मध्य आयके।

४. प्रशस्ति संग्रह (व्रत कथा कोश) पृ० २५६ छद २।

५. सहर मध्य इक वणिकसाह सुखानन्द जान।
ताके गेह विषै रहे, गोकुलचन्द सुजान॥
तिनके ढिग मैं जाऊ सदा पढूं सुशास्त्र सुभाय।
जिनको वह उपदेश ले भाषा ग्रंथ बनाय॥
—हरिवंश पुराण

६. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि—डा० प्रेमसागर जैन पृ० २३४।

---

१. शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर पाटोदी जयपुर के वि. सं. ३२७ पर इसकी प्रति उपलब्ध है।

२. वही, वे. स. १०४९।

३. वही।

४. वही।

५. शास्त्र भन्डार, बाबा दुलीचन्द वे. सं. ३३४।

६. वही, वि. स. ७४।

७. आमेर शास्त्र भण्डार वे. स. १५५०।

८. शास्त्र भण्डार, गोधों का मदिर, वे. सं. १५५०।

९. शास्त्र भण्डार, ठोलियों का मन्दिर जयपुर गुटका संख्या १२४ एवं बधीचन्द के मन्दिर मे भी उपलब्ध हैं।

उसी प्रकार इसे यदि जैनकृष्णायन या जैन महाभारत कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस ग्रन्थ की भाषा ढूंढाडी है। ग्रन्थ में कुल ३६ संधियां एवं ५००० पद्य हैं।

पद्मपुराण—

इसमें मुनि सुव्रतनाथ एवं उनके शासन में होने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का वर्णन है। इसे कुछ विद्वानों ने रामपुराण भी कहा है।

चौबीसी स्तुति पाठ—

इस कृति मे आराध्य की महिमा का बखान व स्वयं के दोषों की अभिव्यक्ति की गई है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। भक्त अपने आराध्य से स्व-मुक्ति की प्रार्थना करता है और हमेशा उनकी सेवा का अधिकार चाहता है। एक पद दृष्टव्य है—

सुरनर ऐसी सेवा करेजी, चरन कमल की ओर।
भंवर समान लगे रहै जी, निसि वासर प्ररु भोर॥
+ + +
चंद करे या वीनती जो, सुणिज्यौं त्रिभुवनराई।
जन्म जन्म पाऊं सही प्रभु तुम सेवा अधिकार॥

पं० दौलतराम—

दौलतराम[१] बसवा के रहने वाले थे, परन्तु जयपुर मे आकर बस गये थे। उनके पिता का नाम आनन्दराम था। वह जाति के कासलीवाल गोत्री खण्डेलवाल थे।[२] अपने प्रारम्भिक समय मे पं० दौलतराम जी को जैनधर्म मे विशेष रुचि नहीं थी। लेकिन बड़े होने पर ये आगरा गये और वहां इनका सम्पर्क पं० भूधरदास, हेमराज, सदानन्द, बिहारीदास एवं ऋषभदास से हुआ। ऋषभदास के उपदेश से दौलतराम को जैनधर्म पर विश्वास हुआ और कालान्तर में यह विश्वास अगाध श्रद्धा के रूप में परिणित हो गया।[३]

पं० दौलतराम प्रारम्भ में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह के पुत्र माधवसिंह के मंत्री थे।[४] लेकिन फिर भी वे राज्य कार्य से समय निकाल कर गुरु-उपासना तथा शास्त्र रचना किया करते थे। प्रेमीजी के शब्दों में ये एक ओर तत्कालीन जयपुर और उदयपुर की राजनीति के सूत्रधार थे और साहित्य साधक भी। उनकी रचनाओं से उनकी विद्वता भी स्पष्ट है। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। उनका गद्य हिन्दी की अमूल्य निधि है।[५]

दौलतराम जी की निम्नलिखित रचनाएं है—

१. पुण्याश्रव वचनिका (भाद्रपद कृष्णा ५ सं. १७७७)
२. क्रियाकोष भाषा (भा. शु. १२ सं. १७६५)
३. अध्यात्म बारहखड़ी (फाल्गुन शुक्ला २ सं. १७६८)
४. वसुनन्दि श्रावकाचार टब्बा (सं. १८०८)
५. पद्मपुराण वचनिका (माघ शु. ६ सं. १८२३)
६. आदि पुराण (आश्विन कृष्णा ११ सं. १८२४)
७. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय[६]।
८. परमात्म प्रकाश वचनिका।
९. हरिवंशपुराण वचनिका (चैत्र शु. १५ सं. १८२९)
१०. श्रीपाल चरित्र।
११. विवेक विलास।

उपर्युक्त कृतियों मे आदि पुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, अध्यात्म बारहखड़ी, चौबीस दण्डक, विवेक विलास, छहढाला एवं क्रियाकोष भाषा आदि इनके काव्य ग्रंथ हैं।

सभी काव्य ग्रन्थों मे 'अध्यात्म बारहखड़ी' नामक काव्य ग्रंथ उत्कृष्ट कोटि का है, एवं महत्वपूर्ण तथा मौलिक है। इस ग्रंथ मे आठ परिच्छेद हैं। इसके प्रथम परिच्छेद मे 'सकार' दूसरे मे १६ स्वर, तीसरे में 'क-वर्ग', चौथे में 'च वर्ग', पांचवें में 'ट वर्ग', छठे में 'त वर्ग', सातवें मे 'प वर्ग' तथा आठवें परिच्छेद में अन्तःस्थ और

---

१. जैन साहित्य के इतिहास मे दौलतराम नामके तीन विद्वानों का उल्लेख हुआ है। इनमें एक पल्लीवाल जातीय हाथरस के, दूसरे बूंदी के दौलतराम पाटनी और तीसरे बसवा (जयपुर) रहने वाले थे।
२. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—पं. नाथूराम प्रेमी पृ. ६८।
३. पुण्याश्रव टीका की अन्तिम प्रशस्ति।

४. वसुवा का वासी यहै अनुचर जय को जानि।
मंत्री जयसुत को सही, जाति महाजन जानि॥
५. हि. जै. सा. स. ... प्रेमी पृ. ४०—पुण्याश्रव कथा-कोश की अन्तिम प्रशस्ति:
६. पं. टोडरमल जी ने अधूरी छोड़ी उसे माघ शुक्ला २ शनिवार सं. १८२७ में पूरा किया।

अन्य व्यंजनों से आरम्भ होने वाले छद है। सम्पूर्ण ग्रथ में ५००० छंद है।

भक्तिरस का यह सर्वश्रेष्ट ग्रथ माना जाता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने राम की वन्दना करते हुए उन्हे सर्वव्यापक माना है। वे आत्मा तथा परमात्मा जिनेन्द्र) को एक मानते हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु एव महेश तीनो के दर्शन जिनेन्द्र में करते हैं। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण उदार है।

संत कवियो की तरह उन्होने भी आडम्बरो का खण्डन करते हुए लिखा है कि मूड मुडाने से कुछ भी नहीं होता अपितु आतमराम की सेवा से ही सब कुछ सम्भव है—

मूंड मुंडाये कहा, तत्व नहिं पावै जौलौं।
मूढनि को उपदेश सुनं, मुक्ति जु नहि तोलौं।
मल मूत्रादि भरयो जु देह कबहूं नहिं शुद्धा।
शुद्धो आतमराम ज्ञान की मूल प्रबुद्धा॥

देवा ब्रह्म—

देवाब्रह्म बहुत अच्छे कवि हुए है। लेकिन अभी तक ये प्रकाश मे नही आ सके। जहाँ कहीं इनका नामोल्लेख हुआ है वही इनके नाम के आगे प्रश्न सूचक चिन्ह लगा हुआ है। अभी नई खोजों से इनकी अनेक कृतियाँ तथा पद सामने आ गये हैं। देवाब्रह्म के १००० पद आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर मे उपलब्ध है। इन पदो की संख्या से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये कितने बडे कवि हुए होंगे।

देवाब्रह्म मे 'ब्रह्म' शब्द उपाधि सूचक है जो उनके ब्रह्मचारी होने की बात घोषित करता है। उनका असली नाम 'देवजी' था। कामताप्रसाद जैन ने देवाब्रह्म एव केशरी सिह के सम्बन्ध मे प्रश्नसूचक चिन्ह लगाकर एक शंका उपस्थित कर दी है। उन्होने केशरी सिंह कृत सम्मेद शिखर विलास का भी उल्लेख किया है।[१] श्री भवरलाल न्यायतीर्थ ने भी सम्मेदशिखर विलास एवं वर्द्धमान पुराण की भाषा वचनिका के लेखक का नाम केशरीसिंह ही बताया है। उन्होने देवाब्रह्म का उल्लेख ही नहीं किया है उनके अनुसार केशरीसिह जयपुर के लश्कर मन्दिर में बैठ कर काव्य रचना किया करते थे। भट्टारकों के गुरु कहे जाते थे।[२] इस प्रकार उन्होने केशरीसिंह व देवाब्रह्म को भिन्न-भिन्न तो माना है लेकिन इन्होने जिस 'सम्मेद शिखर विलास' का रचयिता केशरी सिंह को माना है वह सत्य नही है। 'सम्मेद शिखर विलास' के रचयिता देवाब्रह्म ही थे लेकिन मूल ग्रन्थ का अर्थ केशरी सिंह ने देवाब्रह्म को समझाया था। इसीलिए ग्रन्थ के अन्तिम पद्यो मे केशरीसिह का नामोल्लेख हुआ है। देवाब्रह्म तो जयपुर के ही रहने वाले थे।[३]

देवाब्रह्म की निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध है—

१. सम्मेद शिखर विलास[४]।
१. विनती सग्रह[५]।
३. पद सग्रह[६]।
३. सास बहू का झगड़ा[७]।

देवा ब्रह्म की रचना का एक पद दृष्टव्य है—

जगतपति तारोला महाराज।
विरद विचारोला महाराज॥
मैं अपराध अनेक किया जो, माफ करो गुणराज।
और देव या सब ही देख्या, खेद सहो बिनकाज॥
'देवाब्रह्म' चरणां चित ल्यावै, सेवग करिहित काज॥

साहिब राम—

पर्याप्त प्रयत्न करने के पश्चात भी साहिबराम के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी नही मिल सकी है। जयपुर

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास—कामता प्रसाद पृ. १६५।

२. वीरवाणी—भंवरलाल न्यायतीर्थ का लेख।

३. श्री लोहाचारज मुनि धर्म विनीत है।
तिन कृत धत्ता बन्ध सुग्रथ पुनीत है॥
ता अनुसार कियो सम्मेद विलास है।
देव ब्रह्मचारी जिनवर को दास है॥
केसरीसिह जान, रहै लसकरी देह।
पडित सब गुणजन या को अर्थ बताइयो॥
—सम्मेदशिखर विलास देवाब्रह्म

४. शास्त्र भडार, गोधो का मन्दिर मे उपलब्ध है।

५. शास्त्र भंडार वधीचन्द मन्दिर गुटका न. ५४।

६. आमेर शास्त्र भण्डार तथा वधीचन्द मन्दिर में ४६३ पद उपलब्ध है।

७. शास्त्र भडार, ठोलियो का मन्दिर मे वे. सं. ४३८ पर है।

के जैन विद्वानों से सम्पर्क करने से यह विदित हुआ है कि साहिबराम जयपुर के ही रहने वाले थे। जयपुर में रहने का एक अन्य प्रमाण उनके पदों की जयपुरी भाषा है। अब तक इनके पद ही उपलब्ध हो सके हैं। इन पदों में ६० पदों का संग्रह बड़ा तेरहपंथी मन्दिर के शास्त्र भंडार में तथा कुछ पद आमेर शास्त्र भण्डार के वे० सं० २२६० में पद हैं। इनका एक पद उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

समझि औसर पायो रे जिया।

तैं परकूं निज मान्यों यातैं आपा कूं बिसरायोरे ॥१
गल बिचि फांसो मोह को लागी इन्द्रिय सुख ललचायोरे ॥२
भ्रमति अनादि गयो ऐसेही, अजहूं ओर न आयो रे ॥३
करत फिरत परकी चिन्ता तू नाहक जन्म गंवायो रे ॥४
जिन 'साहिब' की वाणी उरधरि शुध मारग दरसायोरे ॥५

बखतराम—

बखतराम शाह का जन्म चाटसू (चाकसू-जयपुर) मे हुआ था।[१] इनके पिता का नाम प्रेमराज था। जयपुर नगर का लश्कर जैन मन्दिर इनकी साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र था। इनके समय मे जयपुर में धार्मिक सुधार आन्दोलन चल रहा था जिसके नेता महापण्डित टोडरमल जी थे।[२] इस प्रकार ये टोडरमल के समकालीन थे। बखतराम शाह सं० १८४२ से १८४५ तक जयपुर राज्य के दीवान भी रहे।[३] उस समय इन्होंने जयपुर तथा प्रतापपुरा मे जिन मन्दिरों का निर्माण भी कराया।

बखतराम शाह की निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध है—

१. मिथ्यात्व खंडन नाटक[४]।
२. बुद्धि-विलास[५]।
३. पद।[६]

मिथ्यात्वखण्डन नाटक—

इस ग्रन्थ की रचना पौष सुदि ५ सं० १८२१ को हुई थी।[७] इस काव्य मे कवि ने तेरहपंथ का खण्डन किया है। यह उनका मौलिक ग्रन्थ है जिसमे १४२३ छंद हैं।

बुद्धि विलास—

धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इसकी रचना मार्गशीर्ष शुक्ला १२ स० १८२७ मे हुई।[८] ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से किया गया है तदुपरान्त देश वर्णन के अन्तर्गत कवि परिचय देते हुए जयपुर राज्य का ऐतिहासिक वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। ग्रन्थ के मूलतः दो भाग है। प्रथम मे मंगलाचरण स्वर्ग नरक वर्णन, नृपवंश तथा नगर उत्पत्ति वर्णन आदि है एवं दूसरे भाग मे नीतिसार ग्रन्थ का पद्यानुवाद है जिसमे जैन धर्म का ऐतिहासिक वर्णन, संघ उत्पत्ति भट्टारक पट्टावली, श्रावक उत्पत्ति अनेक सूक्तियां तथा अन्त मे अपनी (कवि) लघुता बताते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है। कवि के स्वयं के शब्दों मे ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य विविध शास्त्रों के अनुसार जिन धर्म की चर्चा है।[९]

जयपुर के बाजारों मे सुन्दर चौपडे, चौक तथा उनमें कुण्ड आदि बनाकर उनमें नहर से पानी लाए जाने एवं उस मीठे पानी को जनता द्वारा उपयोग मे लाए जाने का कितना सुन्दर चित्रण कवि ने इन पंक्तियों मे किया है—

चौपरि के कीन्हें हैं बजार, बिचि बिचि बनाये चौक चार।
ल्याये नेहरि बाजार मांहि, बिचि में बेबे गहरे रखाहि॥
चौकनि में कुंड रचे गंभीर, जगपीवत तिनको मधुर नीर॥

इस ग्रन्थ में १५२६ पद्य हैं। भाषा ढूंढारी है। दोहा चौपाई, सोरठा, छप्पय तथा कुण्डलिया आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

---

१. यह आज्ञा पाई बखतराम गोत है साह चाटसू ठाम।
   पहित कल्याण तैं बिनती कीन,
   यन कोई ग्रंथ रचै नवीन॥ —बुद्धिविलास
२. हिन्दी पद संग्रह—डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ. १६१
४. राजस्थान के जैन भंडारों की सूची—भाग ३ (भूमिका)
४. शास्त्र भंडार बाबा दुलीचन्द वि. स. ५७७ एवं आमेर शास्त्र भंडार के वि. सं. २०३६।
५. आमेर शास्त्र भंडार वि. स. १८८१ (यह काव्य रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर से प्रकाशित भी हो गया है।
६. आमेर शास्त्र भंडार।
७. मिथ्यात्व खंडन नाटक—छ. स. १४०७।
८. संवत अठारह सतक, ऊपरि सत्ताईस।
   मास मगसिर पखि सुकल तिथि द्वादसी लहीस॥
   —बुद्धिविलास
९. वरन्यो बुद्धि विलास यह, ग्रन्थादिक अनुसार।
   है जिन धर्म अनूप की, चर्चा यामे सार॥१५५१॥
   —बुद्धि विलास

कर्नाटक को गोम्मट मूर्तियां

ले० आचार्य पं० के. भुजबली शास्त्री

कर्नाटक में गोम्मट की अनेक मूर्तियाँ हैं। चालुक्यों के समय में ई० सन् ६५० में निर्मित गोम्मट की एक मूर्ति बीजापुर के बादामी में है। कर्नाटक की वस्तु कला को विकास करने में प्रमुख सहयोग देने वाले तलकाडु के गंग राजाओं के शासन काल मे गङ्गराज रायमल्ल सत्य-वाक्य के सेनापति व मन्त्री चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेल-गोल में ई० सन् ९८२ में स्थापित विश्व प्रसिद्ध गोम्मट मूर्ति है। मैसूर के समीप गोम्मटगिरि में १४ फुट ऊंची एक गोम्मट मूर्ति है जो चौदहवीं शदी मे निर्मित है। इसके समीप ही कन्नबाड़ी (कृष्णराज सागर) के उस पार १२ मील दूरी पर स्थित बसदि होसकोटे हल्ली में गङ्ग कालीन एक गोम्मट मूर्ति है जो १८ फुट ऊंची है। मैसूर राज्य अन्वेषण विभाग ने हाल में इसका अन्वेषण किया। दक्षिण कन्नण जिले के कार्कल मे ४२ फुट ऊंची एक गोम्मट मूर्ति है जिसे ई० सन् १५६२ मे वीर पाण्ड ने बनवायी थी। श्रवणबेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति की प्रेरणा से तिम्मराज अजिल ने वेणूर मे ई० सन् १६०८ में पैंतीस फुट ऊंची एक गोम्मट मूर्ति स्थापित की थी।

कर्नाटक की गोम्मट मूर्ति का निर्माण पहाड़ी शिला से हुआ है। आज भी वह स्थान हम देख सकते हैं। मूर्ति बनाने मे बहुत समय लगा होगा। अनुमान है कि इस मूर्ति का वजन करीब ४०० टन है। मूर्तिकार का असली नाम अज्ञात है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि उन दिनों अनेक चतुर शिल्पी तुलु राज्य मे अर्थात् आज-कल के दक्षिण कन्नड व उत्तर कन्नड जिलों में थे। कारकल की इस मूर्तिके निर्माण के सम्बन्ध में चन्द्रम कवि ने अपने 'गोमेटेश्वर चरित' में बहुत कुछ लिखा है। कवि की यह कृति मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित है। यद्यपि इसमें अत्युक्तियाँ है तथापि वास्तविक अंशों की कमी नहीं है। कार्कल के गोम्मटेश्वर प्रतिष्ठापन समारोह में विजय नगर के तत्कालीन राजा द्वितीय देवराय उपस्थित थे। कार्कल एक सुन्दर राजधानी था ही। अब गोम्मटेश्वर की मूर्ति के कारण विशेष प्रसिद्ध हो गया और जैनों का एक तीर्थस्थल बन गया। मूर्ति की दाहिनी ओर खुदे लेख में संस्कृत में अङ्कित है कि शालिवाहन शक १३५३, ई० सन् १४३१-३२ में विरोधिकृत संवत् की फाल्गुन शुक्ला ११ बुधवार को, कार्कल के भैररसों के गुरु मैसूर के हनसोगे देशी गण के ललित कीर्ति जी के आदेश से चन्द्रवंश के भैरव राजा के पुत्र वीरपांड्य ने इसे स्थापित किया।

वेणूर स्थित गोम्मट मूर्ति को वहाँ के समीप कल्याणी नामक स्थान के शिला से बनाया गया था। श्रवणबेलगोल मे चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मट मूर्ति को देखकर तिम्मण्ण अजिल ने अपनी राजधानी मे भी ऐसी ही एक मूर्ति स्थापित करने का निश्चय किया और यह मूर्ति खुदवायी। शिल्पी के बारे मे कुछ भी ज्ञात नहीं है। गोम्मट मूर्ति की दाहिनी ओर खुदे लेख मे जो संस्कृत मे है, बताया गया है कि चामुण्डराय के वंश के तिम्मराजने श्रवणबेलगोल के अपने गुरु भट्टारक चारुकीर्ति के आदेशानुसार शालिवाहन शक १५२५ शोधकृत संवत् के गुरुवार १ मार्च २६०४ को इसका प्रतिष्ठापन कराया। मूर्ति के बायी ओर के कन्नड पद्यों मे भी यही बात उल्लिखित है। तत्कालीन राजधानी वेणूर अच्छी हालत में थी। आज भी हम वहाँ राजमहल आदि के चिह्न देख सकते हैं।

श्रवणबेलगोल के गोमटेश्वर इसके बारे में देखें। उत्तराभिमुख स्थित यहाँ की यह मूर्ति विश्व की प्रसिद्ध आश्चर्यजनक वस्तुओं मे एक है। लम्बे बड़े कान, लम्बी बाहें, विशाल वक्षस्थल, पतली कमर, सुगठित शरीर आदि ने मूर्ति की सुन्दरता बढ़ाई है। मुख पर अपूर्व तेज

व अपार शान्ति प्रस्फुटित है घुटनो तक बाबी बनाई है। उनमें भयानक विषधर सर्प दिखाये गये है। दोनो टॉगो और बाहुओं पर माधवी लताए फैली हैं। तो भी अटल ध्यानावस्थित मुख-मुद्रा है। यह मूर्ति सचमुच तप का अवतार है।

यहाँ का दृश्य वस्तुतः भव्य व दिव्य है। सिंहासन एक खिले कमल के आकार मे है। शिल्पी ने अपने अपूर्व प्रयत्न मे पूर्ण सफलता पाई है। सारी दुनिया मे आपको कहीं भी ऐसी मूर्ति नही मिलेगी। बड़े-बड़े पश्चिमी विद्वानों ने इस मूर्ति की शिल्पकला की खूब प्रशसा की है। इतने भारी व कठिन पत्थर पर चतुर शिल्पी ने अपनी जो निपुणता दिखाई है उससे भारतीय वास्तुशिल्पियों की चातुरी प्रदर्शित हुई है। ५७ फीट ऊंची इस मूर्ति के निर्माण के एक हजार वर्ष बाद भी उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। यहाँ के एक विशाल पत्थर को काट कर यह मूर्ति बनाई गई है।

अब तक कर्नाटक की पुरानी गोम्मट मूर्तियों की बात कही गई। दक्षिण कन्नड जिले के प्रसिद्ध तीर्थ स्थान के धर्मस्थल के दिवगत धर्माधिकारी श्री रत्नवर्म हेग्गडे की इच्छा से उनके पुत्र वर्तमान धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेग्गडे कार्कल मे एक बड़ी गोम्मट मूर्ति बनवा रहे हैं। यह मूर्ति कार्कल की पुरानी मूर्ति के समान वजन की होगी। राष्ट्रप्रशस्ति विजेता शिल्पी इसे बना रहे हैं।

कर्नाटक की इन सुन्दर मूर्तियो को देख महाराष्ट्र व उत्तर भारत के गोम्मटभक्तों ने अपने यहाँ भी ऐसी मूर्तियाँ स्थापित करने का विचार किया और आरा (बिहार), बम्बई, बाहुबली देहली आदि स्थानों में जयपुर के श्वेत सगमरमर की मूर्तियाँ बना कर स्थापित की गई हैं। कर्नाटक के बाहर की उन मूर्तियों में आरा में स्थित मूर्ति ही प्रथम है। यह जयपुर में बनाई गई और रेल द्वारा आरा लाई गई। इस सुन्दर मूर्ति को श्रीमती नेमसुन्दरी नामक श्रद्धालु जैन महिला ने 'जैन बाला-विश्राम' नामक कन्या विद्यालय के उद्घाटन मे स्थापित करवाया है। ★

साहित्य-समीक्षा

१. पुरुदेव चम्पू—लेखक महाकवि अर्हद्दास, (सस्कृत हिन्दी टीका सहित), सम्पादक अनुवादक—प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस नई दिल्ली। पृष्ठ सख्या ४६४, साइज २२×२६। मूल्य सजिल्द प्रति का २१) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ चम्पू का काव्य है, इसमे प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ या पुरुदेव का रचित गद्य पद्य मे वर्णित है। कथावस्तु की दृष्टि से यह काव्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। क्योकि पुरुदेव का जीवन परिचय अत्यन्त रोचक और उपदेशप्रद है। इन्ही पुरुदेव (ऋषभदेव) के पुत्र भरत चक्रवर्ती और बाहुबली के जीवन चरित भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के उज्ज्वल निदर्शन है। इन्ही भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है।

ग्रंथ मे दश स्तवक है जिनमें ३ स्तवको मे भगवान आदिनाथ और उनके पुत्र भरत तथा बाहुबली का चरित्रचित्रण किया गया है। ग्रन्थका कथानक सुन्दर एव सरस है, कवि ने उसे और भी रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। कविने नई-नई कल्पनाओं, श्लेष, विरोधादि अलंकारों के पुट ने इसके गौरव को बढ़ा दिया है। ग्रन्थ की भाषा और भाव प्रौढ़ है। कवि अर्हद्दास की इस रचना पर किस-किस का प्रभाव अंकित है इसका सम्पादक ने तुलना द्वारा स्पष्टीकरण किया है। उससे ज्ञात होता है कि कवि पर बाण भट्ट की कादम्बरी और हरिचन्द की दोनों कृतियों—जीवधर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय का प्रभाव रहा है।

विद्वान सम्पादक ने मूलग्रन्थ के श्लिष्ट और क्लिष्ट पदों मे छिपे हुए अर्थों को सस्कृत टीका द्वारा उद्घाटित किया है। और सरस हिन्दी अनुवाद द्वारा उसे सुगम और ग्राह्य बना दिया है। सम्पादक का यह प्रयास अभिनन्दनीय है। उनका साहित्यिक प्रेम भी सराहनीय है। इससे विद्यार्थियो के अतिरिक्त अन्य पाठक उससे लाभ उठा सकेंगे।

भारतीय ज्ञानपीठ का यह प्रकाशन उसके अनुरूप हुआ है इसके लिए उसके संचालक गण विशेष धन्यवाद के पात्र है।

२. णाय कुमार चरिउ—मूल लेखक, महाकवि पुष्पदन्त, सम्पादक अनुवादक डा० हीरालाल जैन, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ बी. ४५-४७ कनॉट प्लेस न्यू देहली-१।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नागकुमार का चरित अंकित किया गया है जिनका चौबीस कामदेवों की गणना मे अन्तर्भाव है। नागकुमार ने पूर्व जन्म में श्रुतपंचमी के व्रत का अनुष्ठान किया था, उसी के पुण्य फल के परिणाम स्वरूप वे कामदेव हुए। नागकुमार का जीवन परिचय अत्यन्त रोचक और प्रिय रहा है। इसी से संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों मे उनकी जीवनगाथा अंकित करने का विभिन्न ग्रन्थकारों ने प्रयास किया है।

ग्रन्थ ६ परिच्छेदों में निबद्ध है। डा० हीरालाल जी जैन समाज के सम्माननीय विद्वान हैं। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, संस्कृत टिप्पण, शब्दकोष और विस्तृत अंग्रेजी-हिन्दी प्रस्तावना के साथ समलंकृत किया है।

प्रस्तावना में ग्रन्थ का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डा० हीरालाल जी ख्यातिप्राप्त विद्वान हैं। उन्होंने साहित्य-सेवा का महान् कार्य किया है। उनकी यह कृति विश्वविद्यालयों के पठनक्रम में रखे जाने के योग्य है। इससे यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा के अध्येता विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी है ही, अन्य पाठकों के लिए भी पठनीय है। डा० साहब ने अपभ्रंश भाषा की समृद्धि में जो योगदान दिया है, इसके लिए वे समादरणीय हैं। भारतीय ज्ञानपीठ का यह प्रकाशन सुन्दर है। मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. नयचक्र—मूल कर्ता माइल्ल धवल, सम्पादक अनुवादक पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ हेड आफिस बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस नई दिल्ली, पृष्ठ सं० ३२६ मूल्य १५ रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्पादक ने माइल्ल धवल के द्रव्य स्वभाव नयचक्र का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। और विशेषार्थों द्वारा उसके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। दोहों में रचे हुए द्रव्य स्वभाव प्रकाश को माइल्ल धवल ने गाथाबद्ध किया। यह रचना देवसेन के मूल नयचक्र से बहुत अधिक परिमाण को लिए हुए है।

सम्पादक ने परिशिष्ट नं० १ मे देवसेन की आलाप पद्धति का हिन्दी अनुवाद दिया है। और परिशिष्ट न० २ में आचार्य विद्यानन्द द्वारा श्लोक वार्तिक मे दिये हुए नय विवरण का भी हिन्दी अनुवाद दे दिया है। जिससे अध्येताओं के लिये नय विषयक सामग्री एक स्थान पर मिलने में सुविधा हो गई है। और उससे नयोंके सम्बन्ध में विशेष जानकारी मिलती है। अनुवाद अच्छा और सुगम है।

सम्पादक ने ४० पृष्ठ की अपनी महत्वपूर्ण प्रस्तावना में नय चक्र पर अच्छा प्रकाश डाला है। और ग्रन्थ कर्ता माइल्ल धवल के रचना काल पर प्रकाश डालते हुए नय के सम्बन्ध में अच्छा विवेचन किया है। प्रस्तावना पठनीय है। इस महत्वपूर्ण रचना के लिए विद्वान सम्पादक और उत्तम प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को ग्रन्थ मंगाकर पढ़ना चाहिए।

४. रत्न करण्ड श्रावकाचार—(संस्कृत हिन्दी टीका सहित)—मूल कर्ता आचार्य समन्तभद्र, संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र, हिन्दी रूपान्तर कार एवं सम्पादक पं पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक डा० दरबारी लाल कोठिया मंत्री, वीर-सेवा-मंदिर ट्रस्ट, १।१२८ डुमराव बाग कालोनी, वाराणसी ५, पृष्ठ संख्या २७५ मूल्य सजिल्द एक प्रति का ८) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक श्रावकाचार है जिसमें आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का वर्णन करते हुए श्रावक धर्म का अच्छा वर्णन किया है। इस ग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र की एक संस्कृत टीका है, जिसमें पद्यों का सामान्यार्थ दिया हुआ है और कहीं-कहीं कुछ विशेष विवेचन भी मिलता है। व्रतों मे प्रसिद्ध होने वालों की कथाएं भी टीकाकार ने दी हैं।

सम्पादक जी जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान तथा अनेक ग्रंथों के टीकाकार और सम्पादक हैं। आपने प्रस्तुत टीका का हिन्दी अनुवाद किया है, और टीका के मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिये विशेषार्थों की योजना की है। विशेषार्थ लिखते समय उन्होंने टीकाकार की मान्यता को पुष्ट किया है। परन्तु मूल ग्रन्थकार की मान्यता से उसका सामंजस्य नहीं बैठता। आचार्य समन्त भद्र की मान्यता में सम्यग्दृष्टि कुलिंगी वन्दनीय नहीं है। उसका स्पष्ट निषेध है और सम्पादक की भी निजी मान्यता ऐसी नहीं है। अतः उन्हें स्पष्ट करना चाहिए था कि यह मान्यता टीकाकार की है, मूलकार की नहीं है अस्तु ग्रन्थ उपयोगी है, स्वाध्याय प्रेमियों को मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

—परमानन्द शास्त्री

जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)

शोध छात्रवृत्ति

जैन विश्वभारती जैन विद्या के अध्ययन, अनुसंधान एवं साधना का केन्द्र है। यह केन्द्र जैन विद्या के क्षेत्र में शोधरत विद्यार्थियों के प्रति वर्ष चार शोधवृत्ति प्रदान करेगा।

नियम :--

(१) भारत के सभी विश्वविद्यालयों में जैन विद्या पर पी. एच. डी अथवा उच्च अध्ययन हेतु कार्यरत शोधार्थियों के लिए, विश्वविद्यालय के मान्य निर्देशक के अन्तर्गत कार्य करने वालों को यह छात्रवृत्ति उपलब्ध हो सकेगी। यह राशि २०० रु० मासिक होगी।

(२) जैन विद्या के सम्पादित ग्रन्थ, आलोचनात्मक एवं उनके हिन्दी अथवा अंग्रेजी अनुवाद हेतु एक छात्रवृत्ति होगी। यह १५० रु० प्रति माह होगी।

(३) छात्रवृत्ति की अवधि दो वर्ष होगी।

(अ) शोध छात्र को प्रत्येक छः माह के बाद जैन विश्वभारती में आकर गति-प्रगति से अवगत कराना होगा। कार्य की गति से संतुष्ट होने पर छः माह की अवधि बढ़ा दी जावेगी।

(ब) प्रत्येक वर्ष की समाप्ति पर शोध छात्र को जैन विश्वभारती में ३ माह की सेवायें देना अनिवार्य होगी। शिक्षा एवं शोध कार्य सम्बन्धी सेवायें होंगी। इन तीन मास की अवधि में २५०) रु० की छात्रवृत्ति होगी। शोध छात्राएँ इस शर्त से मुक्त रहेंगी।

(४) छात्रवृत्ति प्रति वर्ष जनवरी मास से प्रारम्भ होगी।

(५) आवेदन पत्र में छात्र, अपना नाम, शोध विषय, निर्देशक का नाम तथा विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रेशन की प्रतिलिपि, विश्वविद्यालय की अन्तिम परीक्षा के अंकों की प्रतिलिपि भेजनी होगी।

(६) आवेदन पत्र—१ दिसम्बर ७२ तक मंत्री जैन विश्वभारती के पास पहुँच जाना चाहिए।

(७) इस बार छात्रवृत्ति जनवरी ७३ से उपलब्ध होगी।

पत्र व्यवहार का पता :—
डा० महावीर राज गोलछा,
स्नातकोत्तरीय अध्यक्ष,
डूँगर कालेज, बीकानेर (राज०)

भवदीय :
महावीर राज गोलछा
(मानद) मंत्री,
जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य ·२५

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

5212/7

द्वै मासिक

वर्ष २५ : किरण ४-५

अक्टूबर १९७२

दिसम्बर १९७२

अनेकान्त

भगवान महावीर



लखनादौन से प्राप्त भगवान महावीर की कलचुरी कालीन प्राचीन दिगम्बर जैन मूर्ति

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

'अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २५ किरण ४ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९९, वि० स० २०२९ | सितम्बर-अक्टूबर १९७२

आदिनाथ-जिन-स्तवन

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरिपरिगतो राजतिस्मोग्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहु दहतादूरमौदास्यवात—
स्फूर्जत्सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ॥१॥

—पद्मनन्द्याचार्य

काउसग्ग मुद्रा धरि वनमें ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि दीनी ।
निहचल अंग मेरु है मानो दोऊ भुजा छोर जिनि दीनी ।
फँसे अनन्त जन्तु जग-चहले दुखी देख करुणा चित लीनी ।
काढन काज तिन्हैं समरथ प्रभु, किधों बांह ये दीरघ कीनी ॥

—भूधरदास

अर्थ—कायोत्सर्ग के निमित्त से जिनका शरीर लम्बायमान हो रहा है, ऐसे वे नाभिराय के पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें, जिनके ऊपर प्राप्त हुआ मध्यान्ह (दोपहर) का तेजस्वी सूर्य ऐसा सुशोभित होता है मानो कर्म रूप ईन्धनों के समूह को अतिशय जलाने वाली एवं उदासीनतारूप वायु के निमित्त से प्रगट हुई समीचीन ध्यान रूपी अग्नि की देदीप्यमान चिनगारी ही उन्नत हुई हो ।

विशेषार्थ—भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र की ध्यानावस्था में उनके ऊपर जो मध्यान्ह काल का तेजस्वी सूर्य आता था उसके विषय में स्तुतिकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह सूर्य क्या था मानों समताभाव से आठ कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के इच्छुक होकर भगवान आदिनाथ जिनेन्द्र द्वारा किये जाने वाले ध्यानरूपी अग्नि का विस्फुलिंग ही उत्पन्न हुआ है ।

ज्ञान-दीप जलाओ

मुनि श्री विद्यानन्द

जलाने की धुन तो प्रायः बहुतों में है परन्तु जलाने का विवेक नहीं है। परिणामस्वरूप किसी का तन जल रहा है तो किसी का मन जल रहा है। किसी की शांति को आग लगी है तो कोई असन्तोष के अंगारे उछाल रहा है। इनसे और चाहे जो कुछ हो, आलोक प्राप्ति नहीं हो सकती।

आग छूही घर लागी—

आज सम्पूर्ण राष्ट्र असन्तोष की आगमें दहक रहा है। अविश्वास की आंधी उसके मानसिक आकाश को धूल-धूसरित कर रही है। प्रजा और राजा (शासित शासक) एक दूसरे के मनोभावों को जानकर भी उपेक्षा से पारस्परिक हितों पर आघात करते हैं। एक ओर से आन्दोलन चलता है, दूसरी ओर से दमनचक्र प्रवर्तित हो जाता है। आन्दोलनकर्ताओं को विश्वास है कि सरकार उग्र-प्रचण्ड एवं विशाल प्रदर्शनों द्वारा ही समझायी जा सकती है। विश्व के राजनीतिक मंच पर मध्यस्थता का दर्प रखने वाले भारतीय प्रशासक अपने घर में मध्यस्थ वृत्ति का पाठ भूल गये हैं और गुरुकुलों की मर्यादा को श्रेष्ठ शालीन नागरित्व से विभूषित करने वाले छात्र और स्नातक अपने अन्तेवासी धर्म को अथवा विद्या ददाति विनयम्—विद्या विनय की जन्मदात्री है, इस उत्तम पाठ को विस्मरण की गुहा में बन्द कर चुके हैं। कबीर के शब्दों मे—आग छूई घर लागी अर्थात् इस घर को आग लग गई घर के चिराग से, अपने हाथ में जिस मशाल को पथ देखने के लिए हुए हैं, उसी से अपने चारों ओर के वातावरण को जलाते चल रहे है।

जलाइये ! बसें नहीं, विकार—

लोग बसों, ट्रामों, मकानों, दुकानों को अग्नि दिखा रहे हैं, अपनी राष्ट्रीय सम्पदा के साथ होली खेल रहे हैं। संगठन, मताधिकार का दुरुपयोग कर रहे हैं, स्वतन्त्रता के शब्दों पर स्वच्छन्द वृत्ति की स्याही पोत रहे है। मानवता का मर्दन कर आत्म-दुर्गति-अध्याय लिख रहे है। विश्व-दर्शकों के समक्ष अपने आपको स्वकृत कुचेष्टाओं से हास्यास्पद बना रहे हैं। अपनी मांग की उपलब्धि अथवा पूर्ति के लिए जब प्रदर्शन करते हुए लोग तोड-फोड़ करते है तब ऐसा लगता है कि वे अपने ही *अंगों को नोच रहे हैं। जब वे किसी व्यक्तिगत अथवा* राष्ट्रीय सम्पत्ति को स्वाहा करते है तो प्रतीत होता है कि कोई उन्मादग्रस्त अपने ही अंगों पर स्पिरिट डालकर आत्मदाह कर रहा है, क्योंकि आक्रोश को प्रकट करने का यह प्रकार अस्वस्थ है यह प्रक्रिया बीभत्स है ये रग दूषित है क्योकि इन चेष्टाओं मे चेष्टापात समूह का हार्दिक भाव समाविष्ट है और ये चेष्टाएं विकृत है, अतः कहा जा सकता है कि यह विरोध स्वस्थ नही है। विरोध करने की दिशा में जैन परम्पागत पवित्र साधको को महात्मा गांधी ने अहिंसक सत्याग्रह, मौन, उपवास, सविनय-अवज्ञा आदि साधुवृत्ति के प्रयोग किये हैं, हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कभी नहीं लिया। स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक यदि अपने साथ ही बर्बर आचरण करें तो अन्य लोग उनके साथ आचार के उन्ही मानदन्डो को अपनाने लगेगे। एक जलाने के प्रसंग को ही लें। सूर्य जलता है, चन्द्र जलता ग्रह-तारे, अग्नि स्फुलिंग सभी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार जलते हैं, परन्तु तिमिर को, अन्धकार को, यों अपने ही प्रकाश में खड़े हुए मनुष्य को अन्धा नहीं करते। तेजस्वी का सहज धर्म जलाना हो सकता है, परन्तु वे अशुचि तथा बाधक तत्वों को ही जलाते है। इस प्रकार का यह जलाना आत्मशुचिकारक है। कोई भी किसी बस को जलाये, इससे अच्छा है वह अपने अन्तरंग असंतोष-मूलक अधिकार को जलाये। ज्योति की, अग्नि की उपासना तो अन्धकार परिहार के हेतु है अपने में तिमिर

हटाकर ज्योति का करना, यही बुद्धिमानों का अभीप्सित धन है।

घर फूंक तमाशा :

ज्ञान के समान पवित्र अन्य कोई वस्तु नहीं है और ज्ञान ज्योति स्वरूप (प्रकाशमय) है। इस प्रकाश को स्थूल रूप से हम स्व-पर प्रकाशक अग्नि समुत्पन्न देखते है। एतावता अग्नि ज्ञान जैसे स्व-पर प्रकाशक है और इस ज्ञानाकार उपादान से दाहात्मक क्रिया करते हुए हम अज्ञान का दोहन करें, यह कितनी सोचनीय बात है। अग्नि से अन्न का परिपाक होता है और उससे जलाया भी जा सकता है। यह तो प्रभोक्ता की योग्यता पर निर्भर है कि वह अग्नि द्वारा रोटी सेंककर उसे तृप्ति का साधन बनाए, अथवा उसी अग्नि को अपनी झोली मे टांककर घर फूंक तमाशा देखे। यही बात ज्ञानरूप अग्नि के प्रयोग-विषय मे कही जा सकती है।

निष्ठा : अपने पति

जनता आन्दोलन करे और पुलिस लाठी चलाये— इसमें पुलिस पर पत्थर बरसाना कहां की युक्ति है? क्योंकि पुलिस तो सरकार के हाथ-पैर हैं इन्हें संचालन तो मस्तिष्क से प्राप्त होता है; परन्तु कहते हैं ज्वर तो शरीर को चढ़ता है और कड़वी कुनेन जिह्वा को चखनी होती है। सीताहरण तो रावण ने किया; परन्तु हनुमान को दुःख हो गया। इसी प्रकार अन्य के दोष अन्य को लग जाते हैं। जब लोकप्रवास भीरु श्रीराम ने सीता का परित्याग किया और सेनापति कृतान्त वक्र सती को वन में छोड़ने चले तब लोक-समुदाय ने सेनापति को साक्षात् कृतान्त (यमराज) बताया; परन्तु उस भृत्य का क्या दोष? अंगुलि घुमाने पर यदि चर्खा घूमता है तो उसकी गति को स्वतन्त्र तो नही कहा जा सकता?

यशस्वी नहीं, दम्भ-कुशल

'सेवक सो जो करे सेवकाई' सेवक तो स्वामी का आज्ञानुवर्ती मात्र है उसमें स्वचालितता नहीं होती। यदि तन्त्र के ताने-बाने अपढ़ हैं तो सूत्र और पट कैसे प्रशस्त हो सकते हैं। शासक यदि शासितों के सुख-दुखों का 'आत्मनीव' अनुभव नहीं करते तो उन्हें गृहीत पद के प्रति निष्ठावान् कैसे कहा जा सकेगा? योग्य तथा मान धनी व्यक्ति जिस पद की शपथ लेता है उसकी योग्यता के स्वानुभूत बिम्ब देखता है, केवल पद को धर्षित करने के लोभ में आसन रोकने वाले अपने को प्रसारित करते हैं। जिनके आदर्शों की छाया में राष्ट्र धर्म पल रहा है वह महात्मा गांधी अपनी भूल को स्वीकार कर दूसरों को बोधपाठ देते थे। आज के नेताओं की प्रवृत्ति है दूसरों में दोषोद्भावना। वे स्वयं दूध के धुले रहकर दूसरों को पंक में सना हुआ कहते हैं, परन्तु स्वयं की गरिमा के स्तोत्र पढ़े वह यशस्वियों के नहीं दम्भ-कुशलों के लक्षण हैं।

पहरुए तो सो रहे हैं

राष्ट्रव्यापी अन्धकार में जो सुखनिद्रा ले रहे हैं। दमनचक्र को योग्यता पदक समझते हैं और राष्ट्र की आत्मा मे झांकने का प्रयत्न नही करते, वे अपने प्रति, अपनी शपथ के प्रति, अपनी नैतिकता के प्रति उपेक्षावान् हैं, अनुदार है। शासन यदि नित्य उठकर मुर्दावाद के सभाघोष सुनता है, यदि असन्तुष्ट प्रजाओं के रोष-अरुण नेत्रों की अग्नि-वर्षा में जलता है तो यह उसके लिए अक्षुण्ण्य है, अकीर्ति शिलालेख है। जो राष्ट्र शत्रुओं से घिरा हो, उसके सैनिक केसरिया बांधकर मरण-व्रत लेते हैं। जहां साधनो की अल्पता को वहां राष्ट्रनायक उद्योगिन; पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी की प्रतिष्ठा करते हैं और जहा सच्चारित्र के विपन्न होने की भावना हो वहां श्रेष्ठ नागरिक आचार-संहिताओं की व्यावहारिक रचना में तत्पर हो उठते हैं। भारत का भाग्य ऐसा है जहां ये सभी स्थितियां संकटप्रद होकर उपस्थित हैं, परन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि पहरुए सो रहे हैं, शासक आन्दोलास के कृत्रिम आयोजन में मग्न है और राष्ट्र दीपक में स्नेह पूरने वाला दिखाई नहीं देता।

धुन के साथ सद्विवेक

जलाने की धुन तो प्रायः बहुतों में है परन्तु जलाने का विवेक नहीं है। परिणामस्वरूप किसी का तन जल रहा है, तो किसी का मन जल रहा है। किसी की शांति को आग लगी है तो कोई असन्तोष के अंगारे उछाल रहा है। इनसे और चाहे जो कुछ हो, आलोक प्राप्ति नही हो सकती। आलोक के लिए ज्ञान का सहयोग प्राप्त करना

आवश्यक है। अतः दीपोत्सव के आलोक पर्व पर लोगों को चाहिए कि वे अपना असन्तोष जलाए, तुच्छ वृत्तियों की आहुति दें, अनाचार को इन्धन बनायें, राष्ट्रीय एकता की मशाल प्रज्ज्वलित करें तथा अन्तःकरण मे ज्ञानदीप की अखण्ड ज्योति का आह्वान करें।

आत्म-दर्शन की शुभ वेला

यह पर्व असामान्य है। भगवान् तीर्थंकर परमदेव महावीर की परिनिर्वाण स्मृति का ज्योतिःस्तम्भ है। निर्जराज्वाला में कोन्धनों की आहुति का पवित्र दिन हैं। केवलज्ञान से उद्भाषित है। यह द्यूतक्रीडा की नहीं, आत्मदर्शन की सुवेला है। बाहर के प्रदीप लौकिक निर्वाण मंगलोत्सव के प्रतीक हैं और आभ्यन्तर ज्ञानदीप आत्मचेतना के प्रबुद्ध प्रतीहार। भवन की देहली पर धरा हुआ प्रदीप जैसे बाह्य तथा अभ्यन्तर अगण को समान रूप से आलोकित करता है, वैसे तीर्थंकर भगवान महावीर के पवित्र परिनिर्वाण-स्मरण मे मनाया जाने वाला यह दीप पर्व सर्वत्र आलोकमय हो। ●

—वीर निर्वाण विचार सेवा के सौजन्य से

लोकभाषा अर्धमागधी और भगवान् महावीर

आचार्य के० भुजबली

जैन ग्रंथों से यह सिद्ध हो चुका है कि भगवान् महावीर के माता-पिता रानी त्रिशला और राजा सिद्धार्थ थे। ये दोनों २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। महावीर के पिता कुण्डग्राम के शासक थे और माता त्रिशला लिच्छवि कुल के प्रशासक, राजा चेटक की विदुषी एवं रूपवती पुत्री थी। भगवान महावीर के पितृ-मातृ दोनो ही कुल लोकतंत्र के प्रेमी थे। महावीर के ज्ञातृ (नात) गोत्रज होने के कारण ही बौद्ध ग्रथों मे उन्हें नात पुत्र कहा गया है।

उपर्युक्त कुण्डग्राम (वैशाली) मगध देश के अन्तर्गत था। वहाँ की लोकभाषा मागधी थी; किन्तु प्राचीन जैन सूत्र ग्रंथों से विदित होता है कि भगवान् महावीर ने अपना उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिया था। यद्यपि उनके समय मे धर्म की भाषा को ही अपने-अपने उद्देशो का माध्यम बनाया था। ये दोनों धर्म-प्रवर्तक किसी भाषा विशेष पर मोहित नही थे। उनकी केवल यही भावना थी कि शिक्षित-अशिक्षित, नीच-उच्च, गरीब-अमीर सभी लोग अपने धर्म को जानें और उसका अनुसरण करें। उनकी दृष्टि में भाषा विशेष के प्रयोग का महत्व नहीं था

ऊपर कहा गया है कि भगवान् महावीर के उपदेशो का माध्यम अर्धमागधी भाषा थी। इस अर्धमागधी भाषा का अर्थ भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। सोलहवी शताब्दी के ग्रथकार श्रुतसागर सूरि के मतानुसार भगवान् महावीर की भाषा का आधा भाग मगधदेश की भाषा, अर्थात् मागधी भाषा का रूप था और आधा भाग अन्य सर्व भाषाओं का रूप था। (षट्प्राभृत टीका पृ० ९९)। सातवीं शताब्दी के चूर्णिकार श्री जिनदास गणी महत्तर ने निशीथ चर्णी मे अर्धमागधी भाषा का अर्थ दो प्रकार से किया है, "जैसे मगहद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागह, अट्ठारसदेसी भासाणिययं अद्धमागहं इसमे प्रथम प्रकार का अर्थ प० बेचरदास जी ने मगध देश की आधी भाषा मे जो निबद्ध है, वह अर्ध मागधी है यह अर्थ किया है (जैन सा० सं० भाग १, ५४)।

परन्तु इसी का अर्थ पं० हरगोविन्ददास जी ने अपने पाइअसद्दमहण्णव के उपोद्घात के पृष्ठ २७ मे मगध देश के अर्ध प्रदेश की भाषा मे जो निबद्ध हो, वह अर्धमागधी, किया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मगध देश के अर्धांग की जो भाषा है वह अर्धमागधी है। उक्त जिनदास महत्तर का आशय भी यही होगा; क्योंकि मगधार्थ विषय भाषा निबद्ध का अर्थ मगध देश के अर्धप्रदेश की भाषा में निबद्ध किया जाना असगत है। मगध देश

की आधी भाषा में निबद्ध किया अर्थ किया जाना समुचित नहीं है। चूर्णिकार के दूसरे प्रकार का अर्थ जो अर्धमागधी भाषा अनेक भाषाओं के मेल से निष्पन्न हुई भाषाओं का अर्थ करना ठीक ही है, क्योंकि भगवान महावीर की जन्मभूमि मगधदेश में होने से उनकी भाषा का सम्बन्ध मगधदेश के साथ होना सर्वथा उचित है। साथ ही साथ मगध के समीपवर्ती दूसरे-दूसरे प्रान्तों की भाषाओं के साथ मागधी का सम्पर्क होना भी स्वाभाविक ही है। इस तथ्य को हम लोग वर्तमान युग में भी देख रहे है। इसलिए अन्य प्रान्तों की भाषाओं से मिश्रित मगधी भाषा ही अर्धमागधी होनी चाहिए।

मार्कंडेय ने अपने प्राकृत व्याकरण मे शौरसेनी भाषा के निकटवर्ती होने के कारण मागधी ही अर्धमागधी है। ऐसा अर्धमागधी भाषा का लक्षण बताया है कि मगध देश और शूरसेन देश की भाषा शौरसेनी के साथ संपर्क होने से अर्धमागधी भाषा की उत्पत्ति सम्भव है। ग्रियेर्सन के मत से मध्य प्रदेश (शूरसेन) और मगध के सभी प्रान्तों की भाषा ही जैन अर्धमागधी है। एक मत और लीजिए—क्रमदीश्वर ने अपने प्राकृत व्याकरण में महाराष्ट्री से मिश्रित मागधी भाषा को अर्धमागधी कहा है। श्वेताम्बरी जैन सूत्रो की अर्धमागधी मे अन्य भाषाओ की अपेक्षा महाराष्ट्री के लक्षण अधिक उपलब्ध होने के कारण ही क्रमदीश्वर ने अपने व्याकरण मे ऐसा कहा होगा। मगर उनकी राय से भी यही प्रकट होता है कि अन्यभ षाओं से मिश्रित मागधी को ही अर्धमागधी कहते थे। मगध देश की भाषा मागधी थी यह बात निर्विवाद है। ऐसी दशा में आधे मगध की भाषा उससे भिन्न अन्य कोई भाषा नहीं हो सकती, जिसको अर्धमागधी कहा जाए। इस परिस्थिति में अर्धमगध की भाषा को अर्धमागधी कहना युक्ति सगत प्रतीत नही होता। इन सबों का सार यही हुआ कि अर्धमागधी भाषा ऐसी एक भाषा थी, जो मागधी तथा अन्य प्रान्तो की भाषाओ के मेल से निष्पन्न हुई थी। उसी को भगवान महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम बनाया। उसे सभी लोग आसानी से समझ लेते थे। अनेक भाषाओं के मेल से बनने से ही भगवान की इस वाणी को शास्त्रो मे (सर्व भाषामयी) कहा होगा।

ग्रन्थों में भाषा की इस विशेषता को मगध जाति के देवताओं का अतिशय कहा गया है। अर्थात् उन देवों के द्वारा उसका परिणमन सर्व भाषामयी के रूप मे कर दिया जाता था। इसलिए इस विज्ञान युग मे जिन यन्त्रों के द्वारा एक भाषा में कही हुई बात को तत्काल भिन्न-भिन्न भाषाओ मे अनुवादित करने वाले यन्त्रो की मिसाल दी जा सकती है। उन यन्त्रों की सहायता से सुनने वाले अपनी-अपनी भाषा में उसका आशय सरलता से समझ लेते है। बल्कि आजकल ऐसा यन्त्र भी तैयार हुआ है जिसके द्वारा आप दूसरे के मन की बात को जान सकते हैं। अर्थात् वह यन्त्र मनःपर्यय ज्ञान का काम करता है। बल्कि भगवान की वाणी की विशेषता को तीर्थङ्कर का अतिशय भी कहा गया है। जो भी हो भगवान महावीर के द्वारा लोकभाषा मे प्रदत्त उपदेश का परिणाम यह हुआ कि व्यापक रूप से जनता पर उस उपदेश का प्रभाव पड़ा; क्योकि सभी लोग उस उपदेश को ठीक से समझ लेते थे।

लोकभाषा मे उपदेश देने की भगवान महावीर की इस सर्वोपयोगी पद्धति को और पूज्य आचार्य एवं कवियों ने भी यथावत् अक्षुण्य रूप में अपनाया है। यही कारण है कि वे जहाँ गये वहां की भाषा सीख कर उसी मे उपदेश दिया और उसी में सर्वोच्च ग्रथो की रचना की।

—(वीर निर्वाण विचार सेवा के सौजन्य से)

महावीर : एक विचार-व्यक्तित्व

जमनालाल जैन

महावीर वैज्ञानिक दृष्टि के प्रवर्तक थे। वैज्ञानिक किसी बनाये या पूर्व निश्चित सत्य का अनुगामी नहीं होता। उसका सत्य सतत प्रवाहशील, प्रगतिशील और नित नूतन आयामों को प्रकट करने वाला होता है। यही सम्यक् दृष्टि है। सम्यकत्व-सम्पन्न आंख ही ठीक-ठीक दर्शन कर पाता है। उन्होंने तो कहा कि बाहर की आंख का भरोसा ही न करो, विवेक की आंख खुली रखो। ग्रंथि ही बाधा है। ग्रंथि से छूटना ही मोक्ष है। अंधा अनुकरण या अनुगमन सम्यक्तत्व नहीं है।

भगवान महावीर दीर्घ तपस्वी थे। उनकी तपस्या कुछ वर्षों की या एकाध जन्म की नहीं है। वे कई जन्मों तक स्वयं ही जूझते रहे हैं। इतनी लम्बी तपस्या और इतना लम्बा संघर्ष शायद ही किसी ने किया हो। अनन्त उतार-चढ़ावों से होकर वे इस अन्तिम पड़ाव पर पहुँचे थे। उनके पास इतना अनुभव संचित हो चुका था कि उनका अन्तिम आत्म स्तर अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान से सम्पन्न हो गया था। वे सम्पूर्ण सचराचर जगत् का अनन्त पर्यायों के ज्ञाता-दृष्टा हो गए थे। वे किसी आदर्श, किसी कल्पना और किसी गणित की धारणा से अभिभूत नहीं थे।

वर्द्धमान महावीर का जीवन-घटना-बहुल नहीं है। घटनाओं में उनके व्यक्तित्व को खोजना व्यर्थ है, नादानी है। ऐसी कौन सी घटना शेष थी जो अनन्त भावों में उनके साथ न घटी हो, लेकिन अब तो घटनाएं पीछे छूट गई थीं। अब तो वे उस पथ के नेता थे, जहां उन्हें पहुँचना था और जो उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहा था। अब तो घटनाएं उनके लिए गढ़ी जा रही थीं, मानो उनके व्यक्तित्व को संपुट में बन्द किया जा रहा था।

यह हमारी अपनी वासना और आकांक्षा है कि हम घटनाओं में व्यक्तित्व को देखते हैं, उसमें रस लेते हैं। घटनाओं का आकार ही वैसा होता है, जैसी हमारी वासना-आकांक्षा होती है। हमारी आंखें लीला-प्रिय होती हैं। घटनाओं में रंग भरने में हमें आनन्द आता है। रस आता है। अतः महावीर के जीवन के साथ भी घटनाएं जोड़ देते हैं।

उनकी माता को जो कुछ स्वप्न दिखाई दिये, वे प्रतीक हैं महावीर के व्यक्तित्व को समझने के। ये स्वप्न महावीर के सम्पूर्ण और व्यापक व्यक्तित्व का संकेत देते हैं। स्वप्नों में उनकी माँ हाथी, बैल और सिंह देखती है, सूर्य और चन्द्र देखती है, फूल और आग देखती है, जल-कलश और मीन-युगल देखती है; ये चीजें बताती हैं कि उनका व्यक्तित्व एक ओर जहाँ फूल की तरह कोमल सुरभिमय था, वहाँ आग की तरह जाज्वल्यमान भी था। चन्द्र की तरह शीतल था तो सूर्य की तरह प्रखर भी था। गज की तरह बलिष्ठ था तो बैल की तरह कर्मठ था और सिंह की तरह निर्भय था। ज्ञान में प्रखर, करुणा में कोमल—इस प्रकार शान्ति और क्रान्ति एक जगह आकर इकट्ठा हो गई थी। सागर की गहराई और हिमालय की ऊंचाई एक जगह आ गई थी। महावीर का यह व्यक्तित्व दिनों-दिन चुपचाप वर्धमान होता गया। वर्धमान शब्द के साथ परिवार तथा गांव-समाज की समृद्धि जोड़ना बहुत छोटी बात लगती है।

महावीर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एक रूप हो गये थे। वे पूर्ण अहिंसक थे। उन्होंने जड़ और पशु जगत् के साथ तादात्म्य अनुभव किया था। इस एकात्मता, समरसता के लिए वस्त्र बाधक ही हैं। महावीर की नग्नता उनके ज्ञान का अंग थी। चरित्र का अंग नहीं थी। एक स्तुति में कहा ही है कि जो कुरूप, बेडौल और वासना ग्रस्त होता है वही वस्त्राभूषण तथा आयुध रखता है, आप तो सर्वांग सुन्दर हैं। सच तो यह है कि

वस्त्रों से, परिधान से, आवरण से, वासना और विकार अधिक ही उजागर होते हैं। महावीर का जीवन तो खुली किताब था, आकाश की तरह स्वच्छ, निर्मल था वहाँ हर तरह का आवरण बाधक था। उनके चरण ऐसे पड़ते थे मानों धरा कमल का स्पर्श कर रही हो अथवा यों भी कह सकते हैं कि जहाँ भी उनके चरण पड़ते थे वहाँ का वातावरण एक सुगंधि से, पवित्रता से भर जाता था। उनके तन की स्वाभाविक और प्रखर कान्ति जन-जन का मन मोह लेती थी उनके तन को निरख कर वासनाग्रस्त अथवा मलिन मन पवित्र हो उठता है। उस वीतराग-दर्शन में स्त्री-पुरुष का भेद मिट गया था। जिनके तन में दुग्ध के रूप में मातृ-वात्सल्य भरा हो, वहाँ शरीर को सजाने संवारने का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? विकार तो उसमें होता है जिसमें शक्ति नहीं होती। हमारे सारे आवरण हमारे घनीभूत विकारों के प्रतीक है।

केवल ज्ञान-जन्य दस विशेषताएं वर्णित है। शुद्ध ज्ञानी का व्यक्तित्व सूर्य सा तेजस्वी, स्फटिक जैसा पारदर्शक, आकाश की तरह निर्मल, फूल से भी कोमल, चन्द्र से भी शीतल होता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन सृष्टि के कण-कण के साथ ओत-प्रोत हो जाता है। महावीर का अस्तित्व ही परम मगलकारी था, उनके दर्शन मात्र से आपसी वैर-विरोध मिट जाता था, उनकी भाषा को सब प्राणी समझ लेते थे। कहीं अकाल नहीं पड़ता था, प्रकृति हर्षोत्फुल्ल हो जाती थी' ऋतुए मस्ती में झूमने लगती थी। यह सब ऐसी विशेषताए हैं कि इनसे सम्पन्न पुरुष व्यक्तिगत रह ही नहीं जाता। इसीलिए कहना पड़ता है कि महावीर के व्यक्तित्व को सीमित देह में, सीमित काल मे खोजना व्यर्थ है। वह एक विचार व्यक्तित्व था, जो अखड है शाश्वत है। उनकी तो छाया भी नहीं पड़ती थी; क्योंकि किसी के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ सकती है। उनके कदम ऐसे पड़ते थे कि मिट्टी के एक कण को भी आघात न पहुँचे।

महावीर की दीक्षा-ग्रहण का कल्याणक मनाया गया। कहते हैं उन्होंने राज सुख छोड़ा, घर-बार त्यागा, विपुल वैभव का त्याग कर दिया। लेकिन महावीर जैसे पूर्ण पुरुष को, अनन्त ज्ञानी को या सम्यक्ज्ञानी को छोड़ना क्या था ? क्या वे इन सब बाह्य पदार्थों में रमे हुए थे या इनको पकड़े हुए थे कि छोड़ना पड़ा था ? उनको तो अपने पथपर आगे बढ़ना था। इस प्रक्रिया में जो कुछ पीछे छूटना था, छूट गया। न उनके साथ कुछ आया था, न कुछ साथ जाना था। यह तो आसक्त या परिग्रही लोगों को लगता है कि किसी ने कुछ छोड़ा। आसक्त चित वस्तु को पकड़े रखता है, उससे चिपका रहता है। छोड़ना उसके लिए बड़ी बात है और जब महावीर यो ही सहज भाव से निकल पड़े तो उलझे लोगो के लिए, असमर्थ लोगों के लिए वह चमत्कार बन गया। एक समारोह की शक्ल ले बैठा और ऐसे ही भोग से भरे लोगों की तालिका बना ली कि महावीर ने क्या-क्या त्यागा। महावीर तो जानते थे कि महल मकान तो दूर यह तन भी उनका नहीं है, यह भी एक आवरण ही है। उसे भी जिस दिन छूटना है, छूट जायगा। उनकी कहीं कोई पकड़ या जकड नहीं थी। यही कारण है कि उनका सहज अभिनिष्क्रमण हमारे लिए महान मंगल बन गया, कल्याणक बन गया; जो कहते हैं कि महावीर ने इतना-इतना त्यागा, यह महावीर की आत्मा की आवाज नहीं है, यह उन लोगों की भाषा है जिनके मन मे भोग भरा है और त्याग को कीमती मानते है बीमार ही स्वास्थ्य का मूल्य आंकता है, स्वास्थ्य को तो पता भी नहीं चलता कि बीमारी क्या होती है।

महावीर ने कोई पगडंडी, संकीर्ण मार्ग नहीं पकड़ा था, वे तो सीधे राज-मार्ग पर चल पडे थे। वह राज-मार्ग भी उनका अपना था। उन्हें कोई अभ्यास नही करना पड़ा कि आज इतना चलना है और कल उतना चलना है। उनका पथ पूर्णता का, समग्रता का पथ था। महाव्रत का था। मुक्ति का पथ महाव्रत से ही शुरू होता है। अणुव्रत से होकर जो महाव्रत पे जाते है, वे सम्यक्त्व से अभी बहुत दूर है। अणुव्रत तो शारीरिक क्रियाओं की विवशता मात्र है। धीरे-धीरे, क्रमिक रूप से त्याग की ओर वही बढ़ता है, जिसकी पकड़, जिसकी वासना गहरी होती है, जिसकी ग्रन्थि पक्की होती है।

महावीर निकल पड़े सो निकल पड़े। उन्होंने न

किसी को गुरू बनाया, न किसी शास्त्र का अनुगमन किया और न किसी को शीश नवाया। अभिमान नही था, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति अत्यधिक समर्पण था, जहां व्यक्ति, ग्रंथ और पंथ मिट जाते हैं। उन्होंने जो कहा वह शास्त्र बन गया, जिधर निकले वह पथ बन गया। उनकी प्रतिभा और अमूर्च्छा के समक्ष सारे ग्रथ निर्ग्रन्थ बन गये।

महावीर वैज्ञानिक दृष्टि के प्रवर्तक थे। वैज्ञानिक किसी बने-बनाये या पूर्व निश्चित सत्य का अनुगामी नही होता। उसका सतत प्रवाहशील, प्रगतिशील और नितनूतन आयामों को प्रकट करने वाला होता है। यही सम्यक्दृष्टि है। सम्यकत्व सम्पन्न आख ही ठीक-ठीक दर्शन कर पाता है। उन्होने तो कहा है कि बाहर की आंख का भरोसा ही न करो विवेक की आख खुली रखो। ग्रन्थि से छूटना ही मोक्ष है। अन्धा अनुकरण या अनुगमन सम्यकत्व नहीं है।

महावीर की अन्तिम यात्रा कुल मिलाकर ७२ वर्ष की थी। लेकिन ये ७२ वर्ष उनके लिए बहुत अधिक है। जो मूर्च्छा और प्रमाद से ग्रस्त है, ऐसे लोग ७२ ही नही ७२०० वर्षों मे भी एक कदम आगे नही बढ़ पाते। महावीर की यह यात्रा निरन्तर आंख खोलकर चली है। एक पल का भी आख नही झपका है। इतनी उत्कट जागरूकता अन्यत्र नही मिलती। यह सतत अपलक जागरूकता क्या थी ? यह असीम करुणा की दृष्टि थी।

वे अरिहत थे। अरिहंत का अर्थ है अपना निर्वाण स्वय करना। अपना पथ स्वय बनाना और अपनी मजिल प्राप्त करना। अपने भीतर रहे हुए शत्रु को पहचानो, उसका सामना करो और निकाल बाहर करो, फिर देखो व्यक्तित्व कैसा चांद-सा शीतल और सूर्य सा प्रखर बनता है, शरीर कैसा स्फटिक की तरह दमकता है। उसे फिर कहाँ सुध है नहाने-धोने की, खाने-पीने की। महावीर इतने सहज हो गये थे कि एक बार तो पाँच महीने तक आहार नहीं किया। आत्मस्वरूप में लीनता ही तो सम्यक् चरित्र्य है। यही उनकी सीख है।

आज का युग घोर विषमताओ से ग्रस्त है। महावीर ने वीतरागता की जो वैज्ञानिक दृष्टि दी है, जो पथ बताया है। उसके हार्द को ग्रहण कर आज की समस्याओं से निपटा जा सकता है। अगर हम महावीर के जीवन की स्थूल घटनाओ को ही महत्व देने लगेगे और उन्हीं मे उनको खोजेंगे तो हम अपनी मजिल पर तो पहुँचेंगे ही नही महावीर को भी समझने मे भूल करेंगे। अब तक शायद यही भूल हमसे हुई है।

शाश्वत सत्य की ओर जाने के लिए घटनाओ को पीछे छोड़ना ही होगा, वे छूट ही जायेंगी।

चारित्र्य की बधी- बधाई लीको पर चल कर हमारे हाथ सत्य नही आ सकता। हा, तथ्य हमारे हाथ आयेगे उनमे हमें रस भी आयेगा, उनमे चमत्कार भी पिरोये जा सकते है लेकिन यह सब आत्मस्थ स्थिति नहीं है, कायस्थ स्थिति होगी। महावीर एक व्यक्ति नहीं थे, एक सबल विचार थे, एक तेजस्वी व्यक्ति थे। शरीरधारी महावीर का पास भी पावन करता है, उनकी छबि का दर्शन भी आँखों को भाव-विभोर कर देता है, लेकिन विदेह महावीर का आत्म व्यक्तित्व तो हमें शाश्वत सुख की मजिल तक पहुँचाने मे समर्थ है। उस अनंत दर्शन-ज्ञान धारी वीरात्मा को सहस्र-सहस्र वन्दन।

—(वीर निर्वाण विचार सेवा के सौजन्य से)

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें धाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियो, शिक्षा-सस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करे। इतनी महगाई मे भी उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई, मूल्य वही ६) रुपया है। —व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

चन्द्रावती का जैन पुरातत्व

मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी (शोधछात्र)

राजस्थान के सिरोही जिले में आबू रोड से लगभग ६ किलोमीटर दूर स्थित ऐतिहासिक स्थल चन्द्रावती में सम्प्रति जैन व हिन्दू मूर्तियां खुले आकाश के नीचे बिना सूची-पत्रों (अनकटेलाग्ड) के अव्यवस्थित रूप में बिखरी पड़ी हैं और उनकी सुरक्षा हेतु मात्र दो रक्षकों को नियुक्त किया गया है। चन्द्रावती स्थित सभी हिन्दू व जैन मन्दिर पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं और उन मन्दिरों का शिल्प वैभव मात्र ही सम्प्रति अव्यवस्थित संग्रह के रूप में प्रविष्ट है। परमार शासकों के काल में निर्मित समस्त मंदिरों की संगृहीत मूर्तियां ११वीं-१२वीं शती की कलाकृतियां हैं प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि चंद्रावती के जैन मूर्तियों से सम्बन्धित प्रस्तुत लेख में अष्टदिक्पालों के चित्रणों को सम्मिलित नहीं किया जा सका है, क्योंकि सभी मूर्तियों के बिना सूची-पत्रों में स्थित होने की वजह से सम्प्रति अष्टदिक्पाल मूर्तियों के सम्बन्ध में यह निर्णय कर पाना असम्भव है कि कौन सी मूर्ति जैन मंदिर, और कौन सी हिन्दू मंदिर पर उत्कीर्ण थी। अष्टदिक्पाल मूर्तियों के सम्बन्ध में भेद कर पाना इसलिए भी असम्भव हो गया है; क्योंकि दोनों धर्म सम्प्रदायों में दिक्पालों के अङ्कन में वाहनों व आयुधों के चित्रण में अत्यधिक समानता प्राप्त होती है। फलत: प्रस्तुत लेख में केवल तीर्थंकर व कुछ अन्य चित्रणों, जिनकी निश्चित पहचान सम्भव हो सकी है, को ही सम्मिलित किया गया है। संग्रहालय में बिखरी कुल १० मूर्तियों में एक के अतिरिक्त सभी तीर्थंकरों का चित्रण करती है। यह भी ज्ञातव्य है कि श्वेत संगमरमर में निर्मित सभी मूर्तियाँ काफी खण्डित हैं। उल्लेखनीय है कि चंद्रावती की समस्त जैन मूर्तियां अप्रकाशित हैं जिनका अध्ययन लेखक ने स्वयं उस स्थल पर जाकर किया है। लेखक माउण्ट आबू संग्रहालय के अध्ययन का आभारी है, जिन्होंने न केवल उक्त स्थल की सूचना दी, वरन् उस स्थल तक जाने का कष्ट भी किया।

एक तीर्थंकर चित्रण (नं० सी० १४५, ३० इंच ×१८ इंच) में जिनका केवल साधारण आसन पर ध्यान मुद्रा में बैठे होना काफी आश्चर्यजनक है, क्योंकि समकालीन जिन मूर्तियों में, जैसा कि स्वयं चन्द्रावती की अन्य जिनमूर्तियां भी द्रष्टव्य है, तीर्थंकरों को सिंहासन पर आसीन चित्रित किया गया है। तीर्थंकर, जिनकी पहचान लांछन के अभाव में सम्भव नहीं है, के आसन के नीचे कमल दण्डों को उत्कीर्ण गया किया है। वक्षस्थल में श्रीवत्स से चिन्हित तीर्थंकर की केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित होकर ऊपर उष्णीष के रूप में आबद्ध है। तीर्थंकर के शीर्ष भाग के ऊपर त्रिछत्र प्रदर्शित है, जो दण्ड से युक्त हैं। रथिका में स्थापित मूलनायक के मस्तक के दोनों ओर दो अशोक वृक्ष की पत्तियां प्रदर्शित हैं। इस चित्रण के दूसरे भाग में चतुर्भुज दिक्पाल वायु की त्रिभंग मुद्रा में खड़ी आकृति उत्कीर्ण है। वायु की ऊर्ध्व दोनों भुजाओं में ध्वज स्थित है, और निचली बायीं में लटकता कमण्डलु प्रदर्शित है। निचली दाहिनी भुजा भग्न है। वायु के दाहिने पार्श्व में वाहन हिरन को मूर्तिगत किया गया है। करण्ड मुकुट व अन्य सामान्य आभूषणों से सुसज्जित वायु के दाहिने पार्श्व में एक स्त्री सेविका खड़ी है, जिसकी वाम भुजा में चामर स्थित है और दाहिनी भुजा कटि पर आराम कर रही है। रथिका में स्थापित आकृति के दोनों छोरों पर व्याल व मकर मुख चित्रित हैं। बिना परिकर के उत्कीर्ण तीर्थङ्कर की एक अन्य कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आकृति में (न० सं० २३५, २१-४ इञ्च×६-३ इञ्च) तीर्थङ्कर के जाँघों के नीचे का भाग खण्डित है। तीर्थङ्कर उष्णीष व लम्ब कर्ण से युक्त हैं।

अब हम तीन ऐसी तीर्थंकर मूर्तियों का अध्ययन

करेंगे, जिनमें सम्प्रति सिंहासन ही अवशिष्ट हैं। पहले सिंहासन (नं० सी ११६, २२-५ इन्च × ६-६ इन्च) के मध्य में चतुर्भुज देवी की ललितासन मुद्रा में मुद्रासन पर आसीन मूर्ति अवस्थित है, जिनकी पहचान जैन संघ के प्रसार या संरक्षक देवी शान्ति से की जा सकती है। देवी ने ऊपरी भुजाओं में सनाल पद्म धारण किया है, जब कि निचली दाहिनी व बायीं में क्रमशः वरदमुद्रा व फल (मातुलिंग) प्रदर्शित है। देवी दोनों ओर दो अर्ध-स्तम्भों से वेष्टित हैं। देवी के दोनों पार्श्वों मे दो गजों और सिंहों को उत्कीर्ण किया गया है। सिंहासन के प्रतीक दो सिंह एक-दूसरे की ओर पीठ किये सामने की ओर देखते हुए चित्रित किये गये हैं। सिंहासन के प्रत्येक कोने पर एक हाथ जोड़े उपासक आकृति को मूर्तिगत किया गया। है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दोनों छोरों पर उत्कीर्ण यक्ष-यक्षी आकृतियाँ सम्प्रति नष्ट हो गई हैं। पीठिका के मध्य देवी आकृति के नीचे दो हिरनों से वेष्टित धर्म-चक्र उत्कीर्ण है प्रस्तुत मूर्ति में लांछन के अभाव में तीर्थंकर की पहचान सम्भव नहीं है। दूसरा सिंहासन (बिना न० के) काफी भग्नावस्था में स्थित है और आकृतियों की निर्मिती व योजना में उपर्युक्त सिंहासन के समान है। इस उदाहरण में यक्ष-यक्षी आकृतियों को भी सिंहासन के दोनों छोरों पर अंकित किया गया हैं। दाहिनी ओर ललितासन मुद्रा में उत्कीर्णतुन्दीली चतुर्भुज यक्ष आकृति सर्वानुभूति का चित्रण करती है। यक्ष की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं मे क्रमशः अकुश (काफी भग्न) व पाश स्थित है, जब कि निचली दाहिनी व बायी भुजाओ मे क्रमश: वरद मुद्रा और धन का थैला प्रदर्शित है। बायीं ओर की ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण द्विभुज यक्षी आकृति निश्चित ही अम्बिका का अंकन करती है। देवी की दाहिनी भुजा की वस्तु अस्पष्ट है और बायीं से गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है। यक्ष सर्वानुभूति और यक्षी अम्बिका के चित्रण के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि मूर्ति तीर्थंकर नेमिनाथ की रही होगी, पर यह बिलकुल जरूरी नहीं है, क्योंकि समकालीन मूर्तियों में ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य समस्त तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी रूप में सर्वानुभूति और अम्बिका का ही चित्रण सर्वत्र, विशेष कर पश्चिम भारत में प्राप्त होता है। अतः लांछन के अभाव में मूर्ति की निश्चित पहचान संभव नहीं है। तीसरा सिंहासन (नं० सी १२०, २०.५ इंच × १२ इंच) जिस पर यक्षी के रूप में चक्रेश्वरी का अङ्कन उपलब्ध होता हैं, के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मूर्ति सदैव उन्हीं से सम्बद्ध रूप में प्राप्त होता है। सिंहासन के बायें कोने पर चतुर्भुज चक्रेश्वरी को ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। देवी के दोनों ऊपरी हाथों में चक्र स्थित है और निचली दाहिनी से अभय मुद्रा प्रदर्शित है। देवी की निचली वाम भुजा खण्डित है। सिंहासन के दाहिनी ओर उत्कीर्ण यक्ष आकृति सिंहासन के द्योतक सिंह व गज आकृतियों के साथ खण्डित है। सिंहासन के मध्य में पूर्ववत् चतुर्भुज शांति देवी प्रदर्शित है, पर पूर्व चित्रण के विपरीत इसमे देवी ने अपनी निचली वाम भुजा में फल के स्थान पर कमण्डलु धारण किया है। बायी ओर की गज व सिंह आकृतियां भी काफी भग्न हैं। सिंहासन के मध्य की देवी की आकृति के नीचे पूर्ववत् दो हिरनों से वेष्टित धर्मचक्र चित्रित है।

इन खण्डित सिंहासनों के अतिरिक्त दो चित्रणो में मात्र ऊपरी परिकर का भाग ही अवशिष्ट है, जिनमें से एक की पहचान (सी-२३८, २२ इन्च × २५ इन्च) मस्तक के ऊपर प्रदर्शित सप्त फणों के घटाटोपों के आधार पर निश्चित की जा सकती है। सभी फण काफी भग्न हैं पर उनकी संख्या सात होनी निश्चित है। तीर्थंकर के स्कन्धों के ऊपर प्रत्येक भाग में एक उड्डायमान मालाधर युगल उत्कीर्ण है, जिनके ऊपर दो आकृतियों के साथ गज आकृति को मूर्तिगत किया गया है। पार्श्वनाथ के मस्तक के ऊपर के उत्कीर्ण त्रिछत्र के ऊपर की आकृति काफी भग्न है और त्रिछत्र के दोनों ओर पुन: दो उड्डायमान आकृतियों, जिनके मस्तक खण्डित हैं, को उत्कीर्ण किया गया है। दूसरा परिकर (नं० सी० २३५, १५ इन्च × २१ इन्च) भी लगभग समान विवरणों वाला है पर इसमें सर्प फणों के घटाटोपों का अभाव है। इसमें प्रत्येक उड्डायमान मालाधर युगलों के पार्श्व में एक संगीतज्ञ की

आकृति को भी मूर्तिगत किया गया है। दाहिने ओर की आकृति वेणु वादन में रत है। जब कि दूसरी ओर की आकृति वीणावादन कर रही है यह परिकर भी विभिन्न-स्थानों पर काफी भग्न है।

जैन मूर्तियों के अन्तर्गत दो ऐसी मूर्तियां भी आती हैं जिनमें तीर्थंकर आकृतियों को केवल अलंकृत आसन पर ध्यान मुद्रा में बैठे उत्कीर्ण किया गया है। इन मूर्तियों के सिंहासन और ऊपरी परिकर पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं। पहली आकृति (सी ७६, ११ इन्च × २४ इन्च) मे तीर्थंकर के आसन पर रोजिटी और लाजेन्ज आकार के अलंकरण उत्कीर्ण हैं। तीर्थंकर की दोनों भुजाएं और मस्तक खण्डित हैं। वक्षस्थल में श्रीवत्स चिह्न से अलंकृत तीर्थंकर के तलवे में चक्र उत्कीर्ण है। मुड़े पैरों के बीच से लटकता धोती का भाग चन्द्रावती के जैन कला के श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने की पुष्टि करता है। दूसरी मूर्ति (सी २६३) में उपर्युक्त चित्रण के समान ही तीर्थंकर अलंकृत आसन पर ध्यान मुद्रा में बैठे हैं। इसमें तीर्थंकर की दोनों भुजायें शेष हैं पर बायां घुटना खण्डित है।

द्विभुज अंबिका का स्वतन्त्र चित्रण करने वाली मूर्ति निश्चित ही उपर्युक्त समस्त अंकनों से महत्वपूर्ण है। (चित्र सं०-१) अम्बिका (बिना नं० के, ९.३ इन्च × ८.६ इच) के जांघों के नीचे का भाग खडित होने के बावजूद उसका बायां मुड़ा पाद अवशिष्ट है, जिससे देवी के ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण रहे होने की संपुष्टि होती है। देवी के स्कधों के ऊपर प्रत्येक भाग में आम्रलुंबि लटक रही है देवी की दाहिनी भुजा भग्न है और अपनी वाम भुजा से वह गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है। गोद में प्रदर्शित बालक मां का स्तन छू रहा है। करंडमुकुट, हार, स्तन-हार आदि आभूषणों से सुसज्जित अम्बिका का वाहन सिंह निश्चित ही निचले खडित भाग के साथ नष्ट हो गया है।

अपनत्व

मुनि कन्हैयालाल

एक कवि बगीचे में जा पहुंचा। वृक्षों व लताओं की शीतल छाया से उसका मानस अतिशय प्रीणित होने लगा। इधर-उधर पर्यटन करते हुए सहसा उसकी दृष्टि माली पर पड़ी। वह सविस्मय मुस्कराया और चिन्तन के उन्मुक्त अन्तरिक्ष में विहरण करने लगा।

माली ने भी उसे निहारा। उसकी भाव-भंगिमा देखकर उससे मौन नहीं रहा गया। उसने पूछा—विज्ञवर ! मुस्कराहट किस पर ? प्रकृति के ये वरदपुष्प आपके मन में गुदगुदी उत्पन्न कर रहे हैं या मेरे कार्य को देख कर हँस रहे हैं ?

कवि—माली ! मेरी हँसी का निमित्त अन्य कोई नहीं, तू ही है। जहाँ एक ओर तू कुछ एक पौधों को काट-छांट कर रहा है, निर्दय बन कर कैंची का प्रयोग कर रहा है, वहां दूसरी ओर कुछ पौधे लगा भी रहा है, उनमें पानी सींच रहा है, सार-संभाल कर उन्हें पुष्ट कर रहा है। यह तेरा कैसा व्यवहार ! इस भेद बुद्धि के पीछे क्या रहस्य है ! तेरी दृष्टि में सब वृक्ष समान हैं ; फिर भी एक पर अपनत्व और अन्य पर परत्व, एक को पुचकारना और एक को ललकारना ! तेरे जैसे संरक्षक के व्यवहार में इस अन्तर का क्या कारण है ?

माली—कविवर ! मेरे पूर्वजों ने मुझे यही भली भांति प्रशिक्षण दिया था कि मनुष्य को अपने कर्तव्य पर अटल रहना चाहिए। मेरा प्रतिकदम उसी तत्व को परिपुष्ट करने के निमित्त उठता है ; क्योंकि मुझे उद्यान की सुन्दरता को सुरक्षित रखना है। इस उद्यान का प्रतिदिन विकास करना मेरा परम धर्म है ; अतः मैं जो कुछ कर रहा हूं, मतभेद बुद्धि से नहीं, अपितु सम बुद्धि से कर रहा हूं। यह मेरा पक्षपात नहीं, साम्य है। केवल बहिरंग को हीन देखकर अन्तरंग की परतों को भी खोलना चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो वहां आपको स्पष्ट ज्ञात होगा कि मेरी इस प्रवृत्ति के पीछे प्रत्येक पौधे के साथ मेरा कितना अटूट अपनत्व है।

व्यवहार नीति के अगाध स्रोत-जातक एवं धम्मपद

डा० बालकृष्ण 'अकिंचन'

भगवान बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित कथाओं को जातक कहते हैं। जातकों के हिन्दी रूपान्तरकार, भदन्त आनन्द कौशल्यायन के अनुसार इतिहास, भूगोल, समाज शास्त्र, मनोरंजन, धर्म एवं राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित ज्ञान अथाह मात्रा में जातकों में एकत्रित है। व्यवहार एवं नीति सम्बन्धी तो ऐसी कोई बात शेष नहीं रह जाती जो जीवन साफल्य के लिए आवश्यक हो और जातकों में विद्यमान न हो। भारतीय साहित्य के विशिष्ट विवेचक श्रीयुत विन्टरनिट्स महोदय ने जातकीय कथा सामग्री को सात वर्गों में विभाजित किया है। उन्होंने भी व्यावहारिक नीति को पृथक वर्ग में रखा है। वस्तुतः यही जातकों का प्रधान विषय है। कहानी के साथ महत्वपूर्ण शिक्षा को पद्यबद्ध कर दिया गया है। ये पद्य प्राकृत के प्रिय छन्द गाथा में हैं। किसी-किसी जातक मे ये गाथाएं बड़ी अटपटी और सहसा विश्वास न करने वाली व्यवहार नीति का भी उपदेश करती हैं, यथा—

अविश्वास करने योग्य में विश्वास न करे। विश्वास करने योग्य में भी विश्वास न करे। विश्वास करने से भय उत्पन्न होता है, जैसे मृगमाता से सिंह को हुआ।

अर्थात् जो नित्य प्रति परिश्रम करने वाला न हो, उनकी गृहस्थी नहीं चलती। दूसरों को न ठगने वाले की भी गृहस्थी नहीं चलती। दण्ड को त्याग देने वाले की गृहस्थी भी नहीं चलती···।" "लोक में स्त्रियां असाध्वी होती हैं। उनका कोई समय नही होता, जैसे—दीपक की शिखा सबको जला देने (खा लेने) वाली होती है, वैसे ही वह रागानुरक्त तथा प्रगल्भ नहीं है···।" "वे माया हैं, मरीच हैं, शोक हैं, राग हैं, उपद्रव हैं, कठोर हैं, बंधन हैं, मृत्यु-पाश हैं और गुह्य आशय हैं। जो मनुष्य उनका विश्वास करे, वह नरों में अधम है।" "बिना पानी के नदी नग्न होती है, बिना राजा के राष्ट्र नग्न होता है। विधवा स्त्री नग्न होती है, चाहे उसके दस भाई क्यों न हों।" (जातक प्रथम १।७।६७)। "वह जीत अच्छी जीत नहीं, जिस जीत से फिर हार हो। वही जीत अच्छी जीत है, जिस जीत से फिर हार न हो।" (जातक, प्रथम भाग १।७।७०)। "जो एक (आदमी) सहस्रों जनों को लेकर संग्राम में सहस्र जनों को जीत लेता है और एक सिर्फ अपने को जीतता है तो अपने आपको जीतने वाला ही उत्तम संग्राम विजेता है।"

(जातक, प्रथम भाग १।७।७०)

"ज्ञातियों का सम्मिलित रहना श्रेयस्कर है, अरण्य में उत्पन्न होने वाले वृक्षों तक का भी। क्योंकि महावृक्ष तक को अकेले खड़े होने पर, हवा उड़ा ले जाती है।" (जातक, प्रथम भाग (१।८।७४)। "जिस प्रकार फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।" (जातक, प्रथम भाग १।८।७८)। "सात कदम साथ चलने से (भला आदमी) मित्र हो जाता है, बारह (दिन) साथ रहने से 'सहायक' हो जाता है, महीना आधा महीना (साथ रहने से) 'जाति' (रिश्तेदार) हो जाता है और इससे अधिक (साथ) रहने से अपने जैसा (आत्म समान) भी हो जाता है। (जातक, प्रथम भाग १।९।८३) "आरोग्यता जो कि परम लाभ है (सर्वप्रथम) उसकी इच्छा; शील (सदाचार), ज्ञान वृक्षों का उपदेश; (बहु) श्रुतता, धर्मानुकूल आचरण अनासक्ति ये छः अर्थ (उन्नति) के प्रमुख द्वार हैं।

(जातक, प्रथम भाग १।९।८४)

इस प्रकार हम देखते हैं कि जातकों की गाथाएं अत्यन्त उपयोगी हैं। संस्कृत नीति कवियों ने आगे चल कर इनके विषय, भाव, भाषा शैली इत्यादि सभी उपकरणों का प्रभूत मात्रा में उपयोग किया है।

धम्म पद—

बौद्ध साहित्य में त्रिपिटकों का और त्रिपिटकों में 'खुद्दक निकाय' का बहुत महत्त्व है। खुद्दक निकाय का भी सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ 'धम्म पद' है। विश्व के धर्म-साहित्य में इसका एक अपना स्थान सुरक्षित है। भगवान बुद्ध की कल्याणकारिणी पुनीत वाणी जितने मधुर शब्दों में इस ग्रन्थ में प्रकट हुई है, उतनी अन्यत्र नहीं। इसे बौद्धों की गीता कहा जाता है।

ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ को देखते ही नीति काव्य का विद्यार्थी इसके विषय निर्वाचन पर खिल उठता है। क्रोध, तृष्णा, पाप, लोक, साहस, मल, चित्त और यमकादि नाम से विभाजित प्रत्येक वग्ग (वर्ग) अपने में एक 'पांयटिक ट्रीटाइ.ज' सा प्रतीत होता है। लगभग चार सौ गाथाओं मे मानों चारों युगों का सत्य समाहित कर दिया गया है। व्यक्तिगत उत्थान, सामाजिक कल्याण तथा विश्व-शांति के लिए आवश्यक जितने महन् विचार एक साथ, एक स्थान पर इतनी सरल शब्दावली में उतने सर्वत्र सुलभ नहीं। आइए, इस महान् रत्नागार की एक दर्जन अमूल्य मणियों का दर्शन करें—

उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।
सञ्ज तस्स च धम्म जीविनो अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति।२।४

अर्थात् जो उपयोगी, सचेत, शुचि कर्म वाला तथा सोचकर काम करने वाला और संयत है,धर्मानुसार जीविका वाला एव अप्रमाद है' उसका यश बढ़ता है।

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ज पापपहोणस्स नत्थि जागरतो भयं।।३।७

अर्थात् जिसके चित्त में राग नहीं, जिसका चित्त द्वेष से रहित है, जो पाप-पुण्य विहीन है, उस जाग्रत पुरुष को भय नहीं।

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति कुब्बतो।।४।६

अर्थात् जैसे सुन्दर वर्णयुक्त सुगन्धित पुष्प होता है, वैसे कथनानुसार आचरण करने वाले की सुभाषित वाणी सफल होती है।

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दल्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता।।५।२

अर्थात् विचरण करते समय यदि अपने से श्रेष्ठ या अपने से समान व्यक्ति को न पाये, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे, मूर्ख से मित्रता अच्छी नहीं।

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता।।६।६

अर्थात् जैसे ठोस पहाड़ हवा से नहीं डिगता, वैसे ही पण्डित निन्दा और प्रशसा से नहीं डिगते।

अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्म वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बल।।८।१०

अर्थात् जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करने वाला है, उसकी चार बातें बढ़ती हैं— १. आयु, २. वर्ण, ३. सुख और ४. बल।

यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्जो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पपञ्जावन्तस्स झायिनो।।८।१२

अर्थात् दुष्प्रज्ञ और एकाग्रता रहित के सौ वर्ष के जीने से भी प्रज्ञावान ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुख।।१०।३

अर्थात् जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाहके दण्ड से मारता है, वह मर कर सुख नहीं पाता।

पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तहञ्जाय फुल्लति।।१२।८

अर्थात् धर्मात्मा श्रेष्ठ अर्हतों के शासन की—अपनी पापमयी मिथ्या धारणा के कारण निन्दा करता है, वह अपनी ही बर्बादी करता है, जैसे बाँस का फूल बास को ही नष्ट कर देता है।

कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय सवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता।।१७।१४

अर्थात् जो धीर पुरुष काय से संयत, वाणी से सयत और मन से संयत रहते हैं, वे ही पूर्ण रूप से सयत हैं।

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुंजेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं सञ्जतो।।२२।३

अर्थात् असयमी, दुराचारी होकर राष्ट्र का पिण्ड खाने से अग्नि शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम हैं।

किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिम ज्जसि।।२६।१२

अर्थात् हे दुर्बुद्धि ! जटाओं से तेरा क्या (बनेगा

और) मृग चर्म के पहनने से तेरा क्या ? भीतर (मन) तो तेरा (राग आदि मलों से) परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि धम्म पद में, उद्योग, संयम, शौच, वैराग्य, कथनी-करनी, शत्रु बुद्धिमान, निंदा-स्तुति, धर्म, कुल, शील, पाप, क्रोध, घृणा इत्यादि विषयों पर सुन्दर कथन विद्यमान हैं। यहाँ कुछ खण्डन-मण्डनात्मकता कथन भी प्राप्त होते हैं। ये कथन ब्राह्मण एवं सयम इत्यादि स्थापन के सम्बन्ध में हैं। हिन्दी सन्त कवियो मे, मन की शुद्धि की ओर ध्यान न देकर केवल केश मूंड लेने और व्रत तीर्थादि कर लेने वालों की निन्दा करने की एक परिपाटी सी चली, उसका मूल इस धम्म पद मे ढूंढ़ सकते है। उस परम्परा का स्रोत बहुधा सिद्धों की वाणियों मे वह अखड़ता नहीं जो हिन्दी-सन्तों की वाणी का प्रधान स्वर है। यहाँ प्रभावोत्पादकता तो है किन्तु परुषता के नही। साथ ही यह भी सत्य है कि काव्यानुरागियो को वहाँ रस तत्त्व या राग तत्त्व प्राप्त नही होता। यहाँ मन से भाये पहुँच, आत्मा का रंजन करने वाला एक सात्विकार्षणपूर्ण मधुततत्त्व अवश्य विद्यमान है। अतः तत्वतः धम्म पद काव्य कृति नहीं, धर्म-कृति ही है। इतना होते हुए भी कही-कही हृदयहारी उपमाओं, रूपकों तथा दृष्टान्तों का प्रयोग अपने काव्य वैभव के साथ विद्यमान है। उदाहरण के लिए बाल वग्ग की पाचवी गाथा को लिया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि—

"मूर्ख यदि आजीवन विद्वानों की सेवादि करता रहे परन्तु फिर भी वह ज्ञान तत्त्व से वैसे ही वंचित रहता है, जिस प्रकार करछी स्वाद से। निश्चित ही हलुवे में आकण्ठ निम्न रहती हुई करछी का स्वाद से वञ्चित रहना एक अछूती किन्तु प्रभावकारी उपमा है। करछू को अस्वाद शक्तिहीन तथा मूर्ख की बुद्धि हीनता व्यंग्य है। यही कारण है कि भारतीय नीति कवियों को इस ग्रंथ रत्न ने प्रभावित अवश्य किया है। कहीं-कहीं तो संस्कृत में भी वही भाव उसी रूप मे विद्यमान मिलते हैं। इस कथन की पुष्टि मे ऊपर आया एक उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है—

अभिवादन सीलिस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्म वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं॥

इसी भाव एवं भाषा वाला संस्कृत श्लोक निम्नलिखित हैं—

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥

भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे सूक्ति संग्रहात्मक प्राचीन ग्रंथ कम ही मिलेंगे, जिनमें धम्म पद के छन्द उद्धृत न किये गये हों। आजकल के संग्रह ग्रंथों में भी यह स्वस्थ अभिरुचि विद्यमान है। वस्तुतः त्रिपिटक साहित्य नैतिक दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी अवहेलना हो ही नहीं सकती। त्रिपिटक और अनु-पिटक साहित्य भी इस दृष्टि से कम श्लाघनीय नही है। त्रिपिटकों के पश्चात् पालि मे जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह 'अनुपिटक साहित्य' कहलाता है। इसे त्रिपिटकों का व्याख्यात्मक साहित्य भी कहा जा सकता है। इस साहित्य में वे ग्रंथ आते है जो बुद्ध वचनो की व्याख्या करने के लिए रचे गये थे। महामति बुद्ध घोषाचार्य को आधार मान कर इस साहित्य को तीनो वर्गों में विभाजित किया जाता है—

१. पूर्व बुद्ध घोष युगीन साहित्य (४थी शती तक के अनुपिटक)।
२. बुद्ध घोष युगीन साहित्य (५वी से १२वीं शती तक)।
३. पश्चात् बुद्ध घोष युगीन साहित्य (१२वी शती के पश्चात्)।

यह साहित्य जिसके मूर्धन्य ग्रन्थ अट्ठकथा, त्तिपकरण, पेटकोपदेस, विसुद्धिमग्ग, अभिधम्मत्थ सग्रह, मिलिन्दपन्ह आदि हैं। ये ग्रंथ एक प्रकार से बुद्ध वचनों की शास्त्रीय स्थापना तथा आचारपरक विवेचना के ग्रन्थ है। तिपकरण को पालि का निरुक्त ही समझना चाहिए। बौद्ध धर्म की शास्त्रीय स्थापना के लिए अतीव मूल्यवान होते हुए भी इन ग्रथों का नीति काव्य की दृष्टि से कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता है। अतः स्पष्ट है नीति की दृष्टि से जितना महत्त्व जातक एवं धम्म पद का है उतना किसी अन्य बौद्ध ग्रन्थ का नहीं। इनमें भी धम्म पद अपना सानी नहीं रखता। निश्चित ही वह धर्म साहित्य की अपूर्व रचना है जिसका धार्मिक मत मतान्तरों से ऊपर उठकर विशुद्ध नैतिक अध्ययन परमावश्यक है।

★

रयणसार-आचार्य कुन्दकुन्द की रचना

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय अध्यात्म जगत् में आचार्य कुन्दकुन्द एक अमर रत्न थे। उनका दीक्षा नाम पद्मनंदी था। वे कोण्ड-कुण्डपुर के निवासी थे। ब्रह्म श्रुतसागर ने षट्पाहुड टीका में उनके पांचों नामों का उल्लेख किया है अर्वाचीन पट्टावली में भी उनके नामों का उल्लेख मिलता है—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्ध-पिच्छश्च पद्मनन्दी वितन्वते ॥४॥

एक अन्य पट्टावली के अनुसार आ० कुन्दकुन्द का जन्म वि० संवत् ४९, पौष कृ० अष्टमी को हुआ था। वे केवल ११ वर्ष तक घर में रहे। उन्होंने ३३ वर्ष की अवस्था मे जिनदीक्षा धारण कर ली थी। वे ५१ वर्षों तक आचार्य पट्ट पर रहे। 'उनकी आयु ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन की थी।

समय—तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता उमास्वाति का नाम भी ग्रिद्ध पिच्छाचार्य था। एक जगह उन्हें कुन्दकुन्द का शिष्य भी लिखा है। वे उन्हीं के अन्वय में हुए है। इससे स्पष्ट है कि (उमास्वाति) या उमास्वामी आचार्य कुन्द-कुन्द के बाद मे हुए। सभी पट्टावलियों में उमास्वाति का जन्म संवत् १०१ कार्तिक शुक्ल अष्टमी कहा गया है। इनकी आयु ८४ वर्ष, ८ मास और ६ दिन की बतलाई गई है। इन दोनों के समयोल्लेख से यह निश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्द उमास्वाति के पूर्ववर्ती हैं।

श्रवणबेलगोल के शिला लेख सं० ४० में इनका नाम "कोण्डकुन्द" मुनीश्वर कहा गया है। "कोंडकुन्दपुर" के निवासी होने के कारण इनका नाम ',कुन्दकुन्द" प्रचलित हुआ, बताया जाता है। शेषगिरि राव ने अपने लेख "द एज आव कुन्दकुन्द" में विस्तार पूर्वक लिखते हुए कहा है—"मेरे पास तमिल साहित्य में और लोक बोली में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि जिस प्रकार की प्राकृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ निबद्ध किए हैं वह केवल समझी ही नहीं जाती थी, वरन् आंध्र कलिंग देश के सामान्य लोग भी उस समय इसी प्राकृत का प्रयोग करते थे। इस युग की रामतीर्थम् की जो मिट्टी की सीलें मिली हैं और अमरावती के शिलालेख भी इस प्राकृत से साम्य रखते है मेरी समझ में यह युग ईसा की प्रारम्भिक प्रथम या द्वितीय शताब्दी होना चाहिए। "भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह कथन पूर्णत: सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में प्रयुक्त प्राकृत और परवर्ती रचनाओं की प्राकृत में कई प्रकार के अंतर परिलक्षित हैं। उनका निर्देश करना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। किन्तु उसका सारांश यही है कि भाषागत अध्ययन के आधार पर हमारे विचार में आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है। शक संवत् ३८८ में उत्कीर्ण मर्करा के ताम्रपत्र मे कोण्ड-कुन्दान्वय की परम्परा के छह पुरातन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। डा० ए० चक्रवर्ती ने भी "पञ्चास्ति-काय" की प्रस्तावना मे यही समय माना है।

(देखिये, श्र० शि०) ५४।

रचनाएं—श्री जुगल किशोर मुख्तार ने आचार्य कुन्दकुन्द की २२ रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—१. प्रवचनसार, २. समयसार, ३. पंचास्तिकाय ४. नियमसार, ५. बारस-अणुवेक्खा, ६. दसणापाहुड, ७. चारित्रप हुड, ८. सुत्तपाहुड, ९. बोधपाहुड ११. मोक्ख पाहुड, १२. लिंगपाहुड, १३. शीलपाहुड, १४. रयणसार १५. सिद्धभक्ति, १६. श्रुतभक्ति, १७. चारित्रभक्ति, १८. योगि (अनगार) भक्ति, १९. आचार्य भक्ति, २०. निर्वाणभक्ति, २१. पंचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति, २२. थोस्सामि थुदि (तीर्थंकरभक्ति)।

पंचास्तिकायप्रवचनसार—अपनी सभी रचनाओं मे से "प्रवचनसार" को सम्भवत: सबसे पहले रचा था।

क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी जिनागम का संक्षिप्त सार है। श्रुत केवलियों ने जैसा कहा है वैसा ही उन्होंने अपने समय की भाषा में वर्णित किया है। विषय की दृष्टि से उन्होने सर्वप्रथम "पंचास्तिकाय" की रचना की होगी। क्योंकि कालद्रव्य को छोडकर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का प्रामाणिक तथा परिचयात्मक वर्णन करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। उसमें मुख्य द्रव्य का स्वरूप-निर्देश एव वर्णन किया गया है। जब तक पाठक को द्रव्य का स्वरूप ज्ञात न होगा वह उन द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध-अनुबन्धों और अर्थ क्रिया आदि को किस प्रकार समझ सकता है। अतएव द्रव्यों का निर्णय कर लेने पर और उनका लक्षण स्पष्ट प्रतिपादित कर लेने पर "प्रवचनसार," "नियमसार और "रयणसार" तथा अंत मे "समयसार" रचा गया प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त पाहुडग्रन्थ, मूलाचार, श्रावकाचार, ध्यानविषयक एवं क्रिया सम्बन्धी ग्रन्थों तथा प्रतिक्रमण, सामायिक-भक्तिपाठ, स्तवन-पूजन और स्तोत्र आदि छोटी-बड़ी रचनाएं भी मध्यकाल मे लिखी गई जान पड़ती हैं।

समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द की सबसे अधिक प्रौढ़ और श्रेष्ठ रचना "समयसार" मानी जाती है। "प्रवचनसार" में जहां ज्ञान और ज्ञेय तत्त्व का वर्णन किया गया है, वहीं 'समयसार' के नौ अधिकारों में—जीवाजीव, कर्ता कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, सवर निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्व विशुद्धि ज्ञान का निरूपण किया गया है। इसमें शुद्ध आत्मानुभूति का ही विशेष रूप से वर्णन किया गया है, जो भावलिंगी श्रमण को उपलब्ध हो सकती हैं। अतएव "समयसार" रूप निर्मल आत्मा को उपलब्ध करने योग्य मुनि ही होते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार और नियमसार को "नाटकत्रय" भी कहा जाता है।

यथार्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्म विषयक स्तोत्र-स्तुति, पर भी अपनी लेखनी चलाई थी। इन सभी रचनाओं में हमें दो बातें मुख्य लक्षित होती हैं; प्रथम भाव-विशुद्ध और दूसरे पर पदार्थों के प्रति आसक्ति को हटाना। "रयणसार की रचना में भी यही वृत्ति मुख्य रही है।

रयणसार—जिस प्रकार "प्रवचनसार में आगम के सारभूत शुद्धात्म तत्व का वर्णन किया गया है उसी प्रकार 'नियमसार' में नियम के साररूप शुद्ध रत्नत्रय का और "समयसार" में शुद्ध आत्मा का वर्णन किया गया है। ये तीनों ही ग्रन्थ सातवें गुण स्थान वर्ती श्रमण को ध्यान में रख लिखे गये हैं और अन्त में सहजलिंग से ही मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इस भाव को आचार्य जयसेन ने अपनी टीका में अत्यन्त विशदता और स्पष्टता के साथ निरूपित किया है। उनके ही शब्दों में—

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहित-विशुद्धज्ञानस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्ध निश्चयनयेन त्रसस्थावर जीवा न भवंतीति मत्वानिःशंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः।"

यथार्थ में अध्यात्मशास्त्र को समझने के लिए व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों की अपेक्षा है। निरपेक्षनय मिथ्या कहे गये हैं। व्यवहार नय अपनी अपेक्षा से सत्य हैं, पर निश्चय की अपेक्षा से असत्यार्थ एवं अभूतार्थ है। निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन। इन दोनों दृष्टियों को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों की रचना की है। अतएव "ज्ञानी ज्ञान का कर्ता" है—यह कथन भी व्यवहार है। निश्चय तो व्यवहार को समझाने के लिए है। व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य कहा भी है—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

अर्थात् यदि जिन मत में प्रवर्तन करना हो तो व्यवहार और निश्चय को मत त्यागो। यदि निश्चय के पक्षपाती होकर व्यवहार छोड़ते हो तो रत्नत्रयरूप धर्मतीर्थका अभाव हो जायेगा और निश्चय को छोड़ते हो तो शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति न हो सकेगी। स्वसंवेदन की अनुभूति शब्दों में वर्णित नहीं की जा सकती। इसलिए जन सामान्य को ध्यान में रखकर अष्ट पाहुड आदि जिन ग्रन्थों की रचना हुई है उनमें "रयणसार" व्यवहाररत्नत्रय

का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है। अन्य रचनाओं की भांति इसमें भी शुद्ध आत्मतत्त्व को लक्ष्य रखकर गृहस्थ और मुनि के संयमचारित्र का निरूपण किया गया है। मुख्य रूप से यह आचारशास्त्र है। निम्नलिखित समानताओं के कारण आचार्य कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध होती है—

(१) संघटना की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—सारमूलक रचनाएं और पाहुडमूलक। भक्ति और स्तुति-विषयक रचनाए इनसे भिन्न हैं। प्रवचनसार, समयसार और रत्नसार (रयणसार) के अन्त में "सार" शब्द का सयोग ही रचना-सादृश्य को सूचित करता है।

(२) प्रवचनसार, नियमसार और रयणसार का प्रारम्भ तीर्थंकर महावीर के मंगलाचरण से होता है। "नियमसार" की भांति रयणसार में भी ग्रन्थ का निर्देश किया गया है। यथा—

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं॥ १।

तथा

णमिऊण वड्ढमाणं परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं सायारणयारधम्मीणं॥ २।

उक्त गाथाओं में शब्द-साम्य भी दृष्टव्य है। समयसार में भी "वोच्छामि समयपाहुड०" कहा गया।

(३) इन सभी ग्रंथों के अन्त में रचना का पुनः नामोल्लेख किया गया है और सागार (गृहस्थ) और अनागर (मुनि) दोनों के लिए आगम का सार बताया है। कहा है—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पीदि॥२७५।

—प्रवचनसार

एवम्

सम्मं णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं।
गुणसीलसहावं उप्पज्जइ रयणसारमिणं॥१३५॥

—रयणसार

(४) इसके अतिरिक्त रयणसार में दो-तीन स्थलों पर "प्रवचनसार" के अभ्यास का उल्लेख किया गया है जो शुद्ध आत्मरूप आगम के सार तत्त्व और प्रवचनसार ग्रंथ का भी सूचक हो सकता है। पंचास्तिकाय में भी कहा गया है—

एवं 'पवयणसारं पंचत्थिसंगहं वियाणित्ता'।१०३।

(५) रयणसार में कहा गया है कि—

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सोइ।
जं कोरइ तं मिच्छारुवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं॥१२५॥

—रयणसार

समयसार में भी—

दसणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।१६

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

"येनैव हि भावेनात्मा साध्यं साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते।"

अर्थात् साधु को दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय को भेद (साधन) और अभेद (साध्य) जिस भाव से भी हो नित्य सेवन करना चाहिए। आचार्य जयसेन ने इसका विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। वास्तव में रत्नत्रय मोक्षमार्ग है, जिसका चारित्र के रूप में लगभग सभी रचनाओं में वर्णन किया गया है। किन्तु रयणसार में यह वर्णन सरल है।

(६) रयणसार की अन्तिम गाथा :—

इदि सज्जणपुज्जं रयणसारं गंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढ़इ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं ठाणं॥

मोक्षपाहुड के वचन हैं :—

जो पढइ सणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं।१०७

भावपाहुड में भी कहा गया है :—

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं।१६४

द्वादशानुप्रेक्षा का कथन है :—

जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं।९१।

उक्त सभी पंक्तियों में एक क्रम तथा शब्द-साम्य परिलक्षित होता है।

(७) सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की महिमा आचार्य कुन्दकुन्द की सभी रचनाओ मे प्रकारान्तर से वर्णित मिलती है। रयणसार की अधिकतर गाथाओं में सम्यग-

दर्शन का व्याख्यान है। जैसे कि :—

(अ) सम्यग्दर्शन रूपी सुदृष्टि के बिना देव, गुरु, धर्म आदि का दर्शन नहीं होता, (आ) सम्यक्त्व सूर्य के समान है, (इ) सम्यक्त्व कल्पतरु के समान है, (ई) सम्यक्त्व औषध है, कहा है—

पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं।
पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियभेसज्जं ।७३।

—रयणसार

अर्थात् प्रथम मिथ्यात्वमल की शुद्धि के लिए सम्यक्त्व रूपी औषध का सेवन करें, + पश्चात् कर्म रूपी रोग को मिटाने के लिए चारित्र रूपी औषधि का सेवन करना चाहिए।

आचार्य जयसेन की टीका से युक्त समयसार की गाथा २३३ में लगभग यही भाव व्यक्त किया गया है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं। वह सात व्यसन, सात प्रकार के भय, पच्चीस शङ्कादिक दोषो से रहित तथा ससार शरीर और भोगों को आसक्ति से हटकर निःशङ्कादिक आठ गुणों से सहित पांच परमेष्ठियो मे शुद्ध भक्ति भावना रखता है। रयणसार मे कहा है—

भयविसणमल विवज्जिय संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरु भत्तो ॥५॥

समयसार के वचन है—

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।२२८

अर्थात् सम्यग्दृष्टि निःशंक एवं निर्भय होते हैं, क्योंकि वे सात भयों से रहित होते हैं।

सम्यक्त्व के बिना दान, पूजा, जप, तप आदि सब निरर्थक हैं। यह भाव "रयणसार" की गाथा ४८ और १५६ तथा जयसेनाचार्य की टीका से युक्त समयसार की गाथा सं० २६२ में लगभग समान रूप से वर्णित है।

(८) मोक्खपाहुड और रयणसार की निम्नलिखित गाथाओं मे साम्य लक्षित होता है—

देहादिसु अणुरत्ता विषयासत्ताकसायसंजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता ॥

तथा —रयणसार, १०६

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

—मोक्खपाहुड, ३१

अण्णाणीदो विसयविरत्तादो होइ सयसहस्सगुणो।
णाणी कसाय विरदो विसयासत्तो जिणुद्दिट्ठं ॥

—रयणसार, ७४

एवं

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि।
तं णाणी तिहिगुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥

—मोक्षपाहुड, ५३

"णाणी खवेइ कम्मं णाणवलेण।"

—रयणसार

सम्माण विणारुई भत्तिविणा दाण दयाविणा धम्मं
गुरुभत्तिविणा तवचरियं णिप्फलं जाण॥

—रयणसार, ८४

इसी प्रकार

तच्चरुई सम्मत्तं तच्च गहण च हवइ सण्णाणं।
चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं ॥

—मोक्खपाहुड, ३८

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविऊण भावेण।
णियसुद्धप्पा रुच्चइ तस्सय णियमेण होइ णिव्वाणं।

—रयणसार, १२६

तथा

अप्पा अप्पमि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेउ धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥

—भावपाहुड, ८५

(६) यही भाव "पद्मनन्दिपंचविंशतिका" में भी प्राप्त होता है। यथा—

तत्प्रति प्रीतिचितेन येन वार्त्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।२३

रयणसार में "पत्तविसेस" का (उत्तम पात्र का) बहुत वर्णन किया गया है। अन्य पात्रों में अविरत, देश विरत, महाव्रत, तत्त्वविचारक और आगमरुचिक आदि कई पात्रों का निर्देश किया गया है। कहा है—

अविरददेसमहव्वय आगमरुइणं वियारतच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥

—रयणसार, १२

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्वादशानुप्रेक्षा में भी पात्रों के इन भेदों का उल्लेख किया है। उनके ही शब्दों में—

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो॥
णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।
सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो॥

—द्वादशानुप्रेक्षा, १७ १८

(११) इसी तरह 'मूलाचार' और 'रयणसार' के भावों मे कहीं-कहीं साम्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए—

पुव्वं जो पंचेंदिय तणुमणुवचिहत्थपायमुंडाउ।
पच्छा सिरमुंडहरो सिवगइ पहणायगो होई॥

—रयणसार, ८०

पंच वि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणु मुंडेण वि सहिया दसमुंडा वण्णिया समये॥

—(मूलाचार, ३-६)

(१२) भावों की दृष्टि से समयसार और रयणसार में निम्नलिखित साम्य परिलक्षित होता है। 'ज्ञान के बिना मोक्ष नही होता।' यह भाव दोनों में समान रूप से वर्णित होता है।

देखिए—

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किंपि।
झाणं तस्स ण होइ हु जाव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खो

—रयणसार, ६४

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते।
त गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं॥

—समयसार, २०५

दोनों ही ग्रंथों में ध्यान को अग्नि रूप कहा गया है। दृष्टव्य है—रयणसार गाथा ६६ और आचार्य जयसेन की टीका से युक्त समयसार, गाथा २३४। इसी प्रकार मुनि जब तक जिन लिंग धारण नहीं करता तब तक वह मोक्षमार्ग का नायक नहीं होता। यह भाव रयणसार में गा० १, ६, ४ और आ० जयसेन की टीका से युक्त समयसार में २४५-२५१ में वर्णित है। इसी प्रकार—सम्यक्त्व के बिना कोरे व्रतादिक करना व्यर्थ हैं। यह भाव रयणसार गा० १२७ में और जयसेनाचार्य की टीका युक्त समयसार में २६२ गाथा में वर्णित है। यही नहीं, रयणसार में ज्ञानी कर्त्ता, कर्म-भाव से रहित द्रव्य, गुण और पर्यायों से स्व-पर-समय को जानने वाला कहा गया है। समयसार मे भी कर्त्तृकर्माधिकार में आत्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व का निषेध किया गया है। यथा—

दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमय-समयादि विभेयं।
अप्पाणं जाणइ सो सिवगइ पहणायगो होइ॥

और —समयसार, १३४

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं॥

—समयसार, ७६

स्वसमय और परसमय का वर्णन भी दोनों ग्रंथों में समान लक्षित होता है।

इसी प्रकार शुद्ध पारिणामिक परमभाव को एवं निर्मल आत्मा को "दोनों ग्रथों में उपादेय कहा गया है। मुनिराज इसी प्रकार के निर्मल स्वभाव से युक्त होते हैं। ज्ञानी को दोनों ग्रंथों में 'भावयुक्त' एवं 'आत्मस्वभाव में लीन' कहा गया है—दृष्टव्य है, रयणसार, गाथा १०६ और समयसार जयसेनाचार्य की टीकायुक्त, गाथा ३०३।

कहा भी है—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं॥

—समयसार, २८०

रयणसार में कहा गया है कि जो विकथाओं से उन्मुक्त अधःकर्म और उद्देसिक (अधःकर्म आदि पुद्गल द्रव्य के दोषों को वास्तव में नहीं करता; क्योंकि वे पर-द्रव्य के परिणाम है) से रहित धर्मोपदेश देने मे कुशल और बारह भावनाओं से युक्त होता है वह ज्ञानी मुनि है। उनके ही शब्दों में—

विकहाइविप्पमुक्को आहाकम्माइविरहिओ णाणी।
धम्मदेसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई॥

तथा रयणसार, १००

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणाउ जे णिच्चं॥

—समयसार, २८६

जयचन्द्र छावड़ा—

जयचन्द्र छावड़ा का जन्म खण्डेलवाल जाति में सं० १८०५ में जयपुर राज्य के फागी गाँव में हुआ। प्रमेयरत्नमाला में आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

देश ढुंढाहर जयपुर जहां, सुबस बसं नहिं दुखी तहां।
नृप जगतेश नीति बलवान, ताके बड़े बड़े परधान ॥
प्रजा सुखी तिनकै परताप, काहू कै न बृथा सताप।
अपने अपने मत सब चलें, जैन धर्म हूं अधिको भलें ॥
तामें तेरहपंथ सुपंथ, शैली बड़ी गुनी गुन ग्रंथ।
तामें मैं जयचन्द्र सुनाम, वैश्य छावड़ा कहैं सुगाम ॥

जयचन्द्र के पिता का नाम मोतीराम था। ११ वर्ष की अवस्था मे ही जयचन्द्र को जिन शासन मे चलने की सुबुद्धि मिली। उस समय जयपुर मे टोडरमल, दौलतराम, रायमल्ल आदि प्रसिद्ध पण्डित एवं विद्वान् विद्यमान थे। इनकी सगति करके जिनवाणी में अपनी बुद्धि लगाने के विचार से जयचन्द्र जयपुर आकर रहने लगे[१]।

पं० जयचन्द्र छावड़ा अल्पायु मे ही पुराण, चरित्र, न्याय, मीमासा, व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता तथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश एवं हिन्दीके प्रकाण्ड विद्वान पडित हो गए। आपने न्याय, मीमांसा एव आध्यात्मिक ग्रन्थो के अनुवाद किये। आपके अनुवाद ग्रन्थों की सख्या १३ है[२]। आपके सभी अनूदित ग्रन्थ प्रौढ़ परिमार्जित शुद्ध एवं सरल भाषा में हैं। अनूदित ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने सैकड़ों पदों की भी रचना की है, जो जयपुर के प्रायः सभी जैन शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध है। नमूने के लिए एक पद दृष्टव्य है :—

मोहि उरझाइ रही भव फंद में कुमति नारि,
आप अनादि आन संग राची, मोकूं कलंक लगाय।
मैं बिन समझयां तारंग राच्यो, भोंदू भरम नसाय,
कर्म बंध विढ बांधि निरंतर भोगें दुख अधिकाय ॥१॥
सुमति नारि दूजी घर मेरे, तासों विमुख रहाय,
हित की बात कभू नहिं कीनी, मूढ अनग लुभाय।
दीनदयाल परम उपकारी, सुगुरु वचन सुखदाय,
सुमति कुमति की रीति सबै अब नयन दई दरसाय ॥२

बुधजन—

कविवर बुधजन का पूरा नाम वधीचन्द था। वह जयपुर के रहने वाले खण्डेलवाल जैन थे[३]। बज इनका गोत्र था। इनके पिता का नाम निहालचन्द था। बुधजन के पूर्वज पहले आमेर में रहते थे। वहा से इनके (बुधजन के) पिता जी के बाबा शोभचन्द सांगानेर जा बसे। लेकिन वहाँ जब जीवन निर्वाह में कठिनाई होने लगी तो बुधजन के बाबा पूरनमल जयपुर आकर रहने लगे। यहीं सं० १८३० के आसपास बुधजन का जन्म हुआ[४]। इनके गुरु का नाम मांगीलाल था। बुधजन बचपन से ही जैन-धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे और श्रावक के षट् आवश्यकों का यथाशक्ति पालन करते थे। यह दीवान अमरचन्द जी के मुख्य मुनीम भी थे[५]। इनका साहित्यिक जीवन सं० १८५४ से आरम्भ होता है जबकि इन्होने 'छहढाला' की रचना की[६]।

अद्यावधि बुधजन की निम्नलिखित रचनाएं उपलब्ध हैं :—

१. छहढाला[७] (सं० १८५६)
२. बुधजन सतसई (जेष्ठ कृ० ८१८७६)
३. तत्त्वार्थ बोध[८]। (१८७६)
४. बुधजन विलास[९]। (कार्तिक शु. २ सं. १८६१)
५. संबोध पंचाशिका[१०] (१७६२)।

---

१. वीरवाणी वर्ष १, पृ० १०१।
२. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—नाथूराम प्रेमी, ७३-७४।
३. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—कामताप्रसाद गुरु पृ० १६७।
४. वीरवाणी।
५. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार पृ० २६१।
६. हिन्दी जैन पद सग्रह—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ० १८६।
७. शास्त्र भंडार, मंदिर श्री संघी जी के वे० सं० २६७ पर उपलब्ध है।
८. शास्त्र भंडार, मंदिर पाटोदी वे० सं० ३६७।
९. शास्त्र भंडार, यशोदानन्द जी वे० सं० ८७।
१०. शास्त्र भंडार, मंदिर पाटोदी।

६. योगसार भाषा[1] (श्रावण शु. २ सं. १८९५)।
७. पंचास्तिकाय[2] (१८९२)।
८. वर्धमान पुराण (१८९५)।
९. भक्तामर स्तोत्रोत्पत्ति कथा।
१०. इष्टछत्तीसी[3]।
११. वंदना जखडी[4]।
१२. चर्चा शतक।
१३. सरस्वती पूजा[5]।
१४. मृत्युमहोत्सव।
१५. पंचमंगल एवं पूजा।
१६. दर्शनपाठ[6]।
१७. रामचन्द्र चरित्र।
१८. स्तुति[7]।
१९. षटपाठ एवं[8]।
२०. पद[9]।

बुधजन विलास—

बुधजन विलास प्रकाशित हो चुका है। इसमें कवि द्वारा रचित भजनों का संग्रह है। बुधजन ने सगुण व निर्गुण दोनों ही स्वरूपो का चित्रण किया है। इन भजनो में विभिन्न राग-रागनियो का भी उल्लेख हुआ है। जिससे यह कहा जा सकता हैं कि कवि को शास्त्रीय संगीत का भी पूर्ण ज्ञान था, और वे ध्रुपद एवं ख्याल दोनों ही प्रकार की गायकी से परिचित थे। डा० कासलीवाल के अनुसार—विलास एक मुक्तक संग्रह है जिसे पढ़ कर प्रत्येक पाठक आत्मदर्शन करने का प्रयास करता है[1]।

बुधजन विलास का एक पद दृष्टव्य है—

किंकर अरज करै जिन साहब, मेरी ओर निहारो,
पतित उधारक दीन दयानिधि, सुन्यों तोरि उपगारो।
मेरे औगुन पै मति जावो, अपनो सुजस विचारो।
कोटि बार की बात कहत हूँ यो ही मतलब म्हारो।
जो लो भव तौलों बुधजन को, दीज्यो सरन सहारो॥

बुधजन के अब तक ३०० पद प्राप्त हो चुके हैं। इनमें एक से एक उच्चकोटि का पद है।

माणिक चन्द्र—

माणिक चन्द्र के विषय में केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये भावसा गोत्रीय खण्डेलवाल वैश्य थे। इनका रचनाकाल सं० १८०० था[11]। बाबा दुलीचन्द भंडार के वे० सं० ४३९ पर इन द्वारा रचित तेरहपंथ पच्चीसी, तथा १८३ पद प्राप्त हुए हैं। इनका एक पद दृष्टव्य है—

जोगीया मेरे द्वारे अब कैसी बनी वई।
वई कुमती मेरे पीऊ को कैसी सीख वई।
स्वपर छांडि पर ही संग राचत,
नाचत ज्यौं चकई॥ वई०॥१॥
रत्नत्रय निजविधि विराम के जोडत कर्म कई।
रंक भये घर घर डोलत अब कैसी निरभई॥२॥
यह कुमति म्हारी जनम की बैरिनि, पीय कीनो आयु भई।
पराधीन दुख भोगत भोदू, निज सुष विसरि गई॥३॥
'मानिक' अरु सुमति अरज सुनि, सतगुरु तो कृपा भई।
विछुरे कंत मिलावहु स्वामी चरण कमल बलि गई॥४॥

उदयचन्द्र—

उदयचन्द्र जयपुर के रहने वाले थे। इनका जन्म लुहाडिया गोत्रीय खण्डेलवाल वैश्य परिवार मे हुआ था। इनका रचनाकाल सं० १८९० बतलाया गया है[12]। इन्होने श्रावकाचार वचनिका[13] तथा कुछ पदों की रचना की है। इनके पद बड़ा तेरहपंथी मन्दिर जयपुर के पद-संग्रह ९४६ व ११८ पर हैं। उपलब्ध पदो की संख्या ९४ है। पद का नमूना यह है—

---

१. शास्त्र भंडार, बाबा दुलीचन्द भंडार।
२. शास्त्र भंडार, विजयराम का मन्दिर वे० सं० ७१।
३. शास्त्र भंडार, मंदिर पाटोदी।
४. शास्त्र भंडार, मन्दिर यशोदानन्द जी २८७।
५. शास्त्र भंडार, पाटोदी वे० सं० १००६।
६. शास्त्र भंडार, मंदिर श्री संघी जी २८८।
७. शास्त्र भंडार, मंदिर चौधरियों का वे० स० १००।
८. शास्त्र भंडार, पार्श्वनाथ वे० सं० ५३३।
९. आमेर शास्त्र भंडार तथा अन्य शास्त्र भंडारों में भी उपलब्ध है।
१०. हिन्दी जैनपद संग्रह—डा० कासलीवाल पृ० १९०।
११. वीरवाणी वर्ष १ अंक १ पृ० ९।
१२. वीरवाणी वर्ष १, अंक १ पृ० ९।
१३. वही।

लाग्यो तुम चरणन लार, अब तो मोहि तारो।
मेरे साईं अब तो मोहि तारो।
क्रोध लोभ म्हारी गैल न छांडत अति ही सतावत भार।
दीन जानकर दयाजी धरोग, हरोजी मेरा दुःख भार।
कृपा यह तुम्हारी होय, 'उदय' जब ही उतरे भव पार॥

मनोहर लाल—

मनोहर लाल (दास) सांगानेर के रहने वाले थे। खण्डेलवाल इनकी जाति थी। इन्होंने 'धर्म परीक्षा' नामक ग्रन्थ मे अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

कविता मनोहर खडेलवाल सोनी जाति,
मूल संघी मूल जाको सांगानेर बास है।
कर्म के उदय तै धामपुर में बसन भयो,
सब सो मिलाप पुनि सज्जन को दास है।
व्याकरण छंद अलंकार कछु पढ्यो नाहि,
भाषा में निपुन तुच्छ बुद्धि को प्रकास हैं।
बाईं दाहिनी कछू समझै संतोष लियं,
जिनकी बुहाई जाकै, जिनही की आस है।

कवि मनोहरलाल के सम्बन्ध मे इससे अधिक परिचय अन्तः साक्ष्य या बहिर्साक्ष्य के आधार पर उपलब्ध नहीं है। इनकी निम्नलिखित रचनाए हैं—

१. धर्म परीक्षा (सं० १७०५)।
२. ज्ञान चिंतामणि (माघ शुक्ला ८ स० १७२८)।
३. चिन्तामणिमग्न बावनी।
४. सुगुरु शीष।
५. गुणठाणागीत।

धर्म परीक्षा—

इसकी रचना सं० १७०५ में हुई। यह आचार्य अमितगति रचित सस्कृत के ग्रन्थ 'धर्म परीक्षा' कथा का अनुवाद है[1]। इसमें ३०० पद्य हैं।

ग्रन्थ में दोहा, छप्पय, सोरठा एवं सवैया छद मुख्य रूप से प्रयुक्त हुए हैं। ग्रन्थ की कुछ पक्तियाँ दृष्टव्य हैं जिनमें कवि ने ब्रह्म की अनन्यता बताते हुए कहा है कि उसे छोड़कर अन्य कोई भी मार्ग अपनाना व्यर्थ है—

सर्व वेद नित नवं, सर्व भिक्षक गुरु मानें।
सर्व सासतरि पढ़ं, धमंतें धर्म न जानें।
सर्वतीरथ फिरिआवं,
परब्रह्मको छोडि आन मारग को ध्यावै।
इह प्रकार जो नर रहै इसी भांति सो या लहैं।
अचरिज पुत्र वेश्या तणो कहो बाप कासौं कहैं।

चिन्तामणि मान बावनी—

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति बधीचन्द के मन्दिर के शास्त्र भडार के वेष्टन नं० १०१७ में निबद्ध है। इस ग्रन्थ में वर्णित कवि की विचारधारा निर्गुणवादी सन्तों से मिलती-जुलती है। जिस प्रकार कबीर, सुन्दरदास, दादू आदि सन्त कवि ब्रह्म को अपने भीतर ही देखने की सलाह देते हैं उसी प्रकार मनोहरदास ने भी शरीर में रहने वाले निरंजन के ध्यान करने की बात कही है—

धर्म्मु धर्म्मु सब जगु कहै, मर्म्म ण कोई लहेत।
अलखु निरंजनु ज्ञानमय, इहि तनु मध्य रहेत।
धर्म्मु धर्म्मु जग कहै मर्म्म नर थोडा बूझह।
ब्रह्म बसं तनु मध्य मोह पटल दृग सुषमा।
नकु गुरु केटा वचन एहु कज्जल करि भंजन।
हृदय कमल जे नय सुमति अंगुल किया अंजन।
जिम मोह पटल फट्टइ सरयल दृष्टि प्रकास पुरंत अति।
श्रीमानु कहै मति आग लौ हों धर्म पिछावण एहु गति॥३५

१. सुमुनि अमित गति जान, सहस कीर्ति एवं कही।
या में बुधि प्रमान भाषा कीनी जोरि के॥

अनेकान्त की पुरानी फाइलें

अनेकान्त पत्र की कुछ पुरानी फाइलें वर्ष ८ से २४वें वर्ष तक की उपलब्ध है। जिनमें समाज के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा इतिहास, पुरातत्व, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण लेख लिखे गये हैं। और अनेक नई खोजों द्वारा ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। लेख पठनीय और संग्रहणीय है। फाइलों को लागत मूल्य पर दिया जायगा। पोष्टेजखर्च अलग होगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवा मन्दिर. २१, दरियागंज, दिल्ली

बौद्धधर्म में ध्यान-चतुष्टय : एक अध्ययन

डा० धर्मेन्द्र जैन एम. ए. पी-एच. डी., आचार्य

प्राध्यापक (पालि-प्राकृत) कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

बौद्ध धर्म मे ध्यान चतुष्टय का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान, योग, समाधि और समापत्ति ये शब्द भारतीय दर्शन-शास्त्र मे प्राय: मिलते है। बौद्धधर्म में ध्यान, समाधि और समापत्ति एक-दूसरे के लिए प्रयुक्त हुए है। भारतीय ऋषि-महर्षि कन्दराओं मे ध्यान-समाधिस्थ होते थे और योगादि साधनाओं द्वारा अमरत्व, स्वर्गत्व, ईश्वरत्व, आत्मत्व एवं ब्राह्मणत्व प्राप्त करना उनका परम लक्ष्य होता था। प्रायः सभी भारतीय धर्मों मे ध्यानयोग का काफ़ी महत्व है।

साधना पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि स्थान रहा है। ध्यान आदि प्रक्रियाओं का प्रारम्भ पूर्व वैदिक काल में हो चुका था। कोई भी आध्यात्मिक उपलब्धि बिना साधन के प्राप्त होना सम्भव नहीं। पवित्र से ही पवित्र साध्य की प्राप्ति होती है। ध्यानयोग का दर्शन हमें बुद्ध पर्व वैदिक कालीन जातियों में भी मिलता है। "ऋग्वेद," "शतपथ ब्राह्मण," "आरण्यक" तथा "उपनिषदों" में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। 'ऋग्वेद' से १०वें मंडल के ११४वें सूक्त मे योग शब्द ध्यान, चित्तैकाग्रता और आध्यात्मिक साधना की ओर ही संकेत करता है।[१] उपनिषदों मे योग का अध्यात्मयोग से ही अभिहित किया गया है। 'कठोपनिषद' में अध्यात्मयोग अन्तर्ज्ञानात्मक आत्म साक्षात्कार के लिए ही प्रयुक्त किया गया है।[२] आत्मसाक्षात्कार के लिए योग शब्द का प्रयोग "बृहदारण्यक,"[३] "छांदोग्य,"[४] तैत्तरीय,[५] 'ऐतरेय कौषीतिकी'[६] और कठोपनिषद" मे अधिक मिलता है।

"श्वेताश्वतरोपनिषद्" के प्रथम एव द्वितीय अध्याय में ध्यानयोग का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। जैन धर्म दर्शन में भी योग, ध्यान एवं समाधि की श्रेणियों, शाखाओं एवं उपशाखाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है और ध्यान का विशिष्ट महत्व बतलाया गया है।[७] अतएव इससे इतना तो अवश्य सिद्ध हो ही सकता है कि हमारा भारतीय ध्यानयोग साधना अति प्राचीन है।

बौद्धधर्म में ध्यानयोग—भगवान् बुद्ध ने ध्यानयोग को बहुत महत्व दिया था। भगवान् बुद्ध के समय में आरूढ़ कलाम, उद्दकरामपुत जैसे दिग्गज ध्यानमार्गी आचार्य विद्यमान थे जिनके शिष्य यत्र-तत्र ध्यान की दीक्षा देते थे। "भरण्डुकलामसुत्त" से और भी स्पष्ट हो जाता है कि कपिलवस्तु के नागरिक भी ध्यानयोग का अभ्यास करते थे।[८] इससे यह भी सम्भव है कि बुद्ध ने भी अपने बचपन में उक्त ध्यान का अभ्यास किया हो।

त्रिपिटक के अध्ययन से हम पाते है कि भगवान बुद्ध जब कभी भी थोड़ा समय खाली पाते थे तभी एकान्त चिन्तवन करने लगते थे, ध्यान करत थे, समाधिस्थ हो जाते थे। इसकी पुष्टि "मज्झिमनिकाय,"[९] "ललितवि-

---

१. दे० ऋग्वे० १०।११४।९ तथा वही, १।३४।९; ७।६७।६; ३।२७।११।

२. दे० कठोपनि० १।२।१२।

३. दे० बृहदा० ३।३।३।७; ४।३।२०; ४।४।२३; ४।५।६

४. दे० छान्दो० ५।१०।१; ८।६।७।६; ३।१७।४; ६।८।६.

५. दे० तैतरीय० २।२।३।३; १९।१; ३।२१.

६. दे० कौषीति० ४।१९.

७. दे० स्थानाङ्ग सूत्र ४।१; समवायाङ्ग सूत्र ४, भगवती. २६।७; उत्तराध्ययन सूत्र ३०।१२।३५; तत्त्वार्थसूत्र ९।२७ इत्यादि।

८. धर्मानन्द कोशाम्बी—भगवान् बुद्ध, पृ. १०४।

९. दे० म. नि. सुत्त. ३६।

स्तर"[१] और "बुद्धचरित"[२] से भी होती है कि बुद्ध को ध्यानयोग वचपन से ही प्राप्त था। तथागत के दशबलों में भी एक बल मे उनके ध्यान, समाधि और समापत्ति से समन्वागत होना बतलाया गया है। उनके अष्टादश आवेणिक धर्मों में भी कहा गया है कि 'तथागत के समाधि की हानि नहीं होती—नास्ति तथागतस्य समाधेर्हानिः[३]।

भगवान् बुद्ध महाभिनिष्क्रमण के बाद ज्ञान की खोज मे आचार्य आराड कलाम के पास जाते है जहाँ आचार्य उन्हें ध्यानमार्ग की सप्त सीढियो तक की शिक्षा देत है। ज्ञान के पिपासु बुद्ध इससे असन्तुष्ट हो अन्वेषक वन उद्दकरामपुत्त के पास पहुँचते है जहाँ उन्हें ध्यानयोग का नवी सीढ़ी 'नैवसज्ञानासज्ञायतन'[४] तक की शिक्षा मिलती है। बुद्ध इससे भी आगे बढ़ते हैं और स्वय नैरञ्जना नदी के तट पर तपस्या करते हैं, ध्यानरत होते है जिसमे वे स्वय पाते है कि आत्मा को कष्ट देकर ध्यानाराधन और ज्ञानाराधन नहीं किया जा सकता, न ही कामभोगो मे सलीन हो कर ही ज्ञान पाया जा सकता है।[५] अतः वे मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए कुछ आहार ग्रहण कर समाधि में लवलीन हो जाते हैं और सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करते हैं, निर्वाण का अनुभव करते है। सम्बोधि लाभ के वाद भी बुद्ध अपने शेष जीवन भर भी ध्यान चिन्तवन करते रहे थे। इससे यह प्रगट होता है कि 'ध्यानयोग भगवान बुद्ध के जन्म से लेकर परि निर्वाण पर्यन्त एक सामान्य दैनिक क्रियाओं मे से एक था। बुद्धघोष ने भगवान बुद्ध की दैनिकचर्या बतलाते हुए भी इस बात की पुष्टि की है कि वे प्रतिदिन कुछ समय समाधिस्थ होते थे।

भगवान् बुद्ध स्वयं अपने शिष्यों को भी बार-बार पग-पग पर ध्यान करने की, समाधिस्थ होन की शिक्षा देते है—"एतानि भिक्खवे, रुक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि। झायथ, भिक्खवे, मा पमादत्थ, मा पच्छा विप्पटिसारिनो अहुत्थ। अय वो अम्हाक अनुसासनी ति।"[६] वे हमेशा समाधि ध्यान की प्रशंसा करते थे। वे कहते थे कि जो ध्यान योगावचर है उसका मन स्वस्थ व प्रसन्न रहता है। समाधि उसे ही सिद्ध होती है जो समाधिस्थ है, ध्यानयोग भी उसे ही प्राप्त होता है।[७] ध्यान होने से धर्म प्राप्त होते है। जिससे वह परमपद लाभी होता है जो दुर्लभ शान्त अजर और अमर है।[८]

ध्यान शब्द की व्याख्या—'ध्यान' शब्द 'ध्यै' चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ-चिन्तन है—चिन्तनार्थो हि एष धातु।" वसुबन्धु कहते हैं कि जिससे ध्यान करते है और समा-

---

१. तस्य मे भिक्षव एतदभवत्—यदहं पितुरुद्याने जम्बुच्छायाया निषण्णो विविक्त कामैर्विविक्त पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं प्रीतिसुख प्रथम ध्यानमुपसंपद्य व्याहार्षं यावच्चतुर्थध्यानमुपसंपद्य व्याहार्षम् स्यात्स मार्गो बोधेर्जातिजरामरणदुःखसमुदयानां असम्भवायास्तगमायेति। तदनुसारि च मे विज्ञानमभूत्। स मार्गो बोधेरिति। —ललित., पृ. १६३.

२. नायं धर्मो विरागाय न बोधाय न विमुक्तये।
जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स विधिर्ध्रुवः॥
—बु. च. १२।१०१

३. दे० अर्थविनिश्चयसूत्र, पृ० ५३।

४. यह आरूप्य ध्यानों की अन्तिम अवस्था मानी जाती है। इसे 'भवाग्र' भी कहते है।

५. यश्च कामेषु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो ग्राम्यः पार्थग्जनिको नालमार्योऽनर्थोपसंहितो नायत्यां ब्रह्मचर्यायन निर्विदे न विरागाय न निरोधाय नाभिज्ञाय न सम्बोधये न निर्वाणाय संवर्तते।···आत्मकायक्लमथानुयोगो दुःखोऽनर्थोपसंहितो···।—ललित० पृ०

६. संयुक्तनिकाय ४।३५९ तथा तुलना कीजिए:—
"एतानि वो भिक्षवोऽरण्यायतनानि वृक्षमूलानि शून्यागाराणि पर्वतकन्दरागिरिगुहापलालपुञ्जानि, अभ्यवकाशश्मशानवनप्रस्थप्रान्तानि शयनासनानि अध्यावसत। ध्यायत, भिक्षवो, मा प्रमाद्यत। मा पश्चाद् विप्रतिसारिणो भविष्यथ। इदमनुशासनम्। —अर्थ विनि० पृ० ६७

७. दे० बुद्धचरित १२।१०५।

८. दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम्।—वही, १२।१०६।

९. दे० अभिधर्मकोशभाष्य, पृ० ४३३; अर्थ विनि० पृ० १७९।

हित चित्त में जो यथाभूत ज्ञान होता है, वही ध्यान कहलाता है।[1] अभेदरूप से अर्थात् बिना किसी अन्तर के ध्यान समाधिस्वभाव होने से कुशलचित्त की एकाग्रता है।[2] इसी को पालि में 'झान' कहते हैं। बुद्धघोष के अनुसार 'आलम्बन को देखकर चिन्तन करने या प्रतिकूल प्रतिकूल धर्मोंको जला देनेसे झान-ध्यान कहलाता है—आरम्मणूपनिज्झानतोपच्चनीक झापनतो वा झानं।'[3] जैन धर्म में 'झान' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है—चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना ध्यान है—अतो मुहुत्तकाल चित्तस्सेकग्गया हवइ झाणं।''[4] एकाग्रता से चिन्तन का निरोध 'ध्यान' है।[5] निश्चल अग्निशिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।[6] पतञ्जलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से माना है। उनके अनुसार जिसमें धारणा की गयी हो उस देशमें ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता (=सदृशप्रवाह) जो अन्य ज्ञानों से अपरामृष्ट हो 'ध्यान' कहलाता है।[7] एकतानता का अभिप्राय यह है कि 'जिस ध्येय विषयक पहली वृत्ति हो उसी विषय की दूसरी और तीसरी भी हो, ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में न हो। 'गरुडपुराण' में ब्रह्मात्म चिन्ता को ध्यान कहा गया है।'[8] 'साख्यसूत्र' में विषय रहित मन की स्थिति को ध्यान कहा गया है।[9]

१. ध्यायन्त्यनेनेति। प्रजानन्तीत्यर्थः। समाहित चितस्य यथाभूतप्रज्ञानात्।—अभि० को० भा० पृ० ४३३।

२. 'अभेदेन कुशलचित्तैकाग्रता ध्यान समाधि स्वाभावात्।'—वही, पृ० ४३२।

३. विसुद्धिमग्ग ४।११९; अट्ठसालिनी ३।३३७।

४. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा० १४६३।

५. 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।'—तत्त्वार्थसूत्र ९।२७ 'एकाग्रयेण निरोधो यः चित्तस्यैकत्र वस्तुनि।—महापुराण २१।८।

६. ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्नि शिखावदवभासमान ध्यानमिति—सर्वार्थसिद्धि: पृ० ४५५।

७. 'तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यान।'—योगदर्शन ३।२।

८. ब्रह्मात्मचिन्ता ध्यान स्यात्।'—गरुड पु०अ० ४८।

९. ध्यानं निर्विषयं मनः।—सांख्य सू० ६।२५।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा से ज्ञात होता है कि ध्यान का सम्बन्ध मन या चित्त से सर्वाधिक है। उत्तम परिणामों मे जो चित्त का स्थिर रखना है वही यथार्थ में समाधि, समाधान अथवा ध्यान कहलाता है।

बौद्धधर्म में जहाँ ध्यान समाधि को मानसिक कर्म स्वीकार किया गया है[8] वहाँ जैनधर्म मे त्रियोगिक-मन-वचन और कायिक माना गया है।[9] जहाँ पतञ्जलि ध्यान और समाधि के दो पृथक् अग मानते हैं वहाँ जन और बौद्ध धर्म मे ध्यान को इतना विस्तृत स्वीकार किया गया गया है जिससे कि समाधि को ध्यान से पृथक् मानना अनावश्यक समझा गया।

ध्यान के भेद—सामान्यतया बौद्धधर्म एव दर्शन में ध्यान के दो भेद ही किए गये हैं: १. उपपत्ति ध्यान और २. समापत्ति ध्यान।[1] उपपत्ति का अर्थ है—उत्पन्न होना। ध्यान योग द्वारा सत्त्वों का देवभूमियो में भी उत्पन्न होना उपपत्ति ध्यान है। यहाँ प्रमुखत: समापत्ति ध्यानसे ही तात्पर्य है। यह समापत्तिध्यान भी दो प्रकार का होता है। इन्हें रूपसमापत्ति और अरूपसमापत्ति ध्यान कहते है। पुन: रूपसमापत्ति ध्यान चार या पांच प्रकार और अरूपसमापत्ति ध्यान भी चार प्रकार बतलाया गया है जो दोनों मिलाकर क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम ध्यान कहलाते है। उपरोक्त प्रथम चार ध्यानों मे ग्यारह प्रकार की चित्तवृत्तियां होती हैं जिन्हें ध्यानांग कहते हैं यथा—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता, अध्यात्मसम्प्रसाद, सम्प्रजन्य, अदु:खासुखा-वेदना, उपेक्षापारिशुद्धि, स्मृति-पारिशुद्धि और समाधिपारिशुद्धि।[2] तथा पाच से आठ ध्यानों में जिन्हें आरुप्यध्यानं, आरुप्यसमापत्ति' आदि शब्दों से अभिहित किया गया है, चार श्रेणियाँ हैं यथा—आकाशानन्त्यातन, विज्ञानान्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन और नैवसंज्ञानासज्ञायतन।[3] इन्हें हीं लौकिक और

८. दे०—विसुद्धिमग्ग (अनुवाद) जि० १ पृ० १४१-१५१।

९. दे० योगशास्त्र गाथा ४१–४३ (जैन ग्रन्थ)।

१. दे०—अभि० को० भा० —१, पृ० ४३२।

२-३. दे०—विसु० अ० ४; अभि० को० भा०, पृ० ४३२।

लोकोत्तर ध्यान भी कहा गया है।

चित्तवृत्तियों पर विचार—वितर्क और विचार क्या है ? तर्क वितर्क करना, वितर्कणमात्र वितर्क है इसे ऊह भी कहा जाता है—"वितक्कोति वितक्को, वितक्कन वा वितक्को, ऊहनं ति वुत्त होति।"[१] आलम्बन के विषय में यह कल्पना कि 'यह ऐसा है' वितर्क है।[२] विषय मे चित्त का प्रथम प्रवेश ही वितर्क है।[३] आलम्बन में चित्त का लगना उसमें विचरण करना विचार है—"आरम्भणे तेन चित्त विचारतीति विचारो, विचरण वा विचारो।"[४] विषय मे चित्त का निमग्न हो जाना ही विचार है।[५] वितर्क और विचार के भेद को बुद्धघोष ने सुन्दर उपमा द्वारा इस तरह समझाया है—'आकाश मे जाते हुए पक्षी के दोनो पखों से वायु को पकड़ कर, आखों को सिकोड़ कर जाने के समान आलम्बन में चित्त को लगाने के भाव से उत्पन्न हुआ वितर्क है और वायु को लेने के लिए पखो को हिलाते हुए जाने के समान बार-बार मर्दन के स्वभाव से उत्पन्न विचार है।[६]

तृप्त करना प्रीति है—"पीणयतीति पीति।"[७] सौमनस्य ही प्रीति है—"प्रीतिर्हि सौमनस्यम्।"[८] सुख पहुँचाना सुख है। काय चित्त के रोग को भलीभाँति खा जाना है, नष्ट कर देना है, वह सुख है। वह शीतल और मधुर होना है—'सुखन सुखं। सुट्ठु वा खादति खणति च कायचित्ता बाध ति सुख।[९] प्रश्रब्धि सुख है। चित्त की कर्मण्यता इसका लक्षण है। लघुता-हलकापन ही कर्मण्यता है अर्थात् चित्त का मृदु होना सुख है—'सुख-प्रश्रब्धिसुख चित्तकर्मण्यता लक्षणम्।[१०] चित्तकर्मण्यता, चित्तलाघवमित्यर्थः।"[११] प्रिय आलम्बन के मिलने का सन्तोष प्रीति है और प्राप्त हुए का अनुभव करना सुख है। जहाँ प्रीति है वहां सुख है और जहां सुख है वहाँ प्रीति है। 'विसुद्धिमग्ग' मे प्रीति संस्कार स्कन्ध में और सुख वेदनास्कन्ध में गिनाया गया है किन्तु "अभिधर्मकोश" में प्रीति चैतसिक सुख है अतः उसे वेदनास्कन्ध में ही गिना जाता है। आचार्य बुद्धघोष उपमा द्वारा प्रीति और सुख को इस तरह समझाते है—'निर्जल मरुस्थल को पार करके आए हुए व्यक्ति को वन में पानी देखने या सुनने के समान प्रीति है और वन की झाड़ियो की छाया मे प्रवेश करने तथा पानी पीने के समान सुख है।"[१२]

अध्यात्म संप्रसाद वही है जो पालिमें 'अज्झत्त-सम्पसादनं' शब्द से उक्त है।[१३] यह श्रद्धा है। योगी द्वितीय ध्यान का लाभ कर गम्भीर श्रद्धा अपने में उत्पन्न करता है। उसकी उसमें प्रतिपत्ति होती है कि समापत्ति की भूमियों का भी प्रहाण हो सकता है। इसी श्रद्धा को अध्यात्म-सम्प्रसाद कहते है। बाह्य का प्रहाण कर यह समरूप से प्रवाहित होती है। इसलिए यह प्रमाद है। जो अध्यात्म और सम है वही अध्यात्म सम्प्रसाद है। "विभग" में अध्यात्म सप्रसाद की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जो सद्दहन अवकम्पन रूप श्रद्धा है वही अध्यात्म सप्रसाद है "यो सद्दा सद्दहना ओकम्पना अभिप्पसादो।[१४] "अभिधर्मकोश भाष्य मे अध्यात्म सप्रसाद को इस प्रकार बतलाया गया है—वितर्क विचार क्षोभ से विरहित प्रशांत संतति अध्यात्म सम्प्रसाद है क्योकि वितर्क विचार क्षोभ मे—लहरों से युक्त नदी के समान संतति=चित्तधारा मैली=अप्रसन्न रहती है—"वितर्क विचार क्षोभविरहात् प्रशांतवाहिता संततेरध्यात्मसम्प्रसादः। सोर्मिकेव हि नदी वितर्कविचारसततेरप्रसन्ना वर्तत इति।[१५] "काय

१. दे० विसु० ४।८८; अट्ठ० ३।१६८, ३।२७८।
२. दे० बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ६७ पर उद्धृत परमत्थ मंजूसा से।
३. दे० बलदेवोपाध्याय—बौद्धदर्शनमीमाँसा, पृ० ३४७।
४. विसु० ४।८८; अट्ठ० ३।१६८ तथा अभिधम्मत्थसग्रहो (हिन्दी) पृ० ११४ (प्रकाशिनी टीका)।
५. बौद्धदर्शन मीमासा, पृ० ३४७।
६. विसु० ४.८६।
७. अट्ठ० ३।२०२, २०६, विसु० ४।६४।
८. अर्थविनिश्चयसूत्र एण्ड निबन्धन, पृ० १८०।
९. विसु० ४।१००; अट्ठ० ३।२०, २०६।
१०. अर्थविनिश्चयसुत्त० पृ० १८१।
११. दे० अभि० को० व्या० २।२५ पृ० ४३।
१२. दे० विसु० ४।१००।
१३. दे० दी० नि० ३।२२२ (रोमन)।
१४. दे० विभं० २५८ (रोमन); विसु० ४।१४५।
१५. अभि० को० भा० पृ० ४४०।

और चित्त की अवस्थाओं की प्रत्यवेक्षा सम्प्रजन्य कहलाती है। यह प्रज्ञा है।[1]

उपेक्षा उपपत्ति के देखने को कहा जाता है अर्थात् समभाव से देखना, पक्षपात रहित देखना ही उपेक्षा है।[2] चित्त जब विषय के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है। तब वह एकाग्रता होती है कुशलचित्त की एकाग्रता ही ध्यान समाधि–"कुशलचित्तस्सेकग्गता समाधि।[3]"

इस प्रकार योगी कामों और अकुशल धर्मों से अलग होकर वितर्क सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख वाले प्रथम ध्यान को लगाकर विहरता है यही प्रथम ध्यान है।[4] इसमें वितर्क विचार, प्रीति सुख और एकाग्रता ये पाच चित्त वृत्तियां होती है। इनके होने पर ही प्रथम ध्यान उत्पन्न होता है। वितर्क विचार के शान्त होने पर भीतरी प्रसाद चित्त की एकाग्रता से युक्त वितर्क विचार से रहित समाधि से (एकाग्रता से) उत्पन्न प्रीति सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर योगी विहार करता है।[5] यही द्वितीय ध्यान है। इसमे वितर्क विचार छूट जाता है और अध्यात्म सम्प्रसाद, प्रीति सुख और एकाग्रता ये चार चित्तवृत्तियां रहती हैं।

प्रीति के विराग से उपेक्षक हो स्मृति सम्प्रजन्य से युक्त होकर काया से सुख को अनुभव करता हुआ विहरता है जिसको आर्यजन उपेक्षक स्मृतिमान सुखविहारी कहते है ऐसे तृतीय ध्यान को प्राप्त होकर योगावचर विहरता है।[6] यही तृतीय ध्यान है। इसमे सुख, स्मृति-सम्प्रजन्य, उपेक्षा और एकाग्रता ये चार चित्तवृत्तियां होती है। सुख-दुःख के प्रहाण से सौमनस्य और दौर्मनस्य के पूर्ण अस्त हो जाने से सुखदुःख से रहित उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति एकाग्रता की परिशुद्धि से युक्त योगी चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहरता है।[7] यही चतुर्थ ध्यान

---

१. 'सम्प्रजन्यमिति प्रज्ञा'।—अर्थविनि० पृ० १८४।

२. दे० विसु० ४।१५६।

३. वही, ३।३।

४. 'विविच्चेव हि कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति।'—दी० नि० ६।२२२; विभं० २४५; विसु० ४।७६।

' तुलना कीजिए— 'विविक्तं कामैः विविक्तं पापकैरकुशलैः धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानं उपसम्पद्य विहरति।—अर्थविनिश्चयसूत्र पृ० १७; तथा देखिए—बु० च० १२.४६

५. "वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।"—दी०नि० ३।२२२; विसु० ४।१३६; विभ २४५। तथा

तुलना कीजिए—"सवितर्कविचाराणां व्युपशमादध्यात्मसम्प्रसादाच्चेतस एकोत्तीभावाद वितर्कविचारं समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानमुपसम्पद्य विहरति।"—अर्थविनिश्चय सूत्र, पृ० १७।

६. "प्रीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च सम्पजानो सुखञ्च कायेन पटिसंवेदेति यं तं अरिया आचिक्खन्ति 'उपेक्खको सतिमा सुखविहारी' ति ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।—दी० नि० ३।२२२; विसु० ४।१५३; विभं० २४५।

मिलाइये—'स प्रीतिर्विरागादुपेक्षको विहरति, स्मृतः सम्प्रजानन् सुखं च कायेन प्रतिसंवेदयति यत्तदार्या आचक्षते उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी' ति तृतीयं ध्यानमुपसम्पद्य विहरति।'—अर्थविनिश्चय सूत्र, पृ० १७।

७. "सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बे सोमनस्स दो मनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति।"—दी० नि० ३।२२२; विभं० २४५; विसु० ४।१८३। तथा तुलना कीजिए—

"ससुखस्य च प्रहाणात् दुःखस्य च प्रहाणात् पूर्वमेव च सौमनस्य दौर्मनस्य योऽस्तङ्गमाददुःखासुखमुपेक्षास्मृतिपारिशुद्धिं चतुर्थं ध्यानमुपसम्पद्य विहरति।' अर्थविनिश्चयसूत्र पृ० १७।

तथा च—

'सादृशं सुखमासाद्य यो न रज्यत्युपेक्षकः।
चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुःख विवर्जितम्॥

—बु० च० १२।६५।

है। इसमें असुखादु:खावेदना, स्मृति-उपेक्षा-समाधि-पारिशुद्धि ये चार चित्तवृत्तियाँ होती हैं।

उपरोक्त ध्यानों में से प्रथम ध्यान को छोड़कर द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान की चित्तवृत्तियों पर "अभिधम्मत्थसंगहो" कार आचार्य अनुरुद्ध का मतभेद है। प्रथम तो वे ध्यानों में पाँच ही चित्तवृत्तियाँ मानते हैं जो हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। दूसरे वे एक पांचवां ध्यान भी मानते हैं। जैसे—उपरोक्त पांचों चित्त वृत्तियों वाला प्रथम ध्यान है, इसमें साधक अपने शरीर को विवेक से उत्पन्न प्रीति से भिगोता है, चारों ओर व्याप्त करता है जिससे उसके शरीर का कोई भी भाग इस प्रीति सुख से अव्याप्त नहीं रहता। विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता वाला दूसरा ध्यान है इसमें श्रद्धा की प्रबलता और प्रीति, सुख और एकागृता की प्रधानता रहती है। यह ध्यान गह्वर जलाशय की तरह है जिसके भीतरी स्रोत होता है जो विना वर्षाके पानी से भी अपने को परिपूर्ण मधुर जल से ओतप्रोत रखता है। चित्त की एकाग्रता के कारण समाधि जन्य प्रीतिसुख साधक के शरीर को भीतर से ही आप्लावित कर देता है। प्रीति, सुख और एकाग्रता वाला तीसरा ध्यान है। इसमे सुख और एकाग्रता की प्रमुखता रहती है। तृतीय ध्यान का योगी उपेक्षक स्मृतिमान और सुख विहारी होता है। उसका शरीर सुख और प्रीति से व्याप्त रहता है। सुख और एकाग्रता वाला चौथा ध्यान होता है। इसमें साधक अपने शरीर को शुद्धचित्तमे युक्तकर देता है। इसमे एकाग्रता की ही प्रधानता होती है तथा पांचवा ध्यान अपेक्षा और एकागृता से युक्त होता है। इसमें अपेक्षा स्मृति पारिशुद्धि की मुख्यता होती है।

'अभिधर्म कोशभाष्य'—में ध्यानों मे आये हुए सुख के अस्तित्व पर एक बहुत ही दिलचस्प विवाद आया है जो विवाद सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों के सुख सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करता है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि प्रथम तीन ध्यानों का सुख क्या एक ही सुख है या द्रव्यान्तर है? वैभाषित प्रत्युत्तर देते हुए कहते है कि'—तृतीय ध्यान का सुख प्रथम-द्वितीय ध्यान के सुख से नवीन सुख है और द्रव्यांतर भी है—"तृतीये ध्याने सुखं द्रव्यन्तर मुच्यते।"[1] सौत्रान्तिक—ऐसा क्यों? वैभाषिक—प्रथम दो ध्यानों का सुख प्रश्रब्धि सुख है—"प्रश्रब्धि सुखमाद्ययो:।"[2] वह प्रश्रब्धि मय है। और तृतीय ध्यान का सुख सुखावेदना है—यस्मात्तद्वेदनासुखं।"[3] क्योकि उक्त दो ध्यानों मे कायिक सुख नही होता—'न हि तत्तयो कायिक सुख युज्यते समापन्नस्य कायाभावात्[2]।" अर्थात् जिस सत्त्व में जो ध्यान समापन्न होता है उसमे पचेन्द्रिय विज्ञानों का अभाव होता है। अत: इन ध्यानों का सुख चैतसिक सुख नहीं है क्योंकि इन ध्यानों मे प्रीति होती है और प्रीति सौमनस्य है—'प्रीतिर्हि सौमनस्यम्'[3] परस्पर में प्रीति और सुख का साहचर्यभाव भी नही है और एक के बाद दूसरा होता है यह भी मानना अनुचित है क्योंकि प्रथम ध्यान के पांच अग है और दूसरे के चार ही।

दूसरे सौत्रान्तिक वितर्क, विचार, समाधि और एकागृता तथा अध्यात्म सम्प्रसाद को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानते। इस पर वैभाषिक उनसे पूछते है कि जब ये अभिन्न है तो चैतसिक क्यों कहे जाते हैं? क्योंकि चित्त की अवस्था विशेष का नाम ही चैतसिक है—"अवस्था विशेषो हि नाम चेतसश्चैत्तसिको भवति[4]।" सौत्रान्तिक इसका प्रतिवाद करते हुए उत्तर देते है कि जब वितर्क विचार का विक्षेप समाप्त हो जाता है तब चित्तसन्तति प्रशान्त होती है[5]।

इस प्रकार ध्यान और ध्यानाङ्गों के बारे मे 'अभिधर्म कोशभाष्य' मे काफी निकाय मतभेद प्राप्त होता है। यदि हम पालि अभिधम्म पिटक मे विशेषकर विभंग मे ध्यानाङ्गों के नामकरण और सख्या की उत्तरवर्ती अभिधर्म गृन्थों से तुलना करे तो काफी मतभेद मिलता है। चार ध्यानों का उत्तरवर्ती अभिधर्म मे पाच ध्यानो मे विभाजन भी इसी विकास का द्योतक है। ★

१-२. दे० अभि० को० भा०, पृ० ४३।

१-३. दे० अभि. को० भा० पृ० ४३ ४-५ वही, पृ० ४४०

मालव भूमि के प्राचीन स्थल व तीर्थ

सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन

मध्य प्रदेश बनने के पहले उज्जैन और उसके आस-पास का बहु प्रदेश महामालव के नाम से प्रसिद्ध था। प्राचीन साहित्य मे मालव भूमि की समृद्धि के सम्बन्ध मे काफी उल्लेख है। मालव भूमिका जैन सस्कृति से हजारो वर्षों का सम्बन्ध है और इसके अचल मे कितने ही जैन सतों ने जन्म लेकर इस भूमि को पवित्र किया है। व कितने ही महापुरुषो का इस क्षेत्र मे विहार हुआ है जिनके कारण से यह भूमि पावन तीर्थों के रूप मे प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है।

जिस तरह दक्षिण भारत जैनो के लिए गौरव पूर्ण हो रहा है। उससे कही अधिक मालव भूमि का इतिहास जैनो के लिए गौरव पूर्ण है। इस भूमि पर अनेक जैन जैनेतर राजाओ ने राज्य किया है। अवन्ति के सुकमाल प्रसिद्ध ही है। किसी समय उज्जैन जैन सस्कृति का केन्द्र रहा है। भद्रबाहु श्रुतकेवली भी इसी भूमि पर विशाल मुनि संघ के साथ पधारे थे और शिप्रा नदी के उपवन में ठहरे थे। उनके मंगल विहार से यह भू भाग अलंकृत हुआ है। इस कारण इस स्थान की महत्ता प्रसिद्ध है। मालव प्रदेश के प्रत्येक कण मे जैन सस्कृति की गूंज है और उसका प्राचीन वैभव आज भी स्थापत्य और कला के नाम से जीवित है। इस प्रदेश मे ऐसा कोई शहर जगल और पहाड नहीं जहा पर जैनों की ऐतिहासिक निधि मन्दिर और मूतियों के रूप में खण्डित व अखडित अवस्था में बिखरी हुई न पड़ी हो। ये ऐतिहासिक सामग्रियें प्रमाणित करती हैं कि इस प्रांत में एक समय ऐसा था जब जैन धर्म काफी विशाल रूप में था। इसी भूमि ने महान् निर्ग्रंथ मुनि सिद्धसेन दिवाकर महा मानव मान तुंग आचार्य महाविद्वान धनंजय कवि आदि को जन्म दिया है और अन्तिम श्रुतकेवली भगवान् भद्र बाहुकी भी विहार भूमि यही महा मालव रहा है।

इस प्रांत मे कुछ ऐसे भी स्थल है जिनको जैनों ने तीर्थों के रूप मे माना है। जैसे बडवानी (बावन गजा जी) सिद्धवर कूट, ऊन (पावा गिरि) मक्सी पार्श्वनाथ बैनाड़िया और जामनेर। आज भी जैन समाज मे इनकी मान्यता है और लाखो की सख्या मे जैन समाज वहां जाकर श्रद्धा के सुमन समर्पित करती है।

लेकिन जैन समाज के पास इन तीर्थों का कोई प्रामाणिक इतिहास नही है जिससे भारतीय इतिहास की दृष्टि में इनका महत्व हो। यह एक निश्चित बात है कि जैन धर्म एक प्राचीन धर्म है। उसका साहित्य विशाल है। स्थापत्य और कला के विकास मे इसका महान् योगदान है। फिर भी जैन समाज ने अपने इतिहास को देश के महान् विद्वानों के सामने लाने का कोई प्रयास नहीं किया, जिससे वह लोगो की दृष्टि में आगे नही बढ़ सका बल्कि वह पिछड गया और विश्व में उसके सबंध मे गलत धारणाएँ बन गई।

इतिहास के क्षेत्र मे हम हमेशा ही जीवित रहे इसके लिए हमारे पूर्वजों ने महान् गौरव पूर्ण कार्य किये हैं। जिनकी दूरदर्शिता का ही यह परिणाम है कि उन्होने भारत के कोने-कोने मे हर पहाड और जगल मे स्थापत्य को जन्म दिया और उनको तीर्थों का रूप देकर हमें गौरव शाली बनाया—लेकिन आज के जैनों ने इनके सरक्षण के लिए कोई प्रयास नहीं किया—

मालव प्रान्त में हमारा प्रसिद्ध क्षेत्र सिद्धवर कूट है। निर्वाणकांड में यह उल्लेख है कि रेवा नदी के तट पर यह क्षेत्र है और उसमें बतलाया गया है कि यहां दो चक्रवर्ती और दश काम कुमार मुक्ति को गये हैं। लेकिन हमे आज भी यह मालूम नहीं कि कौन से दो चक्रवर्ती और दश काम कुमार यहां से मुक्ति गये।

मुझे तो वर्तमान सिद्धवर कूट जहां पर है वह स्थान मुक्ति-

स्थान है इसमे सदेह है। क्योंकि वहा कोई प्राचीन अवशेष नही है और न इसके नाम के अनुकूल कोई ऐसी पहाड़ी है जिसकी कूट पर यह स्थित है। हाँ इसके सामने रेवा नदी है और रेवा नदी के उत्तर तट पर एक पहाड़ी अवश्य है और उसके अचल में कई मन्दिर है। जिनको वैष्णव लोगो ने तीर्थ का रूप ओंकारेश्वर के नाम से दे डाला है।

कुछ वर्ष पहले सरकार की तरफ से यहाँ खुदाई की गई थी, और इस खुदाई में जैन मन्दिरों के अवशेष उनकी मूर्तियां ही निकली ही थी। एक विशाल मानस्तंभ भी निकला था। लेकिन वह खुदाई तुर्त बन्द कर दी गई। और यह अवशेष आज भी यहाँ पर पड़े हुए है। लेकिन जैन समाज ने इनके लिए कोई प्रयास नही किया। यदि इसके लिए प्रयत्न किया जाता तो इतिहास को नया मोड़ मिलता और जैन समाज को भी यह समझने का अवसर मिलता कि हमारा प्राचीन स्थल कौन सा है। मैं तो यही मानता हूँ कि हमारा सही निर्वाणस्थल ओंकारेश्वर तीर्थ का हिस्सा ही है, जिसको हमने छोड दिया है। मैं चाहता हूँ कि इसकी तरफ इतिहास के विद्वान् ध्यान दें।

यही स्थिति ऊनकी भी है। यह लुप्त क्षेत्र था। यहां भी सुसारी के सुप्रसिद्ध सेठ हरसुखलाल जी को स्वप्न आया था और स्वप्न के अनुसार खुदाई करने पर इस क्षेत्र की उपलब्धि हुई थी। इसको ऊन भी कहते है। और पावागिरि भी कहते है।

लेकिन इसका कोई प्रामाणिक इतिहास हमारे पास नही हैं। वहा की किंवदन्ती के अनुसार यह है कि किसी समय किसी धार्मिक व्यक्ति ने यहा पर मन्दिर बनवाये थे और वे निन्यानवे रह गये, सौ मे एक मन्दिर कम रह गया, इससे इसका नाम ऊन पडा। लेकिन आज वे मन्दिर भी जमीन के भीतर ध्वस है। कुछ मन्दिर ऐसे है जिनकी स्थिति खराब है। और उनमे विशाल बिम्ब जमीन पर आज भी बिखरे पडे हैं। जैन समाज जाता है और देखकर वापिस आ जाता है। लेकिन इसके अनुसंधान के लिए आज भी मौन है। जब सिद्ध क्षेत्रो में ही यह स्थिति है तो अन्य जगह बिखरी स्थिति की हालत तो बहुत ही दयनीय है।

उज्जैन इस प्रांत का ही नहीं; किंतु भारतीय इतिहास मे इसको हृदयस्थल माना गया है। भारतीय साहित्य मे इसको तीर्थ का रूप दिया है। और यह एक बडा पावन तीर्थ है। जैन साहित्य मे उज्जैन का बड़ा महत्त्व है। जैनों की कई विभूतियो ने इस स्थल को पावन किया है। सुप्रसिद्ध दिगम्बर सत सिद्धसेन दिवाकर और मानतुंग की यह विहारस्थली रही है। विश्व बन्धु भगवान महावीर का भी यहां आगमन हुआ है। और यहां की अति मौक्तिक श्मशान भूमि पर रुद्र द्वारा भयंकर उपसर्ग होने का उल्लेख है। यह श्मशान भूमि आज भी उज्जैन मे मौजूद है।

उज्जैन शब्द ही जैनो के उत्सर्ग का बोधक है। और एक समय था जब इस प्रदेश पर जैनो का पूर्ण आधिपत्य था। सुकमाल स्वामी के जीवन चरितो में उज्जैनी का दिगम्बर श्वेतांबर साहित्य में उल्लेख है। सुकमाल की मृत्यु वर्तमान महाकाल वन मे हुई थी। श्वेताबर साहित्य मे उल्लेख है कि उनके पुत्र ने उनकी स्मृतिमे विशाल मन्दिर बनवाया था और वह मन्दिर आज का महाकाल मन्दिर है। क्योंकि इस मन्दिर के चारों तरफ जैन संस्कृति के प्रतीक रूप कई खण्डित अवशेष मिलते रहे है। आज भी उज्जैन मे कई मन्दिर ऐसे है जिन पर अन्य संस्कृति वालो का कब्जा है।

इसी तरह नगर के मध्य सती दरवाजा है। जैन धर्म में शील कथाहै। उसमे मनोरमा सती का जीवन चरित्र है। जिसमे लिखा है कि लोगो ने उसके कलंक लगाया और फिर एक देव ने नगर के समस्त दरवाजे कीलित किये। और इसी सती के अगूठे से वे दरवाजे खोले गये, और एक दरवाजा ऐसा रहा जो सती के नाम से प्रसिद्ध हो गया और अभी वह है।

इसी तरह उज्जैन के आसपास बडनगर, बदनावर, सुन्दरसी, सारंगपुर, जामनेर, गौदलमऊका तालाब, भोपाल का आसपास का प्रदश, साची के पास के हिस्से समसनी-पुर, भंवरासा, पचौर, गन्धावल इच्छावर, आदि कई ऐसे स्थल है जहाँ सैकडो विशाल जैन मूर्तिया जमीन पर बिखरी पडी है।

इनमे गंधावल और पचौर ऐसे स्थान है जहा पर हजारों की सख्या मे मूर्तिया है। और लोगों ने पाखाना

घरों और मकानकी दिवालों तकमें उपयोग कर डाला है। आज भी जैन समाजकी स्थिति पर वे आंसू बहा रही हैं।

इन्हीं सब स्थितियोंको देखकर मालवा प्रांतीय दिग० जैन सभाने एक पुरातत्व संग्रहालय को जन्म दिया। लेकिन उसके वरिष्ठ अधिकारियों की दृष्टि में इसका कोई महत्व नहीं आंका गया—और उसने अपनी सहायता बन्द कर दी। तब उज्जैन के सुप्रसिद्ध धनी सेठ लालचन्द जी साहब सेठी और उज्जैन के सामाजिक कार्यकर्ताओं का इधर ध्यान गया। और जे. एल. जैनी ट्रष्ट फण्ड इन्दौर ने पूर्ण सहायता दी जिससे यह संग्रहालय आगे बढ़ा और उसने थोड़े से समय में अपूर्व सामग्री इसमें एकत्रित कर डाली। आज इस संग्रहालय में करीब ३००-४०० के प्राचीन बिम्बों और अवशेषो का संग्रह है। जो जैन समाज की ही नहीं लेकिन मालव प्रदेश की एक स्वर्णिम निधि मानी जाती है। आज इस संग्रहालय से सैकड़ों शोध छात्र प्रेरणा पा रहे है। और देश के बड़े बड़े विद्वानों ने निरीक्षण करके बहुमूल्य सम्मतियां प्रदान की हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि इसी संग्रहालय में बदनावर से बहुत सी प्राचीन मूर्तियाँ लाई गई हैं। और इन मूर्तियों के लेखो से इन स्थानों से संबंधित इतिहास पर काफी प्रभाव पड़ता है। बदनावर एक ऐतिहासिक स्थल है। प्राप्त सामग्री से पता चलता है कि किसी समय में इस स्थान का नाम वर्द्धमानपुर था। इस वर्द्धमानपुर के संबंध में श्रद्धेय प्रेमी जी ने जैन इतिहास नामक पुस्तक में वर्द्धमानपुर यही है होने में शका प्रकट की है। और गुजरात के वड्ढमान स्थान को वर्धमान माना है। लेकिन वहां उन्होंने लिखा है कि हरिवशपुराण मे जिनसेन स्वामी ने एक दोस्तटिका वस्ती का उल्लेख किया है वह नहीं मिलती। मैंने इसके सबंध मे खोज की। इसी बदनावर के पास एक दोत्रिया नाम का स्थान है। जहाँ दो नदियों के तट मिलते हैं। प्राचीन दोस्तटिका का अपभ्रंश ही आज का दोत्रिया है। फिर जिस शांतिनाथ चैत्यालय में बैठकर जिनसेन स्वामी ने हरिवंशपुराण की रचना की है उस चैत्यालय की मूर्ति भी इस संग्रहालय में आज भी मौजूद है। इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

ऐसा यह मालव प्रदेश है इसमें अगणित स्थान ऐसे हैं जिनकी खोज से जैन इतिहास को महत्त्वपूर्ण मोड़ मिल सकता है। मैं तो इतिहास का विद्वान भी नहीं हूँ। समाज के विद्वानों को इस तरफ ध्यान देना चाहिए—हमारी हार्दिक इच्छा है कि "मालव देश मे जैनधर्म पर कोई विद्वान् शोध ग्रन्थ लिखें। हम हर तरह से सहयोग देने के लिए तैयार हैं।"

बदनावर से प्राप्त मूर्ति शिलालेखों की नकल

(१) सं० १२१६ जेष्ठ सुदी ५ बुधे आचार्य कुमारसेन चंद्रकीर्ति वर्द्धमान पुरान्वये साधु वाहिल्व: सुत माल्हा भार्या पाणु सुत पील्हा भार्य्या पाहुणी प्रणमंति नित्यं

(२) सं० १२२८ वर्षे फाल्गुन शुक्ल ५ श्री माथुरसघे पडिताचार्य्य श्रीधर्म तस्य शिष्य आचार्य्य ललितकीर्ति

(३) ६०॥ सं० १२१० वर्ष वैशाख शुक्ला १ शुक्रे श्री माथुरसघे ल्वायवासे(?)कुमारसेन ? शिष्य: वधू भरी जस हसता जयकर कारितं।

(४) सं० १२२२ जेष्ठ शुक्ला ७ बुधे श्री खडेरक गच्छे सा: गोसल भार्या आसा गुण श्री मदन श्री तग······ ···श्री·········प्रतिष्ठिता:

(५) संवत् १२३० माघ शुक्ला १३ श्री मूलसघे आचार्य भट्टाराम—नागयाने भार्या जमनी सुत साधु सवहा तस्य भार्या रतना प्रणमति नित्यं धांधा वीलू वाल्ही साधू।

(६) ६०॥ संवत् १२२६ वैशाख कृष्ण ७ शुक्रे अर्हदास वर्द्धनापुरे श्रीशांतिनाथ चैत्ये सा: भवन सा-गोसल ठ: कड़देवादि कुटंब सहितेन निज गोत्र देत्या श्रीअवलुमनाया: प्रतिकृति: कारिता: श्रीकुलचंद्रोपाध्यायै प्रतिष्ठित:

(७) स. १२३४ वर्षे माघ सुदी ५ बुधे श्रीमन् माथुर सघे पंडिताचार्य धर्मकीर्ति: शिष्य: ललितकीर्ति: वर्द्धमान पुरान्वये सी-प्रामदेव भार्या प्राहिणी: सुत राणला: दिगम सा: याका सा: जादड़ सा: राणू भार्या माणिकसुत महण किज कुले बालू सा. महूण भार्या रोहिणी—प्रणमति नित्यं।

(८) संवत् ११२२ माघ शुक्ला ६ द्दरा दिनैश्च अद्येह वर्द्धन पुरे श्री सियापुर वास्तव्य पुत्र सलन दे. आ.—सेवा प्रणमति नित्यम्

इसी तरह अन्य भी लेख हैं जिनमें वर्धनापुर का अपभ्रंश होकर बुदनापुर फिर बुदनावर का उल्लेख है। अब वह प्रचलित बदनावर के नाम से हैं। ★

जैन संस्कृति के प्रतीक मौर्यकालीन अभिलेख

डा० पुष्यमित्र जैन एम. ए. पी. एच. डी.

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्तमौर्य भारत के सर्वप्रथम सम्राट थे। वह जैनधर्म के अनुयायी थे। अब ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी प्रमाणित हो चुका है। इनके पश्चात् इस देश में बिन्दुसार और सम्प्रति तो आरम्भ से अन्त तक जैन धर्म के अनुयायी रहे। परन्तु कलिंग[1] युद्ध तक जैन धर्म में आस्था रखने के पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। राजतरंगिणी में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अशोक जैन धर्म का अनुयायी था। उसने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया तथा वितस्तात्रपुर के धर्मारण्य विहार में एक बहुत ऊँचा जिन मन्दिर बनवाया।[2] मौर्य सम्राटों ने शिला खडों पर अनेक अभिलेखों को उत्कीर्ण कराया। इनका ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्व है।

सारनाथ—इस स्तम्भ के शीर्ष भाग मे सिंह चतुष्टय पर धर्म-चक्र स्थापित था। अब ये दोनो सारनाथ के पुरातत्त्व संग्रहालय मे सुरक्षित है। इसके सबन्ध में इतिहासकारों का अभिमत है कि यहां (सारनाथ) पर भगवान बुद्ध ने सपना सर्वप्रथम धर्मोपदेश देकर पांच व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया और इस प्रकार धर्म चक्र प्रवर्तन का कार्य आरम्भ किया।[3] अतः सिंह चतुष्टय पर स्थापित धर्म चक्र उसी स्मृति का प्रतीक है। परन्तु यह तर्क युक्ति सगत नहीं है क्योकि गिरनार त्रयोदश अभिलेख मे भगवान बुद्ध को हस्ति के रूप में स्मरण किया गया है।[4] यदि सारनाथ स्तम्भ का धर्म चक्र भगवान बुद्ध के धर्म चक्र प्रवर्तन की स्मृति में कराया गया होता, तो उसे सिंह चतुष्टय के बजाय बुद्ध के प्रतीक हस्ति अथवा हस्ति चतुष्टय पर स्थापित किया जाता है। अतः उसका निर्माण धर्म चक्रप्रवर्तन की स्मृति में कराया गया प्रतीत नहीं होता है।

वास्तविकता यह है कि जैन मान्यताओं के अनुसार भगवान महावीर का चिह्न सिंह है और केवलज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर चतुर्मुखी प्रतीत होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त जब वे विहार करते हैं तो धर्म चक्र उनके आगे-आगे चलता है। अतः सारनाथ का सिंह चतुष्टय और धर्म चक्र भगवान महावीर के धर्म प्रचारार्थ विहार का स्मरण दिलाते हैं। सांची के सिंह चतुष्टय पर धर्म-चक्र नहीं है। वह उनके समवशरण में विराजमान होने का प्रतीक है। पाटलिपुत्र के खनन कार्य में वृषभ चतुष्टय प्राप्त हुआ है। यह (मान) स्तम्भ का शीर्ष भाग है जो कि भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के द्योतक हैं। अतः महावीर से सम्बन्धित होने से सारनाथ स्तम्भ जैन संस्कृति का प्रतीक है। जहां तक इसके अभिलेख का प्रश्न है, वह जैन और बौद्ध दोनों पर ही समान रूप से लागू होता है।

ग्यारह लघु अभिलेख—गुर्जरा, मास्की, रूपनाथ, सहसराम, ब्रह्मगिरि, सिंहपुर, गोविमठ अहरौरा, वैराट तथा जटिंगरामेश्वर, इन ग्यारह अभिलेखों का प्रमुख विषय है। "ढाई वर्ष और कुछ अधिक समय हुआ, मैं प्रकाश रूप मे उपासक था। परन्तु मैंने अधिक पराक्रम नहीं किया। एक वर्ष और कुछ अधिक समय हुआ, जब मैंने संघ[5] की शरण ली, तब से अधिक पराक्रम करता हूँ इस काल मे जम्बू द्वीप में जो देवता अमिश्र थे, वे मिश्र किए गए, पराक्रम का यही फल है।" इनमें गुर्जरा और मास्की मे अशोक तथा शेष मे प्रियदर्शी का उल्लेख है। इससे विदित होता है कि अशोक के लिए भी प्रियदर्शी का प्रयोग होता था और ये समस्त अभिलेख उसी

१. कलिंग युद्ध राज्याभिषेक के आठवें वर्ष हुआ था।
२. राजतरंगिणी पृ० ८।
३. डा० राजबलि कृत अशोक अभिलेख पृ० १३।
४. वही पृ० २१।
५. जैन और बौद्ध संघ।

के द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हैं, क्योंकि इनके विषय में समानता है।

इन अभिलेखों में से वैराट मास्की और जटिंग रामेश्वर को छोड़ कर शेष आठ में २५६ अंकित है। ब्यूलर का कथन है कि यह बुद्ध निर्वाण सवत है।[1] परन्तु ऐसा मानने से अशोक का समय[2] ५४४-३५६=२८८ ई० पू० आता है। जब कि अशोक का राज्याभिषेक २७२ ई० पू० में हुआ था। इससे अशोक और बुद्ध निर्माण संवत् की संगति ठीक नहीं बैठती है। अतः २५६ बुद्ध निर्वाण संवत नहीं हो सकता है। आजकल के इतिहासकारों का अभिमत है कि इसका (२५६) अर्थ २५६वां पड़ाव है।[3] परंतु यह भी युक्ति सगत नही है, क्योंकि एक के अतिरिक्त शेष सात में पड़ाव की क्रम संख्या २५६ से कम अथवा अधिक होनी चाहिए। आठों अभिलेखों में ही पड़ाव की क्रमसंख्या २५६ नहीं हो सकती। अतः २५६ का अर्थ २५६ वां पड़ाव नहीं है।

अशोक कलिंग युद्ध से पूर्व राज्याभिषेक के प्रारम्भिक आठ वर्षों में जैनधर्म का अनुयायी था। अतः अभिलेखों पर अंकित २५६ का अर्थ यह है कि अशोक ने इन अभिलेखों को वीर निर्वाण संवत् ५२७-२५६=२७१[4] ई० पूर्व मे उत्कीर्ण कराया। अतः २५६ वीर निर्वाण संवत् मानने से इसकी अशोक के शासन काल तथा अभिलेखों मे वर्णित एक वर्ष और कुछ अधिक समय के पराक्रम से सगति ठीक बैठती है। ढाई वर्ष के कम पराक्रम का समय राज्याभिषेक से पूर्व जान पडता है जिसमें अशोक को अपने भाइयों के साथ संघर्ष रत रहना पड़ा था। भाइयों को पराजित करने के पश्चात् अशोक २७२ ई० पू० सिंहासनारूढ हुआ और अगले वर्ष ही उसने इन अभिलेखों को उत्कीर्ण कराया।

'जम्बू द्वीप में जो देवता अमित्र थे उन्हें मित्र बनाया गया'—इसकी व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों मे मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार जम्बू द्वीप में जो देवता अमृषा (सत्य) थे, वे मृषा किये गये। इसके विपरीत अन्य विद्वानों का मत है कि अशोक ने अपने धर्माचरण से जम्बूद्वीप को ऐसा पवित्र बना दिया कि यह देव लोक सदृश हो गया और देव तथा मानव का अंतर मिट गया।[5] परन्तु ये दोनों ही व्याख्याएं युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि पालि या प्राकृत में संस्कृत मृषा का रूप 'मुसा' होता है 'मिसा' नहीं। इसी प्रकार डेढ़ वर्ष के पराक्रम से अशोक ने जम्बू द्वीप को देव लोक सदृश बनाकर देव और मानव का अन्तर समाप्त कर दिया। यह बात भी हृदयग्राही नही है।

अब प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त वाक्य का वास्तविक तात्पर्य क्या है। अमिश्र को आमिष का अशुद्ध रूप मानने पर अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है अर्थात् जम्बूद्वीप मे जिन देवताओं पर पशु-बलि दी जाती थी, अशोक द्वारा अहिंसा, प्रचार से वह बन्द होगई और उसके स्थान पर देवताओं को मिष्टान्न, घृत, नारियल फल, अन्न आदि की बलि दी जाने लगी। वास्तव में धर्म के नाम पर पशु बलि ही उस युग की सबसे बड़ी समस्या थी। अशोक ने अहिंसा प्रचार से इस समस्या का समाधान किया। इसी तथ्य की ओर इन अभिलेखों में सकेत किया गया है। इस कार्य मे अशोक को जो सफलता मिली, वह कोई आश्चर्य की अथवा अनहोनी बात नहीं थी भारतीय वांगमय में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते है। काश्मीर के राजा मेघवाहन द्वारा अहिंसा प्रचार का यह परिणाम निकला कि पशु-बलि के स्थान पर पिष्ट-पशु (आटे के पशु) और घृत पशु से काम लिया जाने लगा।[6] दशवीं शताब्दी मे विरचित यशस्तिलक चम्पू मे भी विदित होता है कि महाराज यशोधर ने अपनी माता के आग्रह पर आटे के मुर्गे की बलि दी थी।

इन अभिलेखों के निर्माण के सम्बन्ध में इतिहासकारों का अभिमत है कि अशोक ने राज्याभिषेक के बारह वर्ष अर्थात् २७२-१२=२६० ई० पू० इन्हें उत्कीर्ण कराया था। क्योंकि वे ढाई वर्ष और डेढ़ वर्ष की गणना कलिंग विजय से करते है। परन्तु ऐसा करना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि

१. डा० राजबलि पाण्डे कृत, अशोक अभिलेख पृ० ११२
२. बुद्ध निर्माण सवत्।
३. वही पृ० ११२।
४. वीर निर्वाण सवत्।
५. वही पृ० ११२।
६. राजतरंगिणी पृ० ३९।

अभिलेखों में १२ वें, १३ वें, १६ वें, २० वें, २६ वें वर्ष आदि का भी उल्लेख है। यह गणना राज्याभिषेक से की जाती है। इसी आधार पर यह गणना भी की जानी चाहिए। कलिंग विजय से इसकी गणना करने का कोई औचित्य नहीं है। राज्याभिषेक से गणना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने इन अभिलेखों को उस समय उत्कीर्ण कराया था जबकि वह जैनधर्म का अनुयायी था अतः ये अभिलेख जैन संस्कृति के प्रतीक हैं।

देवानांप्रिय=शंका—इन सभी अभिलेखों में देवानां प्रिय का उल्लेख है और यह बौद्ध साहित्य की देन है। वैदिक साहित्य में तो इसका अर्थ 'मूर्ख' है। अतः यह बात समझ में नहीं आती कि जैन होते हुए अशोक ने बौद्ध-साहित्य के इस शब्द का प्रयोग इन अभिलेखों में क्यों किया ?

समाधान—'देवानां प्रिय' यह शब्द केवल बौद्ध साहित्य की ही देन नहीं, जैन साहित्य में भी इस आदर सूचक शब्द का प्रयोग साधारण जनता से लेकर राजा महाराजाओं तक के लिए मिलता है। उदाहरणार्थ महाराजा सिद्धार्थ अपनी रानी त्रिशला को 'देवाणुप्पिया' तथा सभासदों को 'देवाणुप्पिए' कह कर सम्बोधित करते है।[1] ऋषभ ब्राह्मण भी अपनी पत्नी देवानन्दा के लिए देवाणुप्पिया का प्रयोग करता है।[2] वीर निर्वाण सम्वत १२०६ में विरचित पदमपुराण में रविषेणाचार्य ने गौतम गणधर द्वारा राजा श्रेणिक को 'देवानां प्रिय' इस आदर सूचक शब्द से सम्बोधित कराया है। इस प्रकार अति प्राचीन काल से विक्रम की आठवीं शताब्दी तक जैन साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः इसे केवल बौद्ध साहित्य की देन कहना भ्रम है अशोक द्वारा अभिलेखों मे इसका प्रयोग जैन साहित्य के अनुकूल ही है।

चतुर्दश अभिलेख—गिरनार, कालसी, शहवाज गढ़ी, मानसेहरा, धौली तथा जौगाढ़ा में से प्रत्येक जगह एक-एक शिलाखंड पर चतुर्दश अभिलेख उत्कीर्ण हैं। धौली और जौगाडा के शिलाखंड पर एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश अभिलेख नही है। इसके स्थान पर दो पृथक-पृथक अभिलेख हैं। परन्तु इन अभिलेखों में विषय की दृष्टि से समानता है। अर्थात गिरनार के प्रथम अभिलेख का जो विषय है शेष पाँचों शिलाखण्डों के प्रथम अभिलेख का भी वही विषय है। यही बात अन्य अभिलेखों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। इनमें से प्रथम चार अभिलेख राज्याभिषेक के १२ वें वर्ष उत्कीर्ण कराए गए हैं। कलिंग विजय से सम्बन्धित अभिलेख १३ वां है। यदि इन समस्त अभिलेखों का निर्माता अशोक होता तो महत्व तथा समय चक्र की दृष्टि से कलिंग विजय अभिलेख को प्रथम स्थान मिलता। अतः इस अभिलेखका १३वां स्थान होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनका अशोक की अपेक्षा उसके पूर्वजों से कहीं अधिक सम्बन्ध है।

प्रथम अभिलेख मे यज्ञों मे पशु बलि, हिंसात्मक उत्सवों तथा राजकीय पाकशाला हेतु पशु वध का निषेध है। यज्ञों में पशुबलि तथा हिंसात्मक कार्यों की तो जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मों में समान रूप से निन्दा की गई है। परन्तु बौद्ध धर्म में मास भक्षण का निषेध नहीं है। स्वयं भगवान बुद्ध का शरीरांत भी मांस भक्षण के कारण ही हुआ था। इसके विपरीत जैनधर्म मे मांस भक्षण की घोर निन्दा करते हुए मास-भक्षी को नरकगामी की संज्ञा दी गई है। अशोक के पूर्वज चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैन धर्म के अनुयायी होने से मास भक्षण के विरोधी थे। इस की पुष्टि अरेमाई अभिलेख से होती है। इसमे लिखा है कि "राजा जीवधारियों को मारकर खाने मे परहेज करता है।" विद्वान पुरालिपि शास्त्र के आधार पर इस अभिलेख की तृतीय शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध अर्थात् चन्द्रगुप्त अथवा बिन्दुसार के समय का मानते है।[3]

चाणक्य साम्राज्य का महामत्री तथा चन्द्रगुप्त का गुरु था, वह भी अहिंसा धर्म में आस्था रखता था, तथा मांस भक्षण और मृगया का विरोधी था[4] अतः सम्राट तथा महामन्त्री द्वारा पारस्परिक विचार विनियम के पश्चात् हिंसात्मक उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा राजकीय पाकशाला में निमित्त पशुओ के वध को रोक देना

१. कल्पसूत्र पृ० १३५, १३६।
२. वही पृ० १३७।

३. डा०राजबलि पाण्डे कृत अशोक अभिलेख पृ० १६२।
४. चाणक्य प्रणीत सूत्र ५६१ कौटल्य अर्थशास्त्र पृ० १८२।

स्वभाविक ही है, इसके विपरीत बौद्धधर्मानुयायी अशोक द्वारा मांस भक्षणका निषेध अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है क्योंकि बौद्धधर्म मे मांस भक्षण का निषेध नही, है। अतः यह अभिलेख अशोक की अपेक्षा उसके पूर्वजों से कहीं अधिक सम्बन्धित प्रतीत होता है।

चतुर्थ अभिलेख का प्रमुख विषय "हस्ति दर्शन, विमान दर्शन, अग्नि स्कन्ध दर्शन तथा अन्य दिव्य प्रदर्शनों द्वारा जनता में धर्म की रुचि उत्पन्न करना है।" परन्तु इनका भी अशोक तथा बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भगवान बौद्ध का प्रतीक होने से हस्तिदर्शन के अतिरिक्त अन्य प्रदर्शनों की बौद्धधर्म से कोई संगति नही बैठती। इसके विपरीत इन समस्त प्रदर्शनों का जैनधर्म के साथ सीधा सम्बन्ध है। तीर्थंकर जब गर्भ में आते हैं, तो उनकी माता १६ स्वप्न देखती है जिनमें हस्ति, विमान तथा अग्नि स्कंध भी है। श्वेतांबर मन्दिरो में धातु के बने हुए इन स्वप्नों की पर्यूषण पर्व तथा अन्य धार्मिक उत्सवो मे प्रदर्शन की भी परम्परा है। इस प्रकार इन दिव्य प्रदर्शनों का बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म से कहीं अधिक सम्बन्ध है।

इस अभिलेख में इस बात का भी उल्लेख है "सैकड़ों वर्षों से कही अधिक समय से श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार हो रहा था। देवाना प्रियदर्शी के धर्मानुशासनमें उनके प्रति उचित व्यवहारमे वृद्धि हुई है।" इसका भी अशोक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि अशोक के पूर्वज चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैनधर्मानुयायी थे। चाणक्य ब्राह्मण चन्द्रगुप्त का गुरु तथा राज्य का महामन्त्री था। अतः इनके राज्य में श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त से पूर्व मगध मे नन्दों का राज्य था। उन्होने १६० वर्ष तक राज्य किया। नन्द राजा शूद्र और अत्याचारी थे। अतः इनके राज्य में श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार होना कोई असाधारण बात नहीं थी। चाणक्य का तो महापदमनन्द ने अपमान भी किया था चन्द्रगुप्त के सम्राट होते ही स्थिति में परिवर्तन हुआ और परिणाम स्वरूप श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति उचित व्यवहार में वृद्धि हुई। इस प्रकार यह अभिलेख अशोक के पूर्वजो से ही सम्बन्धित प्रतीत होता है।

पचम अभिलेख मे धर्म वृद्धि हेतु भाई-बहिनों तथा सम्बन्धियों के अन्तःपुर, राज्य कर्मचारियों के बीच और प्रजाजनों में धर्म महामात्र नियुक्त करने का उल्लेख है··· बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अशोक ने राज्याभिषेक से पूर्व ही अपने समस्त भाई बहिनों का वध कर डाला था। अतः भाई-बहिनों में यहाँ धर्म महामात्र नियुक्त करने वाला अभिलेख अशोक का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अशोक ने धर्म प्रचारार्थ लंका मे अपने पुत्र और पुत्री को बौद्ध भिक्षुक और भिक्षुणी बना कर भेजा। तिब्बत आदि देशों मे भी इसके निमित्त भिक्षुक भेजे गये। फिर यह बात समझ मे नही आती कि भारत मे ही यह कार्य धर्म महामात्रो से क्यो कराया गया, जबकि यह सर्व विदित है कि गृह-त्यागी और निर्लिप्त भिक्षुओं का जनता पर धर्म के सम्बन्ध में जितना अधिक प्रभाव पड़ता है उसका शतांश भी वेतनभोगी धर्म महामात्रों का नही पड़ सकता है। वास्तविकता यह है कि ये धर्म महामात्र और कोई नहीं वरन् गुप्तचर थे, जिन्हें चाणक्य के परामर्श से नियुक्त किया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस प्रकार की चर व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख है।[1]

द्वितीय, तृतीय तथा छठवें से बारहवें अभिलेखों का विषय लोकोपकारी कार्य प्रतिवेदन दान तथा महिमा आदि से संबधित है। इनकी संगति किसी के साथ भी बैठाई जा सकती है। परन्तु त्रयोदश अभिलेख अशोक का है और वह उसका प्रथम अभिलेख ही हो सकता है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि इससे पहले के बारह अभिलेख अशोक के पूर्वजों के ही हैं।

प्रियदर्शी=शंका—रूपनाथ आदि ग्यारह अभिलेखों के आधार पर प्रियदर्शी अशोक का उपनाम है। उपर्युक्त वर्णित बारह अभिलेखों में भी प्रियदर्शी का उल्लेख है। अतः ये सभी चतुर्दश अभिलेख अशोक के ही होने चाहिए।

समाधान—प्रियदर्शी अशोक का उपनाम नहीं है। यदि ऐसा होता तो गुर्जरा और मास्की अभिलेखों में

[शेष पृ० १७६]

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ३६, ४०।

रामगुप्त के अभिलेख

परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय इतिहास में समुद्र गुप्त के दो पुत्र थे। राम गुप्त और चन्द्र गुप्त (द्वितीय) रामगुप्त चन्द्र गुप्त द्वितीय के बड़े भाई थे और वे समुद्र गुप्त तथा चन्द्र गुप्त (द्वितीय) के बीच गद्दी पर बैठे थे। राम गुप्त की पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। राम गुप्त सन् ३७० से ३७५ तक छः वर्ष राज्य कर पाया था कि एक खास घटना घटी। हर्ष चरित मे कहा है कि—"अरिपुर में शक नरेश नारी वेश धारी चन्द्रगुप्त द्वारा उस समय मारा गया, जब वह पर स्त्री का आलिंगन कर रहा था।" हर्ष चरित की टीका करते हुए शंकराचार्य (१७१३ ई०) ने इस घटना की व्याख्या करते हुए बताया है कि शक नरेश राम गुप्त की पत्नी ध्रुव देवी को चाहता था। इसलिए वह अन्तःपुर में चन्द्र गुप्त के हाथों मारा गया, जिसने अपने भाई की पत्नी ध्रुवदेवी का रूप धारण कर रखा था। उसके साथ कुछ अन्य लोग भी नारी वेश मे थे।[1] इस घटना का स्पष्ट संकेत राष्ट्र कूट राजा अमोघ वर्ष के शक संवत् ७९५ (८७१) के संजान ताम्र लेख में भी पाया जाता है।[2]

अब तक ऐतिहासिक विद्वान राम गुप्त की ऐतिहासिकता पर एक मत नहीं हो पाये। राम गुप्त के नामांकित ताबे के सिक्के विदिशा तथा अन्य स्थानों से मिले हैं। जिन पर स्पष्ट गुप्त कालीन अक्षरों में राम गुप्त लिखा है।[3] ये सिक्के बनावट, शैली और भार-मान में चन्द्र गुप्त (द्वितीय) के सिक्कों के समान हैं। राम गुप्त के सिक्कों की एक भांत मे अन्य गुप्त राजाओं के सिक्कों पर मिलने वाले गरुड़ के समान गरुड़ भी है।[4]

सन् १९६९ में विदिशा (मध्य प्रदेश) नगर के निकट वेश नदी के तट वर्ती पुर्जन पुर ग्राम से खुदाई में जैन तीर्थंकरों की तीन मूर्तियां प्राप्त हुई। जो जिला पुरातत्त्व संग्रहालय विदिशा में संगृहीत हैं। ये सभी मूर्तियां खंडित हैं। इन तीनों प्रतिमाओं की चरण चौकी पर लेख अंकित हैं। उनमें एक मूर्ति चन्द्र प्रभ आठवें तीर्थंकर की है और दूसरी ९वें तीर्थंकर पुष्पदन्त की है। तीसरी का पता नहीं चलता कि किस तीर्थंकर की है। इनमे चन्द्र प्रभ की मूर्ति का लेख सुरक्षित अवस्था में मौजूद है। दूसरी प्रतिमा का लेख आधा अवशिष्ट है। अन्तिम पंक्ति नष्ट हो चुकी है। तीसरी मूर्ति के लेख की केवल दो पंक्तियाँ अवशिष्ट हैं। प्रथम प्रतिमा की चरण चौकी पर उत्कीर्ण लेख इस प्रकार है :—

"भगवतोऽर्हतः। चन्द्र प्रभस्य[5] प्रतिमेयं कारिता महाराजाधिराज श्री रामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक-चन्द्र क्षमाचार्य्य-क्षमण श्रमण प्रशिस्य आचार्य सर्प्पसेन क्षमण शिष्यस्य गोल क्यान्त्या-सत्पुत्रस्य चेलू क्षमस्येति।"

इसमें बतलाया गया है कि महाराजाधिराज श्री राम गुप्त के द्वारा भगवान अर्हन्त चन्द्र प्रभ की प्रतिमा की स्थापना की गई। उन्होंने चेलू क्षमण के उपदेश के कारण इसका निर्माण कराया था। चेलू क्षमण गोलक्यान्तिका सत्पुत्र और पाणिपात्रिक चन्द्र क्षमाचार्य का प्रशिष्य तथा सर्प्पसेन क्षमण का शिष्य था। इससे राम गुप्त के धार्मिक विचारों का संकेत मिलता है। लेख की लिखावट गुप्त कालीन जान पड़ती है। इन पर उत्कीर्ण लेखों की लिपि समुद्रगुप्त के लेख और चन्द्र गुप्त द्वितीय के साँची लेख (गुप्त सं० ९३) की लिपि के साथ साम्य रखती है। इन प्रतिमा लेखों मे महाराजाधिराज रामगुप्त का उल्लेख प्राप्त है। पर उनकी वंशावली लेख मे नहीं दी गई। वंशावली दी होती तो उससे सन्देह का स्थान नहीं रहता। तो भी उपाधि और लिपित क्षण की विशेषताओं के कारण रामगुप्त का देवी चन्द्र गुप्तम् के रामगुप्त के साथ समीकरण हो जाता है।

समुद्रगुप्त का दूसरा बेटा चन्द्र गुप्त द्वितीय गुप्त संवत् ५६ (३७५ ई०) में गद्दी पर बैठा था। अतः उस समय से पूर्व रामगुप्त राज्य का अधिकारी रहा होगा। अर्थात् वह ३७० ईस्वी के लगभग राजगद्दी पर बैठा होगा। और ३७५ ईस्वी में उसके राज्य पर चन्द्र गुप्त द्वितीय ने अधिकार कर लिया होगा। चूंकि वे मूर्तिया राम गुप्त के द्वारा स्थापित हैं। इस कारण वे मूर्तिया गुप्त कालीन हैं और उनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी होना चाहिए।

---

१. अरिपुर च परकलत्र कामुकं कामिनिवेशगुप्तः चन्द्रगुप्तः शक पतिमशातयत्।
—हर्षचरित निर्णयसागर प्रेस संस्करण पृ. २००

शंकराचार्यने टीकामें उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—
"शकानाम आचार्यः शकपतिः चन्द्रगुप्त भ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमान चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवी वेषधारिणी स्त्रीवेश जनपरिवृत्तेन रहसि व्यापादितः।"

इस घटना का उल्लेख राष्ट्रकूट ताम्रलेखमें भी पाया जाता है

२. हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवींश्च दीनस्तथा।
लक्ष्यं कोटिमलेखयन् किलकलौ दाता स गुप्तान्वयः।
येनात्याजितनु स्वराज्यमसकृद्बाह्यर्थकैः का कथा।
ह्रो स्तस्योन्नति राष्ट्रकूट तिलको ददितिकीर्त्यामपि॥
—राष्ट्रकूट ताम्रलेख ए. इ. ४ पृ. २५७।

३. ज. न्यू. सो. इ. १२, पृ. १०३, १३, पृ. १२८।

४. देखो गुप्त साम्राज्य पृ. २८१।

५. दूसरी मूर्ति के लेख मे "पुष्पदन्तस्य" उल्लेख है।

जोगी रासा

कविवर भगवती दास

भगवतीदास बूढ़िया जिला अम्बाला के निवासी थे। इनके पिता का नाम किसनदास था। जाति अग्रवाल और गोत्र बसल था। भगवतीदास बूढिया से दिल्ली आ गए थे और दिल्ली के काष्ठासंघी भट्टारक मुनि महेन्द्रसेन के शिष्य हो गए थे। और भ० सकलचन्द्र के प्रशिष्य थे। इन्होंने चतुर्थ वय में मुनि व्रत धारण कर लिया था। भगवतीदास अच्छे कवि थे। आपने हिन्दी साहित्य की अपूर्व सेवा की है। आपकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ सं० १६५१ से सं० १७०४ तक की उपलब्ध होती हैं। आपकी रचनाओं की सख्या ६० से ऊपर हैं। आप दीर्घजीवी विद्वान थे। आपकी आयु ८० वर्ष से कम नहीं जान पड़ती।

आपकी 'जोगीरासा' नाम की अप्रकाशित रचना प्रकाशित की जा रही है। आशा है पाठक जन उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। रचना सुन्दर और सरस है।

—परमानन्द शास्त्री

परम निरंजन भव-दुह-भंजन जिन जोगी जगनाथो।
आदि जगत गुरु मुकति रमणवरु, ताहि नवाऊं माथो ॥
वोधि दिवस पर गणधर हूए ते सहु पणमो पाया।
साहु शिरोमणि लोहाचारिज जिन जिनमग बताया ॥
पेरवहु हो तुम पेरवहु भाई जोगी जगमहि सोई।
घट घट अंतर वसइ चिदानन्द अलख लखै नहि कोई ॥
भव-वन-भूलि रह्यो भमराबलि शिवपुर सुध विसराई।
परम अतीन्द्रिय सो सुख तजिकर विषयन रह्यो लुभाई ॥
जम्मण-मरण जरा दुख देखइ पर आपा न विचारइ।
सम्यक् णाण चरण दंसणगुण चेतन चित न चितारइ।
जो जग दुख सो सुख करि मान्यौ मरम न जानइ कोई।
खरश खुजावत ज्यों सुख पावत पीव झरत दुख होई ॥
विषय न सेवइ मूढ़ न वेवइ शिव सुख सार न जानी।
शीत समैं ज्यों मूरख मरकट तापत गुंजा आनी ॥
सरिता सायर वसुधा नरवर ईंधन शिखि न अघाई।
रामा रमण सरसरस भोजन त्यों जिय तृप्ति न आई ॥
ज्यों जल खारो पीवत भाई बाढ़त तिस अधिकाई।
बोध सुधा संतोष सलिल बिन ओस न प्यास बुझाई ॥
ज्यों धन हारे तउ न संभारें जुआरी तजं न जूवा।
परकी संगति आप बधाना ज्यों नलिनी भ्रम सूवा ॥

किसकी सुन्दरि किसके मन्दिर किसके सुत अरु भाई।
रमणि पंखि ज्यों तरुवर बासो भोर भए तजि जाई ॥
किसके हय-गय-रहवर-पाइक किसकी राज दुहाई।
मरण समं कोई संग न दूजा हंस अकेला जाई।
धन-जोवन थिर नांहि जगत में मोह न राच गवारा।
पाप करत दुख दुरगति पावत ता दिन सग नहि दारा ॥
लख चौरासी जोयनि हडे तस-थावर-छं काई।
काल अनते भूरि भ्रमण करि सत गुरु संगति पाई ॥
अब मैं ऐसा जाण्यों रे भाई हों भ्रम-भूल्यो अंधा।
जोग जुगुति अरु ध्यान सकति बिन क्यों तूटई कम फंदा।
जोगी होइ करि जोग धरूं जग, अलख निरंजन जोऊं।
सदगुरु सीख हिरदै निज धारों निद्रा नेह न सोऊं ॥
धरम शुकलधरि ध्यान अनूपम आरति रौद्र निवारौं।
समकित आसन दिढ पदमासन पणतीसौं मन धारौं ॥
उत्तम छिमा मढी महि पैठों दश दिश कंथा भेंटइ।
तव-पावक नितधूली भेलों दुरिय न आवइ नेरइ ॥
जीवदयागिरि कंदरि निवसउं, संयम भसम चढ़ाऊं।
सत्य संतोष श्रवण दोइ मुद्रा आगम सिंगी बजाऊं ॥
सुमति-गुपति खंगरी व बजाऊं आकिंचन गुणगाऊं।
पंच महाव्रत विद्या साधौं षोडशभावना भाऊं ॥

१. विशेष परिचय के लिये देखें, अनेकान्त वर्ष २०, कि० ३, पृ० १०४।

शील कछोटा सउच लंगोटा घाऊं करे कर दंडा ।
ब्रह्मचरण गुण चक्र चढ़ाऊं मयणहणों बलवंडा ।।
धरम अंधारी कांधइ मेरइ, सोसजटा अनुपेहा ।
जोग जुगति जो गउटा पहिरौं देह न करउं सनेहा ।।
पंच प्रवासउ दइ भुगति ज्यों दो कर खप्पर मांही ।
सरस निरस अरु लाभ-अलाभई हरष विषाद जु नाहीं ।।
ज्ञान(ध्यान)गुफामहि रहूं रयणि दिन ध्यान वन्हि परिजालौं
मिथ्यात-तिमिर-हर्तौं खिण भीतर दरशन दीपक-बालौं ।।
चारित चेला मुझ पहि भाई, प्रेम मही निशि वासो ।
करुणा जोगणि संगह मारइ, जगतें रह्यो उदासो ।।
मोह-महा रह भूलि निवासो, माया नगरि न राचौं ।
मान महीधर निकट न जाऊं, वसुमद मदहि न मांचौं ।।
संवर-पोहण चढ़ि हो धाऊं, लोभ उदधि तिरजाऊं ।
अज्जव जल सगहों ततक्षण, क्रोध-हुताश बुझाऊं ।।
परम अराहण मुझ पहि दीवी, मंडो गोरखधंधा ।
मूलोत्तर गुणमहि हूं हूं वउ, फेरी द्यो निरबंधा ।।
समता सुरसरि के तट वासो, और न तीरथ न्हाऊं ।
सहज सुभाव करौं तन निर्मल जल में पइठ न न्हाऊं ।।
तिल-गुड़-घिय करि देहु न आहुत, गूगल वन्हि न खेऊं ।
नाटक चेटक वेदक चोनक, मिथ्या मंत्र न सेऊं ।।
यंत्र न राषउं करम न बांधउं, कीरति दान न लेऊं ।
तिण कंचण-अरि-मित्र समाणउ, दोष न विसही देऊं ।।
इंद्री दंडउ पाप विहंडउं जिन-शासन-मग-धाऊं ।
देहा देवल देव निहालउं यहु मनउं मन लाऊं ।।
गुणथानक चढि प्रकृति खिपाउं, केवलणाण उपाउं ।
समव सरण सु लहौं तत्क्षण दुंदभि नाद बजाऊं ।।
पंच लघूक्षर को थिति जाणउं चउदह में गुण थानें ।
पुण पंचम गति जाउं तिहां हउं वसुगुण सिद्ध समानें ।।
लोय शिखरि परि सदा विराजे, शिवनगरी घर मेरा ।
जम्म न मरण जलांजुलि देकर जगमहिं करौं न फेरा ।।
अनन्त चतुष्टय गुण गण राजहि तिनकी हौं बलिहारी ।
मन घर ध्यान जपहु शिवनायक ज्यों उतरहु भवपारी ।।
जोगी रासा सुनहु भविकजन जिम तुटहि कम-पासो ।
गुरु महिचसेण चरण नमि, भनत भगौती दासो ।।

———

[पृ० १७३ का शेषांश]

अशोक के साथ प्रियदर्शी का भी उल्लेख होता । सुदर्शन झील के अभिलेख से विदित होता है कि इसका जीर्णोद्धार अशोक के राज्यकाल में तुष्यनामक राज्यकर्मचारी द्वारा कराया गया था। तत्पश्चात् प्रियदर्शी ने इस कार्य को कराया । इससे विदित होता है कि अशोक के उत्तराधिकारी भी प्रियदर्शी कहलाते थे । जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है अरे माई अभिलेख चन्द्रगुप्त अथवा बिन्दुसार का है और इसमें भी प्रियदर्शी का उल्लेख है । अतः यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्वज भी प्रियदर्शी कहलाते थे । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी मौर्य सम्राटों के लिए प्रियदर्शी शब्द का प्रयोग होता था।

भारतीय वांगमय का अध्ययन करने से विदित होता है कि जिन व्यक्तियों के दर्शन से सुखानुभूति होती थी उन्हें प्रियदर्शी कहकर संबोधित किया जाता था। उदाहरणार्थ अशोक वाटिका मे रावण सीता को 'प्रियदर्शने'[1] तथा मथुरा मे माली कृष्ण-बलदेव को 'प्रियदर्शी' कह कर संबोधित करता है ।[2] निमित्तज्ञानी भी महाराज सिद्धार्थ से कहते थे कि तुम्हारा पुत्र 'प्रियदर्शी होगा । राजाओं का का दर्शन कल्याणकारी समझा जाता था । सम्भव है कि इसी आधार पर ही मौर्य सम्राटों को जनता प्रियदर्शी कहकर सम्बोधित करती हो ।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से मौर्यकालीन अभिलेख है इनमें से कुछ अशोक के तथा शेष संप्रति के हैं । इनके सम्बन्ध में किसी दूसरे लेख में प्रकाश डाला जायेगा । ★

१. बाल्मीकि रामायण पृ० ५२६ ।
२. हरिवंश पुराण पृ० १२८ ।

जैन धर्म एवं यज्ञोपवीत

श्री बंशीधर जैन एम. ए.

यज्ञोपवीत शब्द का अर्थ है—यज्ञ का कपड़ा अर्थात् वह वस्त्र जो यज्ञ के समय पहना जाता है। तैत्तरीय संहिता में कपड़े का विशेष प्रकार से पहनना ही यज्ञोपवीत बताया गया है। जब कपड़ा दाहिने हाथ के नीचे और बांए हाथ के ऊपर होकर जाता है तब वह 'यज्ञोपवीत' कहलाता है। वही कपड़ा यदि बांएं हाथ के नीचे और दाहिने हाथ के ऊपर होकर जायगा तो 'प्राचीनावीत' कहलायेगा। प्राचीन काल में यज्ञोपवीत वस्त्र के रूप में था न कि धागे के रूप में। 'गोपथ ब्राह्मण' ने ऊर्ध्व वस्त्र के रूप में सुन्दर मृग चर्म ओढ़ने का विधान किया था। धीरे-धीरे यज्ञोपवीत वस्त्र, मृगचर्म से 'धागे' पर आ गया ताकि इसे सुविधापूर्वक हमेशा पहना जा सके। वैदिक मत में चूंकि यज्ञ जीवन का आवश्यक अंग बन गया था, इसलिए यह निश्चित कर दिया गया कि यज्ञोपवीत बिना यज्ञ ही ही नहीं अपितु गायत्री मंत्र का पाठ भी नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का द्विजन्म तभी होता है, जब उनका यज्ञोपवीत संस्कार होता है, इसी से वे द्विज कहलाते हैं। ऐसे आवश्यक एवं महत्वपूर्ण यज्ञोपवीतकी रचना, पहनने आदि के बारे में भी नाना प्रकार के विधि विधान वैदिक साहित्य में मिलते हैं जो प्राय: एक रूप नहीं हैं। मध्यकाल में इसे हिन्दुत्व का चिह्न माना जाता था।

वैदिक मत में यज्ञोपवीत की उपयुक्त स्थिति के बारे में जानकारी के साथ जैनधर्म में यज्ञोपवीत की क्या स्थिति है यह विचार करना है।

'यज्ञ' शब्द मुख्यतः ब्राह्मण धर्म के क्रिया कांड का सूचक है। फिर भी दिगम्बर आम्नाय के जिनसेनाचार्य एवं उनके बाद के कुछ शास्त्रों में 'यज्ञोपवीत', 'ब्रह्मसूत्र' या 'व्रत सूत्र' शब्दों का प्रयोग मिलता है। यहां यह विचार रना है कि क्या यह यज्ञोपवीत वैदिक मत की तरह जैन श्रावकों—गृहस्थों के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है? श्वेताम्बर आम्नाय में यज्ञोपवीत की परम्परा नहीं है ऐसी सूचना मिली है।

जिनसेनाचार्य से पूर्व चरणानुयोग के मुख्य ग्रन्थों में श्रावक-साधु के लिए यज्ञोपवीत का विधान देखने मे नहीं आया। वट्टकेर स्वामी के मूलाचार, उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र, कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार तथा चारित्त पाहुडादिक, स्वामी समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार, की शिवार्य भगवती आराधना, पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि अकलक देव का तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानंद का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि प्रमुख मान्य एवं प्राचीन ग्रंथ हैं जिनमें मुनि धर्म एवं श्रावक धर्म का सर्वांगीण विवेचन है, किन्तु इनमें कहीं भी मुनि अथवा श्रावक के लिए अन्य व्रतों की तरह यज्ञोपवीत को आवश्यक नहीं बताया। आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तथा अन्य पुराणों व विभिन्न वर्गों के सहस्रों जैन स्त्री पुरूषों के कथानक हैं किन्तु इनमें किसी के यज्ञोपवीत संस्कार होने का विवरण पढ़ने में नहीं आया जब कि जीवन के छोटे से प्रसंगों का विवरण मिलता है।

इससे लगता है कि जिनसेनाचार्य से पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने अपने ग्रंथ में यज्ञोपवीत श्रावक या मुनि के लिए आवश्यक तो क्या उसका उल्लेख भी नहीं किया। जिनसेनाचार्य ने सर्वप्रथम अपने आदिपुराण में यज्ञोपवीत का वर्णन किया है किन्तु उक्त ग्रंथ में किसी केवली या धर्म प्रवक्ता ने इसे श्रावक धर्म के लिए आवश्यक नहीं कहा। चूकि ग्रंथ में इसका वर्णन आया है, इसलिए कुछ भाई इसे विधेय रूप में मानने लगे हैं। (इसकी समीक्षा बाद में करेंगे।)

वर्तमान में पढ़े जाने वाले एक अभिषेक पाठ में निम्न श्लोक उपलब्ध होता है—

श्री मन्मन्दर सुन्दरे शुचि जलै धौतैः सदर्भाक्षिते ।
पीठे मुक्तिवरं निधाय रचितां त्वत्पाद पद्मःस्रजः ।
इन्द्रोऽहं निज भूषणार्थकमिदं यज्ञोपवीतं दधे ।
मुद्राङ्कणशेखराण्यपि तथा जैनाभिषेकोत्सवे ।

इस श्लोक के अनुसार अभिषेक करने वाला अपने आप को इन्द्र मानकर अभिषेक के समय अपने आभूषण के स्वरूप यज्ञोपवीत, मुंदरी, कंगन और मुकुट धारण करता है।

बृहत्अभिषेक पाठों में प्रत्येक आभूषण को पहनने के पूर्व एक-एक श्लोक और मंत्र भी दिये हुए है। यथा—

यज्ञोपवीत के लिए—

"पूर्व पवित्रतर सूत्र विनिर्मितं यत
प्रजापतिरकल्प यदंग संघ्रि ।
सद्भूषणं जिनमहे निजकंठधार्य
यज्ञोपवीत महमेष तदा तनोमि ।
(ॐ नमः परमशान्तायशान्तिकराय पवित्रि-
कृतायाहं रत्नत्रय स्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि ।)

मुद्रिका के लिए यह श्लोक है—

प्रोत्फुल्लनील कुलिशोत्पलपद्मराग,
निर्जत् कर प्रकर बंध सुरेन्द्रचापः ।
जैनाभिषेक समयेंगुलिपूर्वमूले,
रत्नांगुलीयकमहं निवेशयामि ।।
(ॐ ह्री रत्नमुद्रिकां अवधारयामि) ।

इन श्लोकों एवं मंत्रों के आधार पर यह सिद्ध किया जाता है कि "भगवान का अभिषेक करने का अधिकारी यज्ञोपवीतधारी ही है। अभिषेक करने के पूर्व यज्ञोपवीत पहनने का विधान इसलिए है कि इसे पहने बिना कोई भगवान का अभिषेक नही करे। चूंकि प्रत्येक जैन से यह अपेक्षित है कि वह भगवान का अभिषेक करे, इसलिए प्रकारान्तर से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक जैन यज्ञोपवीत धारण करे।"

भली प्रकार परीक्षा करने से यह ज्ञात होता है कि यह फलितार्थ समीचीन नही है। मेरे इस मत के समर्थन हेतु निम्न तर्क हैं—

(क) इस श्लोक के अनुसार अभिषेक करने वाला अपने आप को इन्द्र मानता है। यह मान्यता अभिषेक करने वाले के लिए आवश्यक नहीं है क्योकि मनुष्य जिनेन्द्र देव की पूजा प्रक्षाल करने का अधिकारी है तब वह इन्द्र बनने की कल्पना क्यों करे ? यह मान्यता आवश्यक नहीं है।

(ख) यदि श्रावक यज्ञोपवीन पहने हुए हो (जैसा कि कुछ भाई आवश्यक मानते हैं) तो वह प्रतिदिन अभिषेक करते समय यज्ञोपवीत पहनने का श्लोक एवं मंत्र क्यों पगता ? इसका अर्थ यह हुआ कि वह पहने हुए नहीं रहता।

(ग) कुछ भाई इसे व्रत-चिन्ह मानते हैं, इसीलिए प्रत्येक व्रती श्रावक के लिए इसे आवश्यक मानते हैं। इन्द्र हमेशा अव्रती रहता है। फिर वह व्रत चिन्ह स्वरूप यज्ञोपवीत कैसे पहन सकता है ? इससे सिद्ध हुआ कि उक्त श्लोक के अनुसार इन्द्र जो यज्ञोपवीत पहनता है, वह व्रत चिन्ह वाली यज्ञोपवीत नहीं है।

(घ) इन्द्र सूत की यज्ञोपवीत नही पहनता है, वह एक आभूषण है।

(ङ) इन्द्र के लिए बताए हुए अन्य आभूषणों यथा—मुद्रा, ककण, मुकुट आदि पर जोर नहीं दिया जाता तब यज्ञोपवीत पर ही जोर क्यों दिया जाता है ? यदि इस श्लोक के आधार पर ही अभिषेक करने वाले श्रावक के लिए यज्ञोपवीत पहनना आवश्यक होता तो इन अन्य आभूषणों को भी पहनना अनिवार्य बनाना चाहिए था। चूंकि सूत का प्रचलित यज्ञोपवीत सहज सुलभ है इसीलिए इसे अनिवार्य बना दिया गया एव अन्य आभूषणों को छोड़ दिया गया।

(च) वस्तुतः उक्त श्लोक किसी पंच कल्याणक प्रतिष्ठा पाठ का है जिसमें जन्माभिषेक में इन्द्र आता है और वह अपनी सजावट के लिए मुद्रा, कंकण, मुकुट, कुंडल, हार आदि आभूषणों के साथ यज्ञोपवीत भी धारण करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्य आभूषणों की तरह यज्ञोपवीत भी एक प्रकार का गले में पहनने का आभूषण ही है। राजस्थान मे अब भी कई

स्थानों पर सोने की कंठी को जनेऊ भी कहते हैं (जनेऊ यज्ञोपवीत का ही प्रचलित नाम है)। इस प्रसंग में इन्दौर के सुप्रसिद्ध पं० बंशीधर जी का एक कथन याद आता है जो उन्होंने एक आचार्य श्री द्वारा यज्ञोपवीत पहननेके लिए जोर देने पर कहा था। उन्होंने अपनी सोने की कंठी दिखाकर कहा कि यही यज्ञोपवीत है, इसे हम धारण किए हुए हैं। इस पर वे आचार्य श्री कुछ नहीं बोले।

इन्द्र का यज्ञोपवीत के आभूषण होने का दूसरा प्रमाण है—

श्री लालजी द्वारा विरचित श्री तेरहद्वीप पूजा विधान में इन्द्र के आभूषणों का वर्णन इस प्रकार है—

श्री जिन की पूजा करै सो नर इन्द्र समान।
आभूषण पहिर इते, सो लीजे पहचान॥
धरै सीस सु मुकुट सुहावनों,
भुजन बाजूबंद सुलावनो।
करन कुण्डलमय सोहनी,
रतन जडित कड़े कर मोहनी॥
सरस कंठ विषै कठी कही,
धुकधुकी अरू हार सुलहलही।
पदम पहुंची पहर सुहावनी,
जगमगात सो जोति कहामनी॥
पहर के जो जनेऊ सारजू
कणक मणमई अति मनहार जू।
रतनमई कट मेखल जानिए
परम छद्र सुघंटिक मानए॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र जो यज्ञोपवीत धारण करता है वह कनकमय आभूषण है उसका सूत के धागे से कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्त पद्य में यज्ञोपवीत का प्रचलित पर्यायवाची शब्द 'जनेऊ' दिया है।

स्त्रियां जिनेन्द्र देव की पूजा बिना यज्ञोपवीत ही करतीहैं।[१] फिर पुरुष के लिए ही इसे अनिवार्य बनाना कोई औचित्य नहीं रखता। अतः अभिषेक पाठ के उक्त श्लोक एवं मन्त्र के आधार पर श्रावक के लिए यज्ञोपवीत की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती यह गलतफहमी केवल इसलिए हुई कि प्रतिष्ठा पाठ के श्लोक मन्त्र दैनिक प्रक्षाल पाठ में बिना सोचे-विचारे अपना लिए गये हैं, जहां पर विभिन्न कल्याणकों में इन्द्र का आगमन होता है, अन्यथा श्रावक जिनेन्द्र देव की पूजा-प्रक्षाल करने के लिए अपने आपको इन्द्र होने की कल्पना क्यों नहीं करता? पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा पाठ में इन्द्र बनने वाला इन आभूषणों को धारण करता है। इस धारण करने की प्रक्रिया के भी उसमें श्लोक एवं मन्त्र दिये हुए हैं—

अधो वस्त्र (सम्भवतः धोकती), दुकूल (वक्ष पर पहनने का दुपट्टा), मुकुट, ग्रैवेयक, हार, कुण्डल, केयूर धारण करने के बाद यज्ञोपवीत एवं कटि भूषण (कमर का गहना पहनने का विधान किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्ष पर कपड़े पहनने के बाद अन्य आभूषणों के साथ यज्ञोपवीत पहना गया है, इससे सिद्ध हुआ कि यह भी एक आभूषण ही है जो दाहिने हाथ के नीचे और बांये हाथ के ऊपर होकर जाता होगा।

पच कल्याणक की परिसमाप्ति के अनन्तर विधान करने वाला निम्न श्लोक पढ़ कर गुरू के पास यज्ञोपवीत आदिक यज्ञ की दीक्षा के चिह्नों को छोड़ता है—

यज्ञोचितं व्रत विशेषवृतो ह्यतिष्ठन
यष्टाप्रतीन्द्र सहितः स्वयमे पुरावत्
एतानि तानि भगवज्जिन यज्ञदीक्षा-
चिह्नान्यथैष विसृजामि गुरोः पदाग्रे।

यदि कोई इन्द्र के यज्ञोपवीत नामक आभूषण को खींच-तान कर सूत के धागे वाला जनेऊ सिद्ध कर दे तो भी पच कल्याणक की समाप्ति के बाद इसे उतारने का स्पष्ट विधान है।

अभिषेक पाठ में इन्द्र को सजाने के लिए यज्ञोपवीत मुकुट, कुडल आदि आभूषणों के पहनने की नकल प्रतिष्ठा पाठ से की गई है किन्तु इन्हें उतारने की विधि का अनुकरण नहीं किया गया है यह आश्चर्य का विषय है।

ऐसे प्रतिष्ठा पाठ के आधार पर कुछ भट्टारकों ने अलग अलग अभिषेक के कार्य को कम महत्ता दी गई है, किन्तु अभिषेक करने वाले को इन्द्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसे सजाने के लिए प्रत्येक आभूषण का अलग-अलग श्लोक एवं मन्त्र बना दिये हैं, मानों अभिषेक करने वाला जिनेन्द्रदेव से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति है।

लगता यह है कि जहां अभिषेक कराने वाला सेठ

साहूकार होता था, वहां अभिषेक करने वाले के लिए आभूषण प्राप्त करने का एक तरीक बना दिया गया था कि सेठ जी उसे इन्द्र बनाने के लिए इन आभूषणों का दान अवश्य कर दें। ब्राह्मण कई क्रिया कांडो में विभिन्न देवताओं के नाम पर वस्त्रादिक का दान यजमान से कराते हैं जिन्हें वे स्वयं ले लेते हैं। जैनियों में भी इस परम्परा का आविर्भाव इन्द्र बनाने की प्रक्रिया में हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। चूंकि उनके देवता वस्त्राभूषणों से रहित हैं। इसलिए उनके नाम पर तो कुछ नहीं मांगा जा सकता, तब अभिषेक करने वाले को इन्द्र रूप में सजाने के नाम पर आभूषणादि की व्यवस्था की गई लगती है। यह ठीक है कि यह परम्परा अभी नही है किन्तु कभी रही या नहीं यह अनुसंधान का विषय है।

इन तर्कों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि अभिषेक पाठ के उक्त श्लोक एवं मन्त्र से सूत वाला यज्ञोपवीत पहनना श्रावक के लिए अनिवार्य तो क्या, विधेय भी नहीं ठहरता है।

अब जिनसेनाचार्य कृत आदि-पुराण के उन प्रसंगों की समीक्षा करनी है जिनमे यज्ञोपवीत का उल्लेख आया है। हम इन प्रसंगों को संक्षिप्त तीन विभागों में विभक्त करते हैं:—

(क) भरत चक्रवर्ती द्वारा व्रतों में दृढ़ रहने वालों का ब्रह्म सूत्र से सत्कार करने का वर्णन।

(ख) भरत द्वारा नव निर्मित ब्राह्मण वर्ण को उपदेश के प्रसंग में उपनीति, व्रतचर्या एव व्रतावतरण क्रिया का वर्णन।

(ग) विभिन्न व्यक्तियों की वेश भूषा का वर्णन।

कुछ भाई इन वर्णनों के आधार पर यज्ञोपवीत की अनिवार्यता सिद्ध करने का प्रयास कर रहे है। मैने कुछ उपाधिधारी विद्वानों से भी इस प्रसंग में बात की लेकिन ज्ञात हुआ कि अधिकांश विद्वानो ने इसका गहराई से विचार नहीं किया।

(क) यह प्रसंग आदि पुराण के ३८ वें पर्व में आया है। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:—

जब भरत दिग्विजय कर वापस आये तब उन्हें चिंता हुई कि दूसरे के उपकार में मेरी संपदा का उपयोग किस प्रकार हो सकता है, सदा निस्पृह रहने वाले मुनि तो हम लोगों से धन नहीं लेते हैं, किन्तु जो अणुव्रत को धारण करने वाले हैं, धीर वीर हैं और गृहस्थों में मुख्य हैं। ऐसे पुरुष ही हम लोगों के द्वारा इच्छित धन, सवारी आदि के द्वारा तर्पण करने योग्य हैं। सत्कार करने योग्य है। व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से भरत ने समस्त राजाओं को सदाचारी इष्ट मित्रों एवं नौकर-चाकरों सहित बुलाया। भरत ने उनकी परीक्षा हेतु अपने घर के आंगन में हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये। आगतों में जो अव्रती थे वे सब हरे फल, पुष्पों को कुरेदते हुए अन्दर आ गये एवं जो व्रती थे वे दया के विचार से हरित अकुरों से पूर्ण मार्ग से नहीं आये। भरत ये सब देख रहे थे, उन्होंने उनको दूसरे प्रासुक मार्ग होकर अन्दर बुलाया। भरत ने उनसे पहले रास्ते से न आने एवं दूसरे रास्ते से आने का कारण पूछा तब उन्होने कहा "आज पर्व के दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदि का विघात नहीं किया जाता और न जो कुछ अपना बिगाड़ ही करते है ऐसे उन कोंपल आदि मे उत्पन्न होने वाले जीवों का विनाश किया जाता है। हे देव! हरे अकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव रहते है सर्वज्ञदेव से ऐसा सुना है इसलिए जिस आंगन मे गीले-गीले फल, पुष्प और अंकुर से सजावट की गई है उसे हमने नही खूदा है इन-वचनों से भरत बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उन सब की प्रशंसा कर उन्हें दान-मान आदि से सम्मानित किया पद्म नाम की निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले 'ब्रह्मसूत्र' नामक सूत्र से उन सबके चिन्ह किये। (श्वेताम्बर साहित्य में 'कांकणी रत्न' से सम्मान करने का उल्लेख है)।

उक्त प्रसंग के आधार पर यह कहा जाता है कि ब्रह्म सूत्र या व्रत सूत्र प्रत्येक व्रती श्रावक को धारण करना चाहिए और इसी व्रत सूत्र से यज्ञोपवीत का अर्थ निकालते हैं, किन्तु विचार करने से यह मान्यता यथार्थ नहीं लगती

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राजा भरत ने व्रती दयावान श्रावको को धनादिक से सम्मानित किया था एवं प्रतिमाधारियों को 'पद्म' नाम की निधि से प्राप्त 'ब्रह्मसूत्र' से सम्मानित किया था। यह 'ब्रह्मसूत्र' एक

प्रकार का आभूषण है जिसमें एक से लेकर ग्यारह सूत्र हो सकते है। अतः उन्होने व्रतियों को उनकी प्रतिमाओं की संख्या के अनुसार उतनी ही सूत्र-सख्या का व्रत सूत्र दिया।

भरत द्वारा प्रदत्त यह 'व्रत सूत्र' आजकल खाली धागे का यज्ञोपवीत नही हो सकता। भरत ने अपने पास आगत व्रतियों का सम्मान किया, इसका मतलब यह नहीं है कि सभी उत्तरवर्ती व्रतधारी स्वतः इस आभूषण (व्रत-सूत्र) को धारण करे। जो स्वयं अपना सम्मान दूसरों द्वारा दिया जाता है वही मूल्यवान है, जो स्वयं अपना सम्मान करता है वह अपना प्रदर्शन करता है एवं उपहास का पात्र बनता है। भारतीय जनता ने तिलक को 'लोकमान्य' एवं गांधी जी को महात्मा की उपाधि दी इसका मतलब यह नहीं कि उनके लड़के या अनुयायी भी स्वयं इस उपाधि को लगाने लगें। सेना में अनेक वीर तमगे आदि से सम्मानित किए जाते हैं, उनकी संतान अगर उन तमगों का उपभोग करने लगे, तो हँसी ही होगी। कोई कहे कि भरत द्वारा सम्मान वशानुगतिक था इसलिए अब भी धारण किया जा सकता है उन्होंने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया कि प्रत्येक व्रती इसे धारण करे। यदि वे उल्लेख कर देते तो वह श्रावक के लिए विधेय नहीं हो जाता, क्योंकि उस समय वे स्वयं छद्मस्थ थे। यदि व्रतधारी गृहस्थ इसे 'व्रत-सूत्र' को अनिवार्य रूप से धारण करें तो क्या महाव्रती भी किसी 'महाव्रत-सूत्र' को धारण करें?

वस्तुतः भरत अपने धन का दानादिक में सदुपयोग करना चाहते थे और उन्होंने व्रतियों (श्रावकों) को इस प्रकार धनादि से सम्मानित किया था। उन्होंने यह व्रत सूत्र श्रावक के लिए अनिवार्य कही नहीं बताया। अतः इस प्रसंग के आधार पर व्रती श्रावक या मुनियों के लिए यज्ञोपवीत पहनना अनिवार्य सिद्ध नहीं होता। व्रती स्त्रियां भी होती हैं, महाव्रती पुरुष भी होते हैं, किन्तु उनके लिए तो इसके समर्थक भी विधेय रूप में नहीं बताते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्रत सूत्र (या खींच-तान कर यज्ञोपवीत भी) व्रती का चिन्ह नहीं है क्योंकि व्रती स्त्रियां कभी यज्ञोपवीत पहनती ही नहीं हैं क्या वे व्रती हो ही नहीं सकती? वे व्रती तो हो सकती है किन्तु पहनती नही हैं। इसलिए उक्त मान्यता का समर्थन होता है कि व्रत सूत्र या यज्ञोपवीत व्रती के लिए अनिवार्य नही है।

(ख) आदि पुराण के ३८वें पर्व मे भरत चक्रवर्ती ने व्रतियों का सम्मान कर उन्हे पूजाविधि का उपदेश दिया। उन्होंने इन क्रियाओं का आधार 'श्रावकाध्याय सग्रह' मे उल्लिखित कथन बताया है।

इन क्रियाओं को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है—५३ गर्भान्वय क्रियाएं, ४८ दीक्षान्वय क्रियाए एवं ७ कर्त्रान्वय क्रियाए है।

गर्भान्वय क्रियाओं में गर्भ से लेकर समाधिमरण, तदुपरान्त इन्द्र पदवी एवं स्वर्ग निवास, फिर पुनः मनुष्य भव प्राप्त कर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति एवं राज्य लाभ तथा अंत में गृहत्याग एवं अर्हंत पद एवं निर्वाण प्राप्ति तक की क्रियाओं का वर्णन है। इनमे नामों से ही इन क्रियाओं का भली प्रकार बोध हो जाता है—

१. आधान, २. प्रीति, ३. सुप्रीति, ४. धृति, ५. मोद, ६. प्रियोद्भव, ७. नामकर्म, ८. बहिर्यान, ९. निषद्या १०. प्रासन, ११. व्युष्टि, १२. केशवाय, १३. लिपि सख्यान संग्रह, १४. उपनीति, १५. व्रतचर्या, १६. व्रतावतरण, १७. विवाह १८. वर्णलाभ, १९. कुलचर्या, २०. गृहीशिता, २१. प्रशान्ति, २२. गृहत्याग, दीक्षाद्य, २३: जिन रूपता, २५. मौनाध्ययन वृत्तत्व २६. तीर्थकृत भावना, २७. गुरुस्थानाभ्युपगम, गणोपग्रहण, २९. स्वगुरुसंस्थान सक्रांति, ३०. निसंगत्वात्मभावना, ३१. योग निर्वाण संप्राप्ति, ३२. योग निर्वाण साधन, इंद्रोपपाद, ३४. अभिषेक, ३५. विधि दान, ३६. सुखोदय, ३७. इन्द्रत्याग, ३८. अवतार, ३९. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता, ४०. मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१. गुरुपूजोपलम्भन, ४२. यौवराज्य, ४३. स्वराज्य, ४४. चक्र लाभ, ४५. दिग्विजय, ४६. चक्राभिषेक, ४७. साम्राज्य, ४८. निष्क्रान्ति, ४९. योग सन्मह, ५०. आर्हन्त्य, ५१. तद्विहार, ५२. योग त्याग और ५३. अग्र निर्वृत्ति। (५५ से ६३ श्लोक सर्ग ३८)।

दीक्षान्वय क्रिया—व्रत ग्रहण करने के लिए उन्मुख हुए पुरुष की प्रवृत्ति दीक्षा कही जाती है और उस दीक्षा

के सम्बन्ध में रखने वाली क्रियाएं दीक्षान्वय कहलाती हैं—१. अवतार, २. वृतलाभ, ३. स्थान लाभ, ४. गण-ग्रह, ५. पूजाराध्य, ५. पुण्य यज्ञ, ७. दृढ़चर्या और उपयोगिता। इन आठ क्रियाओ के साथ गर्भान्वय क्रियाओं को १४वीं उपनीति क्रिया से अग्रनिर्वृत्ति तक ४८ क्रिया होती हैं।

कर्त्रन्वय क्रियाए—पुण्य करने वाले लोगों को प्राप्त हो सकती हैं और जो समीचीन मार्ग की आराधना करने के फल स्वरूप प्रवृत्त होती हैं। ये ७ हैं—१. सज्जाति, २. सदग्रहित्व, ३. पारिव्राज्य, ४. सुरेन्द्रता, ५.साम्राज्य, ६. परमार्हन्त्य, ७. परम निर्वाण।

इन क्रियाओं के नामोल्लेख के बाद भरत ने इनका सक्षेप मे वर्णन किया है। इन समस्त क्रियाओ मे १४वीं उपनीति, १५वीं व्रतचर्या एवं १६वीं व्रतावनरण क्रिया यज्ञोपवीत से सम्बन्ध रखती है। अतः इन क्रियाओं का पूर्ण विवरण आदि पुराण से उद्धृत किया जाता है—

गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की उपनीति क्रिया होती है। इस क्रिया मे केशों का मुंडन, व्रत बन्धन तथा मोञ्जीबन्धन की क्रियाएं की जाती हैं।१०४। प्रथम ही जिनालय में जाकर जिसने अर्हंतदेव की पूजा की है ऐसे उस बालक को व्रत देकर उसका मोञ्जीबन्धन करना चाहिए अर्थात् उसकी कमर में मूंज की रस्सी बांधनी चाहिए।१०५। जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी धोती और सफेद दुपट्टा है, जो वेष और विकारों से रहित है, जो व्रत के चिन्हस्वरूप सूत्र को धारण किये हुए है, ऐसा वह बालक ब्रह्मचारी कहलाता है।१०६। उस समय उसके आचरण के योग्य और भी नाम रखे जा सकते हैं। उस समय बड़े वैभवशाली राजपुत्र को छोड़ कर सबको भिक्षावृति से ही निर्वाह करना चाहिए और राजपुत्र को भी अन्तःपुर में जाकर माता आदि से किसी पात्र से भिक्षा माँगनी चाहिए; क्योकि उस समय भिक्षा लेने का नियोग ही हैं। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, उसका अग्र-भाग श्री अरहंत देव को समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्न का स्वयं भोजन करना चाहिए।१०७-१०८।

दीक्षान्वय क्रियाओं में उपनीति का वर्णन ३९वें पर्व में इस प्रकार है—

पहले कही हुई क्रियाओं के समूह से शुद्धि को धारण करने वाले उस भव्य पुरुषों के योग्य चिन्ह को धारण करने रूप उपनीति क्रिया होती है।५३। देवता और गुरु की साक्षी पूर्वक विधि के अनुसार अपने वेश, सदाचार और समय की रक्षा उपनीति क्रिया कहलाती है।५४। सफेद वस्त्र एवं उपनीतादि धारण करना वेष कहलाता है। आर्यों के करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मों के करने को वृत्त कहते हैं और इसके बाद अपने शास्त्र के अनुसार गोत्र, जाति आदि के दूसरे नाम धारण करने वाले पुरुष के जो जैन श्रावक की दीक्षा है उसे समय कहते हैं।५५,५६।

३८वें पर्व में व्रतचर्या का वर्णन गर्भान्वय क्रियाओं में इस प्रकार किया गया है—

तीन लर की मूंज की रस्सी बाँधने से कमर का चिन्ह होता है, यह मौञ्जीबन्धन रत्नत्रय की विशुद्धि का अंग है और द्विज लोगों का एक चिन्ह है।१०१। अत्यन्त धुली हुई सफेद धोती उसकी जांघ का चिन्ह है, वह धोती यह सूचित करती है कि अरहन्त भगवान का कुल पवित्र और विशाल है।१११। उसके वक्षस्थल का चिन्ह सात लर का गुंथा हुआ यज्ञोपवीत है, यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक है।११२। उसके सिर का चिन्ह स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है जो कि उसके मन, वचन, काय के मुंडन को बढ़ाने वाला है।११६। प्रायः इस प्रकार के चिन्हों से विशुद्ध और ब्रह्मचर्य से बढ़े हुए स्थूल हिंसा का त्याग आदि व्रत उसे धारण करना चाहिए।११४। इस ब्रह्मचारी को वृक्ष की दाँतोंन नही करनी चाहिए, न पान खाना चाहिए, न अंजन लगाना चाहिए और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिए, उसे प्रतिदिन केवल शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए।११५। उसे खाट पर नहीं सोना चाहिए, दूसरे के शरीर से अपना शरीर नहीं रगड़ना चाहिए और व्रतों को विशुद्ध रखने के लिए अकेला पृथ्वी पर सोना चाहिए।११६। जब तक विद्या समाप्त न हो, तब तक उसे यह धारण करना चाहिए और विद्या समाप्त होने पर वे व्रत धारण करना चाहिए जो कि गृहस्थों के मूल गुण कहलाते हैं।११७। सबसे पहले इस ब्रह्मचारी को गुरु के मुख से श्रावकाचार पढ़ना चाहिए।

११८। उत्तम संस्कारों को जागृत करने के लिए और विद्वता प्राप्त करने के लिए शब्द-शास्त्र और अर्थशास्त्रादि का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि आचार विषयक ज्ञान होने पर इनके अध्ययन करने में कोई दोष नहीं है।११९। इसके बाद ज्योतिशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि का भी उसे विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए।१२०।

दीक्षान्वय क्रियाओ के अन्तर्गत व्रतचर्या का वर्णन ३९वें पर्व मे इस प्रकार किया गया है—

यज्ञोपवीत से युक्त हुआ भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनों से अच्छी तरह उपासकाध्ययन के सूत्रों का अभ्यास कर व्रतचर्या नाम की क्रिया को धारण करे।५७।

व्रतावरण क्रिया का गर्भान्वय क्रियाओं के अन्तर्गत ३८वें पर्व मे इस प्रकार वर्णन किया गया है—

जिसने समस्त विद्याओं का अध्ययन कर लिया है, ऐसे उस ब्रह्मचारी की व्रतावतरण क्रिया होती है। इस क्रिया में वह साधारण व्रतों का तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययन के समय जो विशेष व्रत ले रखे थे उनका परित्याग कर देता है।१२१। इस क्रिया के बाद उसके मधुत्याग, मांस त्याग, पाच उदम्बर फलो का त्याग और हिंसा आदि पाँच स्थूल पापों का त्याग ये सदाकाल रहने वाले व्रत रह जाते हैं।१२२। यह व्रतावतरण क्रिया गुरु की साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर बारह या सोलह वर्ष बाद करनी चाहिए।१२३। पहले द्विजों का सत्कार कर फिर व्रतावरण करना उचित है और व्रतावरण के बाद गुरू की आज्ञा से वस्त्र, आभूषण और माला आदि का ग्रहण करना उचित है।१२४। इसके बाद यदि वह शास्त्रोपजीवी है तो वह अपनी आजीविका की रक्षा के लिए शस्त्र भी धारण कर सकता है अथवा केवल शोभा के लिए भी शस्त्र ग्रहण किया जा सकता है।१२५। इस प्रकार इस क्रिया मे यद्यपि वह भोगोपभोगों के ब्रह्म व्रत का अर्थात् ताम्बूल आदि के त्याग का अवतरण (त्याग) कर देता है तथापि जब तक उसके आगे की क्रिया नही होती तब तक वह काम परित्याग रूप ब्रह्मव्रत का पालन करता रहता है।१२६।

३९वें पर्व में दीक्षान्वय क्रियाओं के अन्तर्गत व्रतावतरण क्रिया का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

जिसने समस्त विद्यायें पढ़ ली हैं ऐसा श्रावक जब गुरु के समीप विधि के अनुसार फिर से आभूषण आदि ग्रहण करता है, उसे व्रतावरण क्रिया कहा है।

वर्तमान मे इन तीनों क्रियाओं के उक्त वर्णन के आधार पर श्रावक या व्रती के लिए यज्ञोपवीत को अनिवार्य बताया जाता है किन्तु परीक्षण करने से यह मत यथार्थ प्रतीत नहीं होता है। यज्ञोपवीत की अनिवार्यता के विरोध में निम्न प्रकार से विचार किया जाता है—

१. भरत ने व्रतियों को सम्बोधित करते हुए श्रावकाध्याय सग्रह मे इन क्रियाओ का उल्लेख बताया है। (पर्व ३८ श्लोक ५०) जिनसेनाचार्य से पूर्व रचित ऐसा कोई श्रावकाध्याय संग्रह नहीं मिलता और कोई श्रावकों के आचरण का ऐसा ग्रंथ नहीं मिलता जिसमें इन क्रियाओं का वर्णन हो जबकि पूर्व कालीन अनेक प्रामाणिक श्रावक के व्रतादिक का वर्णन करने वाले ग्रंथ मिलते हैं। यदि सस्कार उस समय प्रचलित या मान्य होते तो इनका वर्णन अवश्य होता।

२. भरत ने इन क्रियाओं का नामोल्लेख करने के बाद कहा है 'महर्षियों ने इन क्रियाओं का समूह अनेक प्रकार का माना है परन्तु मैं यहाँ विस्तार छोड़कर सक्षेप से ही उनके लक्षण कहता हूँ।" (श्लोक ६९-३८ पर्व) इससे लगता है कि भरत को स्वयं भी यह ज्ञात था कि इन क्रियाओं का अन्य रूप भी था जिन्हें छोड़कर उन्होंने किसी महर्षि विशेष द्वारा मान्य क्रियाओ का वर्णन किया है यह भी ठीक है कि भरत के उक्त वर्णन तक ऐसे महर्षियों के ग्रन्थ ही नही बने होगे। श्रावक के इन तिरेपन संस्कारो के स्थान पर क्रियाकोष में निम्न ५३ क्रियाएँ श्रावक के लिए सगृहीत एवं मान्य की गई हैं। और जिनका आधार प्राचीन ग्रथो मे भी सुलभ होता है। आठ मूल गुण, बारह व्रत, बारह तप, ग्यारह प्रतिमा, अभेद समदृष्टि, चार दान, जल छानना, रात्रि भोजन त्याग, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र।

जबकि भरत द्वारा कथित उक्त तिरेपन संस्कारों की किसी प्राचीन जैन साहित्य से पुष्टि नही होती।

३. गर्भान्वय एवं दीक्षान्वय संस्कार एक भव नहीं,

दो भव नहीं, तीन-तीन भवों के काल को लिए हुए हैं। ये संस्कार प्रथम मनुष्य भव में प्रारंभ होकर दूसरे भव में इन्द्र पद की प्राप्ति तथा तीसरे भव में चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के साथ-साथ अरहत एवं निर्वाण पद की प्राप्ति तक चलते हैं। कोई व्यक्ति इस प्रकार तीन भव पाने की कल्पना या इच्छा तो कर सकता है किन्तु इसी प्रकार भव प्राप्त हो जायें यह असम्भव नही तो अत्यन्त दुर्लभ अवश्य है।

प्रथम भव में गर्भ से लेकर विद्याध्ययन काल के उपनीति, व्रतचर्या, विवाह आदि सस्कार बताए हैं, किन्तु तीसरे भव में उस व्यक्ति के इन संस्कारों का कोई वर्णन नहीं किया गया है। क्या तीसरे भव में ये सब संस्कार नहीं होने हैं?

इससे यह स्पष्ट होता है कि ये संस्कार कभी किसी के पूरे होंगे ही नहीं, क्योंकि यह कैसे ज्ञात हो कि इस भाव में संस्कार होने हैं या नहीं।

४. इन क्रियाओं का कोई आधार एवं संगति नहीं होते हुए भी यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या उपनीति आदि क्रियाओं के आधार से यज्ञोपवीत आवश्यक ठहरता है।

उपनीति क्रिया के अनुसार विद्याध्ययन काल में कमर में मूंज की तीन लर की डोर, गले में सूत का यज्ञोपवीत एवं सिर का मुंडन संस्कार रहना चाहिए। व्रतचर्या संस्कार के अनुसार उस काल मे ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हुए जमीन पर अकेले सोना, ताम्बूल आदि का सेवन न करना, वृक्ष की दतौन न करना, शुद्ध जल से स्नान करना आदि नियमों का पालन करना होता है। विद्याध्ययन समाप्ति होने तक इन नियमों का पालन करना है और फिर सदा काल रहने वाले गृहस्थों के मूल-गुणों के वृत धारण करने हैं इसलिए वृतावतरण संस्कार में विद्याध्ययन काल में ब्रह्मचारी योग्य जितने वृत लिए थे वे सब छोड़ दिए जाते हैं जो सार्वकालिक वृत (मधु, मांस, पाँच उदम्बरों फलों का त्याग) हैं, वे रह जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि उक्त क्रियाओं के अनुसार यज्ञोपवीत ब्रह्मचर्यावस्था में उसी प्रकार लिया गया था जैसे मूंज की डोर कमर में ली गई थी या सिर का मुंडन कर अन्य ब्रह्मचर्य की साधक प्रतिज्ञाएँ ली गई थीं। ये सब वेशभूषा विद्याध्ययन की समाप्ति के बाद छूट जाते हैं। आज विद्यार्थी काल में न मूंज की डोर पहराई जाती है, न सिर मुंडन कराया जाता है, न भिक्षा मंगाई जाती न ब्रह्मचर्य की साधक अन्य प्रतिज्ञाओं को कराया जाता है फिर केवल यज्ञोपवीत पहनाने पर जोर क्यों दिया जाता है? विद्याध्ययन-काल के बाद जब यह छूट जाते हैं फिर गृहस्थावस्था में इसे पहनने का कुछ औचित्य नहीं रहता।

५. कोई कहे कि यह रत्नत्रय का सूचक है सो यह धागा आत्मीय गुण रूप रत्नत्रय का सूचक कैसे हो सकता है? आत्मीयगुण ही रत्नत्रय के सूचक बन सकते हैं। जड़ धागा तो कोई भी पहन सकता है। क्या इस जड़ धागे को पहनने से रत्नत्रय हो जाता है? नहीं। क्या अभव्यजड़ धागा पहनले तो वह रत्नत्रय युक्त हो जावेगा?

६. कोई कहे कि यह व्रत का चिह्न है या व्रतों की याददास्त दिलाने के लिए संकेत का काम करता है। कषाओं या पाप से विरक्त होना आत्मीय गुण है, जड़ धागा उसका चिह्न नहीं हो सकता फिर आजकल तो इसे सभी धारण करते हैं—व्रती भी एवं अव्रती भी। फिर यह अव्रतियों के किस का सूचक है?

व्रती स्त्रियां इसे क्यों नहीं पहनती यह भी एक प्रश्न है? यदि कोई सावधानी के लिए याददास्त कराने हेतु जनेऊ पहनना चाहे, वह भले ही सूत का मोटा रस्सा पहने, किंतु दूसरों को इसे पहनने के लिए बाध्य क्यों किया जाय?

व्रती स्त्रियों को याद दिलाने के लिए उन्हें क्यों नहीं पहनाया जाता? क्योंकि यह आवश्यक नहीं है। इन संस्कारों का वर्णन ३८, ३९ एवं ४० वें पर्वों में किया गया है। ४१ वें पर्व में राजा भरत कुछ स्वप्न देखते हैं जिनके फलाफल जानने की इच्छा होती है। वे यह भी सोचते हैं कि मैंने ब्राह्मण लोगों की नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान के चरणों के समीप जाकर निवेदन करना चाहिए (श्लोक १२) (ध्यान रहे ऋषभदेव ने अपने राज्य काल में क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र बनाए थे) भरत चक्रवर्ती ने समवशरण में जाकर इस प्रकार निवेदन किया।

हे भगवन् ! मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्ययन सूत्र के मार्ग पर चलने वाले तथा श्रावकाचार में निपुण ब्राह्मण निर्माण किए हैं।२०। हे विभो, मैंने इन्हें ग्यारह प्रतिमाओं के विभाग से व्रतों के चिह्न स्वरूप (व्रतचिह्न-सूत्र) एक से लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत दिए हैं।(३१) हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टि को साक्षात् उत्पन्न करने वाले आपके विद्यमान रहते हुए भी "मैंने अपनी बड़ी मूर्खता से यह काम किया है।" (३२) हे देव, इन ब्राह्मणों की रचना में दोष क्या है, गुण क्या है और इनकी रचना योग्य हुई अथवा नहीं इस प्रकार झूला के समान झूलते हुए मेरे चित्त को किसी निश्चय में स्थित कीजिए।(३३)

भगवान् ऋषभदेव ने भरत की उक्त शका का समाधान करते हुए कहा—हे वत्स, तूने जो धर्मात्मा द्विजों की पूजा की सो बहुत अच्छा किया परन्तु इसमे कुछ दोष है उसे तू सुन।४५। हे आयुष्यमन् ! तूने जो गृहस्थों की रचना की है सो जब तक चतुर्थकाल की स्थिति रहेगी तब तक तो उचित आचार का पालन करेंगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायगा, तब ये जातिवाद के अभियान मे सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्षमार्ग के विरोधी बन जावेगे।४६। पचम काल में ये लोग, हम सब लोगों में बड़े हैं इस प्रकार जाति के मद से युक्त होकर केवल धन की आशा से खोटे-खोटे शास्त्रों के द्वारा लोगों को मोहित करते रहेगे।४७। "(पापसूत्र) पाप के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वाले" और प्राणियों के मारने में सदा तत्पर रहने वाले ये धूर्त लोग आगामी युग में समीचीन मार्ग के विरोधी होंगे।५३। इसलिए यह ब्राह्मणों की रचना" यद्यपि आज दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है तथापि आगामी काल में खोटे पाखण्डमतों की प्रवृत्ति करने से "दोष का बीज रूप" है।५४।

. भरत की ब्राह्मणों की स्थापना के औचित्य सम्बन्धी शंका एवं भगवान ऋषभदेव के उक्त समाधान से स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने ब्राह्मणों की स्थापना में भगवान के शब्दों में "दोष का बीज रूप" कार्य किया था। भरत ने स्वयं भी कहा कि मैंने यह कार्य 'बड़ी मूर्खता' से किया है। भरत ने जिस यज्ञोपवीत 'व्रतचिह्न सूत्र' का विशेषण दिया उसे भगवान ऋषभदेव ने "पापसूत्र" की संज्ञा दी। इससे स्पष्ट हो गया कि भगवान ऋषभदेव ने भरत के उक्त कार्य को उचित नहीं कहा। केवली भगवान ऋषभदेव के उक्त समाधान के पढ़ने से भरत द्वारा कथित गर्भान्वि यादि क्रियाओं का कोई मूल्य नहीं रहता और न वे श्रावक के लिए विधेय या अनिवार्य ठहरती हैं। भरत ने 'श्रावकाध्याय सग्रह' का जो उल्लेख किया है वह ऐसा ही उल्लेख है जैसे कोई भी नया कार्य शुरू करना चाहता है वह पहले उसकी प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। भगवान ऋषभदेव द्वारा ब्राह्मणों की सृष्टि को 'दोष का बीज रूप' एवं यज्ञोपवीत को 'पापसूत्र' बता देने का परिणाम यह हुआ कि जैन परम्परा मे इन सस्कारों एवं यज्ञोपवीत आदि को कोई स्थान नही मिला —*क्योंकि भरत के किसी भी कार्य को धर्म क्षेत्र मे प्रामाणिकता एवं मान्यता नही मिल सकती है।* यदि भगवान ऋषभदेव आवश्यक समझते तो वे ही वैश्य-क्षत्रियों को यज्ञोपवीत देते, किन्तु उन्होने नही दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि वे इसे आवश्यक नहीं मानते थे।

जिनसेनाचार्य ने भरत के सभी उल्लेखनीय कार्यों का उल्लेख किया है, उसी प्रसग में ब्राह्मणों की स्थापना एवं तत्सम्बन्धी औचित्य की शका एव भगवान के समाधान आदि का उल्लेख किया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भरत के सभी कार्य विधेय हो जावें। आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थ में प्रसगवश हिंसा, द्यूत, मास आदि का भी वर्णन किया है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ये अनिवार्य हो जावें।

कहीं-कहीं भ्रमवश या जान-बूझकर बाहरी अनुकरण के परवर्ती कुछ लेखकों ने उसके ३८वे, ३९वें एव ४०वें पर्व के आधार पन तिरेपन क्रियाओं (यज्ञोपवीतादि) को विधेयरूप में मान लिया; किन्तु यह सब जिनसेनाचार्य को अभीष्ट नहीं था जैसा कि भगवान ऋषभदेव के कथन से सिद्ध होता है। भ्रम या अनुकरण या दबाव के कारण किसी क्रिया को विधेय या अनिवार्य ठहराना अनुचित है।

कभी-कभी भ्रम या अनुकरण या दबाव के कारण लौकिक क्रियाएं अपनाई गई, उन्हें जैन रूप देने के लिये

ऐसे श्लोक बनाये गये यथा—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः,
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रत दूषणम् ।

समन्वय की दृष्टि या बैर विरोध कम करने की दृष्टि से ऐसे श्लोकों का महत्व हो सकता है किन्तु धार्मिक कार्यों में ऐसे श्लोकों को अपनाने में कोई औचित्य नहीं है ।

आदिपुराण में कुछ ऐसे कथन आये हैं जिनमें वेष-भूषा का वर्णन करते हुए व्रतसूत्र, यज्ञोपवीत आदि आदि शब्द आये हैं और उनके आधार पर कुछ लोग सूतवाली यज्ञोपवीत की परम्परा सिद्ध करना चाहते हैं ।

भगवान ऋषभदेव का पर्व १६, श्लोक २३५ मे निम्न वर्णन है—

कंठे हार लता बिभ्रत कटि सूत्रं कटी तले,
ब्रह्मसूत्रो पवीतांगं सगांगौघमिवाद्रिराट् ।

इसी प्रकार भरतेश्वर का वर्णन निम्न श्लोक मे किया गया है—

अंसावलंबिना ब्रह्मसूत्रेणा ऽसौ दधे श्रियम्,
हिमाद्रिरिव गांगेन स्रोत सोत संग संगिना ।

वस्तुतः उक्त ब्रह्मसूत्र एक आभूषण ही है जैसा कि पहले भी अभिषेक पाठ के प्रसंग मे यज्ञोपवीत शब्द का अर्थ आभूषण सिद्ध किया था । स्वयं जिनसेनाचार्य ने भी "ब्रह्मसूत्र" को भोग भूमियों का शाश्वत आभूषण कहा है—

केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद्विभूषणम् ।३-३७।

यह तो स्पष्ट ही है कि भोग भूमि में उक्त ब्रह्मसूत्र व्रत चिह्न सूचक यज्ञोपवीत का परिचायक नही है, अपितु केयूर आदि की तरह का आभूषण ही होगा ।

पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण भी सूत्र चिह्न को आभूषण रूप में ही मानते प्रतीत होते हैं । उन्होंने इसका विशेषण 'सरल चामीकरमय' दिया है । इसका अर्थ है 'रत्न युक्त स्वर्णमय सूत्र चिन्ह' । इन शब्दों का फलितार्थ रत्न जणित स्वर्णमय हार के सिवा क्या हो सकता है ।

इसे कहीं सूत्र-चिन्ह, कहीं व्रत सूत्र कहीं ब्रह्म सूत्र कहा है किन्तु इसका अभिप्राय 'रत्न जटित स्वर्णमय हार' ही होगा । भरत चक्रवर्ती या राजा ऋषभदेव को वेषभूषा से सजे हुए रूप में 'ब्रह्मसूत्र' युक्त बताया है वह रत्न-जटित स्वर्णमय हार ही हो सकता है ।

अतः यह स्पष्ट हो गया कि भोगभूमि में उक्त 'ब्रह्म-सूत्र' व्रत चिन्ह सूचक' माना जाने वाले यज्ञोपवीत का परिचायक नहीं है अपितु केयूर, मुकुट आदि की तरह का आभूषण ही होगा । कई बार देखा जाता है कि मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त ब्रह्म सूत्र 'व्रतसूत्र' 'सूत्र-चिन्ह' शब्दों का पर्यायवाची 'यज्ञोपवीत' शब्द दिया जाता है । उसे स्पष्ट रूप से आभूषण नही बताया जाता ।

इसलिए सूत के यज्ञोपवीत के समर्थक साधारण व्यक्तियो को आदि पुराण के उदाहरण देकर समझा सकते है । देखो,ऋषभदेव, भरत आदि ने यज्ञोपवीत पहन रखा था । ऋषभदेव, भरत या किसी भी अन्य महापुरुष का यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन नही मिलता, फिर उनके सूत का यज्ञोपवीत क्यो होता ?

यज्ञोपवीत का मूलाधार माने जाने वाले आदिपुराण के तत्सम्बन्धी प्रसगो की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञोपवीत श्रावक के लिए आवश्यक नही है । अभिषेक पाठ के श्लोक से भी सिद्ध हो गया है कि उसमें प्रयुक्त 'यज्ञोपवीत' शब्द आभूषण विशेष का द्योतक है इसलिए उस पाठ के आधार पर पूजा प्रक्षाल या विधान करने के लिए सूत वाली यज्ञोपवीत पहनना आवश्यक नहीं है, हाँ पंच कल्याणक प्रतिष्ठा विधान मे इन्द्र बनने को उसकी सजावट हेतु मुकुट, कुंडल आदि की तरह यज्ञो-पवीत (सोने की कंठी जैसा आभूषण) पहनाया जा सकता है—

व्रत चिन्ह का सूचक माना जाने वाला सूत का धागा नहीं पहनाना चाहिए, क्योंकि इन्द्र तो अव्रती होता है ।

जिनसेनाचार्य के आदिपुराण के आधार पर भी इसकी रचना के बाद यज्ञोपवीत का प्रचार नहीं हुआ क्योकि इसे कभी जैनत्व का चिन्ह नहीं माना गया । यह ब्राह्मणों का ही चिन्ह माना जाता है ।

मध्यकाल में कवि बनारसी दास जी को डाकुओं के सामने अपने को ब्राह्मण सिद्ध करने के लिए जनेऊ बना कर पहनना पड़ा था । इससे सिद्ध होता है कि उनके समय में यज्ञोपवीत ब्राह्मणों का चिन्ह माना जाता था ।

पद्मपुराण में श्री रविषेणाचार्य ने ब्राह्मणों को 'सूत्र-कण्ठ' (गले में तागा डालने वाले जैसे शब्दों से उल्लेखित किया था। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में यज्ञोपवीत को कोई मान्यता नहीं थी, यदि मान्यता होती तो सूत्रधारी ब्राह्मणों को ऐसे हीनता बोधक शब्दों से सम्बोधित नही करते।

आदि पुराण के अनुसार भरत ने यज्ञोपवीत के सात धागों का कथन किया था। किन्तु अब तीन धागे का यज्ञोपवीत बनाया जाता है, कहीं-कहीं विवाहित पुरुष स्त्री की ओर से भी एक अधिक जनेऊ पहनते हैं, इसे कब पहनना चाहिए, क्या रक्षाबन्धन पर्व पर इसे बदलना चाहिए, आदि ऐसे विषय है जिन पर कोई एक मत नहीं है। इन सबके सम्बन्ध में प्राय: ब्राह्मणों मे प्रचलित परम्परा अपनाना निरापद समझा जाता है। मैं समझता हूँ कि यदि आदि पुराणकार इसे श्रावक के लिए आवश्यक मानते तो वे इन विषयों पर अवश्य प्रकाश डालते। श्रावक की ली हुई प्रतिमाओं की सख्या के अनुसार धागों की संख्या होना भी किसी श्रावकाचार में नहीं बताया गया है। वस्तुत: परिग्रह कम करने वाला श्रावक इन धागों का परिग्रह क्यों बढ़ायेगा जो किसी प्रकार से भी सयम का साधक नही है। कुछ भाइयों ने आदि पुराण के उक्त प्रसंगो की सही स्थिति न जान कर यह मान लिया कि जनेऊ ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है। किन्तु यह भी उक्त ग्रथ या अन्य प्रामाणिक ग्रंथों से सिद्ध नहीं होता। आदि पुराण के उत्तरवर्ती कुछ लेखकों ने भरत के कथनों का मर्म बिना समझे एवं लोक में जनेऊ धारियों की प्रतिष्ठा देखकर अपने शास्त्रों में यज्ञोपवीत का उल्लेख किया है, एवं ब्राह्मणों में प्रचलित तत्सम्बन्धी रीति-रिवाजों को अपने ग्रंथ में लिखकर उन पर जैनत्व की मुहर लगाना चाहा है किन्तु जब यज्ञोपवीत का मूलाधार ही शास्त्र सम्मत नहीं है तब उसके लिए अनुकरणवर्ती उत्तर कालीन अन्य कथनों की कोई प्रामाणिकता नहीं नहीं रहती है।

इस युग के प्रसिद्ध दो विद्वानों का यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में अभिमत देने का लोभ नहीं कर सकता। स्व० पं० जुगल किशोर जी मुख्तार ने यज्ञोपवीत के सम्बन्ध मे शास्त्रीय उद्धरणों पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष प्रकट किया था—"ऐसी हालत में यज्ञोपवीत को जैन धर्म का कोई आवश्यक अंग नहीं कहा जा सकता और न यह जैन संस्कृति का ही कोई आवश्यक अग जान पड़ता है।"

—अनेकांत वर्ष ६ कि० ६

धवलादि महान् ग्रंथों के संपादक पं० फूलचन्द्र जी जी सिद्धान्त शास्त्री ने यज्ञोपवीत के सम्बन्ध मे उपलब्ध प्रमाणों पर विचार कर यह निष्कर्ष व्यक्त किया है— "जैनधर्म मे मोक्ष की दृष्टि से तो यज्ञोपवीत को स्थान है ही नही। सामाजिक दृष्टि से भी इसका कोई महत्व नही है। इसे धारण करना और इसका उपदेश देना मात्र ब्राह्मण धर्म का अनुकरण है।"............

"इससे स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत जैन परम्परा में कभी भी स्वीकृत नहीं रहा है और यह उचित भी है क्योंकि मोक्ष मार्ग में इसका रंच मात्र भी उपयोग नही है तथा जिससे समाज में ऊँच-नीच का भाव बद्ध मूल हो ऐसी सामाजिक व्यवस्था को भी जैनधर्म स्वीकार नही करता।"

—'वर्ण जाति और धर्म' से

इस प्रकार विचार करने से यह सिद्ध होता है कि सूत वाला यज्ञोपवीत जैनमार्गानुसारी मोक्ष मार्ग के राही श्रावक के लिए किसी भी अवस्था में आवश्यक नही है चाहे वह पूजा प्रक्षाल करे, चाहे दान करे या चाहे व्रत पाले। जो इसके बिना किसी को पूजा प्रक्षाल या दानादि करने से वंचित करते हैं। वे शास्त्रानुकूल कार्य नहीं करते हैं। यही कहा जा सकता है।

यदि कोई चाबी बाँधने या शरीर में खाज खुजाने के लिए यज्ञोपवीत पहने या अपने आपको व्रतधारी का दिखावा करने के लिए भी पहने तो वह स्वेच्छा से पहन सकता है। किन्तु कोई दूसरों को इसे रत्नत्रय या व्रत के चिन्ह रूप में पहनने के लिए बाध्य करे तो उसे शास्त्रालोक में यज्ञोपवीत की उक्त स्थिति भली प्रकार समझ लेनी चाहिए। ★

काष्ठासंघ-एक पुनरीक्षण

डा० विद्याधर जोहरापुरकर

सन् १९५८ में हमने काष्ठासंघ के चार गच्छों के आचार्यों का इतिहास संकलित करते समय यह तथ्य स्पष्ट किया था कि इन चार गच्छों के पहले स्वतन्त्र संघों के रूप में अस्तित्व रहा था तथा इसके बाद में वे काष्ठासंघ के अन्तर्गत गच्छों के रूप में सम्मिलित हुए।[1] तत्पश्चात् इसी तथ्य को स्पष्ट करने वाले कुछ और शिलालेख हमारे अवलोकन में आये जिनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

काष्ठासंघ के अन्तर्गत सम्मिलित होने के पहले माथुर गच्छ माथुर संघके रूप में उल्लिखित हुआ हैं। इसका प्रमाण हमारे पहले अध्ययन में संकलित हैं। जिनमें आचार्य अमित गति (सं० १०५०–७३), छत्रसेन (११६६), गुणभद्र (सं०१२२६), ललितकीर्ति (स० १२३४) तथा अमरकीर्ति (सं०१२४४—४७) के उल्लेख हैं। अब जो नये शिलालेख इसी प्रकार के प्राप्त हुए हैं उनका विवरण इस प्रकार है।[2] नाखून ग्राम से प्राप्त लेख जो स० १२१६ का है तथा अजमेर के संग्रहालय मे है आचार्य चारूकीर्ति द्वारा स्थापित सरस्वती मूर्ति के पाद पीठ पर है। इनकी परम्परा को माथुर संघ कहा गया है—काष्ठासंघ का नामोल्लेख नहीं है। इसी संग्रहालय का एक अन्य लेख सं० १२३१ का है जो बघेरा ग्राम से प्राप्त हुआ है। इसमें माथुर संघ के श्रावक दूलाक का नाम है पार्श्वनाथ मूर्ति के पाद पीठ के इस लेख में भी काष्ठासंघ का नामोल्लेख नहीं है।

दूसरा गच्छ पुन्नाट या लाडबागड काष्ठासंघ में आने के पहले स्वतन्त्र सघ के रूप में था। इसके प्रमाण हमारे पहले अध्ययन में इन आचार्यों के उल्लेखों द्वारा संकलित हैं—जिनसेन (शक ७०५), हरिषेण (शक ८५३), जयसेन (सं० १०५५) महासेन तथा विजयकीर्ति (सं० ११४५)। इस प्रकार का जो नया उल्लेख प्राप्त हुआ है वह महाराष्ट्र के पश्चिम खान देश जिले के सुलतानपुर ग्राम से मिला है। स० १२६ (? यह अक अस्पष्ट है) (सन् ११५४ के आस-पास)के इस मूर्तिलेख में पुन्नाट गुरुकुल के आचार्य अमृतचन्द्र के शिष्य विजयकीर्ति का नाम मिलता है, इसमें भी काष्ठासघ का नामोल्लेख नहीं है।[3]

तीसरा गच्छ बागट (या बागड) पहले दो स्थानों पर उल्लिखित मिला था जिनमें सुरसेन (स० १०५१) तथा यशः कीर्ति इन आचार्यों के नाम प्राप्त हुए थे। इस प्रकार एक अन्य लेख अजमेर सग्रहालय से प्राप्त हुआ है। स० १०६१ के इस मूर्ति लेख मे बागट संघ के धर्मसेन आचार्य का नाम मिलता है। इसमें भी काष्ठासंघ का नामोल्लेख नहीं है।[4] काष्ठासघ के गच्छ के रूप में बागडगच्छ का कोई उल्लेख हमारे अवलोकन मे नही आ पाया है।

चौथा गच्छ नन्दी तट पहले स्वतन्त्र रहा। इसके कोई प्रमाण पहले अध्ययन के समय हमें नहीं मिले थे। अब एक ऐसा प्रमाण मिला है। मध्य प्रदेश के मन्दसौर जिले के बैखर ग्राम से प्राप्त इस मूर्ति लेख में नदियड सघ के आचार्य शुभकीर्ति और विमलकीर्ति के नाम हैं। लेख में समय निर्देश नहीं है, लिपि के आधार पर यह दसवीं शताब्दी का माना गया है। इसमें भी काष्ठासंघ का नामोल्लेख नहीं है।[5]

उपर्युक्त विवरण से काष्ठासंघ के चारों गच्छ पहले स्वतन्त्र संघों के रूप में थे यह निष्कर्ष और स्पष्ट हो हो जाता है। काष्ठासघ का पहला शिलालेखीय उल्लेख आचार्य देवसेन का है जो दूबकुण्ड के संवत् ११५२ के लेख में है।[6] ★

१. भट्टारक सम्प्रदाय (जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर) पृ० २१०।

२. जैन शिलालेख संग्रह भा० ५ (भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली) पृ० ४७ तथा ४६।

३,४. जैन शिलालेख संग्रह भा० ५ पृष्ठ ४६ तथा २५।

५. जैन शिलालेख संग्रह भा० ४ पृ० ७२।

६. जैन शिलालेख संग्रह भा० २ पृष्ठ ३५२।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

वर्ष २५ किरण ५ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४९७, वि० स० २०२९ { नवम्बर-दिसम्बर १९७२

शान्तिनाथ स्तोत्रम्

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं,
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते।
अश्रान्तोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भत्सितार्कप्रभं।
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा॥१
देवः सर्वविदेव एष परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमताः।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः,
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा॥२

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—जिस शान्तिनाथ भगवान के एक-एक के ऊपर इन्द्रों के द्वारा धारण किये गये चन्द्र-मण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हुए निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञानरूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित होते हैं वह पापरूप कालिमा से रहित शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें॥१॥

जिसकी भेरी देवों द्वारा ताडित होकर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोकों का स्वामी और सर्वज्ञ यह शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव हैं और दूसरा नहीं है; तथा समस्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इसी के वचन सज्जनों को अभीष्ट हैं, दूसरे किसी के भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं है; वह पापरूप कालिमा से रहित श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें॥२॥

लखनादौन की अलौकिक जिन प्रतिमा

डा० सुरेशचन्द्र जैन

मानवीय प्रगति का इतिहास अतीत और वर्तमान से सम्बन्धित है। अतीत का सदैव यह प्रयत्न रहा है कि वह वर्तमान को उत्प्रेरित कर जीवन को जागृति की विभिन्न अवस्थाओं में झकझोरता उसे निरन्तर अग्रेषित करने का प्रयास करे। भारतीय इतिहास सैकड़ों वर्षों की गुलामी के सिसकते हुए दिनों से छुटकारा तो पा गया, पर आज भी स्वतंत्र भारत के नागरिक पराधीनता की परिसीमाओं से ऊपर उठकर अपने अतीत के चुने हुए सस्कारों से सम्बन्धित करने की दशा मे पूर्णतः सक्षम नहीं हो पाये दीखते। आज हम पश्चिमी सभ्यता की चका-चौध से इतने प्रभावित हो गये हैं कि हमें हमारी अपनी शानदार संस्कृति एवं उसके मूल्यो को तनिक भी सम्हालने की लालसा नहीं दिखाई देती। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अपने ही क्रिया कलाप अपनी महान् संस्कृति को भूल कर उनमें विकृतियों को ही पनपाने का उपक्रम रच रहे है। हमारी भारतीय सस्कृति एक ऐसी स्थली का कार्य करती है—जहां पर समग्र मानव जीवन के विभिन्न रूप आकर एक घाट पानी पीते प्रतीत होते हैं। इसने सदैव वैभिन्न में एकत्व को ही प्रश्रय दिया है। अनेकता में एकता ही इसके मूल भूत प्राण है। सस्कृति को सवारने मे धम एक बहुत बड़े सहायक उपकरण के रूप में अपनी भूमिका निभाता है। भारतवर्ष में आदिकाल से विभिन्न धर्माव-लम्बियों का अस्तित्व रहा है। जैनधर्म भी भारतीय धर्मों में अत्यन्त प्राचीन एवं मौलिक धर्म है, जिसकी अपनी विशिष्ट विशेषताएं हैं। कला शिल्प, साहित्य, दर्शन आदि रूप में जैनधर्म ने भारतीय संस्कृति को विशेष रूप से जो देन दी है—वह कभी भी विसराई नहीं जा सकती। जैनधर्म की मौलिक विशेषताएँ आज भी अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित हो रही हैं, जो कि कलात्मक प्रतीकों के रूप में दिखाई देती हैं। जैनधर्म के अनुयायिओं ने ही सर्वप्रथम कला के माध्यम से देवत्व का आभास कराया है।

जहां तक स्थापत्यकला प्रश्न है उपलब्ध जिन प्रतिमाएँ अन्य धर्मों की प्रतिमाओं से बहुत आगे बढ चुकी हैं—इस तथ्य के तत्व को न केवल भारतीय वरन् पाश्चात्य कलाविद् भी एक स्वर से स्वीकारते है। फ्रेंचकलाविद् ग्वरीन्मा का कथन है—"स्थापत्य कला के क्षेत्र मे जैनियो ने जो पूर्णता प्राप्त की है कि अन्य कोई भी उसके समक्ष नहीं ठहरता।" आज भी विश्व का आठवां आश्चर्य श्रवणवेलगोला (गोमटेश्वर-बाहुबली), आबू के जैन मंदिर पार्श्वनाथ, राजगृही पावापुरी, ककाली टीला (मथुरा) आदि स्थानों की जैन मूर्तियां, पुरातत्व एव इतिहास अपनी प्राचीनता एवं कलात्मक वैभव का उद्घोष करती हैं। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति के अन्तराल मे समय के क्रूट थपेड़ो से आपित यदा-कदा, यत्र-तत्र जो महत्वपूर्ण शिल्प सम्पदा प्राप्त होने के समाचार मिलते है—उनमे ६० प्रतिशत जैन पुरातत्व से सम्बन्धित होता है। यदि उत्खनन के कार्यको और अधिक सक्रिय या गतिशील बना दिया जाये तो यह बात निःसन्देह कही जा सकती है कि अतीतकी स्थापत्य कला एक बार पुनः जैन शिल्प से सन्दर्भित ही होगी। आज जैन शिल्प सपदा इतनी प्रचुर मात्रा मे जाने-अनजाने रूप मे बिखरी दिखाई देती है कि उसकी ओर शासन एव समाज दोनों की पर्याप्त दृष्टि नही जा सकी। लखनदौन क्षेत्र भी इसी प्रकार के क्षेत्रो मे से एक है और इसी लखनादौन में गत दिनों प्राप्त अलौकिक जिन प्रतिमा का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

बहुत ही निकट समय मे भगवान महावीर स्वामी के पच्चीस सौवे निर्वाणोत्सव का आयोजन विकट रूप से सम्पन्न होने जा रहा है—ऐसे समय में महावीर स्वामी की इस प्रतिमा का प्राप्त होना निश्चयात्मक रूप से बड़ी उपलब्धि है। यह जिन प्रतिमा (सिंहासन के चिन्हों को लांछन मानकर इसे सभी विद्वानों ने महावीर स्वामी की प्रतिमा माना है) सामान्य नहीं, अपितु उसके कलात्मक

सौंदर्य बोध की दृष्टि से बहुत ऊपर उठकर है। लखनादौन नगरी महाराष्ट्र बुंदेलखण्ड एवं गोंडवाना की सीमाओं को स्पर्श करती हुई, राष्ट्रीय मार्ग न० २६ एवं न० ७ तक रायपुर भोपाल राष्ट्रीय मार्गो की त्रिवेणी के संगम पर स्थित जबलपुर से ५२ मील स्थित सिवनी जिले की एक मात्र तहसील का मुख्यालय है। काल के असहनीय क्रूर थपेड़ों ने लखनादौन के कलात्मक वैभव को भूमिगत करने में सफलता प्राप्त की और परिणाम स्वरूप यह क्षेत्र, अनदेखा अनजाना सा पडा रहा। इसे दैवसयोग अथवा बहुत बडे सौभाग्य की ही संज्ञा दी जा सकेगी कि लखनादौन मे भगवान् महावीर की यह प्रतिमा खेत साफ करते समय श्री शारदाप्रसाद माली को मिली और स्थानीय जैन समाज ने इसे लाकर अपने मन्दिर में प्रतिष्ठापनार्थ रक्खा।

प्रस्तुत उपरोक्त प्रतिमा उसके सौदर्य में उसकी अलंकरण सज्जा संरचनामें अद्वितीय है। प्राचीन मूर्तियों में इसे अनुपात में नयनाभिराम एवं हृदयवलेक सौदर्याभिव्यक्ति प्रायः कम ही देखने को मिलती है। उपरोक्त तथ्य अतिशयोक्ति के बिन्दु पर ना होकर एक वास्तविक तथ्य का प्रतिपादक हैं। ऐसा मत इसे देखकर कला पारखियों ने व्यक्त किया है। पूर्ति में उत्कीर्ण स्थापत्य कला इस बात का संकेत देती है कि लखनादौन क्षेत्र मध्य युगीन (९००–१००० ईस्वी) में कलचुरि कला से सन्दर्भित है। भारतीय शिला लेखो एव शिलापटों के पारखी एवम् इससे सम्बन्धित सामग्री के अधिकारी विद्वान स्वर्गीय राय बहादुर हीरालाल जी ने अपनी पूस्तक "इन्सक्रिप्संस इन सी. पी. एण्ड-बरार" के ६६ पृष्ठ पर जो कि पराधीन भारत के १९३२ मे शासकीय मुद्रणालय नागपुर से मुद्रित है, में लखनादौन से प्राप्त एक द्वार शिला खंड पर अकित अभिलेख का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह व्यक्त किया है कि इस क्षेत्र में जैन मन्दिर अवश्य रहा है और उन्होने शिला खड पर उत्कीर्ण लेख की तिथि के आधार पर मन्दिर निर्माता को 'अमृतसेन' का प्रशिष्य एव त्रिवि-'क्रमसेन' का शिष्य बताया है और साथ ही यह बात भी कही है कि मन्दिर निर्माता का नाम लेख की तिथि के अनुसार अदृश्य सा ही दृष्टिगोचर होता है। स्व० हीरालाल जी ने लेख की लिपि के अनुसार ९वीं–१०वीं शताब्दी का निरूपित किया है और इस प्रकार यह शिल्प कलचुरि कालीन ही ठहरता है। इसके साथ ही प्रतिमा जी के सिर की पञ्चगुच्छक केशावलि लटकते कर्ण, लघु श्री वत्स एवं कण्ठ मे उत्कीर्ण तीन रेखाएँ भी इस प्रतिमा जी को कलचुरि कालीन ही निरूपित करती हैं। प्रतिमा जी अत्यन्त मनोज्ञ, दिव्य तथा चित्ताकर्षक तप की मुद्रा में अत्यन्त सानुपातिक रूप मे सुन्दर से सुन्दरतम् भावों में उत्कीर्ण करने में कलाकार ने अपनी कला में पूर्णतः प्राप्त की है। शारीरिक सौष्ठव की दृष्टि से अब तक प्राप्य कलचुरि कालीन प्रतिमाओ मे यह बहुत ऊपर उठकर है।

भगवान् अति मनोज्ञ एवं सौम्य मुद्रा में चार खम्भों से निर्मित सिंहासन में पद्मासन रूप से विराजमान है। बीच मे धर्मचक्र की अर्चना करते हुए मूर्ति स्थापक पति-पत्नी बैठे हैं। खम्भों के दोनों ओर सिंहासन के सिंह दिखाई देते है। भगवान् की ध्यानस्थ मुद्रा के दोनों ओर दो इन्द्र (सौधर्म और ईशान) चवंर ढालते खड़े हैं और ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे उनकी भाव-भक्ति में कहीं कोई त्रुटि नहीं है। भगवान् की दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है और केश राशि गुच्छकों के रूप में प्रदर्शित की गई है। सबसे ऊपर मध्य भाग में त्रिछत्र दर्शाया है। जो कि भगवान के तीनों लोकों का स्वामी होने का प्रतीक है त्रिछत्र के दोनों ओर गजराज रूपी वाहनों में देवी-देवता गण पुष्प वृष्टि करते दर्शाये गये हैं। हाथियों एवं हाथियों पर आरूढ़ देवी देवताओं की वेशभूषा, भक्ति रस के अनुरूप एव भाव भंगिमाए ना केवल बोलती वरन् बोलती सी प्रतीत होती हैं प्रत्येक देवी-देवता के आभूषण, मुकुट, कण्ठमाल, करधनी एवं अन्यादि अलकरणों का इतना सजीव व स्पष्ट चित्रण है कि कलाकार की जितनी प्रशसा की जायें, कम ही है। गजों तक की सूंड में कमल पुष्प लिए भाव-भक्ति में दर्शाया गया है। त्रिछत्र के नीचे भामडल की सुन्दरतम् रचना है। मूर्ति के मुख-मण्डल पर मन्दास्मित सौम्य तपस्वी भाव देखते ही बनता है और एक बार भी इस अलौकिक जिन प्रतिमा जी के दर्शन कर लेने पर भी धर्म अथवा सम्प्रदाय के व्यक्ति के हृदय मे वीतराग

पूजा के भाव उमड़ पड़ते हैं।

लखनादौन क्षेत्र में यह बात सर्वविदित है कि लखनादौन नगर एवम् आस-पास अनेकानेक प्रतिमाएँ खण्डित-अखंडित अवशेष विभिन्न देवी-देवताओं की छवियां, तीर्थंकर मूर्तियों के मनोज्ञ विवादि दशाब्दियों से यहां के नागरिकों को प्राप्त होते रहे हैं और घर-घर कोई न कोई पुरातत्व महत्व की सामग्री उपेक्षित सी दिखाई दे जाती है। किन्ही-किन्हीं घर, दिवाल अथवा नीव तक मे अति सुन्दर मूर्तियाँ पत्थरों पर उत्कीर्ण महत्वपूर्ण कला-कृतिया घर, आमलक, पाषाण खम्भे अथवा दरवाजे दिखाई देते हैं। आये दिन देखे जाने वाले इन साक्ष्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हजार बारह सौ वर्ष पूर्व लखनादौन नगर जैन सस्कृति का कोई महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सागर विश्व विद्यालय के प्राचीन इतिहास, सस्कृति एवं पुरातत्व के आचार्य एवम् अध्यक्ष डा० कृष्ण दत्त बाजपेयी ने गत दिनों लखनादौन एवम् आस-पास प्राप्त पुरातत्व स्थलों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था और यहा प्राप्त स्थलों के उत्खनन की महती आवश्यकता प्रतिपादित की थी।

जैनधर्म के अन्तर्गत मूर्तियो एवम् मन्दिरो का निर्माण बहुतायत से होता रहा है—कभी-कभी तो इन सबको देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि अनुयायियो ने अपनी सख्या से ज्यादा सख्या मे मूर्तियो एवम् मन्दिरो का निर्माण कराया होगा। जैन समाज मे आज पुरातत्व के प्रति जागरूकता प्रकट होती जा रही है और जो कुछ इने-गिने लोग इसके हेतु प्रयत्नशील है, वे साधन एवम् सकल्प के अभाव मे निष्क्रिय से हो जाते हैं। किसी भी धर्म या समाज के लिए उसकी कला, साहित्य, विज्ञान ही उत्तरदायी रहते हैं और इस दृष्टि से जैन समाज के पास अपनी-अपनी जो "थाती है, वह यदि संवारी जाये तो अनूठी एवम् सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकती है।

लखनादौन एवम् आस-पास के ४०–५० मील के क्षेत्र में भी पुरातत्व की सामग्री बहुतायत से उपलब्ध है और यदि उत्खनन के कार्य को सक्रिय बना दिया जावे तो पृथ्वी के गर्भमें सदियों से पड़ा। कोई प्रभाव ऐतिहासिक अथवा धार्मिक स्थल भग्नावस्था मे मिल सकेगा। लखनादौन नगर से ही प्राप्त दो जिन प्रतिमाएं कलकत्ता एवम् नागपुर के संग्रहालय में प्रदान की जा चुकी हैं। चन्द्रप्रभु भगवान् की एक प्रतिमा स्थानीय नागरिक श्री छेदी लाल के घर में एवम् अन्य खड्गासन प्रतिमा फुल्लू मेहरा के खेत से विगत दिनों उपलब्ध हुई है, अन्यत्र घरों में ग्रामों में भी सैकड़ों की संख्या मे ये प्रतिमाएँ बिखरी पड़ी हैं और संरक्षण के अभाव मे क्रमशः नष्ट प्रायः होती जा रही हैं।

आज स्थापत्य कला के संरक्षण की बात शासन एव समाज के मस्तिष्क में विशेष प्रभावशाली हो उठी है, तब ऐसी स्थिति में लखनादौन एव इसके आस-पास सर्वेक्षण के द्वारा पुरातत्व के महत्व की सामग्री को प्रकाश में लाना नितान्त आवश्यक है। भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौं वें निर्वाणोत्सव के कार्यक्रमों में एक कार्य इस क्षेत्र में पुरातत्व एवम् ऐतिहासिक पुनरुद्धार का भी जोड़ा जा सकता है। शिल्प कला मानवीय विकास क्रम में अपना निज का अस्तित्व रखती है। कारण वह मानव बोध को स्पर्श करती है। उसके चुने सस्कारों को सवारती है। उसमें कला के प्रति कलात्मक सौन्दर्य का वपन कर स्वस्थ्य जीवन दृष्टि प्रदान करती है। उसमें अति भौतिकता के गाढ़े रगों को आध्यात्मिकता के रगों से परिवर्तित कर सुख प्रद आत्म कल्याणकारी दर्शन प्रदान करती है—ऐसा दर्शन जो गहनतम् होते हुए भी जन-बोध को स्पर्श करता हुआ होता है। अत: जीवन के इतने महत्वपूर्ण पक्ष को उपेक्षा में रखना न्याय संगत ना होगा विशेष कर जैन समाज जिनकी कि ये धरोहर हैं, का दायित्व इस दिशा में बहुत अधिक बढ़ जाता है, किन्तु खेद है कि आज सम्पन्न जैन समाज भी जिस अनुपात में इस पुरातन "थाती" के प्रति कर्त्तव्य निष्ठ होना चाहिए, नहीं दीख पड़ती। आज की महती आवश्यकता है कि जैन समाज इन प्रतिमाओं की मानव जीवन हेतु उपादेयता को आत्मसात् कर इनके संरक्षण एव सम्वर्धन की दिशा में क्रियाशील हो उठे। ★

कवि विनोदीलाल

परमानन्द जैन शास्त्री

यह वत्सदेशान्तर्गत सहजादपुर के निवासी थे, यह नगर गंगा तट पर बसा हुआ था। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। यह काष्ठासंघ माथुरसंघ पुष्करगण के भट्टारक कुमारसेन की आम्नाय के विद्वान थे, इनके पिता का नाम दरिगहमल्ल था। परदादा का नाम मडन और दादा का नाम पारस था। दरिगह विद्वान थे और कवि भी। इनके बनाए हुए अनेक पद और जकड़ी आदि हैं जो स्व-पर सम्बोधक हैं। पर इनका बनाया हुआ कोई ग्रंथ देखने में नहीं आया। हां, जकड़ी में अपने को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि हे जियरा ! तू सुन, तू सुन ! तू तो तीन लोक का राजा है, तू घर-बार को छोड़कर अपने सहज स्वभाव का विचार कर, तू परमें क्यों राग कर रहा है ? तूने अनादि काल से आत्मा को पर समझा है और पर को आत्मा। इसी कारण चतुर्गति में दुःख का पात्र बन रहा है, अब तू एक उपाय कर, सुगुणों का अवलम्बन कर, जिससे कर्म छीज जाय —विनष्ट हो जाय। तू दर्शन ज्ञान चारित्रमय है और त्रिभुवन का राव है। जैसा कि जकड़ी के निम्न पद्य से प्रकट है :—

सुन-सुन जियरा रे, तू त्रिभुवन का राव रे।
तू तजि पर भाव रे, चेतसि सहज सुभाव रे॥
चेतसि सहज सुभावरे जियरा, परसों मिलि क्या राच रहे।
आपा पर आण्या पर अप्पाणा, चउगइ दुःख अणाइ सहे॥
अब सो गुन कीजे कर्महि छीजे, सुणहु न एक उपाव रे।
दंसण-णाण-चरण मयरे जिय, तू त्रिभुवन का राव रे॥

इससे पता चलता है कि कवि दरिगहमल की कविता धार्मिक होते हुए भी सरस और भावपूर्ण तथा स्व-पर सम्बोधक है। जकड़ी के अन्य एक पद्य में बतलाया है कि हे मूढ़ ! तू मानव जन्म को व्यर्थ न गवां, इसी कारण तू शाश्वत सुख को नहीं ढूंढ पा रहा है। गुण रूपी रत्न तेरी मुट्ठी में है, फिर क्यों दशों दिशाओं में दौड़ लगा रहा है। अपने स्वभाव की ओर देख, विवेक को जागृत कर ऐसा कार्य करो, जिससे अविचल सुख की प्राप्ति हो और फिर संसार में आना न हो।

तू यह मणुयत न, काहे मूढ गमावै।
सासय सुखदायक सो तू ढूंढ़ि न पावै॥
ढूंढ़ न पावै पास तुमही, आप आप समावए।
गुण-रतन मूठी माहि तेरी काई वह दिसि धावए॥
वह राज अविचल करहि शिवपुर, फिर संसार न आवए।
यों कहि दरिगह यह मणुय तन काहे मूढ गमावए॥

इस कथन पर से दरिगहमल की कविता, उसकी भाषा और भाव का सहज ही आभास हो जाता है। वह उदासीन विद्वान थे और सेठ सुदर्शन के समान इन्द्रिय विजयी और दृढ़ व्रती थे। उनका समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इन्हीं के पुत्र कवि विनोदीलाल थे। जो जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और कवि थे। आपकी छह रचनाएं मिलती हैं, भक्तामर कथा सं० १७४७, सम्यक्त्व कौमुदी सं० १७४९, श्रीपाल विनोद (सिद्ध चक्र कथा) सं० १७५०, राजुल पच्चीसी, नेमिनाथ व्याहुला और फूलमाल पच्चीसी। इनके अतिरिक्त अन्य रचनाएं भी अन्वेषणीय हैं। राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों की सूची के पांचवें भाग से विनोदीलाल की दो रचनाओं का और पता चलता है, नवमंगल और बारहमासा।

कवि विनोदीलाल ने 'भक्तामर कथा' की रचना सं. १७४७ में सावन सुदी दोइज के दिन की है। उसमें भक्तामर स्तोत्र के उन मंत्र-साधकों की कथा दी है जिन्हें उसका फल प्राप्त हुआ है। दूसरी रचना सम्यक्त्व कौमुदी है, जिसमें सम्यक्त्व की उत्पादक कथाओं को पद्यों में अंकित किया है। उसे कवि ने सं० १७४९ में बनाकर समाप्त किया था। तीसरी रचना 'श्रीपाल विनोद (सिद्ध-

चक्र कथा) है। यह रचना संस्कृत का पद्यानुवाद मात्र है। फिर भी सरस है। और दोहा, चौपाई सोरठा, अडिल्ल आदि छन्दों के १३५४ पद्यों में रचा गया है। उसकी प्रशस्ति में कवि ने अपना परिचय अंकित करते हुए लिखा है कि अब मेरा तीसरापन आ गया है उसमें बुद्धि कहाँ तक स्थिर रह सकती है? 'साठे को नाठा' सभी कहते हैं। इस तरह मेरी उम्र सत्तर वर्ष की हो गई है। प्रशस्ति में अपना परिचय अंकित किया है। उसमें ग्रंथ के रचना काल आदि पर प्रकाश पड़ता है। जिसे कवि ने सं० १७५० में औरंगजेब के राज्य काल में बना कर समाप्त किया है। वह प्रशस्ति इस प्रकार है :—

संवत सत्रह सै पंचास, बीज उजारी अगहण मास।
रविवासर पाई शुभघरी, ता दिन कथा सम्पूरन करी।२०
करी चौपाई बहु बनाय, बिच-बिच दोहा छंद मिलाय।
कहूं अडिल्ल सोरठा धरे, अभिप्राय श्रोटक विस्तरे।।२१
या विधिसों रचना विस्तरी, संस्कृत की मैं भाषा करी।
मैं अपनी मति कीनी नाहिं, ग्रंथ पुरातन भाषी छांह।।२२
नवरंग शाह बली कै राज, आलमगीर साहि शिरताज।
आलमगीर कहावै सोइ, जाहि लाख आलम की होइ।२३
बीस बार दिल्लीपति साहि, ताकी उपमा दीजे काहि।
पैगम्बर सम जग में भयो, फेरव आनि उदधि लौं गयो।२४
राजनीति जा के सब होय, माफिक सेर कही है सोइ।
ऐसो भयो न हो है और, पाति साहि सहित सिरमोर।२५
भयो चकत्ता वंश उद्योत, साह अकब्बर को पर पोत।
जहांगीर को पोतावली, साहिजहां सुत प्रगट्यो बली।२६
नाम-जास को नौरंग साहि, और साहि सब कंपै जाहि।
ताकौं कविजन देइ असीस, दिन-दिन तेज बढ़ै जगदीश।२७
जाके राज महा सुख पाय, कीनी कथा विचित्र बनाय।
नाम कथा सिरिपाल विनोद, पढ़त सुनत सब होय प्रमोद।
सिद्धचक्र व्रत की यह कथा, कीनी मैं मतिसार यथा।
जो सुबुद्धि उपजी कुछ मोह, तैसी वरन सुनाई तोह।।२९
छंद भंग अक्षर जु होय, ताहि सम्हारि सुकवि जन लोय।
तुमको हो है पुण्य अपार, शुद्ध कथा प्रगटै संसार।।३०
तातैं तुमसौं विनती करौं, बार-बार तुम पाइन परौं।
जो नहि चूक सम्वारैं जानि, ताकों श्री जिनवर की आनि
तीसरो पन मेरो भयो आय, तातैं बुद्धि कहां ठहराय।
साठो बुद्धि नाठो सब कहै, यह कहवत सब जग में अहै।३२
ता पर वरष अधिक दश गए, हम सत्तरा बहत्तर भए।
बुद्धि वृद्धि बालक सम आहि, बूढ़ो बारे सब कहि ताहि।
ता पर लाल विनोदी नाउं, भोग बेत में बहुत लजाउं।
कोविद लोग हंसेंगे मोहि, तातैं कविजन विनउं तोहि।३४
जाति वानिये अगरवार, गोत अठारह में सरदार।
गर्ग गोत जदुवंश प्रधान, अनरव चूल मुक्त अल्लि महान।
परदादे को मडन नाम, कुल मंडन हूओ सो धाम।
दादो पारस तासु समान, यथा नाम वैसो गुण जान।।३६
बरगहमल्ल तात मुझ तनौं, शील शिरोमनि सुदर्शन मनो।
ताको अनुज विनोदीलाल, मैं यह रचना रची विशाल।३७

× × ×

संवत सत्रह से पंचास, दूज उजारी अगहन मास।
रवि वासर पाई शुभघरी, ता दिन कथा संपूरन भई।।

चौथी रचना राजुलपच्चीसी है, जिसमें नेमिनाथ और राजमति का वर्णन है। पांचवीं रचना 'नेमिनाथ ब्याहुला' है, जो कवि की छोटी-सी सरस कृति है। इसमें नेमिनाथ की बरात का चित्रण किया गया है। पशु-पक्षियों को बाड़े में बन्द देखकर और उनकी करुण पुकार सुनकर हिंसा से भयभीत हो वैराग्य ग्रहण किया। और भौतिक सुखों का परित्याग कर मानव कल्याण के लिए उनका तपस्या के लिए चला जाना सच्चा पुरुषार्थ है। कवि ने वर की वेष-भूषा का वर्णन निम्न पद्य में किया है :—

मौर धरो सिर दूलह के कर कंकण बंध दई कस डोरी।
कुंडल कानन में झलके अतिभाल में लाल विराजति रोरी
मोतिन की लड़ शोभित है छवि देखि लजै वनिता सब गोरी
'लालविनोदी' के साहिब के मुख देखन को दुनिया उठ दौरी

नेमिनाथ की विरक्तिका चित्रण निम्न पद्यों में किया है—

नेमि उदास भये जब से कर जोड़ के सिद्ध का नाम लियो है
अम्बर भूषण डार दिये शिर मौर उतारि के डार दियो है
रूप धरो मुनि का जबही तबही चढ़िके गिरिनारि गयो है
'लाल विनोदी' के साहिब ने तहां पंच महाव्रत योग लयो है

छठी रचना फूलमाल पच्चीसी है, जिसमें २६ पद्य हैं। सातवीं रचना नेमिनाथ बारहमासा है, सूचियों में अनेक पद भी आपके बताये हुए हैं, मिलते हैं, पर वे मेरे देखने में नहीं आये। आपकी सभी रचनाएं सम्बोधक और सुरुचिपूर्ण हैं। कवि की अन्य रचनाएं अन्वेषणीय हैं।

★

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार द्वारा स्वीकृत परमाणु का स्वरूप : एक अध्ययन

सनमत कुमार जैन, एम. ए.

तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार द्वारा स्वीकृत परमाणु के स्वरूप का अध्ययन करने से पूर्व जैन दर्शन मान्य परमाणु का सैद्धान्तिक स्वरूप सार रूप में समझ लेना चाहिए।

(१) परमाणु पुद्गल का शुद्ध द्रव्य है। यह एक प्रदेशी है[१]। यदि परमाणु को कम से कम एक प्रदेश वाला नहीं माना जाता तो इसका अभाव हो जाता फलत: संसार की सारी प्रक्रिया ही समाप्त हो जाती।

(२) परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म है। सर्वार्थसिद्धिकार ने सूक्ष्मत्व को दो रूपों में विभाजित किया है—एक आपेक्षिक सूक्ष्मत्व और दूसरा अन्त्य सूक्ष्मत्व, आपेक्षिक सूक्ष्मत्व के अन्तर्गत बेल, आंवला और बेर को उदाहरण बनाया है क्योंकि बाद वाला पूर्व वाले से सूक्ष्म है तथा अन्त्य सूक्ष्मत्व के अन्तर्गत परमाणु को लिया है[२] क्योंकि परमाणु सूक्ष्मता की वह स्थिति है, जिससे अन्य कोई सूक्ष्म नहीं[३]। इस प्रकार परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने से स्वयं आदि है, स्वयं मध्य है और स्वयं अन्त है[४]। आदि, मध्य और अन्त की स्थिति उसके एक प्रदेश में ही विलय हो गई है।

(३) परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण होते हैं, शब्द बन्धादि नहीं। शब्द बन्धादि वाला तो स्कन्ध होता है। तो क्या स्कन्ध में स्पर्शादि नहीं होते? होते हैं; परन्तु परमाणु में शब्द-बन्धादि नहीं होते अतएव तत्त्वार्थसूत्रकार को पुद्गल का स्वरूप दो सूत्रों में सूत्रित करना पड़ा[५]।

अब तत्त्वार्थ-भाष्यकार द्वारा परमाणु विवेचना पर दृष्टिपात किया जावे—इन्होंने परमाणु को बन्धन रहित बतलाया है जो उचित ही है; क्योंकि यदि परमाणु को बन्धन सहित माना जावे तो वह परमाणु नहीं हो सकता, वह स्कन्ध कहलाने लगेगा।

इसके साथ ही साथ भाष्य में इन्होंने एक कारिका 'उक्तञ्च'[६] करके उद्धृत की है जो कि हरिभद्र सूरि के अनुसार किसी पूर्वाचार्य की है[७]। इस कारिका के बारे में विवाद तथा उलझने मस्तिष्क में बहुत समय से उलझ रही हैं। आगे की विवेचना करने से पूर्व ही बता देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकार तथा भाष्यकार एक ही व्यक्ति माने गये हैं जबकि दिगम्बर परम्परा यह मानने को तैयार नहीं हैं। कारिका पर गहन दृष्टि डालने के उपरान्त निष्कर्ष यही निकलता है कि सूत्रकार और भाष्यकार एक नहीं हो सकते।

कारिका के अनुसार परमाणु का स्वरूप इस प्रकार बनता है—(१) परमाणु कारण ही होता है, (२) वह अन्तिम होता है, (३) वह सूक्ष्म होता है, (४) वह नित्य होता है, (५) वह एक गन्ध, एक रस, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला होता है, (६) वह कार्य लिंग होता है अर्थात् कार्य के द्वारा अनुमित होता है।

---

१. प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणव: स. सि. ५।२५

२. सौक्ष्म्यं द्विविधं, अन्त्यमापेक्षिकं च। तत्रान्त्यं परमाणूनाम्। आपेक्षिकं विल्वामलकवदरादीनाम्।" स. सि. ५।२४

३. न ह्यणोरल्पीयानन्योऽस्ति" वही ५।२५

४. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥
उद्धृत स. सि. ५।२५, नियम सा. गा. २६

५. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त: पुद्गला: ५।२३,
शब्दबन्ध...५।२४

६. कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु:।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्श: कार्य लिङ्गश्च ॥
त. भा. ५।२५

७. त. भा. की हरिभद्रसूरि रचित टीका ५।२५

"शिवपुरी में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा"

सन्मत कुमार जैन एम. ए.

मध्य प्रदेश के ग्वालियर संभाग का एक प्रसिद्ध जिला 'शिवपुरी' प्राचीन नगर है। इसका प्राचीन नाम 'सीपरी' है। स्व० माधवराज सिन्धिया ने इसे शिवपुरी का नाम दिया है। शिवपुरी और उसके आस-पास के कोलारस आदि स्थान जैन संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। आज भी कोलारस आदि स्थानों में १२वी और १३वीं शताब्दी की मूर्तियाँ विद्यमान है। उन स्थानों में 'पाणाशाह' की धार्मिक वृत्ति का परिचय मिलता है। वर्तमान में यहाँ के जिलाधीश ने एक 'पुरातत्व सांस्कृतिक म्यूजियम' की स्थापना की है जिसमे जैन और जैनेतर प्राचीन कलाकृतियों को स्थापित किया गया है, जो दर्शनीय है। इस प्रकार वैदिक और जैन संस्कृति के यहाँ विपुल स्थल विद्यमान हैं। शिवपुरी अतीत की गौरवमयी गाथाओं को अपने हृदय में संजोये हुए बैठी है। पर्यटकों का मन-मानस इसके प्राचीन और कलात्मक दृश्यों का अवलोकन कर झूम उठता है और तीर्थयात्रियों का मस्तक श्रद्धा से विनत हो जाता है।

इसी शिवपुरी के इतिहास में कई सौ वर्ष बाद एक सांस्कृतिक महोत्सव होने जा रहा है। कब ? माघ शुक्ला ६ से १३, विक्रम सं० २०२६, वीर निर्वाण सं० २४९६, दिनांक ११ से १५ फरवरी १९७३ को। जिस उत्सव का नामसंस्कार 'श्रीजिनेन्द्र पञ्चकल्याणक बिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव' किया गया है।

१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिवपुरी वाणगंगा के निकट मोहनदास खण्डेलवाल ने श्री पार्श्वनाथ आदि २४ तीर्थंकरों तथा महादेव विश्वनाथ की मूर्तियों को स्थापित कर प्रतिष्ठा करवायी थी, यह भी एक महान कार्य है जिसमें जैन तथा जैनेतरों दोनों को समान दृष्टि से देखा गया है जिसके कारण उसे सिंघई पदवी से उल्लिखित किया गया है।

पंचकल्याणक महोत्सव तो समय-समय पर होते ही रहते हैं परन्तु अन्य पंचकल्याणक महोत्सवों से इसकी कुछ भिन्नता तथा विशेषता है। बनने वाला नव्य-भव्य जिनालय 'श्री महावीर-जिनालय' के नाम से बना है और जो आगामी १३ नवम्बर १९७४ से १५ नवम्बर १९७५ की वर्षावधि में मनाये जाने वाले 'भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाणोत्सव' के सन्दर्भ में उसी का एक अद्वितीय रूप है। जिनालय में मूलनायक भगवान महावीर की मनोज्ञ एवं हृदयहारिणी विशाल प्रतिमा स्थापित की है। अधखुले नेत्र, नासा दृष्टि, पद्मासन प्रतिमा किस सहृदय को अपनी ओर सहज आकृष्ट नहीं कर लेगी ! उत्सव मे इसी प्रतिबिम्ब की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही है।

प्रकृति की सुरम्य स्थली मे स्थित विस्तृत जिनालय अत्यन्त सुन्दर है। उस जिनालय के सामने मनुष्यों के मान रोग को हरण करने वाला मानस्तम्भ बनाया गया है। वस्तुत: जिनेन्द्र भगवान का सान्निध्य ही उस स्तम्भ में मान रोग को हरण करने की शक्ति प्रदान करता है। सजीव प्रतिमा की शक्ति ही मानियों के दम्भ को मोम की तरह पिघला देती है। मन्दिर में मानस्तम्भ बनाने की परम्परा दक्षिण भारत की है अब उत्तर भारत में भी उसी परम्परा का अनुसरण होने लगा है। इसके अतिरिक्त प्रवचन मण्डप, स्वाध्याय कक्ष, छात्रावास, बाल पाठशाला और एक विश्रान्ति गृह इस बात का प्रतीक है कि निर्माणकर्ता की दृष्टि अत्यन्त उदार और विवेक पूर्ण है, साथ ही साथ यदि एक नि:शुल्क औषधालय का भी कक्ष बन जाता तो कहना ही क्या था।

आज के इस भौतिक युग में अपना नाम और यश कौन नहीं चाहता। परन्तु अपने को अनाम और अज्ञात रखने की इच्छा वाले, शिवपुरी के जाने-माने सम्पन्न विचारक श्री नेमीचन्द्र जी गोंद वाले तथा उनके परिवार वालों ने उक्त जिनालय आदि का निर्माण कराया है जो उनकी आर्थिक उदारता का परिचायक है। अब उन्ही के द्वारा प्रतिष्ठा कार्य होने जा रहा है, इसके साथ ही साथ विद्वत्परिषद् आदि संस्थाओं के अधिवेशन भी सम्पन्न होगे।

१८वीं शताब्दीके सिंघई मोहनदास खण्डेलवालके बाद २०वीं शताब्दी के नेमीचन्द्र गोंद वालों ने जो कार्य किया है वह शिवपुरी के इतिहास में पुनर्जागृति का प्रतीक है।

पाठकों के लिये शिवपुरी और उसके आस-पास के प्रदेशों में बिखरी हुई जैन संस्कृति के अवशेषों को भी देखने का सुअवसर मिलेगा।

पावागिरि-ऊन

श्री बलभद्र जैन

क्षेत्र की अवस्थिति—श्री पावागिरि सिद्ध क्षेत्र है। यह मध्य प्रदेश के जिला खरगोन में ऊन नामक स्थान से दो फर्लांग पर स्थित है। ऊन एक छोटा सा कस्बा है जिसकी आबादी लगभग २००० है। यहाँ पर पोस्ट आफिस, पुलिस थाना, दवाखाना, माध्यमिक स्कूल आदि हैं। यहाँ आने के लिए खण्डवा १०४ कि० मी०, इन्दौर १५४ कि० मी०, सनावद ८३ कि० मी० और महू १३१ कि० मी० निकटवर्ती रेलवे स्टेशन हैं। खण्डवा और सनावद होकर आने वाले यात्रियों को खरगोन होकर और इन्दौर या महू से आने वाले यात्रियों को जुलवान्या होकर बस द्वारा ऊन उतरना पड़ता है। खरगोन यहाँ से केवल १८ कि० मी० है। खरगोन से जुलवान्या जाने वाली सड़क पर किनारे ही दिगम्बर जैन धर्मशाला बनी हुई है। धर्मशाला से पावागिरि सिद्धक्षेत्र केवल दो फर्लांग दूर है।

सिद्धक्षेत्र पावागिरि के पूर्व भाग में चिरूढ़ नदी बहती है, पश्चिम में कमल तलाई (तालाब) है। इसमें कमल के फूल खिलते हैं। उत्तर में ऊन ग्राम है। दक्षिण दिशा में एक कुण्ड बना है, जिसे नारायण कुण्ड कहा जाता है। वैष्णव लोग इसे तीर्थ मानते हैं।

इस क्षेत्र के पश्चिम में चूलगिरि बावनगजा जी और उत्तर में सिद्धवर कूट क्षेत्र है।

सिद्धक्षेत्र—प्राकृत निर्वाणकाण्ड में इस क्षेत्र के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख है :—

पावागिरिवर सिहरे सुवण्णभद्दाइ मुणिवरा चउरो।
चलणाणईतडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१३॥

अर्थात् पावागिरि के शिखर पर चलना नदी के तट पर सुवर्णभद्र आदि चार मुनीश्वर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस गाथा के अनुसार यह सिद्धक्षेत्र चलना नदी के तट पर अवस्थित था। संस्कृत निर्वाण भक्ति में नदी का नाम न देकर केवल इतना ही उल्लेख कर दिया है—'नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः' अर्थात् कर्म शत्रुओं को जीतने वाले सुवर्णभद्र नदी के तट पर मुक्त हुए।

निर्वाण काण्ड में पावागिरि दो बताये हैं। उपर्युक्त पावागिरि के अतिरिक्त भी एक और पावागिरि है, जहाँ से राम के दो पुत्र और लाट नरेन्द्र आदि पाँच करोड़ मुनि मुक्त हुए। यह पावागिरि बड़ोदा से ४५ कि० मी० दूर चांपानेर के पास है और इसे पावागढ़ कहा जाता है। क्योंकि यहाँ बहुत विशाल पहाड़ी किला है। इस किले के कारण पावा को पावगढ़ कहने लगे हैं।

चलना नदी कौन सी है, इस विषय में विवाद है। जिन्होंने ऊन के निकट पावागिरि की स्थिति मानी है, वे ऊन के निकट बहने वाली चिरूढ़ को ही चलना नदी मानते हैं। उनके मत से चेलना का चेटक, चेटक का चिरट, चिरट का चिरूढ़ हो गया।

ऊन के निकट पावागिरि मानने का एक तर्क यह दिया जाता है :—

'निर्वाण काण्ड मे निमाड़ स्थित सिद्धक्षेत्रों की वंदना का क्रम इस प्रकार है—(१) रेवा नदी के दोनों तटों से मुक्त होने वाले रावण के पुत्र और साढ़े पांच कोटि मुनियो की निर्वाण-स्थली। (२) रेवा नदी के तट पर पश्चिम दिशा में सिद्धवर कूट क्षेत्र जहाँ से दो चक्री, दस कामकुमार और साढ़े तीन करोड़ मुनियों ने मुक्ति लाभ किया। (३) बड़वानी नगर के दक्षिण मे चूलगिरि के शिखर से इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण मुक्त हुए। (४) चलना नदी के तट पर पावागिरि के शिखर पर सुवर्णभद्र आदि चार मुनियों को निर्वाण हुआ।

उपर्युक्त क्रम में सिद्धवर कूट, बड़वानी, फिर पावागिरि है। इस क्रम से यह संगति बैठाई गई है कि ये तीनों तीर्थ निकटवर्ती हैं। इसलिए पावागिरि बड़वानी

नगर के निकट होना चाहिए। इस स्थान के अतिरिक्त अन्य कोई स्थान नहीं है, जिसे पावागिरि क्षेत्र माना जा सके। ऊन के निकट प्राचीन मन्दिर और मूर्तियां मिली हैं, जिनका काल ईसवी सन् की ११-१२वीं शताब्दी तक है। वहां प्राचीन चरण चिन्ह भी उपलब्ध हुए हैं। सिद्ध-क्षेत्रों पर चरण चिन्ह विराजमान करने की परम्परा रही है। इन सब तर्कसंगत कारणों से ऊन के निकटवर्ती स्थान को पावागिरि सिद्धक्षेत्र मानना सुसंगत है।"

उत्खनन द्वारा जैन मूर्तियों की प्राप्ति—बात उन दिनों की है जब ऊन में प्राचीन जैन मन्दिर जीर्ण-शीर्ण दशा में खड़े हुए थे, तब तक इसकी प्रसिद्धि तीर्थ क्षेत्र के रूप में नहीं हुई थी और यहाँ कोई यात्री नहीं आता था। यहाँ के जीर्ण मंदिर और मन्दिरों के भग्नावशेष तत्कालीन होल्कर रियासत के पुरातत्व विभाग के अधिकार में थे। उन दिनों सेठ मोहीलाल जी बड़वानी और सेठ हरसुख जी सुसारी ने सागर निवासी श्री चेतनलाल पुजारी को ऊन के मन्दिरों के प्रक्षाल-पूजन और सफाई के लिए नियुक्त किया। कुछ समय के बाद आषाढ़ वदी ८ संवत् १९९१ को पुजारी को एक अद्भुत स्वप्न आया। स्वप्न में उनसे कोई कह रहा था—'अमुक स्थान पर जिनेन्द्र भगवान की मूर्तियां हैं, तुम उनको खोदो तो दर्शन होगा।'

प्रातःकाल नियमानुसार पुजारी मन्दिर मे प्रक्षाल-पूजा के लिए गया। उससे निवृत्त होने पर जब वह वापिस आने लगा, तब उसे रात्रि में देखे हुए स्वप्न का स्मरण हो आया। खण्डहरों के बीच में स्वप्न में देखा हुआ स्थान उसे दीख पड़ा। उसने उस स्थान से कुछ मिट्टी हटाई ही थी कि मूर्ति का सिर दिखाई पड़ा। तब उत्साहित होकर मजदूरों से उस स्थान को खुदवाया। फलतः भगवान् महावीर की एक सुन्दर प्रतिमा निकली। इसके अतिरिक्त चरण चिन्ह और चार अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियां निकलीं। पुजारी ने ये सब मूर्तियां अपनी कुटिया में रख लीं और यह समाचार निकटवर्ती नगरों में भिजवा दिया। समाचार मिलते ही सुसारी, बड़वानी, लोनारा आदि स्थानों से अनेक प्रतिष्ठित सज्जन पधारे। उन्होंने आकर मूर्तियों का प्रक्षाल और पूजन किया। चरण-चिन्ह भी उत्खनन में प्राप्त हुए थे। अतः यह निश्चय किया गया कि चरण-चिन्ह सिद्धक्षेत्र पर विराजमान होते थे। अतः यह स्थान सिद्धक्षेत्र होना चाहिए। यह सिद्धक्षेत्र पावागिरि हो सकता है, जिसका उल्लेख निर्वाण काण्ड में किया गया है।

कुछ दिनों पश्चात् अपने इस निर्णय की पुष्टि इन्दौर आदि कई स्थानों के विद्वानों को ऊन बुलाकर उनसे करा ली गई और इस स्थान को पावागिरि सिद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया गया।

सरकार द्वारा जैन समाज को अधिकार—ऊन में पावागिरि सिद्धक्षेत्र की स्थापना और उसका उद्घाटन कर दिया गया। किन्तु मन्दिर, मूर्तियों पर सरकार का अधिकार था। अतः अधिकार प्राप्ति के लिए सर सेठ हुकमचन्द्र जी ने तत्कालीन होल्कर रियासत के महाराज श्री यशवन्त होल्कर की सेवा में प्रार्थना-पत्र दिया और यह क्षेत्र दिगम्बर जैन समाज को देने का अनुरोध किया। काफी प्रयत्नो के पश्चात् हुजूर श्री शंकर के आदेश न० २९४ दिनांक २९।८।३५ के अनुसार सर सेठ साहब को अधिकार पत्र प्राप्त हुआ, जिसके अनुसार दिगम्बर जैन समाज को यह अधिकार प्रदान किया गया कि उन में नई खोजी हुई मूर्तियों पर उसका अधिकार रहेगा, ऊन के ग्वालेश्वर मन्दिर में इन्हें विराजमान किया जा सकता है और अपने व्यय से दिगम्बर जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार करा सकती है। बशर्ते (१) जीर्णोद्धार का कार्य इन्दौर म्यूजियम के क्यूरेटर के परामर्श से से किया जाय, जिससे इस प्राचीन स्मारक का पुरातात्विक महत्व और कलात्मक वैशिष्ट्य नष्ट न हो। (२) मूर्तियां ऊन से अन्यत्र नहीं ले जाई जायेंगी। (३) ऊन के प्राचीन स्मारकों का स्वमित्व सरकार का होगा।[1]

---

1. From,

I/C. Curator
The Museum
Indore

To,

St. Seth Harsukhlalji,
Leader Digamber Jain Community
Susari

Dated the 4th October 1935

Sir.

I have the honour to inform you that His Highness the Maharaja in Huzur Shree Shankar Order No. 294 Dated 29 8 35 has been pleased to order that the Digamber Jain Community may be allowed—

1 to retain the newly diseovered images at Oon.

2. to instal them in the temple of Gwaleshwar at Oon, and

3. to repair the temple of Gwaleshwar at their own cost in case they agree to the following conditions.

(a) The repairs will be done in consultation with the curator, the Museum, Indore, so as not to injure the Archaeological importance and artistic merit of this ancient monument.

(b) The images will never be removed from Oon, and

(c) The Government will continue to remain the owner of the ancient monuments at Oon.

I am, therefore, to request you kindly to let me know when you propose to commence the work of repairs to the Gwaleshwar temple. It is further requested that details of the works you propose to undertake and the name and the full address of the person who will supervise the works of repairs and the person in whose name further correspondence in this connection may be carried on, may kindly be communicated to me at an early date.

I have the honour to be
Sir
Your most obedient servant
V. Singh
I/C Curator & the Museum, Indore

ऊन नाम : एक किम्वदन्ती—इस स्थान का नाम ऊन क्यों पड़ा ? इस सम्बन्ध में एक किवदन्ती बहु प्रचलित है, जिसका उल्लेख 'दी इन्दौर स्टेट गजेटियर जि० १ पृ० ६६७' पर इस प्रकार किया गया है—

ऊन के राजा बल्लाल के पेट में एक सर्पिणी चली गई। धीरे-धीरे वह वहां बड़ी हो गई। इसके कारण राजा को असह्य वेदना होती थी। उसने अनेक उपचार कराये, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। तब जीवन से निराश होकर वह गंगा में डूबने के लिए बनारस को चल दिया। उसकी रानी उसके साथ थी। एक रात एक सांप आया। और उदरस्थ सर्पिणी मे वार्तालाप करने लगा। सांप ने नागिन से पूछा—'अगर राजा को यह ज्ञात हो जाय कि पानी में बुझाया हुआ चूना खा लेने से तेरा अन्त हो सकता है तो तेरा जीना असम्भव हो जाय।' नागिन बोली—'अगर राजा को यह पता चल जाय कि तेरे बिल मे गरम तेल डालने से तू मर सकता है तो उसे अपार धन मिल जायगा, जिसकी रक्षा तू बराबर करता रहता है।

रानी ने नाग-नागिन का यह वार्तालाप सुन लिया और प्रातःकाल होने पर राजा को कह सुनाया। राजा ने वैसा ही किया। कुछ चूना खा लिया, जिससे पेट की नागिन मर गई और उसकी पीड़ा दूर हो गई और उस सर्प के बिल का पता लगा कर उसमें गर्म तेल डाल दिया जिससे सांप मर गया और राजा को विपुल धन-राशि की प्राप्ति हुई। धन पाकर उसने १०० मन्दिरों, १०० सरोवरो और १०० कुओं के निर्माण की प्रतिज्ञा की। किन्तु कुएं, सरोवर और मन्दिर प्रत्येक ९९ ही बन पाये। प्रत्येक में एक की कमी (ऊन) रहने से इस स्थान का नाम ही 'ऊन' पड़ गया।

ऊन का ऐतिहासिक महत्त्व—ऊन का शासक बल्लाल किस वंश से सम्बन्धित था, इस विषय मे 'इतिहासकारों' में कुछ मतभेद पाया जाता है। एक मत है कि ऊन में मन्दिरों का निर्माता होयसल वंशी बल्लाल द्वितीय था। यह नरसिंह देव का पुत्र था। इसका शासन काल सन् ११७३ से १२२० तक था। होयसल वंश में विनयादित्य का पुत्र एरेयंग हुआ था, जो चालुक्य राजा का सामन्त था तथा जिसने मालवराज की राजधानी धारा नगरी पर आक्रमण करके उसका विध्वंस किया था। इस घटना से यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि एरेयंग की चौथी पीढ़ी में होने वाला बल्लाल द्वितीय मालवा का शासक रहा होगा।

वही वल्लाल वाराणसी की गंगा में प्राण विसर्जन के लिए जाता हुआ जब इस स्थान (ऊन) पर ठहरा होगा, जिसका संकेत किंवदन्ती मे है। तब इस होयसल वंशी वल्लाल द्वितीय ने ऊन में मन्दिरों का निर्माण कराया होगा।

दूसरा मत 'पज्जुण्ण चरिय' (प्रद्युम्न चरित) की प्रशस्ति में प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता सिद्ध और सिह कवि हैं। इसका रचना काल अनुमानतः बारहवीं शताब्दी का मध्य काल है। इसमें बताया है कि वम्हण-वाड नामक नगर मे अनेक मठ, मन्दिर और जिनालय थे। वहाँ का शासक रणधोरी का पुत्र वल्लाल था, अर्णो-राज का क्षय करने के लिए वह कालस्वरूप था। उसका भृत्य गुहिलवंशीय भुल्लण था।

अर्णोराज सपादलक्ष (सांभर) का राजा था। उक्त प्रशस्ति मे रणधोरी के पुत्र वल्लाल को अर्णोराज का क्षय करने के लिए कालस्वरूप बताया है। किन्तु अन्य साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि अर्णोराज का संहार चौलुक्य वंशी कुमारपाल ने किया था। इससे लगता है कि वल्लाल ने किसी युद्ध में अर्णोराज को पराजित किया होगा किन्तु बाद मे उन दोनों की मित्रता हो गई होगी और उन दोनों को कुमारपाल ने पराजित किया।

इस प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि रणधोरी का पुत्र वल्लाल क्या मालवराज वल्लाल था अथवा निमाड का कोई राजा था। किन्तु विचार करने पर यह वल्लाल मालवराज प्रतीत होता है। कुमारपाल ने जिस वल्लाल को युद्ध में मरवाया था, वह वही वल्लाल था। जिसने ऊन मे ९९ मन्दिरों का निर्माण कराया था और जो मालवा का स्वामी था।

आचार्य सोमप्रभ ने 'कुमारपाल प्रबोध नामक ग्रंथ ९,००० श्लोक परिमाण लिखा था। इस ग्रन्थ की रचना सं० १२४१ में की गई अर्थात् महाराज कुमारपाल की मृत्यु के ११ वर्ष बाद इस ग्रन्थ की रचना की गई। सोम-प्रभाचार्य महाराज कुमारपाल के समकालीन थे और उन्होंने महाराज को उपदेश भी दिया था। इसलिए इनकी रचना में ऐतिह्य सामग्री विशेष प्रामाणिक हो सकती है, ऐसा विश्वास किया जाता है। इन्हीं की रचना को आधार बनाकर सोमतिलक सूरि ने विक्रम की चौद-हवीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे 'कुमार पाल चरित' की रचना की थी।

इन आचार्यो के इन ग्रन्थों से बल्लाल तथा तत्कालीन राजाओ के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

कुमार पाल जब गद्दी पर बैठा, उस समय चौलुक्य वंश का राज्य विस्तार सुदूर प्रांतों मे था। उसका मन्त्री उदयन था। उदयन का तीसरा पुत्र चाहड बड़ा साहसी समरवीर था। जब राजकुमार पाल अपने राज्य की व्यव-स्था मे लगा हुआ था, तब किसी कारण वश चाहड़ कुमार पाल से असंतुष्ट होकर शांकभरी नरेश अर्णोराज से जा मिला। अर्णोराज के साथ कुमारपाल की बहन देवल देवी का विवाह हुआ था किन्तु अर्णो-राज कुमारपाल के विरुद्ध हो गया था। चाहड़ की कूट-नीति से मालव राज बल्लाल भी कुमारपाल के विरुद्ध इस गुट मे आ मिला। जब कुमारपाल अर्णोराज के उपर चढाई करने के लिए चला तो चन्द्रावती (आबू के निकटस्थ) के राजा विक्रमसिंह ने कुमारपाल की अभ्य-र्थना करके भोजन का निमन्त्रण दिया किन्तु चतुर कुमार पाल उसकी कपट योजना को भाँप गया। वास्तव में विक्रमसिंह ने लाख का एक महल बनवाया था। वह कुमार पाल को मारना चाहता था। कुमारपाल उस समय वहाँ से शत्रु से युद्ध करने चला गया। उसने अर्णोराज पर प्रबल आक्रमण करके उसे शरणागत बनने को बाध्य किया। लौटते हुए उसने विक्रमसिंह पर आक्रमण किया और उसे पिंजड़े मे बन्द करके अपने साथ अपनी राज-धानी ले गया। वल्लाल के उपर आक्रमण करने के लिए अपने विश्वस्त सेनाध्यक्ष काकभर की सेनाध्यक्षता में एक विशाल सेना भेजी। सेनापति ने मालव नरेश का सिर काट कर कुमारपाल की विजय पताका उज्जयिनी के राज-महलों पर फहरा दी। इस प्रकार गुजरात के पड़ोसी और प्रतिस्पर्द्धी तीन राज्यों को एक साथ गुजरात के मातहत कर लिया।

मन्त्री तेजपाल के आबू स्थित लूणवसति[1] के लेख मे जो संवत् १२८७ का है—मालवराज बल्लाल का वध करने वाले का नाम यशोधवल दिया है। इसका समर्थन अचलेश्वर मन्दिर के शिलालेख से भी होता है।

यशोधवल का वि० सं०१२०२ का एक शिलालेख अजारी गांव से मिला है, जिसमे 'प्रमारवंशोद्भव महामण्डलेश्वर श्री यशोधवल राज्ये' इस वाक्य द्वारा यशोधवल को महामण्डलेश्वर और परमार वंश का बताया है। यह राजा कुमारपाल का माडलिक राजा था और आबू में राज्य करता था। स० १२२० का उसके पुत्र धारावर्ष का एक लेख मिला है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यशोधवल का देहान्त इससे पूर्व हो गया होगा।[2]

मालवा के परमार राजा यशोवर्मा को गुर्जर नरेश सिद्ध राज जयसिंह ने पराजित करके मालवा पर अधिकार कर लिया था। यशोवर्मा के पश्चात् मालवाधिपति का विरुद बल्लालदेव के साथ लगा हुआ मिलता है। किन्तु परमार वशावली मे बल्लाल नामक कोई व्यक्ति नही मिलता। तब प्रश्न उठता है कि यह बल्लाल किस वश का था।

बल्लाल की मृत्यु के सम्बन्ध मे कई प्रशस्तियों और लेखों में उल्लेख मिलता है। बड़नगर में कुमार पाल की एक प्रशस्ति मिलती है। उसके १५वे श्लोक मे बताया है कि बल्लाल को जीत कर उसका मस्तक कुमार पाल के महलो के द्वार पर लटका दिया। इस प्रशस्ति का काल सं० १२०८ है और कुमार पाल के राज्याभिषेक का काल सं० १२०० है। अतः इस बीच मे ही बल्लाल की मृत्यु होनी सम्भव है।

ऊन के एक शिव मन्दिर मे एक शिलालेख है। उस में बल्लाल देव का नाम आया है। भोज प्रबन्ध का कर्त्ता भी एक बल्लाल था। ऊन नगर के बसाने वाले बल्लाल से भोज प्रबन्ध का कर्त्ता बल्लाल भिन्न था या दोनों एक ही व्यक्ति थे। यह भी एक प्रश्न है। ऊन को बसाने वाला बल्लाल निश्चय ही एक राजा था और उसका एक सामन्त भुल्लण ब्राह्मण वाड का शासक था जैसा कि 'पउजुण्ण चरित्र' की प्रशस्ति से पता चलता है। सम्भव है, इस राजा ने ही भोज प्रबन्ध की रचना की हो। अभी एक समस्या शेष है, जिसका समाधान आवश्यक है। बल्लाल को कुमार पाल चरित ग्रन्थों, शिलालेखों और प्रशस्तियो मे सर्वत्र मालव राज लिखा है क्या मालवा मे उज्जयिनी भी शामिल थी ?

श्री लक्ष्मी शंकर व्यास ने "चौलुक्य कुमारपाल" नामक ग्रंथ लिखा है। उसमे उन्होने बल्लाल नामक दो राजाओं का उल्लेख किया है एक उज्जयिनी राज बल्लाल तथा दूसरे मालवराज बल्लाल। तथा यह भी लिखा है कि उज्जयिनी राज बल्लाल ने मालवराज बल्लाल से सैनिक अभिसन्धि कर ली।

इस ग्रथ के आमुख लेखक डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी चौलुक्य कुमारपाल के विरुद्ध उज्जयिनी के राजा बल्लाल द्वारा अभियान करने का उल्लेख किया है।

इन इतिहासकारों के मत में उज्जयिनी और मालवा के राजाओं के नाम बल्लाल थे। दोनो समकालीन थे और दोनों की परस्पर सुरक्षा सन्धि थी। इन विद्वानो की इस मान्यता का आधार क्या है ? यह स्पष्ट नहीं हो सका।

आचार्य सोमप्रभु, आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य सोम तिलक सूरि के कुमारपाल सम्बन्धी चरित ग्रथो मे बल्लाल को मालवराज लिखा है। तथा यह भी स्पष्ट लिखा है कि बल्लाल के ऊपर चढ़ाई करने वाले सेनापति ने शत्रु का सिर छेद करके कुमारपाल की विजय पताका उज्जयिनी के राजमहल पर फहरा दी। उदयपुर (भेलसा) मे कुमारपाल के दो लेख सं० १२२० और १२२२ के मिले है। उनमें कुमारपाल को अवन्तिनाथ कहा गया है। मालवराज बल्लाल को मार कर कुमारपास अवंतिनाथ

---

१. रोदः कंदरवर्ति कीर्तिलहरी लिप्तामृताशुद्युते।
रप्रद्युम्नवशो यशोधवल इत्यासीत्तनूजस्ततः॥
यश्चौलुक्य कुमारपाल नृपतिः प्रत्यर्थितामागत।
मत्वा सत्वरमेव मालवपति बल्लालमालब्धवान्॥
अर्थात् परमार वशी रामदेव के अत्यन्त यशस्वी कामजेता यशोधवल नामक पुत्र हुआ। चौलुक्य वंशी कुमारपाल के शत्रु मालवपति बल्लाल को आता जानकर इसी ने उसको मारा।

२. भारत के प्राचीन राजवश, भाग १, पृ० ७६–७७।

कहलाया। इसका तात्पर्य ही यह है कि मालवराज बल्लाल और उज्जयिनी का वल्लाल ये दो पृथक् व्यक्ति नही थे। दोनों एक थे।

यहाँ हम संक्षेप मे मालवा के परमारो और गुजरात के चालुक्य राजाओं का क्रम-बद्ध इतिहास[1] दे रहे है। इससे अनेक शकाओं का समाधान हो जाता है।

"मुंज और सिन्धुराज ने मालवा मे परमारों का राज्य सुदृढ़ किया। सिन्धुराज का पुत्र भोज सन् १००० में मालवा की गद्दी पर बैठा। उसने अपना राज्य चित्तौड, बाँस वाड़ा, डूगरपुर, भेलसा, खानदेश, कोंकण और गोदावरी के ऊपरी मुहानों तक विस्तृत कर लिया। धारा, उज्जैन और माण्डु उसी के अधिकार में थे। उसके राज्यकाल में ही सन् १०४२ मे चौलुक्य जयसिंह के पुत्र सोमेश्वर प्रथम ने मालवा पर कुछ समय के लिए अधिकार कर लिया। भोज की मृत्यु के बाद सन् १०५५ में मालवा कलचुरि और चालुक्यों के हाथ मे चला गया। भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह हुआ। उसने दक्षिण के विक्रमादित्य षष्टम की सहायता से पुन: एक बार मालवा पर अधिकार कर लिया। सोमेश्वर द्वितीय ने पुन: एक बार मालवा पर चढ़ाई करके जयसिंह को मार दिया और मालवा पर अधिकार कर लिया। जयसिंह की मृत्यु होने पर भोज के भाई उदयादित्य ने चाहमान विग्रहराज तृतीय की सहायता से पुन: मालवा पर अधिकार कर लिया। सन् १०८० और १०८६ के उदयादित्य के शिलालेखों के अनुसार उसकी राज्य-सीमाएं दक्षिण में निमाड़ जिला, उत्तर में झालावाड़ स्टेट, पूर्व मे भेलसा तक थीं। सन् ११०४ के लेख के अनुसार उसके बाद क्रमशः उसके दो पुत्र—लक्ष्मदेव और नरवर्मन गद्दी पर बैठे।

नरवर्मन मालवा की गद्दी पर सन् १०९४ मे बैठा। नरवर्मन चन्देल और शाकम्भरी के राजाओं से दो बार पराजित भी हुआ। चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के हाथों भी उसे करारी पराजय उठानी पड़ी और इसमें वह कैद भी हो गया। वह बाद में छूट गया, किन्तु परमार राज्य की चूलें तक इससे हिल गई।

नरवर्मन का पुत्र यशोवर्मन सन् ११३३ में गद्दी पर बैठा। परमार राज्य बिखर गया था। देवास में विजयपाल ने अपना राज्य जमा लिया। चन्देल मदनवर्मन ने भेलसा पर अधिकार कर लिया। फिर चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज ने पुन: मालवा पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया और सम्पूर्ण मालवा पर अधिकार करके उसे अपने राज्य मे मिला लिया और 'अवन्तिनाथ' विरुद धारण किया। सन् ११३८ तक मालवा जयसिंह के अधिकार मे रहा। इसके पश्चात् सम्भवतः यशोवर्मन के पुत्र जयवर्मन ने जयसिंह चौलुक्य के शासन के अन्तिम दिनों मे मालवा को स्वतन्त्र कर लिया। किन्तु वह अधिक समय तक मालवा पर अपना अधिकार नही रख सका। कल्याण के चालुक्य जगदेकमल्ल और होयसल नरसिंह प्रथम ने मालवा पर आक्रमण किया, उसकी शक्ति नष्ट कर दी और उस देश की राजगद्दी पर 'वल्लाल' नामक एक व्यक्ति को बैठा दिया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् सन् ११४३ मे चौलुक्य कुमारपाल ने वल्लाल को राजगद्दी से उखाड फेका और भेलसा तक सारा मालवा अपने राज्य मे मिला लिया।

लगभग बीस वर्ष तक मालवा गुजरात के राज्य का भाग रहा। इस अवधि मे परमार वंश के राजा गुजरात नरेश के सामन्त बनकर भोपाल, निमाड़ जिला होशंगाबाद और खानदेश का शासन चलाते रहे। इन्हें 'महाकुमार' कहा जाता था। बारहवीं शताब्दी के सातवें शतक मे परमार जयवर्मन के पुत्र विंध्यवर्मन ने चौलुक्य मूलराज द्वितीय को पराजित करके मालवा पर अधिकार कर लिया। किन्तु विंध्यवर्मन शान्तिपूर्वक राज्य नहीं कर पाया। होयसलो और यादवो ने उसे चैन से नहीं बैठने दिया, वे मालवा पर निरन्तर आक्रमण करते रहे। सन् ११९० के लगभग चोलो की सहायता से विंध्यवर्मन ने होयसल राज्य पर आक्रमण कर दिया किन्तु होयसल नरेश वल्लाल द्वितीय ने उसे भगा दिया।"

1. The Paramaras of Malwa (XI), The Chaulukyas of Gujrat, (XII) by D.C. Ganguly, in The Struggle for Empire, Vol. V, p. p. 66–81, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.

उपर्युक्त विवरण से कई बातों पर प्रकाश पडता है। (१) मालवराज वल्लाल परमार वश का राजा नही था। (२) मालवा और अवन्ती मे वल्लाल नाम के दो राजा नहीं थे, किन्तु अवन्ति भी मालवा मे थी और चालुक्य-होयसल राजाओं ने मिलकर परमार नरेश को मार कर उसके स्थान पर वल्लाल को राजा बनाया था। (३) होयसल वशी वल्लाल द्वितीय कुमारपाल की मृत्यु (सन् ११७२) के पश्चात् सन् ११७३ मे राजसिंहासन पर बैठा था। मालवराज वल्लाल की मृत्यु उससे पहले ही हो चुकी थी; क्योंकि कुमारपाल के सामन्त यशोधवल ने युद्ध में उसे मारा था। इसलिए यह सम्भावना भी समाप्त हो जाती है कि प्रशस्तियो और लेखों में जिस मालवराज वल्लाल का उल्लेख आया है, वह होयसल वंशी वल्लाल द्वितीय हो सकता है।

इन निष्कर्षों के प्रकाश मे हम यह स्वीकार कर सकते है कि ऊन मे मन्दिरो का निर्माता मालवराज वल्लाल था। तब एक प्रश्न शेष रह जाता है कि अगर यह मालवराज वल्लाल परमार या होयसल नही था तो फिर यह किस वंश से सम्बन्धित था?

इस सम्बन्ध मे खेरला गाँव (जिला बैतूल) से प्राप्त शिलालेख से कुछ समाधान मिल सकता है। यह शिलालेख शक स० १०७९ (ई० सन् ११५७) का है। इस शिलालेख में राजा नृसिंह—वल्लाल—जैतशाल ऐसी राज-परम्परा दी हुई है। यह शिलालेख खण्डित है, अत: यह पूरा नही पढा जा सकता है। एक और भी लेख यहाँ प्राप्त हुआ है। यह लेख शक सं० १०९४ (ई० सन् ११७२) का है। इस समय जैतपाल राजा राज्य कर रहा था। इस लेख का प्रारम्भ 'जिनानुसिद्धि:' पद से हुआ है। इससे लगता है कि ये राजा जैन थे। किन्तु जैतपाल को मराठी के आद्य कवि मुकुन्दराज ने वैदिक धर्म का उपदेश देकर उसे वेदानुयायी बना लिया था।

ये राजा ऐल वंशी राजा श्रीपाल के वंशज थे। खेरला ग्राम श्रीपाल राजा के आधीन था। राजा श्रीपाल के साथ महमूद गजनवी (सन् ९९९ से १०२७) के भाजे अब्दुल रहमान का युद्ध हुआ था। 'तवारीख-ए-अमजदिया' के अनुसार यह युद्ध ई० सन् १००१ में एलिचपुर और खेडला के निकट हुआ था। अब्दुल रहमान का विवाह हो रहा था। तभी लडाई छिड़ गई। वह दूल्हे के वेश मे ही लड़ा। इस युद्ध मे दोनों मारे गये।

इस ऐतिहासिक तथ्य से यह सिद्ध हो जाता है कि वल्लाल ऐलवंशी था। इसके पूर्वजों का शासन ऐलिचपुर में था। कल्याण के चालुक्य जगदेकमल्ल और होयसल नरसिंह प्रथम ने परमार राजा जयवर्मन के विरुद्ध सन् ११३८ के लगभग आक्रमण करके उसे राज्यच्युत कर दिया और अपने विश्वस्त राजा बल्लाल को ऐलिचपुर से बुला कर मालवा का राज्य सौंप दिया और सन् ११४३ मे चौलुक्य कुमारपाल की आज्ञा से चन्द्रावती नरेश विक्रमसिंह के भतीजे परमारवशी यशोधवल ने बल्लाल पर आक्रमण करके युद्ध मे उसका वध कर दिया और उसका सिर कुमारपाल के महलो के द्वार पर टाग दिया। इस प्रकार बल्लाल मालवा पर प्राय: ५–७ साल तक ही शासन कर पाया। किन्तु 'पज्जुण्ण चरिय' मे बल्लाल को सपाद लक्ष के अधिपति अर्णोराज के लिए काल स्वरूप बताया है। इससे प्रतीत होता है कि बल्लाल अत्यन्त वीर और साहसी था और उसने अल्पकाल मे ही अपने प्रभाव का विस्तार कर लिया था।

हमे यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि बल्लाल प्रतापी नरेश था। साथ ही उसका व्यक्तित्व विवादास्पद भी था। विभिन्न शिलालेखों और ग्रन्थों मे उसके सम्बन्ध में एकमत्य नही मिलता। 'पज्जुण्ण चरिय' मे उसे रणधोरी का पुत्र बताया है तो खेरला के शिलालेख में नृसिंह का। सोमप्रभ आचार्य ने "कुमार पाल प्रबोध" में कुमार पाल नरेश के सेनाध्यक्ष काकभट को बल्लाल का वध करने वाला बताया है तो लूणवसति, अचलेश्वर और अजारी गाँव के शिलालेखों में बल्लाल के सहार कर्त्ता का नाम यशोधवल दिया है। इस प्रकार के मतभेदों के कारण और कही भी उसके वश का उल्लेख न होने के कारण इतिहासकारों मे भी बल्लाल को लेकर भारी मतभेद पाये जाते है। ऐसी स्थिति मे किसी भी शिलालेख अथवा प्राचीन ग्रंथ की विश्वसनीयता मे सदेह न करते हुए भी उनमे सामञ्जस्य स्थापित करने का हमे प्रयत्न करना है। तभी सत्य पकड़ मे आ सकता है।

विवादास्पद पावागिरि—ऊन को पावागिरि सिद्ध-क्षेत्र मानने में जो कारण ऊपर दिये है, कुछ विद्वान इन कारणों को विशेष महत्व नही देना चाहते। पुरातत्व सामग्री और चरण तो उन स्थानो पर भी प्राप्त हुए है, जो सिद्धक्षेत्र नही माने जाते है। इसी प्रकार निर्वाण काड के क्रमिक वर्णन को कोई गम्भीर कारण नही माना जा सकता। निर्वाण काण्ड मे क्रम का कोई ध्यान नही रक्खा गया। इसके अतिरिक्त इन कारणो के विरुद्ध कई तर्क हैं। निर्वाण काण्ड की कई प्राचीन प्रतियों मे 'पावागिरि-वर सिहरे' यह गाथा नही मिलती, लगता है यह गाथा विवादास्पद रही है। कुछ लोग इसे निर्वाण काण्ड की मूल गाथा मानते हैं और कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते है।

यह बात भी आश्चर्यजनक है कि वर्तमान मे ऊन में उपलब्ध किसी शिलालेख, मन्दिर या मूर्ति पर पावागिरि का नाम नही मिलता और न यहाँ चेलना अथवा चलना नदी ही है। यहाँ जो नदी वर्तमान मे है। उसे लोग चिरूड़ कहते हैं और सरकारी कागजातों मे इस नदी का नाम चन्देरी पाया जाता है। चेलना का चिरूड़ या चन्देरी के रूप मे कैसे अपभ्रंश हो गया, इसकी खोज अब तक नही हो सकी है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। मालव नरेश बल्लाल ने यहाँ ९९ मन्दिरों का निर्माण कराया था। उपर्युक्त किवदन्ती के अनुसार उसने इन मन्दिरों का निर्माण व्याधि से मुक्त होने औरदबा हुआ धन प्राप्त होने पर उससे ही कराया था। यदि यह किवदन्ती निराधार है, यह भी मान लिया जाय तब भी उसने यहाँ पर तीर्थ-क्षेत्र होने के कारण इन मन्दिरों का निर्माण कराया था। यह बात विश्वासपूर्वक कहना कठिन है। इन ९९ मन्दिरों में कितने जैन मन्दिर थे और कितने वैष्णव मन्दिर यह उल्लेख किसी शिलालेख आदि में देखने मे नहीं आया। किन्तु वर्तमान में जो ११ मन्दिर बचे हुए मिलते है, उन मे ९ मन्दिर वैष्णव हैं और २ मन्दिर जैन हैं। इससे यह अनुमान लगाना अनुपयुक्त न होगा कि वैष्णव मन्दिरों की संख्या जैन मन्दिरों की संख्या से अधिक रही होगी। इन मन्दिरों के अतिरिक्त इस भू भाग मे जो भग्नावशेष बिखरे पड़े है, वे उन्ही ९९ मन्दिरों के प्रतीत होते हैं। जो मूर्तियाँ और शिलालेख यहाँ मिले है, वे सब प्रायः बल्लाल के समय के अथवा पश्चात्काल के हैं, बल्लाल से पूर्व का कोई लेख, मूर्ति अथवा मन्दिर नहीं मिला इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बल्लाल से पहले उस स्थान को तीर्थ के रूप में मान्यता नही थी; बल्लाल ने तीर्थ क्षेत्र होने के कारण यहाँ मन्दिरों का निर्माण नहीं कराया था। अन्य किसी कारण से कराया था। यदि तीर्थभूमि होने के कारण उसने यहाँ मंदिरों का निर्माण कराया होता तो उसे यहाँ वैष्णव मन्दिर बनवाने की क्या आवश्यकता थी? बल्लाल अपने जीवन में मन्दिरों का ही निर्माण करा सका। मूर्तियों की प्रतिष्ठा तो उसके बाद मे हुई। जो जैन मूर्तियों अब तक भू गर्भ से प्राप्त हुई है। वे संवत् १२१८, १२५२ और १२६३ की है। ये सब बल्लाल के भी बाद की है। इस स्थान का नाम कभी पावा रहा हो, ऐसा कोई प्रमाण भी नही मिलता।

इन समस्त तर्कों के बावजूद हमारा एक निवेदन है कि यदि वास्तविक पावागिरि क्षेत्र वर्तमान ऊन न होकर कोई अन्य स्थान है, जब तक उसके सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण उपलब्ध न हों, तब तक संदेह और सम्भावनाओं केवल पर वर्तमान क्षेत्र को अमान्य कर देने की बात को गम्भीरता के साथ नही लिया जा सकता। पक्ष-विपक्ष के तर्क उपस्थित करने मे हमारा आशय शोध छात्रों और विद्वानों के समक्ष तथ्य उपस्थित करना है। जिससे पावागिरि सिद्धक्षेत्र वस्तुतः कहाँ है? इसका निर्णय किया जा सके।

क्या पवा क्षेत्र पावा गिरि है?—पवा क्षेत्र झांसी जिले में झांसी और ललितपुर के मध्य में ताल वहट से १३ कि० मी० दूर है। यह क्षेत्र घने जंगलो में दो पहाड़ियों के बीच मे स्थित है। क्षेत्र का प्राकृतिक सौंदर्य अत्यन्त मनोरम है। एक ओर बेतवा नदी बहती है, दूसरी ओर बेलना। चारों ओर पहाड़ियाँ और इन सबके बीच में क्षेत्र है। उत्तर की ओर जो नदी बहती है, उसे नाला कहा जाता है। इसके कई नाम हैं। नाले को बाँध के पास 'बेला नाला' कहते है और दूसरे बाँध के पास इसका नाम 'बेला ताल' पड़ता है। यह ताल

बहुत बड़ा है । आगे पहाड की परिक्रमा करता हुआ यह नाला 'बैलोना' नाम से पुकारा जाता है । किन्तु थोड़ा और आगे चल कर इसे 'बेलना' कहते है ।

क्षेत्र पर एक भोयरा है, जिसमे ६ तीर्थंकर मूर्तियां हैं । कुछ मूर्तियां बावड़ी की खुदाई मे भी निकली थी । एक मूर्ति की चरण चौकी पर प्रतिष्ठा-काल संवत् २६६ उत्कीर्ण है । किन्तु मूर्ति की रचना शैली से यह संवत् १२६६ प्रतीत होता है इस लेख मे 'पवा' शब्द भी लिखा हुआ है । जिससे प्रतीत होता है कि मूर्ति की प्रतिष्ठा यही पर हुई थी ।

इस क्षेत्र के अधिकारियो की मान्यता है कि यह क्षेत्र बहुत प्राचीन है तथा यही पावागिरि क्षेत्र है, यही से स्वर्णभद्र आदि चार मुनि मुक्त हुए थे । बेलना नदी ही वस्तुतः चेलना नदी है । चेलना का रूप बदलते २ बेलना नाम पड़ गया । अपनी इसी मान्यता की बदौलत ये लोग अब पवा को पावागिरि कहने लगे है ।

इसमें सन्देह नही कि पावा और पवा, चेलना और वेलना इनमें शब्द-साम्य है । किन्तु विचारणीय बात यह है कि जिस मूर्ति की चरण-चौकी पर पवा शब्द उत्कीर्ण मिलता है, उससे लगता है कि सवत् २६६ (ई० सन् २४२ मे, अथवा १२६६ (ई० सन् १२४२) में भी इस क्षेत्र को पवा कहा जाता था, पावा नही । बेलना नदी के जो विभिन्न नाम मिलते हैं, जैसे बैलानाला, बैलाताल बैलोना बेलना उन नामों में तो परस्पर साम्य है और बैलानाला का ही रूप बदलते-बदलते बेलना पड़ गया है, किन्तु चेलना या चलना के साथ उनका कोई साम्य नहीं और विश्वासपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि चेलना अथवा चलना का रूप बिगड़ने-बिगडते वेलना पड़ गया । इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि १२–१३ वीं शताब्दी से पूर्व कोई लेख, मूर्ति अथवा मन्दिर यहाँ उपलब्ध नही जिसमें स्पष्ट पावा का समुल्लेख मिलता हो । इसलिए केवल सम्भावना अथवा सन्देह के बल पर इसे पावागिरि और सिद्ध क्षेत्र मानना क्या उचित हो सकता है, इसके लिए कुछ ठोस आधार खोजने होंगे । वर्तमान कल्पनाओ के सहारे अधिक दूर तक नही चला जा सकता ।

पावागिरि क्षेत्र पर उपलब्ध पुरातत्त्व सामग्री—पावागिरि क्षेत्र ऊन के सम्बन्ध मे होल्कर राज्य के गजेटियर[1] मे उन ग्राम के सम्बन्ध मे विवरण प्रकाशित हुआ था उसमे लिखा है—"यह एक छोटा सा गांव है । इसकी एक मात्र विशेषता प्राचीन जैन मन्दिरों के भग्नावशेषों मे निहित है । ये १२वी शताब्दी के हैं, उनमे से एक मन्दिर मे धार के एक परमार राजा का एक लेख भी मिला है ।

प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता श्री राखालदास बनर्जी के मतानुसार खजुराहो के पश्चात् मध्य भारत मे ऊन के अलावा और कोई स्थान नही है जहा इतने प्राचीन देवालय अब तक सुरक्षित अथवा अर्धरक्षित दशा मे विद्यमान हों ।

प्रारम्भ में यहाँ पुजारी को पांच प्रतिमाएँ और एक चरण युगल मिले थे । कुछ समय पश्चात् धर्मशाला के पीछे जमीन खोदते समय एक प्रतिमा और चरण निकले थे । इनके अतिरिक्त चौबारा डेरा न० २ नामक जैन मंदिर मे बारहवी शताब्दी की दो तीर्थंकर मूर्तियाँ थी । जो इन्दौर नवरत्न मंदिर (पुरातत्त्व सग्रहालय) में पहुँचा दी गई हैं । इस मदिर के सिर दल पर वि० स० १३३२ का दो पक्तियो का एक लेख था, वह भी इंदौर संग्रहालय में सुरक्षित है ।

जो पांच मूर्तियाँ प्रारम्भ मे भूगर्भ से उत्खनन के फलस्वरूप निकली थी उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रतिमा नं० १—प्रतिमा खड्गासन, अवगहना एक फुट दस इञ्च । दोनों ओर इन्द्र । ऊपर की ओर दो देव तथा दो पद्मासन तथा एक खड्गासन प्रतिमा ।

प्रतिमा न० २—खड्गासन, अवगाहना एक फुट दस इञ्च । शेष पहली प्रतिमा के समान ।

प्रतिमा न० ३—खड्गासन, अवगाहना एक फुट दस इच । इधर-उधर दो इन्द्र । ऊपर दो देव तथा दो तीर्थंकर प्रतिमाएँ । एक पद्मासन, दूसरी खड्गासन ।

प्रतिमा न० ४—खड्गासन, एक चमरवाहक । यह शिलाफलक लगभग डेढ फुट का है ।

---

1 The Indore State Gazetter, Vol, I. Text by L. C. Dhariwal M.A. L.L.B., p. 669.

प्रतिमा नं० ५—भगवान महावीर की सवा दो फुट अवगाहना वाली पद्मासन प्रतिमा। वर्ण सिलहटी। इसकी चरण चौकी पर लेख है जो इस प्रकार पढ़ा गया है—

"आचार्य श्री प्रभाचंद प्रणमति नित्य सं० १२५२ माघ सुदी ५ खो चित्रकूटान्वये साधु बाल्हू भार्या शाल्हू तथा मदोदरी सुत गोल्ह रतन भालू प्रणमति नित्यं।"

इन मूर्तियों के साथ जो चरण मिले थे, वे लगभग दस इञ्च लम्बे है। उन पर कोई लेख नही है।

धर्मशाला के पीछे जो मूर्ति निकली थी, वह भगवान संभवनाथ की है, जो अत्यन्त मनोज्ञ है। इसकी अवगाहना लगभग एक गज है। तथा इसके आसन पर सं० १२१८ का लेख अंकित है जो दो पंक्तियों मे है।

पहाड़ पर ग्वालेश्वर के मंदिर मे शान्तिनाथ कुन्थुनाथ और अरहनाथ की तीन खड्गासन मूर्तिया है भगवान शान्तिनाथ की १२॥ फुट ऊंची है कुन्थुनाथ की ८ फुट और अरहनाथ की भी ८ फुट उंची प्रतिमाएँ हैं। भगवान कुन्थुनाथ की प्रतिमा पर निम्नलिखित लेख पढ़ा जा सकता है—

संवत् १२६३ जेष्ठ बदी १३ गुरौ.........आचार्य श्री यशकीर्ति प्रणमति।

इसी प्रकार अरहनाथ की प्रतिमा पर यह लेख अंकित है—

संवत् १२६३ जेष्ठ बदी १३ गुणोसिन्धी पं० तरंग सिंह जीत सिंह प्रणमति।

इन शिलाफलकों पर इन प्रतिमाओं के दोनों ओर इन्द्र यक्ष-यक्षिणी हैं। इन मूर्तियों की संरचना-शैली और शिल्प विधान अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का है।

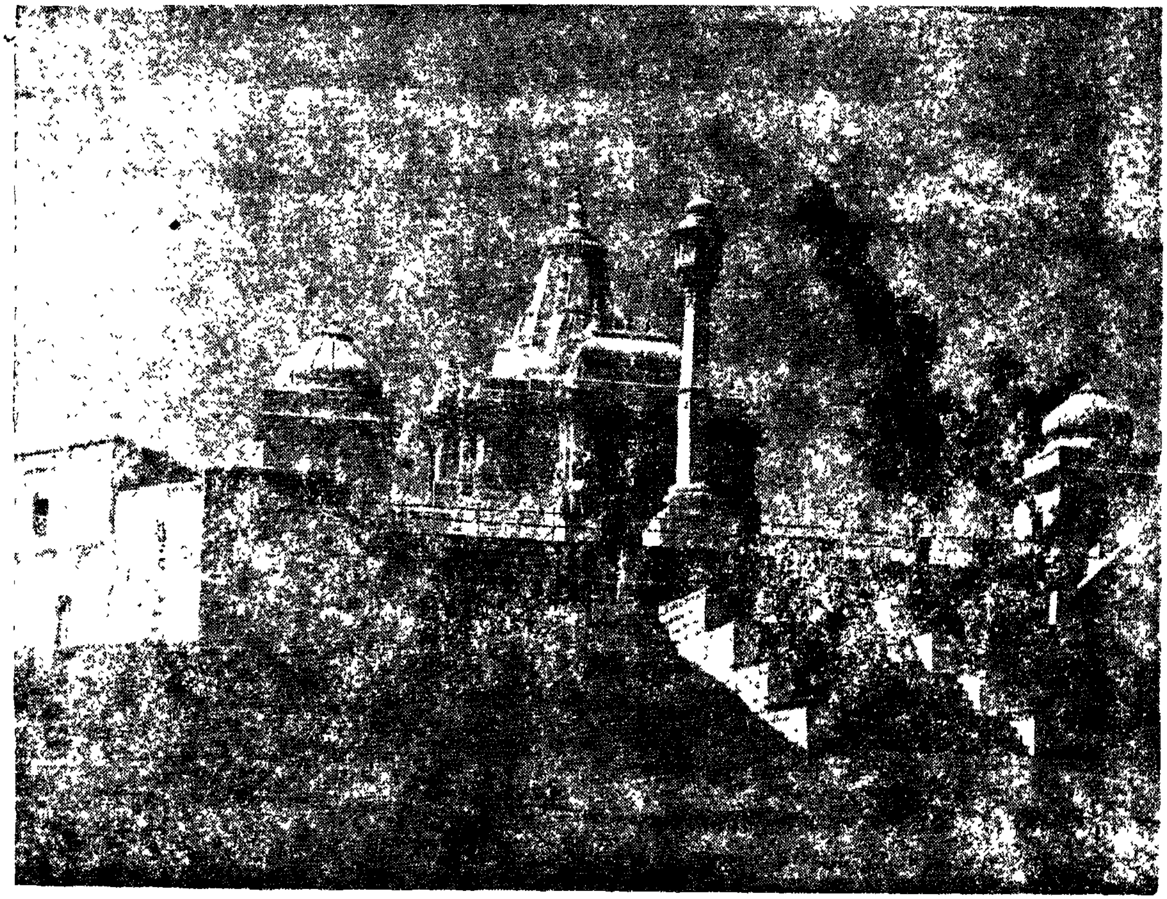
क्षेत्र पर अब तक जो पुरातत्त्व सामग्री—मूर्तियां चरण, शिलालेख आदि उपलब्ध हुए हैं, वे प्रायः १२-१३ वीं शताब्दी के हैं। उपलब्ध सामग्री के अतिरिक्त भी बहुत से मन्दिरों के भग्नावशेष इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। यदि खुदाई की जाय तो यहाँ और भी प्राचीन सामग्री मिलने की सम्भावना है।

मन्दिरों का परिचय—क्षेत्र पर तीन मन्दिर प्राचीन हैं—सड़क के पास ग्राम में दो मन्दिर हैं। इन दोनों जैन मन्दिरों का कलापक्ष अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत है। इन दोनों मन्दिरों में एक है चौवारा डेरा और दूसरा है नहाल अवार का डेरा। तीसरा मन्दिर ग्वालेश्वर मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है जो धर्मशाला से दो फर्लांग दूर पहाड़ पर अवस्थित है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

चौवारा डेरा—यह मन्दिर सड़क पर दिगम्बर जैन धर्मशाला के पीछे पूर्वाभिमुख अर्धभग्न दशा में विद्यमान हैं। इस मन्दिर के मध्य में एक सभा मण्डप बना हुआ है तथा पूर्व, दक्षिण और उत्तर की ओर अर्धमंडप बने हुए हैं। सभा मडप के चारों आधार स्तम्भ कला के उत्कृष्ट नमूनो मे से है। उत्तरी दीवाल पर एक वस्तु ऐसी बनी हुई है जिसकी ओर सहज ही ध्यान आकर्षित हो जाता है और इससे प्राचीन देवनागरी लिपि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यह है सर्पबन्ध। एक सर्पाकृति कुण्डलाकार बनी हुई है, जिस पर देवनागरी लिपि के वर्ण और धातुओं के परस्मैपद और आत्मनेपद के प्रत्यय बने हुए हैं सम्भवतः प्राचीनकाल में मन्दिर के इस भागका उपयोग एक पाठशाला के रूप के किया जाता था। बालकों को खेल-खिलौनों के माध्यम से उस काल में शिक्षण दिया जाता था, इस प्रकार सर्प वन्ध से तत्कालीन शिक्षण पद्धति की ओर संकेत करता है सर्प वन्ध के निकट ही दो छोटे लेख भी अंकित हैं। जिनमे मालवा के परमारवंशी राजा उदयादित्य का उल्लेख है। इसी देवालय के द्वार पर वि० सं० १३३२ का शिलापट लगा हुआ था, जिसमें लेख था तथा एक धर्मचक्र बनाहुआ था। उसके दोनों ओर सिंह और हाथी बने हुए थे। यह आजकल इन्दौर संग्रहालय में सुरक्षित है। इस मन्दिर का शिखर और उसमें की गई तक्षण कला नयनाभिराम है।

नहाल अवार का डेरा—यह मन्दिर सड़क और चौवारा डेरा के बीच मे है। इस मन्दिरके आस-पास नहाल लोगोंकी बस्ती है, इसलिए इसका नामनहालअवा का डेरा पड़ गया है। मन्दिर के मध्य में एक मण्डप बना हुआ है, जिसमें आठ स्तम्भ बने हुए हैं। मण्डप में चार द्वार हैं। पूर्व और पश्चिम के द्वारों से बाहर जाने की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। एक द्वार से गर्भ गृह में जाने का मार्ग है। इसके ऊपर का शिखर सम्भवतः टूट गया है। यह मन्दिर बहुत विशाल और भव्य बना हुआ है और ऊन के मन्दिरों में

प्रकृति के परमरम्य और अतिगहन वन्य प्रदेश में निर्मित



ऊन क्षेत्र का एक विशाल जिन मन्दिर

सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है। आजकल इस मन्दिर में कोई प्रतिमा विराजमान नहीं है। यहाँ की दो प्रतिमाए इन्दौर म्यूजियम मे पहुँच गई है। उनमे शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा पर स० १२४२ माघ सुदी ७ अंकित है। दूसरी प्रतिमा पर लेख तो है किन्तु वह अस्पष्ट है। सम्भवतः वह भी इसके समकालीन होगी।



श्री ग्वालेश्वर जिन भवन के अन्दर निर्मित तीन तीर्थंकर भगवानों की खड्गासन मूर्तियां

ग्वालेश्वर मन्दिर—पहाड पर जो विशाल मन्दिर बना हुआ है, वह ग्वालेश्वर मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः यह मन्दिर किसी ग्वाल नामक व्यक्ति ने बनवाया था, इसीलिए इसका नाम ग्वालेश्वर मन्दिर प्रसिद्ध हो गया। सिरपुर में एक मन्दिर मे शिलालेख मिला था। उसमे रामखेत के शिष्य ग्वाल गोविन्द का नाम मिलता है उदयपुर केशरिया में भी ग्वाल गोविन्द द्वारा प्रतिष्ठा किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। अचलपुर और खेरला का शासक श्रीपाल नरेश जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है—सम्भवतः इन्ही रामखेत का शिष्य था। यदि यह ग्वालेश्वर मन्दिर इसी ग्वाल गोविन्द का बनाया हुआ सिद्ध हो जाता है तो ऊन का इतिहास बल्लाल से प्रायः सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध हो सकता है। किन्तु अभी इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत प्रगट करना जल्दबाजी होगी।

कहते है, इस मन्दिर मे पहले एक सिंह रहा करता था। हो सकता है, निर्जन और एकान्त इस वन प्रदेश मे बने हुए इस पार्वत्य मन्दिर को अपने लिए सुरक्षित और सुविधाजनक समझकर वनराज ने इसे अपना अड्डा बना लिया हो।

इस मन्दिर की रचना शैली नहाल अवार डेरा मंदिर से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। शिखर का आमलक और उष्णीश जीर्णप्राय है किन्तु शेष भाग अखण्डित है। इसकी छतों मे अत्यन्त कलापूर्ण कमल बने हुए है जो छह-सात शताब्दियों के कठिन आघात सहकर आज भी सजीव से प्रतीत होते है। मन्दिर के मध्य मे सभा मण्डप बना हुआ है। तीन द्वार है, जिनके सिरदलो पर पद्मासन मूर्तियाँ बनी हुई है। इसका गर्भ गृह सभामण्डप से दस फुट नीचा है। नीचे पहुँचने के लिए दस सीढ़ियाँ बनी हुई है। गर्भ गृह मे तीन विशाल प्रतिमाएं खड्गासन मुद्रा में विराजमान हैं। ये तीनो प्रतिमाएं भगवान शान्तिनाथ, भगवान कुन्थुनाथ और भगवान अरहनाथ की प्रतीत होती हैं। इन मूर्तियों के अभिषेक के लिए दोनो ओर सीढियाँ बनी हुई है। सभा मण्डप की वेदी मे १४ प्राचीन प्रतिमाए विराजमान है तथा ९ प्रतिमाए नवीन विराजमान की गई है। भगवान सम्भवनाथ की ३ फुट ऊची मुख्य प्रतिमा है।

इस मन्दिर मे मूलनायक भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा है: अतः इसे अब शान्तिनाथ मन्दिर भी कहा जाता है। इसी मन्दिर को पावागिरि सिद्ध क्षेत्र कहा जाता है।

इस मन्दिर को देखने से एक बात की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। इसके शिखर की रचना अनूठी है

और वह जैन स्तूपो के आधार पर की गई प्रतीत होती है।

क्षेत्र का विकास—मन्दिरो का जीर्णोद्धार कार्य तत्कालीन होकर सरकार से क्षेत्र के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त होने पर दि० ५।१०।३५ को प्रारम्भ किया गया था। इसके फलस्वरूप प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार हो चुका है। जीर्णोद्धार के अतिरिक्त नवीन निर्माण कार्य भी हुआ है। सडक के किनारे एक विशाल धर्मशाला बन गई है। उसमे बडवाहा निवासिनी सेठानी बेसरबाई की ओर से एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो चुका है। इस मन्दिर मे मूल नायक भगवान महावीर की प्रतिमा है जो पद्मासन है और सवत् १२५२ की है। इसके अतिरिक्त ७ पाषाण की, ५ धातु की प्रतिमाएँ तथा ३ चरण-चिन्ह विराजमान है। यहा एक ऐसा यत्र भी विराजमान है, जिसमे सम्पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र अकित है।

पहाड के मन्दिर के सामने एक सुन्दर मानस्तम्भ बन चुका है। इसमे चार मूर्तियाँ विराजमान है। इस प्रकार नीचे और ऊपर के मन्दिरो मे प्राचीन और नवीन कुल ४० प्रतिमाएं है जिनमे ३३ पाषाण की है, ७ धातु की है। इनके अतिरिक्त ६ यत्र है।

क्षेत्र पर शिखरबन्द ३ मन्दिर है और ५ चैत्यालय है। ११ मन्दिर अर्धभग्न दशा मे खडे हैं। इनके अतिरिक्त अनेक मन्दिरो के भग्नावशेष इधर-उधर बिखरे हुए है। यह पुरातत्त्व विभाग के अन्तर्गत है।

इस स्थान पर इतने अधिक मन्दिरो के निर्माण को देखकर लगता है कि इस स्थान का किसी काल मे अवश्य सास्कृतिक महत्त्व रहा है।

व्यवस्था—क्षेत्र की व्यवस्था "श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र पावागिरि सरक्षिणी कमेटी द्वारा होती है, जिसका निर्वाचन तीन वर्ष पश्चात् होता है। यहाँ आय के साधन यात्रियो द्वारा दिया गया दान, मकान किराया और ध्रुव कोष का ब्याज है।

वार्षिक मेला—यहाँ पर पहले फाल्गुन सुदी ५ से १० तक वार्षिक मेला भरता था। किन्तु अब कुछ वर्षो से वह बद हो गया है। सवत् १९९३ मे यहा पच कल्याणक बिम्ब प्रतिष्ठा हुई थी। सवत् १९९४ मे महावीर चैत्यालय की वेदी-प्रतिष्ठा हुई थी। दोनो ही वर्ष यहाँ जनता की उल्लेखनीय उपस्थिति रही है।

क्षेत्र पर संस्थाएँ—इस समय क्षेत्र पर निहाल चन्द भवन, मिडिल स्कूल, शान्तिनाथ औषधालय और दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम नामक सस्थाएँ है।

—: ० :—

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमे घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-सस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बने और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें। इतनी महगाई में भी उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई, मूल्य वही ६) रुपया है। विद्वानों एवं शोधकार्य संलग्न महानुभावों से निवेदन है कि वे योग्य लेखों तथा शोधपूर्ण निबन्धों के संक्षिप्त विवरण पत्र में प्रकाशनार्थ भेजने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

शिवपुरी महिमा

श्री घासीराम जैन 'चन्द्र'

पावन विंध्याचल अंचल है, चलती मृदु मंद समीर यहां,
कलरव करती सरिताओं के, कलनाद भरे वर तीर यहां,
झर झर करते झरने सुन्दर, बहता प्रिय निर्मल नीर यहां,
मदमाती हरषाती लहरें, ओढ़े प्रिय पल्लव चीर यहां ।।१।।

श्री मोहनदास सिंघई निर्मित, बावन गंगा अति पावन है,
नंदीश्वर की मोहक रचना, जल कुण्ड मनोहर बावन है,
जलस्रोत भदैयां कुन्ड ललित, निश वासर झरना झरता है,
सख्या सागर जल केलि थली, रहता कंचन समनीर यहां ।।२।।

सिन्धिया वंश माधव नृप की, शुभ कीर्ति यहीं पर छायी है,
जीजा माता की भव्य मूर्ति, रच कला भवन पधराई है,
प्रिय हरित भरित परिधान सजित, शोभाशाली सुन्दर उपवन,
मनहरण जलाशय आम्रकुन्ज, यश गाते कोकिल कीर यहां ।।३।।

सिद्धेश्वर धर्म धरा लखिये, शिव मन्दिर शोभा शाली है,
शिवपुरी नगर का कीर्तिकुन्ज, रहती निशदिन खुशहाली है,
यह भव्य नगर का गौरव है, सौरभ सुगध यश गान भरी,
पूजन अर्चन आराधन को, रहती भक्तों की भीर यहां ।।४।।

स्वातन्त्र्य युद्ध ज्वाला फूंकी, तांत्या टोपे सेनानी ने,
आजादी का था मंत्र दिया, लक्ष्मी झांसी की रानी ने,
शिवपुरी नगर बलिदान भूमि, यह मूर्तिमंत तीर्थस्थल है,
वन भी सरिता सर गिरि मंदिर, मन भावन सिन्धु गहीर यहां ।।५।।

कैसा अति सुन्दर संग्रह है, यह पुरातत्त्व की झांकी है,
खंडित जिन प्रतिमाएँ अद्‌भुत, शोभा सुखदायक बाकी है,
बिखरी चहुं ओर कला पाकर, शिवपुरी धन्य कहलायी है,
सुरनर मुनि नतमस्तक होते, छवि छटा छलकते क्षीर यहां ।।

निर्जन गिरि कंदर खोह भरे, विचरण करती वन बालायें।
श्रृंगार भरी गगनागन को, छूती प्रिय पवत मालायें।
यह नरवर गढ़ है निकट यहीं, नल दमयंती की केलि थली।
वीरबा प्रदेश प्रसिद्ध यही, होते आये रणवीर यहा ॥७॥

शुभ सिद्ध भूमि जहा पावन हो, चलिये सोनागिर वंदन को।
जिन चंदनाथ की तपोभूमि, भव भव के पाप निकंदन को।
जिनके दर्शन अरु वदन से, तन मन हो जाते हैं पावन।
वह मुक्ति थान अभिराम गये, मुनि साढ़े पांच कराड़ यहा ॥८॥

गोपाचल पर्वत पुन्यथली, जिन बिम्ब विशाल सुहाते हैं।
जिनके दर्शन अरु वंदन से, कृत कृत्य धन्य हो जाते है।
नृप मानसिह को रगथली, कीर्ति कलधौत सनातन है।
वापी अरु कूप सरोवर है, अमृत मय जिनमें नीर यहा ॥९॥

कविलासनगर कोलारस है, गढ़ कोट द्वार चहुं ओर बने।
कुशवाह नृपति के रगमहल, जिससे थे सुन्दर कीर्ति सने।
जिनमदिर अतिशय क्षत्र यहा, जिनबिम्ब विशाल सुहावन है।
शुभ स्वग लोक से वदन को, आतो देवो को भीर यहा ॥१०॥

आवो दर्शन करले चलके, यह तीर्थ क्षेत्र पचराई है।
चौरासी की शोभा सुन्दर, अतिरूप राशिधर आई है।
थूवन जी के मदिर विशाल, मन भावन वैभवशाली हैं।
चंदेरी की प्राचीन कला, हरती जन मन की पीर यहां ॥११॥

शिवपुरी की भूमि पुरातन है, नूतनता की छवि छाई है।
श्री वीर जिनालय भवन कला, नव रूपराशि धर आई है।
यह मानस्तभ गगनचुंबी, कचनमय कलश शिखर सोहे।
रवि किरण प्रभा देती, बरसाता चन्द्र सुधा के सीर यहा ॥१२॥

पावन विंध्याचल अंचल है, बहती मृदु मंद समीर यहा ॥

चाणक्य

परमानन्द जैन शास्त्री

चाणक्य—गोलविषयान्तर्गत चणय नामक ग्राम मे उत्पन्न हुग्रा था। उसके पिता का नाम चणो या चणय था और माता का नाम था चणेश्वरी। ये दोनों ही जन्म से श्रावक थे, और जैनधर्म का अनुष्ठान करते थे। चाणक्य का नाम विष्णुगुप्त था। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि मे चाणक्य के आठ नाम दिये है। वात्स्यायन, मल्लिनाग, कुटिल (कौटिल्य), चाणक्य, पालीभाषा मे 'चणक्क' और प्राकृत भाषा मे चाणक्क होता है, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल[1]। बौद्धों की 'विसत्थप्पकासिनी' के अनुसार चाणक्य तक्षशिला का निवासी था। यद्यपि चाणक्य का पिता जन्म से ब्राह्मण था, किन्तु वह जैनधर्म का अनुयायी था। जिस समय चाणक्य का जन्म हुआ उसके मुख मे पूर्ण विकसित दन्तपंक्ति देख कर सब लोगो को आश्चर्य हुआ। किन्तु जब जैन साधु उसके पित्रालय मे आये। तब उसके पिता ने उनसे पूछा, तब उन्होने बतलाया कि ये दांत राजत्व के बोधक है[2]। किसी दिन यह चाणक्य राजा बनेगा। चाणक्य का पिता जैनधर्म का पालक था। अतः वह स्वभावतः ससार के प्रति विरक्त और मनोषी था। जैन साधुओ की वाणी सुनकर उसे बड़ा दुख हुआ। वह धर्मात्मा था और वैभव को पाप समझता था। अतः उसने बच्चे के दाँत उखाड डाले। इस पर उन साधुओं ने भविष्यवाणी की, कि अब यह बालक स्वय राजा न हो सकेगा; किन्तु अन्य व्यक्ति के सहयोग से राज्य करेगा। अन्य को राजा बनायेगा। परन्तु वास्तविक राज्य सत्ता उसके ही हाथ मे रहेगी। योग्य वय होने पर उसने तक्षशिला तथा उसके निकटवर्ती स्थानो में रहने वाले आचार्यों के निकट चौदह विद्याओ की शिक्षा प्राप्त की। वह छह अंग चतुरानुयोग, दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र और निमित्त आदि सभी विद्याओ मे पारगत हो गया। और यशोमति नाम की एक श्यामा सुन्दरी से उसका विवाह हो गया। और वह ब्राह्मणोचित शिक्षक वृत्ति से दरिद्रता के साथ जीवन व्यतीत करने लगा।

एक बार उसकी स्त्री अपने भाई के विवाह मे अपने मायके चली गई। विवाह में उसकी अन्य विवाहिता बहनें भी आई थी। समागत बहनो ने उसकी दीन अवस्था को देख कर उसकी निर्धनता का उपहास किया। जिसमे वह बड़ी दुखी हुई, और रोती हुई अपने घर आई। उसने सारा वृत्तान्त चाणक्य से कहा। उसी दिन से चाणक्य ने धनोपार्जन करने का निश्चय किया। और वह घूमता घामता पाटलिपुत्र पहुँचा। वहां उसे ज्ञात हुआ कि नन्द राजा ने एक दानशाला खोल रक्खी है। महा पद्मनन्द विद्वानों का बडा आदर करता था। और उन्हें दानादि से सन्तुष्ट भी करता था। चाणक्य वहाँ गया और उसने राजसभा के समस्त विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया, और संघ ब्राह्मण का पद प्राप्त किया तथा वह दानशाला के अग्रासन पर जा बैठा। किन्तु उसकी कुरूपता, अभिमानी प्रकृति और उद्धत

---

१. वात्स्यायनो मल्लिनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिल स्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्चसः॥५१७
—अभिधान चिन्तामणि पृ० २११

२. "चाणक्केति, गोल्लविसये, चणयग्गामो, तत्थ चणि तो माहणो, सो अवगय सावगो तस्स घेर साहू ठिया, पुत्तो से जातो सह दाठाहिं, साहूण पाएसु पाडितो, कहियं च, साहू हि भणिय—राया भविस्सह, ततो मा दुग्गति जाहितीति दन्ता घंसिया पुणो वि आयरियाणा कहियं, भणति कज्जउ एत्ताहे विवंतरियो राया भविस्सह अम्मुक बालभावेण चोद्दस वि, विज्जाठाणाणि आगमियाणि सोत्थ सावगो संतुट्ठो।"
—आवश्यक चूर्णि भा० ३, पृ० ५३७

स्वभाव के कारण युवराज घननन्द उससे रुष्ट हो गया। और उसने चाणक्य का अपमान किया, और उसे अग्रासन से शिखा पकड़ कर उतरवा दिया। इस अपमान से चाणक्य आग बबूला हो गया। उसने उसी समय नन्दवंश का सान्वयनाश करने की कठोर प्रतिज्ञा की[३]। अपने जन्म समय मे साधुओं द्वारा की गई भविष्यवाणी का स्मरण कर परिव्राजक के वेष मे वह एक ऐसे व्यक्ति की खोज मे निकल पड़ा, जो राजत्व के गुणो से युक्त हो।

हिमालय की तराई मे पिप्पलीवन के मोरियो का एक गणतन्त्र था। ये लोग व्रात्य क्षत्री थे, और जैनधर्म को मानते थे। एक दिन घूमते घामते चाणक्य इसी ग्राम मे पहुँचा, और गांव के मोर्यवंशी मुखिया के यहाँ ठहरा। उस मुखिया का पुत्री गर्भवती थी, उसे उसी समय चन्द्र-पान करने का दोहला उत्पन्न हुआ था। चाणक्य ने कहा उत्पन्न होने वाले शिशु पर मेरा अधिकार रहेगा, इस शर्त पर युक्ति से वह दोहला शान्त कर दिया। और वहाँ से चल दिया। कुछ समय पश्चात् उस लडकी ने एक सुन्दर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। दोहले के आधार पर उसका नाम चन्द्रगुप्त रक्खा गया। ये घटनाए सम्भवतः ३४५ ई० पूर्व म हुईं।

विशाल राज्य के अधिपति नन्दों का समूल विनाश करना हँसी-खेल नहीं था। चाणक्य इस तथ्य से परिचित था, किन्तु दृढ प्रतिज्ञ था और बड़े धैर्य के साथ उसकी तय्यारी मे सलग्न रहा। आठ-दश वर्ष बाद वह फिर जब उसी ग्राम मे आया, तब उसे ग्राम के कुछ बालक खेलते हुए मिले। उनमे एक तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य बालकों पर शासन कर रहा था। चाणक्य कुछ देर तक उन बालकों के कौतुक को देखता रहा। पश्चात् उसने उस बालक से वार्तालाप किया। वह उसकी तुरतबुद्धि, वीरता, साहस और तेजस्विता को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह सामुद्रिक शास्त्र का भी ज्ञाता था, अतएव उसे बालक के सामुद्रिक चिन्हों में सम्राट् बनने के लक्षण दीख पड़े। पूछ तांछ से ज्ञात हुआ कि यह वही बालक है जिसकी माता का दोहला शान्त किया था। अतएव वह उस बालक को साथ लेकर चल पड़ा। और कई वर्ष तक उसे राज्योचित शस्त्र और शास्त्र विद्या की शिक्षा देकर निपुण बना दिया। और धीरे-धीरे उसने उसके कुछ साथी युवक भी जुटा दिये।

३२६ ई० पूर्व सिकन्दर का जब भारत पर आक्रमण हुआ और विदेशी यवनों के भारत पर होने वाले आधिपत्य मे देशभक्त चाणक्य के हृदय को बड़ी चोट लगी। किन्तु वह विश्वविजेता सिकन्दर की प्रसिद्धि से प्रभावित भी हुआ। अतएव उसने चन्द्रगुप्त को सलाह दी कि वह यूनानियो की सैनिक पद्धति, सैन्य सचालन और युद्ध कौशल का प्रत्यक्ष अनुभव करे। चन्द्रगुप्त यूनानी शिविर मे चला गया। और गुप्तचर होने के सन्देह में बन्दी हो गया। और सम्राट् के सामने उपस्थित किया गया। उसकी निर्भीकता से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उसे मुक्त कर दिया और पुरस्कार भी दिया। चन्द्रगुप्त ने अभीष्ट सैनिक जानकारी प्राप्त की। और सम्राट् सिकन्दर के भारत से बाहर निकलते ही पजाब के वाह्लीकों को उभाड़ कर यूनानी सत्ता के खिलाफ विद्रोह कर दिया। और ई० पूर्व ३२३ मे चाणक्य के निर्देशानुसार अपना एक छोटा-सा राज्य मगध साम्राज्य की सीमा पर स्थापित कर लिया। और ई० पूर्व ३२१ में चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने छोटी सी सेना के साथ छद्मवेष में पाटलीपुत्र पहुँच कर राजधानी पर आक्रमण कर दिया। परन्तु नन्द की असीम सैन्य-शक्ति के सामने उनकी कूट नीति सफल न हो सकी। और वे दोनो प्राण बचाकर वहाँ से भागे। नन्द की सेना ने पीछा भी किया, और बाल-बाल बचकर किसी तरह प्राणो की रक्षा कर सके।

एक दिन एक वृद्धा के झोपड़े के बाहर खड़े हुए इन दोनों ने उस वृद्धा को अपनी सन्तान को डाँटने के मिस यह कहते हुए सुना कि चाणक्य अधीर और मूर्ख है। उसने सीमा प्रान्तो को आधीन किये बिना ही साम्राज्य के केन्द्र पर धावा बोल कर बड़ी भारी भूल की है, उसी तरह तू भी कर रहा है। इससे चाणक्य को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। और फिर उन दोनों ने नये उत्साह

३. कोशेन भृत्यैश्च निबद्ध मूल,
पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्ध शाखम्।
उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि,
महाद्रुम वायुरिवोग्रतेजः॥ —सुखबोधा

और कौशल से तैयारी करना शुरू कर दिया। और विन्ध्याटवी में पूर्व सचित किये हुए विपुल धन की सहायता से विशाल सैन्य शक्ति का संग्रह किया। और पश्चिमोत्तर प्रदेश के यवन, काम्बोज, पारसीक, पुलात और सबर आदि म्लेच्छ जातियों की एक विशाल सेना तय्यार की। और पंजाब के मल्लि या मालव को अपना सहायक बनाया तथा गोकर्ण (नेपाल) के राजा पर्वत को साम्राज्य को आधा भाग देने का लोभ देकर अपना सहयोगी बनाया। और मगध के सीमावर्ती प्रदेशों को जीतना प्रारम्भ कर दिया। और जीते हुए प्रदेशो को सुसंगठित और अनुशासित करने का पूरा प्रयत्न किया। और उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए राजधानी का घेरा डाल दिया। घोर युद्ध हुआ। कूट नीति और षड्यन्त्रों से नन्दों को पराजित कर दिया। यद्यपि नन्द बड़ी वीरता से लडे और लड़ते-लड़ते वीर गति को प्राप्त हुए। अन्त में वृद्ध राजा महापद्म ने धर्मद्वार के निकट हथियार डाल कर आत्म समर्पण कर दिया। उसने चाणक्य से धर्म की दुहाई देकर सुरक्षित चले जाने की याचना की। चूकि चाणक्य की अभिलाषा पूर्ण हो चुकी थी। अत: उसने द्रवित होकर नन्दराज को सपरिवार राज्य त्यागकर अन्यत्र चले जाने की अनुमति दे दी। और यह भी कह दिया कि आप अपने साथ मे जितना धन ले जा सको ले जाओ। वृद्ध नन्द ने अपनी दो पत्नियो, पुत्री और थोड़ा सा धन लेकर नगर का परित्याग कर दिया। जाते हुए मार्ग मे नन्द पुत्री सुप्रभा ने विजयी सेना नायक चन्द्रगुप्त के रूप को देखा, वह उस पर मोहित हो गई। इधर चन्द्रगुप्त की भी वही दशा हुई। दोनों की दशा लक्ष्य मे कर नन्द और चाणक्य ने विवाह की अनुमति दे दी।

अब चन्द्रगुप्त मौर्य सुप्रभा को पट्टमहिषी बना कर मगध के राज्य सिंहासन पर आरूढ हुआ। और नन्द के जन-धन शक्ति सम्पन्न साम्राज्य का अधिपति हुआ। चार वर्ष के युद्ध प्रयत्नों के बाद सन् ३१७ ई० पूर्व पाटली पुत्र में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त के सम्राट् बनने के पश्चात् चाणक्य ने नन्द के मत्री राक्षस के षड्यन्त्रों को विफल किया। और उसे चन्द्रगुप्त की सेवा करने को राजी कर लिया। और किरातराज पर्वत को राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या करने के लिए भेजी गई विष कन्या के प्रयोग द्वारा मरवा डाला। इस तरह चन्द्रगुप्त का राज्य निष्कण्टक हो गया। चाणक्य को राज्य का प्रधान मंत्री बनाया, और चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के सहयोग से शासन की सुव्यवस्था की। मौर्य साम्राज्य का संगठन विस्तार बराबर वृद्धि करता रहा। ई० पूर्व ३१२ मे उसने अवन्ति को विजित कर उसे साम्राज्य की उप राजधानी बनाया। इस तरह चाणक्य ने नन्दवश का समूल नाश कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। और मौर्य साम्राज्य का प्रधान मंत्री बन कर उसे शक्तिशाली बनाने का उपक्रम किया।

द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के समय चन्द्रगुप्त ने राज्य का परित्याग कर भद्रबाहु से दीक्षा लेकर दक्षिण की ओर उनके साथ चला गया। तब भी चाणक्य बराबर राज्य का संचालन करता रहा।

चाणक्य राज्यनीति का पूर्ण पण्डित था। साम्राज्य की उन्नति और प्रजा में सुख-शान्ति की समृद्धि कैसे बने यह उसका ध्येय था। उसका लोक व्यवहार व्यावहारिक, नीतिपूर्ण और असप्रदायिक था। वह अन्तिम अवस्था मे साधु के रूप मे पक्का जैन था। उसकी एक मात्र कृति 'अर्थशास्त्र' है। यद्यपि वह लोकशास्त्र है और वह अपने असली मूल रूप में अनुपलब्ध है। पर जो उपलब्ध सस्करण प्राप्त है वह उसके बहुत कुछ बाद का और क्षेपक सस्करण है। तो भी उसमे जैनधर्म और जैनो का उल्लेख है। उसमे जैनो के प्रति कोई विद्वेष प्रदर्शित नही है किन्तु न्याय सम्पन्न वैभव प्राप्ति के प्रकरणो मे जैन धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है।

बिन्दुसार (अमित्रघात) के समय भी चाणक्य मत्री पद का कार्य करता रहा है। किन्तु बिन्दुसार को उसका प्रभाव सह्य नहीं था। उस समय चाणक्य पर्याप्त वृद्ध हो चुका था और वह राज्य को छोड़ कर आत्म-साधना का इच्छुक था। किन्तु चन्द्रगुप्त के आग्रह से उसके पुत्र की देख-रेख करने के लिए कुछ समय के लिए वह ठहर गया था। बिन्दुसार युवक था और वह उसका आदर भी करता था; किन्तु वह उसके प्रभाव से असंतुष्ट था।

यद्यपि चाणक्य राज्य कार्य में विशेष भाग नही लेता था। किन्तु उसके अधिकार तो अभी पूर्ववत् थे। बिन्दुसार का असन्तोष चाणक्य से छिपा हुआ नहीं था। अतः वह ई० पूर्व २९५ के लगभग सांसारिक सुखों का परित्याग कर दिगम्बर मुनि हो गया और तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना करने लगा।

मुनि चाणक्य अपने पांच सौ शिष्यों के साथ विहार करता हुआ क्रौञ्चपुर नगर के बाहर गोकुल स्थान मे कायोत्सर्ग में स्थित हो आत्मध्यान में संलग्न हो गया। क्रौञ्चपुर का राजा सुमित्र मुनिसघ का आगमन सुनकर उनकी वन्दना के लिए गया। और उनकी पूजा वन्दना कर तथा धर्मोपदेश सुनकर नगर में वापिस लौट आया। राजा के मंत्री सुबन्धु ने क्रोधवश शाम के समय घास-फूस इकट्ठा कर कण्डों में आग लगवा दी, जिससे चाणक्य ने पांच सौ मुनियों के साथ प्रायोपगमन संन्यास धारणकर, अग्नि के भयकर उपसर्ग को सहकर उत्तमार्थ की प्राप्ति की[1]—अपने पद से विचलित न होकर समाधि से शरीर का परित्याग कर देवलोक प्राप्त किया।

हरिषेण कथाकोष के अनुसार पांच सौ मुनियों के साथ प्रायोपगमन संन्यास का अवलम्बन किया, और महान उपसर्ग सहकर समाधि मरण द्वारा आत्म प्रयोजन सिद्ध किया। क्रौञ्चपुरीकी पश्चिम दिशा में चाणक्य की निषद्या बनी हुई है जिसकी साधु लोग आज भी वन्दना करते हैं। जैसा कि उसके निम्न पद्यों से प्रकट है :—

चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र शिष्य पञ्चशतैः सह।
पादोपगमनं कृत्वा शुक्लध्यानमुपेयिवान् ॥
उपसर्गं सहित्वेमं सुबन्धुविहितं तदा।
समाधिमरणं प्राप्य चाणक्यः सिद्धिमीयिवान् ॥
ततः पश्चिम दिग्भागे दिव्य क्रौञ्चपुरस्य सा।
निषद्यका मुनेरस्य वन्द्यतेऽद्यापि साधुभिः ॥

—हरिषेण कथाकोश पृ० ३३८

ब्रह्म नेमिदत्त ने आराधना कथाकोश में 'उत्तमं अट्ठं' वाक्य का अर्थ किया है, जो ठीक प्रतीत नहीं होता। वह सिद्धान्त विरुद्ध जान पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि उन मुनियों ने शुक्ल ध्यान मे स्थित होकर कर्मों का निःशेष नाश सिद्धि को (मोक्ष को) प्राप्त किया[2]। उत्तमार्थ का अर्थ रत्नत्रय प्राप्ति भी लिखा है। पर उत्तमार्थ का अर्थ श्रेष्ठ प्रयोजन को प्राप्त किया। वे रत्नत्रय से च्युत नहीं हुए—किन्तु शरीर का परित्याग कर देवलोक प्राप्त किया।

---

१. गोट्ठे पयोगदो सुबंधुणा गोव्वरे पलिविदम्मि।
उज्झन्तो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥
—आराधना १५५६ गाथा

२. पापी सुबन्धु नामा च मंत्री मिथ्यात्व दूषितः।
समीपे तन्मुनीन्द्राणां कारीषाग्नि कुधीर्ददौ ॥४१
तदाते मुनयो धीरा, शुक्ल ध्यानेन संस्थिताः।
हत्वा कर्माणि निशेष प्राप्ताः सिद्धिं जगद्धिताम् ॥४२
—आराधना कथाकोष पृ० ३१०

जीवन में उतारने योग्य नीति वाक्य

१. यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवाद स्वयशोभ्यः चरन्तींगां निवारय ॥

यदि तुम अपने एक कार्य से संसार के प्राणियों के प्रिय एवं श्रद्धास्पद बनना चाहते हो तो दूसरों की बुराई करने वाली तथा अपनी प्रशंसा करने वाली वाणी को अपने मुख से कभी न कहो।

२. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जो बात तुम्हें अपने लिए प्रिय नहीं लगती उसका प्रयोग तुम दूसरे के लिए कभी मत करो।

३. मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

दुष्ट लोग मन में कुछ और विचारते हैं, वचने से कुछ और कहते हैं तथा कार्य कुछ और ही प्रकार का करते हैं। परन्तु महात्मा लोगों के मन, वचन एवं कर्म तीनों में एकता होती है।

क्या प्राणी सुखदुःख प्राप्ति में पराश्रित है ?

मथुरादास जैन एम. ए., साहित्याचार्य

संसार में लोग प्राय: ऐसा कहते सुने जाते हैं कि जो भगवान को मंजूर है वही होता है। अर्थात् हमारा सुख-दुःख भगवान की इच्छा के अधीन है। लेकिन इस प्रकार की धारणा ठीक नहीं यह केवल शिष्टाचार की वस्तु है। जैन सिद्धान्तानुसार यह जीव स्वय ही अपने सुख दुःख का कर्ता तथा भोक्ता है। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ द्रव्यसग्रह में जीव के नौ अधिकारों को बतलाते हुए इसके स्वरूप का वर्णन किया है कि—

जीओ उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

जीव ज्ञानवान्, अमूर्त, (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन पुद्गल गुणों से रहित) कर्ता—अपने अच्छे बुरे कार्य का स्वय करने वाला, स्वदेह परिमाण अर्थात् जिस शरीर मे रहता है उसके परिमाण तथा भोक्ता अपने किये शुभ अशुभ कर्म के फल को स्वयं पाने वाला होता है। जो जीव संसार बन्धन से मुक्त होता है वह स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन कर जाता है।

जीव के इस स्वरूप से हमें ज्ञात होता है कि हम अपने सुख दुःख के पाने में किसी ईश्वर या शक्ति विशेष के आश्रित नहीं है। जैसा हम करते हैं, वैसा ही फल भोगते हैं। कुछ लोग ऐसा विचार रखने वाले को यह कह कर कि यह ईश्वर-भगवान् को नहीं मानता नास्तिक कहते हैं। लेकिन यह मनुष्य की भूल है। परमात्मा ईश्वर की सत्ता मानना और बात है तथा उसे प्राणियों को सुख दुःख देने वाला मानना और बात है। शास्त्रों का वह वचन है कि—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

अर्थात् यह प्राणी अज्ञ-नादान है और स्वयं अपने सुखदुःख को पाने मे सर्वथा असमर्थ है, यह ईश्वर के द्वारा प्रेरित हुआ स्वर्ग या नरक मे जाता है। इस प्रकार के विचार से मनुष्य मे अकर्मण्यता आती है वह सोचता है कि मेरे सुख दुःख ईश्वर के अधीन हैं। वह जैसा चाहेगा सुख दुःख देगा। मेरे करने से उसमे कुछ नही हो सकता, लेकिन इस प्रकार का विचार सर्वथा गलत है। हम अच्छा या बुरा जैसा कार्य करते है उसका वैसा फल पाते हैं। जैसे मनुष्य भोजन खाता है तो उसमे क्षुधा रोग की निवृत्ति होती है उसी तरह हम अच्छा या बुरा जैसा कार्य करते हैं उसका वैसा फल पाते है—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करै सो तस फल चाखा।"

अर्थात् यह संसार कर्मप्रधान है जो जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है वह उसका वैसा ही अच्छा या बुरा फल पाता है। "जैसा बोओ वैसा काटो" की उक्ति यही सिद्ध करती है कि जैसा हम करते है तदनुसार ही फल पाते हैं। यदि हम सुखी होना चाहते हैं तो हमें कभी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे हम दूसरो के दुख पहुँचाने वाले बनें। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप बतलाये गये हैं। इनके करने से हम निरन्तर दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचाते रहते है। अपनी स्वार्थ साधना में हमें यह महसूस नही होता कि ऐसा करने से दूसरों का हित होगा या अहित। जैसे एक मनुष्य नीम का बीज बोकर मीठे फल प्राप्त करने के साधन स्वरूप आम के पेड़ को प्राप्त नहीं कर सकता उसी तरह पाप कार्य करते हुए कोई सुख प्राप्ति का साधन पुण्य नहीं प्राप्त कर सकता।

गीता में श्रीकृष्ण जी ने बतलाया है कि—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मनमवसादयेत्,
आत्मैव आत्मनोबन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः।

हमें अपनी आत्मा का भला करना चाहिए। अपने आपको पतनोन्मुख (गिरावट की ओर जाने वाला) नहीं बनाना चाहिए। यह आत्मा ही आत्मा का (स्वयं ही स्वय का) सबसे बडा मित्र है और यह आत्मा ही आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। यदि हम भले कार्य कर अपने आपको दु:ख के गड्ढे में पड़ने से बचाते हैं तो हमसे अधिक हमारा और कौन मित्र हो सकता है। इसी तरह यदि हम पाप कर्म कर अपने आपको दु:ख के गड्ढे में गिराते हैं तो हमसे अधिक और कोई अन्य हमारा शत्रु नहीं हो सकता। गीता के इस उपदेश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम अपने आप को सुखी या दु:खी बनाने में सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इतना ही नही बल्कि हमें समझना चाहिए कि यदि हम पवित्र मार्ग पर चल रहे हैं तो दूसरा हमें दु:ख पहुँचाने की नीयत रखते हुए भी दु:ख नही पहुँचा सकता। इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि यह जीव स्वयं अपने शुभाशुभ का कर्ता तथा उसके फल का भोक्ता है।

कुछ महानुभाव श्रीमदाचार्य विद्यानन्द स्वामी द्वारा लिखित आप्त परीक्षा ग्रन्थ के मंगलाचरण स्वरूप निम्न श्लोक को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैनधर्म में भगवान की प्रसन्नता से इष्ट कार्यों की सिद्धि का उल्लेख है अर्थात् यदि हम भगवान को प्रसन्न कर ले तो हमारे कार्य की सिद्धि हो सकती है। श्लोक इस प्रकार है—

श्रेयो मार्गस्य संसिद्धि: प्रसादात् परमेष्ठिन:।
इत्याहुस्तद गुण स्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवा:॥

अर्थ इस प्रकार है कि कल्याण मार्ग की प्राप्ति भगवान् की प्रसन्नता से होती है। इसीलिए मुनि प्रवर शास्त्र के प्रारम्भ में भगवान का गुण-स्तवन करते हैं। यहाँ प्रसाद शब्द से भगवान की कृपा का अभिप्राय नहीं है। भगवान् (केवल ज्ञान सम्पन्न) तो इच्छा रहित होते हैं। क्योंकि जीव को केवल ज्ञान की प्राप्ति घातियाकर्म मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय के सर्वथा क्षय से होती है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है "मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्" मोहनीय के क्षय के बाद इच्छा की उत्पत्ति असम्भव है। उनके हृदय में न करुणात्मक भाव ही होते हैं और न क्रोधादि जन्य हिंसात्मक भाव ही। उनकी प्रसन्नता से अभिप्राय यही है कि जब हम अपने विशुद्ध (राग-द्वेष रहित) हृदय से भगवान की आराधना करते हैं तो स्वयं पुण्योपार्जन करते हुए हम अपने इष्ट कार्यों में सफल हो जाते है और व्यवहार मे कह देते हैं कि भगवान की कृपा से हमारे इस मनोरथ की सिद्धि हो गई। यथार्थ में भगवान् के हृदय में न दया है और न निर्दयता ही। इसी बात को आचार्य श्री अपनी बनाई टीका में स्पष्ट करते हैं कि "प्रसाद: पुन: परमेष्ठिन तद्विनेयानां प्रसन्नमनोविषयत्वमेव वीतरागाणां तुष्टि लक्षण प्रसादासभवात्, कोपासंभववत्।" अर्थात् भगवान की प्रसन्नता से अभिप्राय यही है कि यदि हम प्रसन्न (निर्दोष) मन से भगवान की आराधना करते है तो वही भगवान की हम पर प्रसन्नता है। वैसे वीत रागियों मे सन्तुष्ट होने रूप किसी प्रसाद की उत्पत्ति उसी तरह नहीं होती जिस तरह से कि कोप की उत्पत्ति नहीं होती। जैनधर्म में आप्त के स्वरूप का वर्णन करते समय उनमे तीन गुणों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ। वीतराग शब्द में राग पद से राग के सहचारी द्वेषकामी ग्रहण किया गया है। अत: वीतराग से अभिप्राय रागद्वेष से रहित होना है। हितोपदेशी से अभिप्राय जो लोगों को सन्मार्ग दिखावें और सर्वज्ञ से अभिप्राय सम्पूर्ण वस्तुओं के जानकार होने से है। जिनमें ये तीन गुण विद्यमान होते हैं, वे अपने मे पूर्ण होते हैं। ऐसे महापुरुष के द्वारा अन्यथा उपदेश की कोई सम्भावना नहीं होती। क्योंकि प्राय: दोष पूर्णकथन का आधार या तो रागद्वेष का सद्भाव होता है या ज्ञान की न्यूनता अथवा उपदेश की अकुशलता। आप्तमें इन तीनो बातों के अभाव के कारण आप्त में तथा उनके वाक्यों में पूर्ण प्रामाणिकता होती है।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीव अपने सुख-दु:ख में पराश्रित नहीं है। जैसा करता है वैसा ही फल पाता है। यदि हम अपने जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं तो हमें ऐसे कामों से सदा अलग रहना चाहिए जिनसे कि हम दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले बनते हैं। "कर भला होगा भला" का सिद्धान्त सर्वथा सत्य सिद्धान्त है और यही जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है।

वीर सेवा मन्दिर के कुछ प्रकाशन

परमानन्द जैन शास्त्री

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द की अपूर्व कृति है। यह स्तोत्र स्वामी समन्तभद्र के देवागम (आप्तमीमांसा) स्तोत्र जैसा सुन्दर, महत्त्वपूर्ण और दार्शनिक है। इसमें स्तुतिकार ने 'देवागम' स्तोत्र की शैली को अपनाया है। इसके प्रत्येक पद्य की रचना बड़ी गभीर और सात्विक है। यह सम्पूर्ण स्तोत्र भक्ति और तर्क से परिपूर्ण है। इसका हिन्दी अनुवाद न्यायाचार्य प० दरबारीलाल जी कोठिया ने किया है। साथ में विस्तृत प्रस्तावना दी गई है जिसमें स्तोत्र गत विशेषताओं को प्रकट करते हुए स्तोत्रकार के समयादि पर प्रकाश डाला गया है। मूल्य ७५ पैसा है।

शासनचतुस्त्रिंशिका—पं० आशाधर जी के समकालिक, तेरहवीं शताब्दी के महाविद्वान् मदनकीर्ति यतिपति की रचना है। इसमें अनेक सिद्ध क्षेत्रों और अतिशय क्षेत्रों पर स्थित जिन बिम्बों के अतिशयो, माहात्म्यो और प्रभावों के प्रदर्शन द्वारा यह बतलाया है कि दिगम्बर शासन अपनी निर्ग्रन्थता, अनेकान्त वादिता आदि विशेषताओं के कारण सर्व प्रकार से जयकार के योग्य है और उसके लोक में बड़े ही प्रभाव और अतिशय रहे हैं। इस रचना में उन्होंने कैलाश-स्थित ऋषभदेव का जिन बिम्ब, पोदनपुर के बाहुबली, श्रीपुर के पार्श्व नाथ, होलागिरि के शंखजिन, धारा के पार्श्वनाथ, वृहत्पुर के वृहद्देव, जैनपुर के (जैनवद्री) के गोम्मट स्वामी, पूर्व दिशा के पार्श्व जिनेश्वर, विश्वसेन द्वारा समुद्र से निकाले गये शान्तिजिन, उत्तर दिशा के जिन बिम्ब, सम्मेद शिखर के बीस तीर्थंकर, पुष्पपुर के पुष्पदन्त, नागद्रह के नागहृदेश्वर जिन, पश्चिम समुद्र तट के चन्द्रप्रभ जिन, पावा के वीर-जिन, गिरनार के नेमिनाथ, चम्पापुर के वासुपूज्य, नर्मदा के जल से अभिषिक्त शान्ति जिनेश्वर, केशोरायपाटन (आशारम्य) के मुनि सुव्रत जिन, विपुलगिरि के जिन बिम्ब, विन्ध्यगिरि के जिन चैत्यालय, मेदपाट (मेवाड़) देशस्थ नागफणी ग्राम के मल्लि जिनेश्वर, मालव देश के मंगल पुरस्थ अभिनन्दन जिन इत्यादि अनेक जिन बिम्बो के लोक-विश्रुत अतिशयों का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह शासन चतुस्त्रिंशिका जहाँ दिगम्बर शासन के प्रभाव की प्रकाशिका है, वहाँ साथ मे इतिहास प्रेमियो के लिए इतिहासानुसन्धान की कितनी ही महत्त्वपूर्ण सामग्री लिए हुए है। इसका अनुवाद व सम्पादन प० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य ने किया है। प्रस्तावना मे महत्त्व की बातों पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक सरस्वती भण्डार और स्वाध्याय प्रेमी को इसकी एक प्रति अवश्य मंगाकर रखना चाहिए।

सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा संकलित भगवान महावीर और उनके पश्चाद्वर्ती २१ महान् आचार्यों के, अनेक आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये १३७ पुण्य स्मरणों का यह महत्त्वपूर्ण संग्रह है। साथ में उन सबका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। इस पुस्तक के पाठ से अपने महान् आचार्यों के प्रति भक्ति और श्रद्धा जागृत होती है। तथा आचार्यों का कितना ही इतिहास सामने आ जाता है। पुष्ट चिकना कागज और सुन्दर टाइप। मूल्य ५० पैसा।

आचार्य प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र—यह ग्रन्थ आकार मे छोटा होने पर भी उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र की तरह दश अध्यायों में विभक्त है। मूलविषय भी इसका सूत्र जी के समान मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है। और क्रम भी प्रायः एक जैसा है—कहीं-कहीं पर थोड़ी सी कुछ विशेषता अवश्य पाई जाती है। एक प्रकार से इसे तत्त्वार्थसूत्र का ही संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है। विद्यार्थियों और स्वाध्याय प्रेमियों को कंठस्थ करने योग्य है।

इसके दशों अध्यायों के सूत्रों की संख्या १०७ है। प्रारंभ मे मुख्तार साहब की खोजपूर्ण प्रस्तावना, मूल सूत्र पाठ और हिन्दी अनुवाद है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ का मूल्य पच्चीस पैसा है।

अनित्य भावना—आचार्य पद्मनन्दि विरचित 'अनित्य पंचाशत्' नाम की कृति का मुख्तार सा० द्वारा हिन्दी में किये गये पद्यानुवाद और गद्यानुवाद के साथ यह सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसके नित्य पाठ करने से पाठक का हृदय हर्ष-विषाद की दलदल में और मोह के फन्दे में नही फँसता है। प्रत्येक भाई को इसका पाठ करना चाहिए। मूल्य पच्चीस पैसा।

अनेकान्त रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषय को मुख्तार सा० ने ऐसे मनोरंजक ढंग से सरल शब्दों में समझाया है, जिससे बच्चे तक भी उसके मर्म को आसानी से समझ सके। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच बात-चीत के रूप मे इस पुस्तक को लिखा गया है। पुस्तक प्रत्येक तत्त्व प्रेमी को अवश्य मगा कर पढ़ना चाहिए और प्रचारार्थ वितरण करना चाहिए। मूल्य पच्चीस पैसा।

महावीर का सर्वोदय तीर्थ—भ० महावीर का शासनरूप तीर्थ ही सर्व प्राणियों का उदय अर्थात् कल्याण का कारण और दुःख संहारक है। यह बात मुख्तार सा० ने बड़े ही सरल ढग से प्रमाणों के साथ प्रस्तुत पुस्तक में दिखाई है। अन्त में सर्वोदय तीर्थ के १२० सुवर्ण सूत्र देकर इसकी उपयोगिता शतगुणी कर दी है। जैन शासन के प्रचार के लिए यह बहुत उपयोगी है। मूल्य बीस पैसा है।

समन्तभद्र-विचार-दीपिका—दूसरी शताब्दी के अद्वितीय विद्वान समन्तभद्र स्वामी हुए हैं। जिनके विषय में शिलालेख में लिखा मिलता है कि उन्होंने अपने समय में वीर शासन की हजार गुणी वृद्धि की है। लोकहितार्थ उनके विचारों का प्रसार करने की दृष्टि से मुख्तार सा० ने इस पुस्तक को लिखा है। इसमें 'स्व पर-बैरी कौन', वीतराग की पूजा क्यों, वीतराग से प्रार्थना क्यो और पाप-पुण्य की व्यवस्था क्यों इन चार विषयों की मार्मिक चर्चा अत्यन्त सरल ढंग से की गई है। पुस्तक स्वाध्याय एव सर्व साधारण में प्रचार के योग्य है। मूल्य २० पैसा।

महावीर जिन पूजा—इसमें महावीर की पूजा दी गई है। और जयमाला में भ० महावीर के तत्त्वज्ञान का भी अच्छा समावेश किया गया है। इस पूजन को पढ़ते हुए पूजक का हृदय आनन्द और भक्ति से आत्म-विभोर हो जाता है। मूल्य २० पैसा।

बाहुबली जिनपूजा—भरत चक्रवर्ती को तीनों युद्धों मे जीतने के पश्चात् संसार का त्याग करने वाले बाहुबली के उत्कृष्ट त्याग और तपस्या से प्रभावित होकर मुख्तार साहब ने अत्यन्त भक्ति के साथ इस पूजा को लिखा है। इसकी जयमाल पढ़ते हुए भरत बाहुबली का दृश्य सन्मुख उपस्थित हो जाता है और तपस्वी बाहुबली मूर्तिमान सामने खडे प्रतीत होते हैं। यह पूजा प्रत्येक भाई के नित्य करने योग्य है। आर्ट पेपर पर छपी है। मूल्य २५ पैसा।

परिग्रह का प्रायश्चित्त—परिग्रह का संचय पाप है, और उसका परित्याग दान या पुण्य नहीं, किन्तु प्रायश्चित्तमात्र है। इस बात को मुख्तार सा० ने अनुपम ढग से दर्शाया है। पुस्तक सर्वसाधारण मे वितरण योग्य है। मूल्य १० पैसा।

सेवाधर्म—लोग अहिंसा, सत्य, शौच आदि अनेक धर्मों से परिचित हैं; किन्तु सेवाधर्म से वे प्रायः अपरिचित हैं। और अनेक लोग सेवा करने को धर्म नहीं समझते हैं। ऐसे लोगों के सम्बोधनार्थ ही यह पुस्तक लिखी गई है। इसे पढ़कर मनुष्य सहज ही में सेवाभावी हो जायगा। मूल्य १० पैसा।

हम सुखी कैसे बनें ?

मथुरादास जैन एम. ए., साहित्याचार्य

मनुष्य के सुखदुःख का कारण बहुत अंशों मे उसकी प्रवृत्तियां होता है। वह जैसा व्यवहार करता है तदनुकूल फल पाता है। अच्छे व्यवहार और आचरण के परिणाम अच्छे होते हैं। "कर भला होगा भला" का मन्त्र हमें यही सिखाता है कि हम दूसरों के साथ अन्याय का व्यवहार न करें। "आत्मन: प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" की नीति पर जो अमल करते हैं वे सदा दूसरों के प्रिय व स्नेहभाजन रहते हैं।

ऐसा होने पर भी मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इस तरह हम सबो के सुखदुःख एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। जिस तरह हमारा अन्यायपूर्ण व्यवहार दूसरे को दुःखी करता है उसी तरह दूसरे का अन्यायपूर्ण व्यवहार हमारे दुःख का कारण बन जाता है।

आज भारत के स्वतन्त्र होने पर भी भारत की जनता का बहुत बडा भाग सुखी नही है। देश की १५ अगस्त सन् ४७ की स्थिति से आज सन् १९७३ की स्थिति का जब हम मिलान करते हैं तो भले ही देश की पराधीनता के बन्धनों के टूटने से देश उन्नत हुआ है उद्योग बढ़ा है, राष्ट्र, समाज व जनता की प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तुओं के निर्माण में देश के आत्मनिर्भर होने से राष्ट्र की आर्थिक क्षमता बढ़ी है लेकिन सभी क्षेत्रो मे महगाई के उग्ररूप धारण कर लेने से साधारण जनता के दु.ख घटने के स्थान पर कई गुने बढ़ गये हैं। साधारण जनता की दृष्टि दूर तक नहीं जाती वह तो नित्यप्रति के कार्यों से अपने सुखदुःख का निर्णय करती है। जनता के इस बढ़े हुए दुःख का कारण देश में सच्चरित्रता (सच्चापन) की कमी ही है। जब मनुष्य के हृदय में स्वार्थ भावना बढ़ जाती है तो वह दूसरो के सुखदुःख के प्रति उदासीन हो जाता है। अन्याय के मार्ग में कदम रखना उसे अन्याय नही लगता। आज देश की नैतिकता में इतनी गिरावट आ गई है कि मनुष्य दूसरों के सुखदुःख की तरफ आंखें मूंदकर केवल अपने सुखदुःख का ही ध्यान रखने लगा है। यह नैतिक गिरावट हट जाय तो देश की बहुत कुछ मुसीबतें हल हो जांय। मनुष्य को सोचना चाहिए कि—"बोये पेड़ बबूल के आम कहां ते खाय। बबूल के पेड़ बोकर कोई आम के फल की प्राप्ति नही कर सकता। हमे अपना व्यवहार ठीक रखना चाहिए, ऐसा करने से ही देश में खुशहाली आयेगी। जब तक देश से बेईमानी, रिश्वतखोरी, स्वार्थान्धता, गरीबों की उपेक्षा, ये बुराइयां न हटेंगी देश समृद्धिशाली नहीं हो सकता। इनके हटने में ही प्रत्येक मनुष्य का सुख है और देश की उन्नति है।

उन्नत देशों की मुख्य-मुख्य बातें ये ही होती है कि देशवासियों में आध्यात्मिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि विषयोंका पूर्ण ज्ञान हो। इनके होने से ही देश में सम्पत्ति की वृद्धि हो सकती है और देश की गरीबी दूर हो सकती है। इसके साथ ही प्रत्येक देशवाशी में नैतिक, चारित्रिक बल का होना भी परमावश्यक है। इन गुणो के अभाव में देश कभी ख्याति, विश्वासपात्रता एव प्रामाणिकता को प्राप्त नही कर सकता। पशुबल, धन एवं वैभव की बढ़ोतरी एकान्तरूप से देश को समुन्नत बनाने वाली नहीं होती। देश तभी समुन्नत बनता है जब उसके निवासियों की सात्विक वृत्तिया वृद्धि को प्राप्त करती हैं।

सम्राट अशोक का जीवन यदि कलिङ्ग विजय तक ही सीमित रहता तो देश के इतिहास में अशोक को जो गौरव प्राप्त है वह न होता। इस गौरव के बीज तो अशोक के जीवन मे सात्त्विक वृत्ति के जगने से ही प्राप्त हुए। देश में जब स्वार्थान्धता, लोलुपता, कामुकता ईर्ष्यालुता बढ़ जाती हैं तो देश कमजोर हो जाता है। और उसे तब किसी भी मुसीबत का शिकार बनने मे देर नही लगती। हमारे देश में परतन्त्रता का पदार्पण जब जब हुआ फिर चाहे वह परतन्त्रता मुस्लिम साम्राज्य जन्य हो या ब्रिटिश साम्राज्य जन्य उसका कारण देश की कमजोरी ही थी। कमजोरी देश को स्वतन्त्रता की रक्षा में अशक्त बना देती है। अत: हमें इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि देश कमजोर न हो। वे बुराईयां, (बेईमानी, रिश्वतखोरी, स्वार्थान्धता आदि) जो देश को खोखला कर देती हैं उनका मूलोच्छेद बिनाश ही देश को सुखी और गौरवपूर्ण बना सकता है।

श्री भारतवर्षीय दि० जैन परिषद् की स्वर्ण जयन्ती

प्राचीन संस्कृतियों से सम्पन्न, राजस्थान की औद्योगिक नगरी कोटा मे श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् की स्वर्ण जयन्ती का उत्सव ता० ६, ७ जनवरी सन् ७३ को सानन्द एव सफलता पूर्वक सम्पन्न हो गया। इस ऐतिहासिक महोत्सव का उद्घाटन जैन समाज के रत्न, अनुपम दानी साहू शान्तिप्रसाद जी के करकमलों से हुआ। परिषद् अधिवेशन के अध्यक्ष बा० महावीर प्रसाद जी जैन एडवोकेट हिसार हरियाणा थे। उत्सव के स्वागताध्यक्ष श्री जम्बूकुमार जी जैन थे। इस स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर जैन युवक सम्मेलन जिसके अध्यक्ष रमेशचन्द्र जी जैन तथा जैन महिला सम्मेलन जिसकी अध्यक्षा श्रीमती लेखवती जी जैन थी अति सफलता पूर्वक सम्पन्न हुए। उत्सव मे भारत के सभी भागों से गण्य मान्य जैन बन्धु पधारे थे। दोनों दिन भारत की प्राचीन नगरी कोटा की चहल-पहल एवं शोभा अति मन लुभावनी रही।

परिषद् की स्थापना भारत का राजधानी दिल्ली नगरी मे सन् १९२३ मे जैन समाज के सामाजिक सुधार की बलवती भावना से प्रेरित स्वनाम धन्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, वैरिष्टर जुगमन्दर लाल जी, वैरिस्टर चम्पतराय जी, वकील अजितप्रसाद जी लखनऊ आदि जैन समाज के तात्कालिक उत्साही एवं पाश्चात्य शिक्षा से सुसम्पन्न महानुभावों ने की थी। सन् १९२३ से १९७३ तक यह परिषद् उत्साह और लगन से जैन समाज सेवा का कार्य करती आ रही है। परिषद् के प्रयत्नों से देश-विदेश में जैनधर्म का बहुत प्रचार एवं प्रसार हुआ है। इस महोत्सव में परिषद् ने जैन समाज की उन्नति को लक्ष्य बनाकर उसकी पूर्ति के लिए जो प्रस्ताव पास किये हैं उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया है।

प्रथम प्रस्ताव दिवंगत ४२ समाजसेवी बन्धुओं की शान्तिलाभ की कामना का है। द्वितीय प्रस्ताव सन् १९७५ में राष्ट्रीय स्तर पर अति समृद्ध रूप से मनाये जाने वाले भगवान महावीर के पच्चीस सौवी निर्वाण शताब्दि के आदर्श रूप से मनाने के सम्बन्ध मे है। ३रा प्रस्ताव सामाजिक कुरीतियो के निवारण के बारेमें है। ४था प्रस्ताव समाज मे विद्यमान चारित्रिक गिरावट को दूर करने के विषय मे है। ५वाँ प्रस्ताव समाज एवं देश से बेकारी को हटाकर खुशहाली लाने के सम्बन्ध मे है। ६ठा प्रस्ताव अकाल पीड़ितों की सहायता करने के बारे में है। इसी प्रकार अन्य कुछ प्रस्ताव परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ाने, जैन मूर्तियो की चोरी से सुरक्षा करने तथा बूचड़खानों मे भारत सरकार द्वारा निश्चित दिनो मे निषिद्ध हिंसा के बन्द रखने की व्यवस्था के सम्बन्ध मे हैं।

भारत की राजधानी दिल्ली मे शिक्षा साधनों को प्रोत्साहन देने के बारे मे अखिल भारतवर्षीय जैन परिषद् की विशेष रुचि का होना भी आवश्यक है। शिक्षा के माध्यम से धर्म एव समाज का स्थायी प्रचार व प्रसार होना है इस विषय मे दो राये नही हो सकतीं। राजधानी मे हिन्दू मुसलिम, सिक्ख ईसाई समाज के अनेक कालेज है लेकिन कोई जैन कालेज नहीं है। हालांकि इस प्रकार के जैन कालेज को पोषण देने वाले अनेक प्राइमरी, हायर सेकण्डरी स्कूल लडके तथा लडकियों के यहां विद्यमान है। इस आवश्यक कमी पूर्तिके लिए जब तब प्रयत्न भी हुए है लेकिन उनकी पूर्ति का सौभाग्य दिन अभी नही आया है। भगवान महावीर की पच्चीस सोवी निर्वाण शताब्दि के एक स्मारक के रूप मे यदि एक महावीर जैन कालेज की स्थापना हो जाय तो यह एक सराहनीय एवं स्मरणीय कार्य होगा। यद्यपि दिल्ली की जैन समाज, जहाँ कोटयधीशों की कमी नही है, के लिए भी यह कोई कठिन कार्य नहीं फिर भगवान महावीर का पच्चीस सौवां निर्वाण दिवस तो जैन समाज की एक विशाल समष्टि का आयोजन है। आशा है समाज का ध्यान इस कमी की पूर्ति के लिए दृढ़ता पूर्वक जायेगा।

—मथुरादास जैन एम. ए, साहित्याचार्य

साहित्य-समीक्षा

१. पद्मावती पूजा मिथ्यात्व है—लेखक श्री रतनलाल जी कटारिया केकड़ी। पृष्ठ २८ मूल्य २५ पैसा।

श्री मिलापचन्द जी कटारिया जैन ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प। इसमें अनेक प्रमाणों के आधार पर पद्मावती देवी की पूजा को मिथ्यात्व बतलाया गया है। पं० रतनलाल जी जैन समाज के सुयोग्य विद्वान हैं। उनके समीक्षात्मक लेख सुन्दर और जैनधर्म की मूल आम्नाय के संरक्षक होते हैं।

२. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोधप्रवृत्तियां—लेखक डा० देवेन्द्रकुमार जैन शास्त्री साहित्याचार्य नीमच। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ ३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग देहली-६। पृष्ठ संख्या २०७, मूल्य चौदह रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक पांच अध्यायों में विभक्त है उनमें से प्रथम दो अध्यायों में प्राच्य विद्याओं के अध्ययन अनुसन्धान के सन्दर्भ मे एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे लेखक ने सन् १९३६ से १९७१ तक के प्रकाशित ८०० शोध-निवन्ध, पुस्तकों तथा प्रवन्धों का विवरण प्रकाशन के काल क्रम से दिया है। तृतीय अध्याय में 'अपभ्रंश के हस्तलिखित ग्रन्थ' शीर्षक में ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध लगभग एक हजार पाण्डुलिपियों का विवरण दिया है। और चतुर्थ अध्याय में अपभ्रंश के प्रकाशित अप्रकाशित उपलब्ध साहित्य का विवरण लेखक क्रम से दिया गया है जिसमें डेढ़ सौ लेखकों की लगभग तीन सौ रचनाओं के सन्दर्भ की सूचना है। और पांचवें अध्याय में अपभ्रंश के अज्ञात एवं अप्रकाशित ग्रन्थों के अंश दिये गए हैं। तीन परिशिष्टों से ग्रन्थ की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। अनुसन्धाता प्रेमियों के लिए ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

३. गीत वीतराग प्रबन्ध—श्री अभिनव पण्डिताचार्य। सम्पादक डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् प्राध्यापक जैन विद्या और प्राकृत, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ बी. ४५-४७, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-१। पत्र सं० ७७, मूल्य सजिल्द प्रति का ३) रुपया।

प्रस्तुत कृति जयदेवकृत गीत गोविन्द की पद्धति पर लिखी गई हैं जो ललित एवं गेय है। इसके कर्ता अभिनव पण्डिताचार्य हैं। इस गीत वीतराग प्रबन्ध का मूलाधार जिनसेन के आदिपुराण की कथा वस्तु है। इसमें आदिनाथ तीर्थंकर का सम्पूर्ण चरित्र पूर्वभवों से लेकर मोक्षप्राप्ति तक का निबद्ध है। इसका सम्पादन सुन्दर हुआ है। डा० उपाध्ये ने अंग्रेजी प्रस्तावना मे ग्रन्थ की विशिष्टता का दिग्दर्शन कराया है। पुस्तक विविध रागों में गाई जा सकती है। यह पुस्तक गांगेयवंशी राजपुत्र देवराज के अनुरोध से रची गयी है। ग्रन्थकार द्राविड़ देशस्थ सिंहपुर के निवासी थे। उनका जन्म सिंहपुर में हुआ था। वे कुन्दकुन्दान्वयदेशीगण के विद्वान आचार्य थे। और श्रवण वेलगुल मठ के अध्यक्ष थे। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना शक १३२१ (सन् १३९९) में की थी।

—परमानन्द जैन

जैन साहित्य, दर्शन व इतिहास में अनुसंधान की आवश्यकता

वर्तमान काल के विज्ञानयुग होने के कारण जैसे वैज्ञानिक आविष्कार नई खोजो के परिणाम हुए हैं और वैज्ञानिक अध्ययन का महत्त्व बढ़ा है वैसे ही शिक्षण क्षेत्र में भी अनुसन्धानात्मक शिक्षण निरंतर महत्त्व एव वृद्धि को प्राप्त करता जा रहा है। जैन साहित्य, दर्शन व इतिहास मे भी अनुसन्धान की विशेष आवश्यकता है। जैन शिक्षण संस्थाओं में जो अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था है वह केवल मू ग्रन्थो के पठनपाठन तक ही सीमित है यही कारण है कि इन क्षेत्रो मे अनुसन्धानात्मक कार्य नही हो सका है और जैनधर्म का जितना प्रचार देश-विदेश मे होना चाहिए नहीं हो पाया है। छापे के सुलभ साधन वाले इस जमाने मे भी अनेकानेक जैन ग्रन्थ अप्रकाशित अवस्था में पड़े हैं और निरन्तर क्षीणता को प्राप्त होते जा रहें है। अनेक ऐसे ग्रन्थ व विषय है जिन पर शोधपूर्ण कार्य हो सकता है। जैनधर्म मे स्वीकृत ६ द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य पर अनुसन्धानात्मक ग्रन्थो की आवश्यकता है।

जीव द्रव्य के सम्बन्ध मे प्रचलित सभी धर्मो व दर्शनों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए उसके असली स्वरूप पर प्रकाश डाला जा सकता है। जीव के अनादि निधनत्व का सिद्ध कर आत्म कल्याण के मार्ग को प्रदर्शित किया जा सकता है। जैनधर्म मे जीव को स्वयं कर्ता व भोक्ता बतलाया है भगवद्गीता की यह उक्ति—

आत्मैव आत्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मन:।

मनुष्य स्वयं ही अच्छे आचरण को रखने से अपना कल्याण करने वाला मित्र तथा पाप कार्य में निरत रहने से अपना अहित करने वाला शत्रु है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। वैज्ञानिक लोग भौतिक पदार्थों के अनुसन्धान में जैसे सफल हुए है वैसे ही वे आत्मतत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त है। भारतीय दार्शनिकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे अपने ऋषियो, महर्षियो, गणधरो एवं तीर्थंकरों द्वारा कथित आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को प्रकाश मे लाकर लोगो को धर्म और कर्तव्य का सच्चा भान करायें। जीवद्रव्य की तरह अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश व काल द्रव्य भी अनुसन्धानात्मक अध्ययन को अपेक्षा रखती हैं।

हर्ष की बात है कि राजधानी में स्थित वीर सेवा मन्दिर, जो पिछले एक बड़े लम्बे समय से अपने प्रकाशित ग्रन्थों, लेखो आदि से देश, धर्म एवं समाज की सेवा करता आ रहा है, उसमे एक अनुसन्धान कक्ष की स्थापना की गई है। यहाँ अनुसन्धान के उपयुक्त साहित्य सामग्री व अन्य साधन एकत्रित किए जा रहे है। जो सज्जन जैन-धर्म व दर्शन तथा इतिहास से सम्बन्धित अनुसन्धान कार्य कर रहे है वे अपने निबन्धो, लेखो आदि को इस संस्था के प्रसिद्ध पत्र "अनेकान्त" में प्रकाशनार्थ भेज सकते हैं।

वीर सेवा मन्दिर के विशाल सरस्वती भवन का भी नवीनीकरण हो रहा है। जिससे कि ग्रन्थो का अधिकाधिक उपयोग हो सके। वीर सेवा मन्दिर संस्था का एक प्रकाशन विभाग भी है इसके द्वारा अनेक ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है। ये ग्रन्थ बिक्री के लिए भी रखे गये हैं। जिन विद्वानो ने भिन्न भिन्न विषयो पर अनुसन्धान कार्य कर जो निबन्ध, ग्रन्थ तैयार किये हैं उनकी एक-एक प्रति यहां पुस्तकालय मे रहने से राजधानी मे रहने वाले तथा अनुसन्धानात्मक अध्ययन की इच्छा से यहां आने वाले लोग भी उनसे लाभ उठा सकते है। आशा है इस प्रकार के अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले विद्वान लेखक अपने-अपने ग्रन्थो की एक-एक प्रति संस्था के सरस्वती भवन में भेजने की कृपा करेगें। तथा अपने खोजपूर्ण निबन्धों को "अनेकान्त" पत्र में प्रकाशनार्थ भेजने का प्रयत्न करेंगे।

निवेदक :
"अनेकान्त"
वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली-६

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल्ल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १.२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। .७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित .७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित .२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... .२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य .२५

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक- [illegible] मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।

द्वै मासिक

वर्ष २५ : किरण ६ फरवरी १९७३

अनेकान्त

भगवान आदिनाथ (श्री ऋषभदेव)



जैन संस्कृति के प्राचीन क्षेत्र लाडनू (राजस्थान) में प्राप्त प्रतिमा का चित्र

परिचय के लिए देखें पृष्ठ संख्या २४६

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

●

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

श्री मथुरादास जैन एम. ए., साहित्याचार्य

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया

एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसा

समवेदना

वीर सेवा मन्दिर परिवार जैन समाज के उद्भट विद्वान् डा० हीरालाल जी जैन एम० ए०, डी० लिट० के असामयिक निधन पर हार्दिक शोक और समवेदना प्रकट करता है। डाक्टर साहेब की जिन वाणी सम्बन्धी सेवाये परमादरणीय एव अनुकरणीय है। भगवान् से प्रार्थना है कि डाक्टर साहब की आत्मा को सुगति की प्राप्ति हो तथा उनके वियोग सन्तप्त परिवार को धैर्य लाभ हो।

महेन्द्र सेन जैनी
महासचिव, वीर सेवा मन्दिर,
२१, दरियागज, दिल्ली।

●

न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल जी कोठिया का अध्यक्षीय भाषण

अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् के शिवपुरी (ग्वालियर) मे सम्पन्न हुए अधिवेशन मे डा० कोठिया जी ने जो अध्यक्षीय भाषण प्रस्तुत किया है एक विशेष महत्व का लेख निबन्ध है। यह भाषण जहा जैन समाज व जिनवाणी के उत्थान के अनेक सुझाओ का प्रदर्शन करता है वहा परिषद् के इतिहास की रूप रेखा पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। आपका भाषण जैन समाज एव जैन वाङ्मय की स्थिति का एक सुन्दर चित्र बन गया है। जैन सिद्धान्त और दर्शन के तत्त्वो को भी भली भाति समझाया गया है।

सभाध्यक्षो के भाषण प्रायः समाचार पत्रो की तरह सामयिक साहित्य के महत्व तक ही पहुँचते हैं लेकिन आपका भाषण अनेक विषयो के अनुसन्धान पूर्ण विवेचन के कारण निश्चय ही स्थायी साहित्य की कोटि मे परिगणनीय हो गया है। जैनधर्म एवं जैन साहित्य की जिज्ञासा वाले व्यक्ति के लिए भाषण ध्यान से पढ़ने, मनन करने एवं आचरण में लाने की वस्तु बन गया है।

—सम्पादक

अनेकान्त में प्रकाशित विचारो के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २५ किरण ६ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६ | वीर निर्वाण संवत् २४९९, वि० सं० २०२९ | जनवरी-फरवरी १९७३

धर्म का स्वरूप

धर्मो जीवदया गृहस्थ शमिनोर्भेदाद्विधा च त्रयं ।
रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्ट क्षमादिस्ततः ।
मोहोद्भूत विकल्पजाल रहिता वागङ्गसंगोज्झिता ।
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥१॥

आद्या सद्व्रत संचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां ।
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः ।
धिङ् नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥२॥

अर्थ—धर्म की आत्मा जीव दया है। यह धर्म पालक गृहस्थ व मुनियों के भेद से गृहस्थधर्म तथा मुनिधर्म दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के भेद से तीन प्रकार का तथा उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जवादि के भेद से १० प्रकार का भी कहा जाता है। यथार्थ में तो मोह से उत्पन्न मन, वचन व काय की परिणतियों से भिन्न शुद्ध एवं आनन्द रूप आत्मा की परिणति का नाम ही धर्म है।

धर्म की आत्मा जो दया है वही श्रेष्ठ आचरण, सुख तथा सम्पत्तियों की जननी है। यह दया धर्म रूपी वृक्ष की जड़ तथा मुक्ति में पहुंचाने की नसैनी है। धार्मिक मनुष्यों को आत्मकल्याण के निमित्त सब देहधारियों में दया धारण करनी चाहिए। निर्दय आदमी का नामोच्चारण भी अशुभ माना जाता है उसे संसार में कहीं भी सुख शान्ति प्राप्त नहीं होती। दयाधर्म की सर्वत्र जयजयकार होती है।

———

धर्म का जीवन में स्थान

मथुरादास जैन एम. ए., साहित्याचार्य

संसार के सभी प्राणी सदा सुख की अभिलाषा करते हैं। दुःख किसी को भी इष्ट अथवा प्रिय नहीं है। यही बात कविवर दौलतराम जी ने अपने छहढाला ग्रन्थ के आरम्भ में ही कही है—'जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःख ते भयवन्त' उर्ध्व, मध्य तथा पाताल लोक में जितने भी जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। संसार मे सर्वश्रेष्ठ वस्तु वही मानी जा सकती है जो हमें सुखी बनावे तथा दुःख से हमारी रक्षा करे।

सुख सब को इष्ट है यह एक सर्वसम्मत तथ्य है लेकिन सुख का असली स्वरूप क्या है यह बात विवाद-ग्रस्त है। कभी-कभी मनुष्य दूसरों को कष्ट देने में ही सुख मान लेता है। चोर दूसरों की सम्पत्ति का हरण करने मे अपना सुख मानता है। शिकारी पशुओं का वध करने मे अपना सुख समझता है। इस तरह जो एक जीव का सुख है वही दूसरे का दुःख है लेकिन यह सुख की समीचीन परिभाषा नहीं है। जैसे कटुक रस मधुर रस का कारण नही हो सकता। उसी तरह जिस कार्य में दूसरों को कष्ट मिले वह कार्य सुख का जनक नही हो सकता। चोर चोरी कर अनेक प्रकार के कष्ट पाता है, पकड़े जाने पर सजा भुगतता है और समाज में निन्दा का पात्र बनता है। यदि कदाचित न भी पकड़ा जाय तो भी जिस चोरी रूप घृणित कार्य को करते हुए वह अशुभ कर्म का बन्ध करता है उसकी सजा से वह कभी बच नहीं सकता। 'कर भला होगा भला' या आत्मन: प्रति-कूलानि परेषां न समाचरेत्' आदि त्रिकालसत्य उक्तियाँ हमें यही बतलाती हैं कि पाप कभी सुख का देने वाला नहीं हो सकता। यदि हम सच्चा और स्थायी सुख चाहते हैं तो हमें अपने व्यवहार एवं कार्यों को ऐसा बनाना चाहिए जो दूसरों को दुःख पहुँचाने वाले न हों। और यदि इस प्रकार हर एक व्यक्ति का ध्येय और कार्य दूसरे को दुःख पहुँचाने का न रहे तो फिर संसार में कोई प्राणी दुःखी कैसे हो सकता है। सुख से सुख तथा दुख से दुःख की ही उत्पत्ति होती है। इसी लिए शास्त्रकार पुकार पुकार कर कहते हैं कि हमे अपने जीवन को धर्म के ढाचे में ढालना चाहिए। धर्माचरण से यदि कभी कष्ट की प्राप्ति हो तो उसे सुखरूप ही मानना चाहिए। धर्म की महिमा को बतलाते हुए एक कवि ने ठीक ही कहा है कि—

> **धर्मः सर्व सुखकरो हितकरो धर्मं बुधाः चिन्वते।**
> **धर्मेणैव समाप्यते शिव सुखं धर्माय तस्मै नमः।**
> **धर्मान्नास्त्यपरो सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया।**
> **धर्मे चित्तमहंदधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय॥**

धर्म संसार मे सब सुखो को देने वाला है इस लिए बुद्धिमान लोग इसे जानते और आचरण मे लाते हैं। धर्म से मोक्ष की भी प्राप्ति होती है, ऐसे धर्म को हम नमस्कार करते हैं। ससारी जीवों के लिए धर्म से अधिक प्रिय कोई मित्र नहीं। धर्म की जड़ दया है ऐसे धर्म में मैं अपना चित्त लगा दूं, हे धर्म तू मेरी रक्षा कर। राष्ट्र भाषा में भी धर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालने वाला यह उत्तम पद्य है।

> **धर्म करत संसार सुख धर्म करत निर्वाण।**
> **धर्म पंथ साधे बिना नर तिर्यञ्च समान॥**

संसार सुख एवं निर्वाण (मोक्षसुख) की प्राप्ति का कारण धर्म ही है। जिस मनुष्य के जीवन में धर्म की वासना नहीं वह मनुष्य पशु के तुल्य ही है।

अ० भारतीय दि० जैन विद्वत् परिषद् के शिवपुरी में सम्पन्न रजत जयन्ती उत्सव पर :

डा० दरबारीलाल जी कोठिया का अध्यक्षीय भाषण

धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः ।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ।।
—भट्टाकलङ्कदेव, लघीयस्त्रय १ ।

वन्दनीय त्यागीगण, समादरणीय स्वागताध्यक्ष तथा स्वागत समिति के सदस्यगण, सम्मान्य विद्वद्वृन्द, साधर्मी बन्धुओ और वात्सल्यमूर्ति धर्म बहिनो !

इस पावन श्री महावीर-जिनबिम्ब-पचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव के मङ्गलमय अवसर पर अखिल भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के बारहवें रजतजयन्ती-अधिवेशन का आपने मुझे अध्यक्ष चुना, इसके लिए आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। लगता है कि आपने मेरी कमियों की ओर दृष्टिपात नहीं किया और केवल स्नेह-वश इस दायित्वपूर्ण पद पर बिठा दिया है। इसे मैं आप सबका आशीर्वाद मानकर स्वीकार कर रहा हूँ। विश्वास है इस जोखमभरे पद के निर्वहण मे आप सभी का पूरा सहयोग मिलेगा।

दिवंगत संयमियों और विद्वानों को श्रद्धाञ्जलि :

पिछला अधिवेशन सन् १९६८ मे सागर (म० प्र०) में और नैमित्तिक अधिवेशन सन् १९७० में खतौली (उ० प्र०) में हुआ था। इन पांच वर्षो में हमारे बीच से अनेक पूज्य संयमियों तथा प्रतिष्ठित विद्वानों का वियोग हो गया है। उनके वियोग से समाज की महती क्षति हुई है। सयमियों में क्षु० पूर्णसागर जी महाराज और क्षु० दयासागर जी महाराज की स्मृति अमिट रहेगी। पूर्णसागर जी महाराज ने दि० जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान के संरक्षण एवं सम्यग्ज्ञान के हेतु दिल्ली में दिगम्बर जैन केन्द्रीय महासमिति की स्थापना मे अथक प्रयत्न किया और उसके प्रवर्त्तन में निरन्तर अनेक वर्षों तक शक्तिदान किया था। क्षु० दयासागर जी महाराज बहुत ही अच्छे वक्ता, लेखक और विचारक थे। लोक-हित के लिए उनके हृदय में अपार करुणा थी। वियुक्त विद्वानों में अन्तिम क्षण तक वाङ्मय-सेवा में निरत, इतिहास लेखक, महान् ग्रन्थ-समीक्षक पण्डित जुगल-किशोर जी मुख्तार 'युगवीर' सरसावा, सिद्धान्तमहोदधि, तर्करत्न, न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्र जी कौन्देय फिरोजाबाद (उ० प्र०), महामनस्वी, सूक्ष्मचिन्तक पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ जयपुर (राज०), सिद्धान्त-मर्मज्ञ पण्डित इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर, अत्यन्त नैष्ठिक सहृदय पण्डित अजितकुमार जी शास्त्री दिल्ली, यावज्जी-वन समाजसेवी महोपदेशक पण्डित मक्खनलाल जी प्रचारक दिल्ली, जैन संघ मथुरा के यशस्वी प्रचारक पण्डित इन्द्रचन्द्र जी शास्त्री मथुरा और सदा समाजसेवा-व्रती पण्डित रामरतन जी शास्त्री, एम० ए० दमोह (म० प्र०) समाज के अनुपम विद्वद्रत्न थे। इन मनीषियों ने अपने विचारों, लेखों, भाषणों और ग्रन्थों द्वारा समाज की जड़ता को दूर कर ज्ञानदान के स्तुत्य प्रयास किये है हम इन वियुक्त पूज्य संयमियों और सारस्वतों के प्रति कृतज्ञ-भाव से नम्र श्रद्धाञ्जलि उनकी स्मृतिस्वरूप अर्पित करते हैं।

पिछले अधिवेशन और कार्यों पर एक विहङ्गम दृष्टि :

विद्वत्परिषद् के जन्म से ही मेरा इससे सम्बन्ध रहा है। इसके जन्म की महत्त्वपूर्ण घटना है। सन् १९४४ में कलकत्ता में वीरशासन-महोत्सव का विशाल आयोजन था। इस आयोजन के कार्यक्रमों मे अंग्रेजी भाषा के विशेषज्ञों को ही प्राथमिकता दी गई थी। आयोजन में सम्मिलित समाज के विद्वानों का योगदान नही लिया गया था। यद्यपि वहाँ बहुसंख्यक मूर्धन्य विद्वान् थे। इससे विद्वानों के स्वाभिमान को चोट पहुँची। उधर हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी मे आयोजित अखिल भार-तीय प्राच्य-विद्यासम्मेलन के जैन विद्या-विभाग से पठित भाषण मे कुछ ऐसी स्थापनाएं की गई थीं, जो दिगम्बर

जैन मान्यताओं के प्रतिकूल थीं। इन दो कारणों से वहाँ एकत्रित नये-पुराने सभी विद्वानों ने एक स्वर से अनुभव किया कि दिगम्बर जैन सिद्धान्तों के संरक्षण और विद्वानों में परस्पर सौहार्द्र एवं ऐक्य स्थापन के लिए उनका एक संगठन होना आवश्यक है। फलतः ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध स्वर्गीय प० श्रीलाल जी पाटनी अलीगढ़ की अध्यक्षता में **'अखिल भारतीय दि० जैन विद्वत्परिषद्'** की स्थापना की गयी। उल्लेखनीय है कि परिषद् का शुभारम्भ कलकत्ता में ही जैन भवन मे आहूत उस बैठक से हुआ, जो महोत्सव में पधारे उक्त भाषणकर्ता के साथ उनकी स्थापनाओं पर चर्चा करने के लिए आयोजित की गयी थी। उपस्थित विद्वानों में अपूर्व उत्साह एवं उल्लास देखा गया था और सभी ने परिषद् की सार्थकता तथा आवश्यकता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया था।

इसका प्रथम अधिवेशन सन् १९४५ में कटनी में हुआ था, जिसमें जैन संस्कृति के संरक्षण तथा जैनधर्म के सम्यग्ज्ञान हेतु आत्मसमर्पक सुयोग्य विद्वानों का एक 'वीर-संघ' बनाने का निश्चय हुआ था।

दूसरा अधिवेशन सन् १९४६ में मथुरा में किया गया। इस अधिवेशन में जैन साहित्य और इतिहास से अपरिचित लेखकों के गलत उल्लेखों एवं भूलों-भ्रान्तियों का निरास करने के लिए एक विभाग की स्थापना का निर्णय हुआ था।

तीसरा अधिवेशन सन् १९४७ मे सोनगढ़ (सौराष्ट्र) मे हुआ था। इसमें तत्कालीन चर्चा के विषय जीवट्ठाण संतपरूवणा के ९३वें सूत्र में 'संजद' पद के औचित्य-निर्णयार्थ विद्वत्सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया, जो उसी वर्ष सागर में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था।

चौथे अधिवेशन की, जो सन् १९४८ में बरुवासागर (झांसी) में बुलाया गया था, उपलब्धि केन्द्रीय छात्रवृत्ति फण्ड स्थापित करने का निश्चय की है, जिससे विदेशों में जाकर शिक्षा लेने वाले और वहाँ जैनधर्म का प्रचार करने वाले प्रतिभाशाली छात्रों को छात्रवृत्ति दी जा सके।

पाँचवाँ अधिवेशन सोलापुर (महाराष्ट्र) में १९४९ में किया गया था। इस अधिवेशन में जैन झण्डे के स्वरूप पर विचार करके उसका—रंग केशरिया आकार आयत-चतुरस्र और प्रतीक लाल रंग से लिखा हुआ स्वस्तिक—निर्धारण किया गया था।

छठे अधिवेशन में, जो १९५३ में खुरई (म० प्र०) में हुआ था, पारित प्रस्ताव न० ६ के द्वारा महर्षि कुन्दकुन्द, गृध्रपिच्छ, समन्तभद्र जैसे महानाचार्यों की कृतियों को काट-छांटकर उन्हे भ्रष्ट रूप में छपाने की मुनि क्षीर-सागर जी की प्रवृत्ति पर क्षोभ प्रकट करते हुए समाज से इस प्रकार के साहित्य का प्रकाशन न करने के लिए अनुरोध किया गया था। इस प्रस्ताव का समाज पर सार्थक प्रभाव पड़ा था।

द्रोणगिरि (म० प्र०) में १९५५ में हुए सातवें अधिवेशन में सम्मिलित रथों को चलाने वालों के लिए सिंघई या सेठ पदवी देने पर रोक लगायी गयी थी, जिसके फलस्वरूप वहाँ रथ चलाने वालों को कोई पद प्रदान नहीं किया गया था।

आठवाँ अधिवेशन सन् १९५८ में श्री मढ़ियाजी—जबलपुर (म० प्र०) में सम्पन्न हुआ था। इस अधिवेशन मे नूतन मन्दिरों और मूर्तियों की अनावश्यक निर्माण प्रवृत्ति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए समाज से पुराने मन्दिरों-मूर्तियों की रक्षा तथा जीर्णोद्धार मे द्रव्य का उपयोग करने का अनुरोध किया गया था। साथ ही ज्ञान-दान, शास्त्र-प्रकाशन आदि उपयोगी पुण्यकार्यों में द्रव्य को लगाने की प्रेरणा की गयी थी।

नववें अधिवेशन में, जो ललितपुर (उ० प्र०) में हुआ था, त्यागी-व्रतियों से धनसंग्रह की प्रवृत्ति से दूर रहने का अनुरोध, वेदिकाशुद्धि आदि धार्मिक क्रियाओं की एक प्रामाणिक पुस्तक के निर्माण और परिषद् के रजिस्ट्रेशन का निश्चय किया था। परिषद् के सुयोग्य एवं कर्मठ मंत्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा स्वयं उक्त पुस्तक निर्मित होकर दो बार श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो गयी। परिषद् का रजिस्ट्रेशन भी मध्यप्रदेश शासन से गत १९७० में हो चुका है।

दशम अधिवेशन १९६५ में सिवनी में हुआ था। इस अधिवेशन में गुरु गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रन्थ की योजना, मौलिक या सम्पादित कृति पर एक हजार रुपए के

पुरस्कार की योजना और अंग्रेजी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं के ज्ञाताओं को सदस्य बनाने के प्रस्ताव पारित किए गए थे। प्रसन्नता की बात है कि ये तीनों प्रस्ताव क्रियात्मक रूप पा चुके है। वर्णी स्मृतिग्रन्थ का प्रकाशन तो इतना सुरूप और आकर्षक हुआ कि सब ओर से उसका समादर हुआ है और दिल्ली मे मनायी गयी गुरुजी की जन्म-शताब्दी चिरस्मरणीय रहेगी। पुरस्कार-योजना के अन्तर्गत चार विद्वान् और उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ पुरस्कृत हो चुकी है। पाँचवे विद्वान् को उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति पर इसी रजत जयन्ती अधिवेशन में पुरस्कृत किया जा रहा है। इस योजना को मूर्त रूप देने का श्रेय श्रावकशिरोमणि, दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी जैन और उनकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जी अध्यक्षा भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली को है। उन्हीं के अकल्प औदार्य से यह योजना सफल हो सकी है।

१६६८ में सागर (म० प्र०) में हुए ग्यारहवें अधिवेशन की कई उपलब्धियाँ है। प्रस्ताव नं० ३ के द्वारा जैन पुरातत्त्व के संरक्षण और प्रकाशन का संकल्प लेते हुए उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए दि० जैन अतिशय क्षेत्रों और सिद्ध क्षेत्रों व वहाँ की प्रामाणिक सामग्री का सचित्र विवरण प्रकाशित करने का निश्चय किया गया था। प्रसन्नता की बात है कि यह कार्य भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा द्रुतगति से हो रहा है। इसी अधिवेशन में प्रस्ताव नं० ५ के द्वारा भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर २५०० पृष्ठों की सांस्कृतिक सामग्री के प्रकाशन का भी निश्चय किया गया था। इसके लिए बनाई गई उपसमिति के प्रधान लेखक सुहृद्वर डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने **'तीर्थंकर महावीर'** नाम से उक्त सामग्री को तैयार कर पुस्तक का रूप भी दे दिया है, जो शीघ्र ही प्रेस को दे दी जावेगी।

विद्वत्परिषद् के विगत अधिवेशनों के महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कतिपय कार्यों का यह सक्षिप्त विहङ्गावलोकन है। इनके अलावा शङ्का-समाधान, तत्त्वगोष्ठियाँ, शिक्षण-शिविर, शिक्षा-सम्मेलन, श्रुत-सप्ताह जैसे अन्य कार्य भी विद्वत्परिषद् द्वारा सम्पन्न हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि विद्वत्परिषद् के, जन्म से लेकर अब तक गत २७ वर्षों मे हुए, सांस्कृतिक कार्यों की एक गौरवपूर्ण लम्बी शृंखला है, जिन पर हमें गर्व है और जिनका उल्लेख इस रजत-जयन्ती के उत्सव पर आवश्यक होने से किया गया है।

विद्वान् और समाज :

विद्वान् समाज का विशिष्ट अङ्ग है। शरीर में जो स्थान शिर (उत्तमाङ्ग) का है वही समाज में विद्वान् (ज्ञानवान्) का है। यदि शरीर मे शिर न हो या रुग्ण हो तो शरीर शरीर न रहकर धड़ हो जायेगा या उससे सार्थक जीवन-क्रिया नहीं हो सकेगी। सारे शरीर की शोभा भी शिर से ही है। अतः शिर और उसके उपाङ्गों आँख, कान, नाक आदि की रक्षा एवं चिन्ता सदा की जाती है। विद्वान् समाज के धर्म, दर्शन, इतिहास और श्रुत का निर्माण एवं संरक्षण करके उसे तथा उसकी संस्कृति को सप्राण रखता है। यदि विद्वान् न हो या वह चिन्ताग्रस्त हो तो स्वस्थ समाज और उसकी उच्च संस्कृति की कल्पना ही नही की जा सकती है। पर दुर्भाग्य से इस तथ्य को समझा नहीं जाता। यही कारण है कि समाज में विद्वान् की स्थिति चिन्तनीय और दयनीय है। किसी विद्यालय या पाठशाला के लिए विद्वान् की आवश्यकता होने पर उससे व्यवसाय की मनोवृत्ति से बात की जाती है। संस्था-सचालक उसे कम-से-कम देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। कुछ महीने पूर्व एक सस्था-सचालक महानुभाव ने हमे विद्वान् के लिए उसकी वाछनीय योग्यताओं का उल्लेख करते हुए लिखा। हमने उन्हें उत्तर दिया कि यदि उक्त योग्यता सम्पन्न विद्वान् के लिए कम-से-कम तीन सौ रुपए मासिक दिया जा सके तो विद्वान् भेज देंगे। परन्तु उन्होंने तीन सौ रुपए मासिक देना स्वीकार नहीं किया। फलतः वही विद्वान् छह सौ रुपए मासिक पर अन्यत्र चला गया। कहा जाता है कि विद्वान् नहीं मिलते। विचारणीय है कि जो किसी धार्मिक शिक्षण-संस्था में दश वर्ष धर्म-दर्शन का शिक्षण लेकर विद्वान् बने और बाद में उसे उसकी श्रुत-सेवा के उपलक्ष्य मे सौ-डेढ़ सौ रुपए मासिक सेवा-पारिश्रमिक दिया जाय तो वह आज के समय में उससे कैसे निर्वाह करेगा। काश ! वह सद्गृहस्थ हो और दो-चार

विवेचन 'षट्खण्डागम' मे आचार्य भूतबली पुष्पदन्त ने और 'कषायप्राभृत' में आचार्य गुणधर ने किया है। तथा इन्हीं के आधार से गोम्मटसारादि ग्रन्थ रचे गये हैं।

धर्म का आधार मुमुक्षु और सद्गृहस्थ दोनों है तथा सद्गृहस्थों के लिए संस्कृति और तत्त्वज्ञान आवश्यक है। और इन दोनों की स्थिति के लिए वाङ्मय, तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियां, कला, पुरातत्त्व और इतिहास अनिवार्य हैं। इनके बिना समाज की कल्पना और समाज के बिना धर्म की स्थिति सम्भव ही नहीं। मुमुक्षुधर्म भी गृहस्थधर्म पर उसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार खम्भों पर प्रासाद निर्भर है। मुमुक्षु को मुमुक्षु तक पहुँचाने के लिए आरम्भ मे दर्शन-शास्त्र का विमर्श आवश्यक है। उसके बिना उसकी नींव मजबूत नही हो सकती। यह भी हमें नहीं भूलना है कि लक्ष्य को समझने और पाने के लिए उसकी ओर ध्यान और प्रवृत्ति रखना नितान्त आवश्यक है। दर्शन-शास्त्र को तो सहस्रों बार ही नहीं, कोटि-कोटि बार भी पढा-सुना है फिर भी लक्ष्य को नहीं पा पाये। तात्पर्य यह है कि दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र दोनों का चिन्तन जीवन शुद्धि के लिए परमावश्यक है। इनमे से एक की भी उपेक्षा करने पर हमारी वही क्षति होगी, जिसे आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्न गाथा के उद्धरणपूर्वक बतलाया है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

—आत्मख्याति, स० सा०, गा० १२।

'यदि जिन-शासन की स्थिति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनो को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के छोड़ देने पर धर्मतीर्थ का और निश्चय के छोड़ने से तत्त्व (अध्यात्म) का विनाश हो जायेगा।'

यह सार्थ चेतावनी ध्यातव्य है।

स्वामी अमृतचन्द्र ने उभयनय के अविरोध मे ही समयसार की उपलब्धि का निर्देश किया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥४॥

'उभयनय के विरोध को दूर करने वाले 'स्यात्' पद से अङ्कित जिनशासन में जो ज्ञानी स्वयं निष्ठ हैं वे अनव—नवीन नहीं, एकान्त पक्ष से अखण्डित और अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप समयसार को शीघ्र देख (पा) हीं लेते हैं।'

अमृतचन्द्र से तीन सौ वर्ष पूर्व भट्ट अकलङ्कदेव ने ऋषभ आदि को लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों को धर्मतीर्थकर्ता और स्याद्वादी कहकर उन्हें विनम्रभाव से नमस्कार किया तथा उससे स्वात्मोपलब्धि की अभिलाषा की है। जैसा कि भाषण के आरम्भ में किये गये मङ्गलाचरण से, जो उन्ही के लघीयस्त्रय का मङ्गलश्लोक है, स्पष्ट है। इससे हम सहज ही जान सकते हैं कि स्याद्वाद तीर्थंकर-वाणी है—उन्ही की वह देन है। वह किसी आचार्य या विद्वान् का आविष्कार नहीं है। वह एक तथ्य और सत्य है, जिसे इंकारा नही जा सकता। निश्चयनय से आत्मा का प्रतिपादन करते समय उस परद्रव्य का भी विश्लेषण करना आवश्यक है, जिससे उसे मुक्त करना है। यदि बद्ध परद्रव्य का विवेचन, जो षट्खण्डागमादि आगमग्रन्थों में उपलब्ध है, न किया जाय और केवल आत्मा का ही कथन किया जाय, तो जैन-दर्शन के आत्म-प्रतिपादन में और उपनिषदों के आत्म-प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

एक बार न्यायालङ्कार पं० वंशीधर जी ने कहा था कि एक वेदान्ती विद्वान् ने गुरुजी से प्रश्न किया था कि आपके अध्यात्म मे और वेदान्त के अध्यात्म में कोई अन्तर नहीं है? गुरुजी ने उत्तर दिया था कि जैन दर्शन में आत्मा को सदा शुद्ध नहीं माना, संसारावस्था मे अशुद्ध और मुक्तावस्था में शुद्ध दोनों माना गया है। पर वेदान्त में उसे सदा शुद्ध स्वीकार किया है। जिस माया की उस पर छाया है वह मिथ्या है। लेकिन जैन दर्शन में आत्मा जिस पुद्गल से बद्ध, एतावता अशुद्ध है वह एक वास्तविक द्रव्य है। इससे संयुक्त होने से आत्मा में विजातीय परिणमन होता है। यह विजातीय परिणमन ही उसकी अशुद्धि है। इस अशुद्धि का जैन दर्शन मे विस्तार से विवेचन है। उससे मुक्त होने के लिए ही संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों का विवेचन है। तात्पर्य यह है कि जिन-

शासन जब स्वयं स्याद्वादमय है, तो उसमे प्रतिपादित आत्मस्वरूप स्याद्वादात्मक होना ही चाहिए। इस तरह दोनो नयो से तत्त्व को समझने और प्रतिपादन करने से ही तत्त्वोपलब्धि एव स्वात्मोपलब्धि प्राप्य है।

साहित्यिक प्रवृत्तियां और उपलब्धियां :

आज से पचास वर्ष पूर्व जैन साहित्य सब को सुलभ नही था। इसका कारण जो भी रहा हो। यहाँ साम्प्रदायिकता के उन्माद ने कम उत्पात नही किया। उसने बहुमूल्य सहस्रों ग्रन्थो की होली खेली है। उन्हे जलाकर पानी गरम किया गया है और समुद्रों एव तालाबों मे उन्हे डुबो दिया गया है। सम्भव है उक्त भय से हमारे पूर्वजो ने बचे खुचे वाङ्मय को निधि की तरह छिपाया हो या दूसरो के हाथ पकड़ने पर अविनय का उन्हे भय रहा हो। प्रकाशन के साधन उपलब्ध होने पर सम्भवतः उसी भय के कारण उन्होने छापे का भी विरोध किया जान पड़ता है। परन्तु युग के साथ चलना भी आवश्यक होता है। अतएव कितने ही दूरदर्शी समाज-सेवको ने उस विरोध का सामना करके भी ग्रन्थ-प्रकाशन का भी कार्य किया। फलत: आज जैन वाङ्मय के हजारो ग्रन्थ प्रकाशन मे आ गये है। षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, धवला-जयधवलादि टीकाएँ जैसे सिद्धान्त ग्रन्थ भी छप गये है और जनसामान्य भी उनसे ज्ञानलाभ ले रहा है। इस दिशा मे श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द जैन-साहित्योद्धारक फण्ड द्वारा डाक्टर हीरालाल जी, उनके सहयोगी पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, पं० हीरालाल जी शास्त्री और पं० बालचन्द्र जी शास्त्री के सम्पादन-अनुवादादि के साथ षट्खण्डागम के १६ भागों का प्रकाशन उल्लेखनीय है। सेठ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से स्वर्गीय पं० नाथूराम जी प्रेमी ने कितने ही वाङ्मय का प्रकाशन कर उद्धार किया है। जीवराज ग्रन्थमाला से डाक्टर ए० एन० उपाध्ये ने तिलोयपण्णत्ती आदि अनेक ग्रन्थों को प्रकाशित कराया है। स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार के वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली और वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी से कई महत्त्व के ग्रन्थ प्रकट हुए है। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। जिस प्रकाशन-संस्था से सर्वाधिक जैन वाङ्मय का प्रकाशन हुआ, वह है भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला। इस ग्रन्थमाला से सिद्धिविनिश्चय जैसे अनेक दुर्लभ ग्रन्थ सामने आये है और आ रहे है। इसका श्रेय जहाँ स्व० प० महेन्द्रकुमार जी, प० कैलाशचन्द्र जी, प० फूलचन्द्र जी, प० हीरालाल जी आदि उच्च विद्वानो को प्राप्त है वहाँ ज्ञानपीठ के सस्थापक साहू शान्तिप्रसाद जी और अध्यक्षा श्रीमती रमारानी जी को भी है। उल्लेख्य है कि श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा सकलित-सम्पादित जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोष (२ भाग) का प्रकाशन भी स्वागत योग्य है। इस प्रकार पिछले पचास वर्षों मे साहित्यिक प्रवृत्तिया उत्तरोत्तर बढ़ती गई हैं, जिसके फलस्वरूप बहुत-सा जैन वाङ्मय सुलभ एवं उपलब्ध हो सका है।

इधर डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री विद्यादान और साहित्य सृजन मे जो असाधारण योगदान कर रहे है वह मुक्तकण्ठ से स्तुत्य है। लगभग डेढ़ दर्जन शोधार्थी विद्वान् आपके निर्देशन मे जैन विद्या के विभिन्न अङ्गों पर पी-एच० डी० कर चुके है और लगातार क्रम जारी है। भारतीय ज्योतिष, लोकविजय-यत्र, आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत, सस्कृत-काव्य के विकास मे जैन कवियो का योगदान जैसे अनेक ग्रन्थ-रत्न आपकी रत्नगर्भा सरस्वती ने प्रसूत किये हैं। पण्डित पन्नालाल जी साहित्याचार्य की भारती ने तो भारत के प्रथम नागरिक सर्वोच्च पदासीन राष्ट्रपति श्री वराह वेकटगिरि तक को प्रभावित कर उन्हें राष्ट्रपति-सम्मान दिलाया और भारतीय वाङ्मय को समृद्ध बनाया है। आदिपुराण, हरिवशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धर चम्पू, पुरुदेव चम्पू, तत्त्वार्थसार, समयसार, रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि अर्धशती ग्रन्थ-राशि आपके द्वारा अनूदित एव सम्पादित हुई है। डा० देवेन्द्रकुमार जी रायपुर का 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोधप्रवृत्तियाँ, डा० हीरालाल जी जैन का 'णायकुमारचरिउ', डा० ए० एन० उपाध्ये का गीत बीतराग, प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का 'नयचक्र', पं० अमृतलाल जी शास्त्री का 'चन्द्रप्रभचरित', डा० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल का 'राजस्थान के जैन सन्त : कृतित्व और व्यक्तित्व', श्री श्रीचन्द्र जी जैन उज्जैन का 'जैन कथानको का सांस्कृतिक अध्ययन' आदि

नव्य-भव्य रचनाओं ने जैन वाङ्मय के भण्डार की अभिवृद्धि की है। डा० हरीन्द्रभूषण जी उज्जैन के निर्देशन में दो विद्वानों ने जैन-विद्या पर पी-एच० डी० की है। हमें आशा है जैन विद्या और जैन वाङ्मय के आदर का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता जायेगा।

जैन शिक्षण-संस्थाएँ :

आज से पचास वर्ष पूर्व एकाध ही शिक्षण-संस्था थी। गुरु गोपालदास जी वरैया और पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के धारावाही प्रयत्नों से सौ से भी अधिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना हुई। मोरेना विद्यालय और काशी का स्याद्वाद महाविद्यालय उन्हीं में से हैं। मोरेना से जहाँ आरम्भ में सिद्धान्त के उच्च विद्वान् तैयार हुए वहाँ काशी से न्याय, साहित्य धर्म और व्याकरण के ज्ञाता तो हुए ही, अंग्रेजी के भी विद्वान् निकले हैं। यह गर्व की बात है कि आज समाज में जो बहुसंख्यक उच्च विद्वान हैं वे इसी विद्यालय की देन हैं। वस्तुतः इसका श्रेय आचार्य गुरुवर्य प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री को है, जो विद्यालय के पर्यायवाची माने जाते है। सागर के गणेश विद्यालय की भी समाज को कम देन नहीं है। इसने सैकड़ों बुझते दीपकों में तेल और बत्ती देकर उन्हें प्रज्वलित किया है।

पर आज ये शिक्षण-संस्थाएँ प्राणहीन-सी हो रही हैं। इसका कारण मुख्यतया आर्थिक है। यहाँ से निकले विद्वानों की खपत समाज में अब नहीं के बराबर है और है भी तो उन्हें श्रुतसेवा का पुरस्कार अल्प दिया जाता है। अतः छात्र, अब समाज के बाजार में उनकी खपत कम होने से दूसरे बाजारों को टटोलने लगे हैं और उनमें उनका माल ऊँचे दामों पर उठने लगा है। इससे विद्वानों का ह्रास होने लगा है। फलतः समाज और संस्कृति को जो क्षति पहुँचेगी, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः समाज के नेताओं को इस दिशा में गम्भीरता से विचार करना चाहिए। यदि तत्परता से तुरन्त विचार न हुआ तो निश्चय हमारी हजारों वर्षों की संस्कृति और तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए संकट की स्थिति आ सकती है।

विद्वत्परिषद् का भावी कार्यक्रम :

विद्वत्परिषद् के साधन सीमित हैं और उसके चालक अपने-अपने स्थानों पर रहकर दूसरी सेवाओं में संलग्न हैं। उन आवश्यक सेवाओं से बचे समय और शक्ति का ही उत्सर्ग वे समाज, साहित्य और सगठन में करते हैं। अतः हमें अपनी परिधि के भीतर आगामी कार्यक्रम तय करना चाहिए।

हमारा विचार है कि परिषद् को निम्न तीन कार्य हाथ मे लेकर उन्हें सफल बनाना चाहिए।

१. जैन विद्या-फण्ड की स्थापना।

२. भगवान् महावीर की २५००वीं निर्वाण शती पर सेमिनार।

३. ग्रन्थ-प्रकाशन।

१. पूज्य वर्णी जी के सान्निध्य में सन् १९४८ में परिषद् ने एक केन्द्रीय छात्रवृत्ति-फण्ड स्थापित करने का प्रस्ताव किया था, जहां तक हमें ज्ञात है, इस प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप नहीं मिल सका है। आज इस प्रकार के फण्ड की आवश्यकता है। प्रस्तावित फण्ड को 'जैन विद्या-फण्ड' जैसा नाम देकर उसे चालू किया जाय। यह फण्ड कम-से-कम एक लाख रुपये का होना चाहिए। इस फण्ड से (क) आर्थिक स्थिति से कमजोर विद्वानों के बच्चों को सम्भव वृत्ति दी जाय। (ख) उन योग्य शोधार्थियों को भी वृत्ति दी जाय, जो जैन-विद्या के किसी अङ्ग पर किसी विश्वविद्यालय मे शोधकार्य करें। (ग) शोधार्थी के शोध-प्रबन्ध के टङ्कन या शुल्क या दोनों के लिए सम्भव मात्रा में आर्थिक साहाय्य किया जाय।

२. भगवान् महावीर की २५००वीं निर्वाण शती सारे भारतवर्ष में व्यापक पैमाने पर मनायी जायगी। उसमें विद्वत्परिषद् के सदस्य व्यक्तिशः योगदान करेंगे ही, परिषद् भी एक साथ अनेक स्थानों पर अथवा भिन्न-भिन्न समयों में अनेक विश्वविद्यालयों में सेमिनारों (संगोष्ठियों) का आयोजन करे। इन सेमिनारों में जैन एवं जैनेतर विद्वानों द्वारा जैन विद्या की एक निर्णीत विषयावलि पर शोधपूर्ण निबन्ध-पाठ कराये जायें। इन सेमिनारों का आज अपना महत्त्व है और उनमें विद्वान् रुचिपूर्वक भाग लेंगे।

३. आगामी तीन वर्षों की अवधि के लिए एक ग्रन्थ-प्रकाशन की योजना बनायी जाय। इस योजना के अन्तर्गत 'तीर्थंकर महावीर' ग्रन्थ का तो प्रकाशन हो ही, उसके

अतिरिक्त तीन अप्रकाशित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रंथों या भगवान् महावीर सम्बन्धी नयी मौलिक रचनाओं का प्रकाशन किया जाय।

यदि अगले तीन वर्षों में परिषद् ये तीन कार्य कर लेती है तो वह संस्कृति की एक बहुत बड़ी सेवा कही जावेगी।

शिवपुरी और उसकी गरिमा :

विद्वत्परिषद् का यह रजत-जयन्ती अधिवेशन जिस शिवपुरी में श्री महाजिनबिम्ब-पंचकल्याणकप्रतिष्ठा-महोत्सव के पुण्यावसर पर हो रहा है उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गरिमा है। भारतीय स्वतंत्रता के अमर सेनानी वीर तांत्या टोपे को यहीं फांसी दी गयी थी। उनके अमर बलिदान का यह पुण्य स्थल है। खंडेलवाल वंशीय दानवीर सिंघई मोहनदास और उनके परिवार ने १७०३ में बावन कुण्डो से युक्त नन्दीश्वर द्वीप की रचना करके इसकी सांस्कृतिक गरिमा भी स्थापित की और अब भाई नेमीचन्द जी गोदवालो तथा उनके परिवार द्वारा महावीर-जिनालय एवं सम्बद्ध अन्य संस्थान निर्मित होकर उस गरिमा मे चार चाँद लगाये जा रहे हैं। उल्लेखनीय है कि मध्य-प्रदेश की सरकार द्वारा यहां जो प्राचीन मूर्ति संग्रहालय स्थापित है उसमे बहुत सी जैन मूर्तियां संगृहीत एवं सुरक्षित है। इसके लिए मध्यप्रदेश-शासन निश्चय ही बहुमूल्य पुरातत्त्व-संरक्षण के लिए धन्यवादार्ह है। यहां के पूर्व कलेक्टर श्री रामविहारीलाल भी कम बधाई योग्य नहीं हैं, जिन्होने अपने निसर्गज पुरातत्त्व प्रेम से इस संग्रहालय को जन्म दिया। यहां का मनीकुण्ड, भदैयां कुण्ड और कोलारस की प्राचीन विशाल खड्गासन मूर्तियां शिवपुरी आने वालों के लिए आकर्षण की वस्तुएं हैं। विद्वत्परिषद् के आकर्षण के लिए ये वस्तुएँ तो रही हैं, भाई नेमीचन्द जी और सुहृद्वर पं० परमेष्ठीदास जी की प्रेरणा और सौहार्द भी आकर्षक रहे हैं। विद्वत्परिषद् इन सबसे लाभान्वित हुई है।

अन्त में आप सबके प्रति नम्रतापूर्वक आभार प्रकट करता हूं, जो आपने धैर्यपूर्वक मेरे भाषण को सुना।

'जयतु जैनं शासनम्'।

'अनेकान्त' के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में

प्रकाशन का स्थान	'वीर सेवा मन्दिर' भवन, २१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्वैमासिक
मुद्रक का नाम	श्री वंशीधर जैन शास्त्री
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	श्री वंशीधर जैन शास्त्री, मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादकों का नाम	डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर; डा० प्रेमसागर, बड़ौत; श्री यशपाल जैन, दिल्ली; परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली।
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत : वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली

मैं वंशीधर जैन शास्त्री घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-७३ ह० वंशीधर जैन शास्त्री

भारतवर्षीय दि० जैन परिषद् के स्वर्ण जयन्ती अधिवेशन पर :

प्रसिद्ध उद्योगपति साहू शान्तिप्रसाद जी जैन का

उद्घाटन भाषण

प्रिय अध्यक्ष, स्वागताध्यक्ष, बहिनो और भाइयो,

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् के आज का यह स्वर्ण जयन्ती उत्सव हमे पिछले ५० वर्ष में जैन समाज में जो उतार-चढ़ाव हुए है, उन्हें अवलोकन करने का और उन पर सोचने और विचारने तथा समाज को आगे किस दिशा में बढ़ना है, इस पर निश्चय करने का अवसर देता है।

करीव १०० वर्ष पहले श्री राजाराम मोहन राय ने इस देश की सामाजिक व्यवस्था को एक नया मोड़ दिया। इसी समय उत्तर भारत मे स्वामी दयानन्द हुए और हिन्दू धार्मिक परम्परा मे एक नया रूप लाये। श्री दादा भाई नौरो जी ने राजनैतिक क्षेत्र मे एक नयी विचार-धारा की परम्परा डालने का प्रयत्न किया। इन नयी चेतना से जैन समाज अछूता नहीं रहा।

वीसवीं सदी के प्रारम्भ मे स्वनामधन्य राजा लक्ष्मणदास जी, डिप्टी चम्पतराय जी और सेठ देवकुमार जी आदि महानुभावों ने समाज-धर्म-सेवा के लिए महासभा की नीव डाली। महासभा ने सस्कृत अध्ययन के लिए और अंग्रेजी अध्ययन के लिए जहाँ पर राज्य के मुख्य विश्वविद्यालय थे, वहाँ पर होस्टल वनाने की पद्धति अपनायी। पण्डित गोपालदास जी वरैया, न्यायाचार्य ब्र० गणेश प्रसाद जी वर्णी, वावा भागीरथ जी वर्णी ने विद्यालयो को निर्मित किया और सेठ माणिकचन्द्र जी आदि ने होस्टल वनवाने की प्रथा डाली। नारी-शिक्षा में श्रीमती मगन बहिन, ब्र० चन्दा बाई आदि ने विशेष उत्साह दिखाया और प्रेरणा दी। ब्रिटिश और मुस्लिम प्रभुत्व के लम्बे दौरान के कारण समाज में तत्वचर्चा और स्वाध्याय की ओर रुचि करीब-करीब समाप्त जैसी हो गयी थी। सेठ मेवाराम जी, पण्डित प्यारेलाल जी, न्याय दिवाकर पं० पन्नालाल जी आदि ने तत्वचर्चा और स्वाध्याय की ओर ध्यान आकर्षित किया और जगह-जगह पर शास्त्र-स्वाध्याय और तत्वचर्चा की प्रणाली को बल मिला। साथ-साथ मे बैरिस्टर जुगमन्दरलाल जी, वैरिस्टर चम्पतराय जी, प० अजितप्रसाद जी, श्रद्धेय ब्र० शीतल प्रसाद जी आदि ने जैनतत्वों को नवीन ढंग से अंग्रेजी भाषा में अनुवादित किया। प० पन्नालाल जी बाकलीवाल, बा० सूरजभानु वकील, प० नाथूराम जी प्रेमी आदि ने जैन सिद्धान्तों को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए सरल भाषा का उपयोग किया। १६वी सदी में यातायात के साधन बढ चुके थे और समाज में तीर्थयात्रा के लिए भक्तजनों की संख्या बढ़ी। तीर्थ की व्यवस्था सुधारने के लिए सेठ जम्बू प्रसाद जी, सेठ देवीसहाय जी, सर सेठ हुक्मचन्द जी, श्री रतनचन्द जी जरीवाले आदि ने तीर्थोद्धार का वीड़ा उठाया। समाज-उत्थान की ये सब परम्परायें उत्साहपूर्वक महासभा के नियन्त्रण में करीब २५-३० वर्ष तक चलती रही।

महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आये और अछूतोद्धार, नारी-जागरण और देश को विदेशी शासन से मुक्त करने के लिए एक नया प्रोग्राम उन्होंने देश को दिया। इसका असर जैन समाज पर भी होना था। श्री अर्जुनलाल सेठी, श्री नेमीशरण जी, भाई रतनलाल जी और अनेक ने गांधी जी के नेतृत्व को मानकर उनके विचार और कार्य मे हाथ बटाया। इसका असर जैन समाज की कार्यप्रणाली पर होना भी स्वाभाविक था। १६३२ में ही महासभा के दिल्ली अधिवेशन में समाज-सुधार की प्रगति किस तेजी से हो इसमें मतभिन्नता हो

गई। समाज-सुधार कार्य मे अधिक प्रगति के लिए ब्र० शीतलप्रसाद जी, बेरिस्टर चम्पतराय जी, राय बहादुर जुगमन्दरदास जी, श्री रतनलाल जी, श्री राजेन्द्रकुमार जी आदि ने मिलकर परिषद् की स्थापना दिल्ली में की। जिससे समाज-सुधार का कार्य तेजी से हो सके।

भारत की सामाजिक उन्नति का इतिहास जैन समाज की प्रगति का इतिहास है। महासभा की बागडोर जिस समय परिषद् बनी थी सर सेठ हुकमचन्द जी के हाथ मे रही और उन्होंने अपने को स्थितिपालक कहा। करीब २० वर्ष बाद १९४२ में सर सेठ ने मालवा प्रान्तिक और खण्डेलवाल सभा का अधिवेशन इन्दौर मे बुलाया। और उसके स्वागताध्यक्ष भैया राजकुमार जी हुए। उसके अध्यक्ष पद के लिए सर सेठ ने मुझे आमन्त्रित किया। सेठ जी मेरे विचारो से पूरे जानकार थे और उन्हे मालूम भी था कि मै परिषद का अध्यक्ष रह चुका हूँ और परिषद से मेरा बहुत सबध है। लोहड़साजन और बड़साजन की खण्डेलवाल समाज मे वही रीति थी जैसा अग्रवाल समाज मे दस्सा-विस्सा प्रथा थी। लोहड़—बडसाजन को एक करने का प्रस्ताव हुआ और बराबर अधिकार दिये गये। परिषद बनने का एक कारण दस्सा-विस्सा प्रथा भी थी। सर सेठ ने २० वर्ष बाद इन्दौर मे लोहड बड़साजन को मिलाकर समस्त समाज का नेतृत्व किया।

भारत की स्वतंत्रता के बाद विदेशों में मूर्तियों तथा भारतीय सांस्कृतिक प्रतीकों और चिह्नों को बेचकर धन कमाने के लिए एक बड़ा धन्धा प्रारम्भ हुआ जो अभी भी जारी है। इसी धन्धे के कारण मध्य भारत मे प्रतिष्ठित मन्दिरों मे प्रतिमाओं को खण्डित किया गया और चोरी हुई। इस पर समस्त समाज प्रतिमाओ के खण्डित होने के कारण क्षुब्ध था। इस पर विचार करने के लिए दिल्ली में जैन समाज की एक बृहद्सभा हुई। सर सेठ भागचन्द जी ने समय को देखा और उन्होने एकता लाने का भरसक प्रयत्न किया। उनका प्रयत्न आज तक महासभा और परिषद को मिलाने का जारी है।

तीन वर्ष पहले तमाम भारतवर्ष में भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाणोत्सव मनाने का निश्चय किया गया। दिगम्बरत्व की रक्षा करने के लिए और दिगम्बरत्व की प्रभावना के लिए तमाम दिगम्बर जैन समाज ने एक होकर एक समिति का गठन दिल्ली मे किया। इस गठन मे पहली बार स्थितिपालक और सुधारक एक साथ कार्य कर रहे हैं और इस गठन की नीव इस निश्चय पर है कि एक दूसरे का कोई विरोध नही करे। आज सभी जानते हैं कि यह गठन बहुत सुदृढ़ है और इसकी शाखाएँ भारत के प्रत्येक स्थान में भगवान महावीरोत्सव मनाने के लिए बन गई है।

अहिंसा, अपरिग्रह, स्याद्वाद शाश्वत सिद्धान्त हैं। वर्तमान कालचक्र के प्रारम्भ मे इन धर्मों का प्रतिपादन भगवान आदिनाथ ने किया। भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ के अन्तिम पद में भारतीय समाज मे धर्म के नाम से हिंसा बहुत बढ़ गई थी और शूद्र और नारियो का क्रय-विक्रय एक सामाजिक सस्था बन गई थी। उसे उन्मूलन करने के लिए भगवान महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा भारतीय समाज को अहिंसा और संयम का रास्ता बताया।

भगवान ने मनुष्य को स्वतन्त्रता का उपदेश दिया, उसे उन धार्मिक, सामाजिक और मानसिक रूढि-बन्धनों से मुक्त किया, जो उसके मन मे अज्ञान, आत्मा मे जड़ता, उपासना मे आडम्बर, क्रिया मे रूढ़ि, समाज मे कटुता और विश्व में हिंसा उत्पन्न करते थे। भगवान महावीर की श्रमण सस्कृति का आधार मनुष्य का अपना अनुभव, अपना ज्ञान और अपनी आत्मसाधना है, इसलिए जैन शासन के प्रवर्त्तको ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ही युगधर्म का उपदेश दिया है।

धार्मिक जगत मे परीक्षण, अनुभव और बुद्धिवाद को आदर देकर भगवान महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, उसे आप चाहे जैन धर्म कहें, चाहे श्रमण धर्म, वह वास्तव में है मानवधर्म ही है। यह बात नही कि इस धर्म मे मनुष्य की श्रद्धा की उपेक्षा की गई हो। वास्तविक श्रद्धा के विना मनुष्य की बुद्धि भटक जाती है, और बुद्धि के समाधान विना श्रद्धा अन्धविश्वास के स्तर पर जा गिरती है। इसीलिए भगवान ने धार्मिक आचरण के मूल में ज्ञान के साथ श्रद्धा को रखा और मनुष्य के धर्म-

कोष को श्रद्धा, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयनिधि से समुज्ज्वल किया। जीवन के उद्देश्य के लिए उन्होने अभ्युदय की जगह निःश्रेयस, प्रेय के स्थान मे श्रेय, भोग की जगह योग और प्रवृत्ति की जगह निवृत्ति को प्रधानता दी।

भगवान महावीर के लिए प्राचीन आचार्यों ने 'परियट्टये' विशेषण का उपयोग किया है, जो विशेष महत्वपूर्ण है। 'परियट्टये' शब्द का अर्थ है परिवर्तक अथवा परिवर्तन करने वाला या सशोधन करने वाला। वीर शासन अपने युग के लिए क्रान्ति के रूप में अवतरित हुआ, जिसने समाज की जीर्णशीर्ण व्यवस्था में नये प्राण फूंके, मनुष्य के सहज चैतन्य को जगाया तथा मतान्धता और कट्टरता को हटाकर वैज्ञानिक विचारधारा के सूखे स्रोत को पुन: जीवनदान दिया।

उस समय की सामाजिक व्यवस्था मे दलित वर्ग का शोषण और जातिवाद का दुरभिमान आदि जो दोष आ गये थे, उनको दूर करने के लिए भगवान ने वर्णव्यवस्था के आधार की स्पष्ट व्याख्या की। उन्होंने कहा :—

'कम्मुणा बम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा।।'

अर्थात्, मनुष्य का वर्ण वह नहीं जो उसे जन्म से मिला हो, बल्कि मनुष्य अपने कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्री होता है और कर्म से ही वैश्य तथा शूद्र होता है। महावीर स्वामी ने वर्णव्यवस्था को व्यवहारमूलक ही माना धर्ममूलक नहीं।

श्रमण सस्कृति मे समय के उतार-चढ़ावके साथ अनेक ऐसी धारणाएँ आ मिली है, जिन्होंने कहीं-कहीं मूल रूप को ढक दिया है। वीर शासन के अनुयायी जिन्हें अपने धार्मिक संस्कारों के कारण सत्य का दर्शन सुलभ होना चाहिए, इस विषय मे देश के प्रति विशेष उत्तरदायित्व रखते है। देशवासियों का एक बड़ा भाग आज जीवन के अनेक अधिकारों और मनुष्य के प्रेम से वचित है। भगवान महावीर के शासन मे इन प्राणियों का भी विशेष स्थान था। अत: हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन्हें वीर की प्रतिपादित-मानवता और विश्वबन्धुत्व के निकट लाने में प्रयत्नशील हों।

वीर शासन की एक विशेष देन जो संसार के दर्शन शास्त्रों और विचारधाराओं मे अपना अद्वितीय स्थान रखती है, वह है स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। मनुष्य के विचारों में जो विभिन्नता है और सत्य की खोज करने वाले व्यक्तियों की धारणाओं मे कभी-कभी जो स्पष्ट विरोध दिखाई देता है, उसके मूल मे प्राय: यही कारण होता है कि एकांग सत्य को पूर्ण सत्य मान बैठते हैं। पदार्थों में अनेक धर्म हैं, सत्य को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, किन्तु भाषा का माध्यम इतना निर्बल है कि वह वस्तु के सब धर्मों को, सत्य के अनेक दृष्टिकोणों को, एक साथ व्यक्त नहीं कर सकता।

भगवान महावीर के समय में ६ प्रमुख तत्त्ववेत्ता थे, उन्होंने वस्तु के एक धर्म में ही सम्पूर्ण सत्य की मान्यता करली थी। सीधे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि— १. अजित केशकम्बलि भौतिकवादी थे, २. मक्खलि गोशाल अकर्मण्यतावादी थे, और ३. पूर्णकश्यप अक्रियावादी अथवा नियतिवादी थे, ४. प्रकुध कात्यायन नित्य पदार्थवादी थे, ५. गौतमबुद्ध क्षणिक पदार्थवादी थे, ६. संजय भेलट्ठिपुत्त संशयवादी या अनिश्चिततावादी थे। भगवान महावीर के उप्पन्नेई वा, विगमेई वा, धुवेई वा इस मातृकात्रिपदी में बताये गये, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाद या अनेकान्तवाद दर्शन ने नित्यपदार्थवादी प्रकुध कात्यायन और क्षणिक पदार्थवादी गौतमबुद्ध के दर्शनों का वस्तु स्थिति के आधार पर पूरा-पूरा समन्वय किया। स्याद्वाद की निश्चित शैली ने संजयवेलट्ठिपुत्त के संशयवाद या अनिश्चिततावाद का निराकरण किया। 'स्यात्' शब्द न तो 'शायद' का पर्यायवाची है और न अनिश्चितता का रूपान्तर। यह तो 'अमुक सुनिश्चित दृष्टिकोण' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

धार्मिक सिद्धान्त का प्रभाव यदि हमारे दैनिक जीवन पर न पड़ा, तो फिर उस सिद्धान्त का विशेष लाभ ही क्या हुआ? पुरातनवाद और सुधारवाद का द्वन्द्व, पूंजीवाद और समाजवाद का संघर्ष तथा हिन्दू-मुस्लिम समस्याओं की कटुता, यह सब वस्तुस्थिति के विभिन्न पक्षों के एकान्त आग्रह के फल हैं। यदि हम अनेकान्त के सिद्धान्त को अपनाकर विचारों में सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करें या मन को उदार तथा हृदय को विशाल

बनाएं, तो हमारे देश के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र की कटुता और वैमनस्य दूर हो जाये।

भगवान महावीर का दृष्टिकोण सब दिशाओं में वैज्ञानिक था, इसलिए समाज के जीवन में प्रचलित रूढ़िवाद के विरुद्ध उनका वज्र निर्घोष हुआ।

वीर भगवान की मौलिक और वैज्ञानिक चिन्तनधारा का उत्कृष्ट प्रमाण इस बात से मिलता है कि उन्होने अन्य संस्कृतियों की परम्परागत इस विचारधारा का निराकरण किया कि यह जगत ईश्वर ने बनाया है और इसका शासन ईश्वर उसी तरह करता है, जिस तरह कोई राजा अपने देश का। आधुनिक विज्ञान भी आज इस निश्चय की ओर पहुँचा है कि ससार के अनादि द्रव्यों का विकास और ह्रास केवल द्रव्य की पर्यायों की अदला-बदली का खेल है, जो वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण होता है। ज्युलियन हक्सले जो आज के बहुत बड़े वैज्ञानिक और प्राणिशास्त्र के विद्वान हैं अपना मत स्पष्ट लिखते हैं :—

"इस विश्व पर शासन करने वाला कौन या क्या" है ? जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है, हम यही देखते हैं कि विश्व का नियन्त्रण स्वयं अपनी ही शक्ति से हो रहा है। और वास्तव में बात तो यह है कि विश्व का सादृश्य देश और उसके शासक के साथ बैठना नितान्त भ्रमपूर्ण हैं।

भगवान महावीर ने निर्वाण के लिए जिन सात तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान आवश्यक बतलाया और आचरण के जो नियम बनाये, वे मानव जीवन के मूल आधार हैं। भगवान ने मनुष्य का भाग्य मनुष्य के हाथ में सौंपा है, उसे मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने ही साधनों पर अवलम्बित होना सिखाया है।

जैन दर्शन का ध्येय केवल यही है कि आदमी अपने को पहचाने, अपनी आत्मा के स्वभाव और सुख को प्राप्त करे। कर्मबन्ध को रोकने और काटने का उपाय शुद्ध आचरण, संयम और तप है। जैन दर्शन का जीवन सूत्र है—

'णाणं पयासयं, सोहओ तवो, संयमो यगुत्तियरो।'

ज्ञान प्रकाशक है, चित्त शोधन करता है और संयम रक्षा करता है।

वीर शासन का उद्देश्य प्राणिमात्र की हित कामना और उद्धार कार्य था, इसीलिए युग परिवर्तक भगवान महावीर ने अपना धर्मोपदेश उस भाषा में दिया, जो सर्वसाधारण की बोली थी। तत्कालीन धार्मिक जगत में इस बात ने ही एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। भगवान को मानवधर्म का उपदेश देना था, इसलिए यह आवश्यक था कि वह धर्म के चिरन्तन सिद्धान्तो को ऐसी भाषा मे कहें, जो लोगों की समझ मे आये और हृदय मे स्थान बनाये। इसलिए प्रभु ने उस समय की प्रचलित बोली अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया। अर्धमागधी बोली में आधे शब्द मगध देश की बोली के थे और शेष शब्द दूसरे गणतन्त्रों की भाषाओं के। इसी वीर परम्परा को अपनाकर ही जैन आचार्यों, जैन कवियों और लेखको ने भारत की विभिन्न भाषाओं में अमर लोकसाहित्य रचा है। आज जब कि हम देश के लिए एक भाषा का निर्माण करना चाहते हैं, हमे वीर के पराक्रम, उनकी सूझ और उनके उदाहरण से शिक्षा लेनी चाहिए। वीर भगवान की अर्धमागधी उस समय की हिन्दुस्तानी थी, जो बोलचाल का माध्यम तो थी ही, साहित्य का भी सफल माध्यम बनी। आज यदि हम सार्वजनिक सुधार, शिक्षा और उन्नति चाहते हैं, तो हमे वीर के पदचिह्नों पर चलकर देश के लिए एक भाषा—हिन्दुस्तानी—गढ़नी होगी और उसमे उपयोगी साहित्य की सृष्टि करनी होगी। जैन-साहित्य ने सदा ही समय की प्रचलित बोली का माध्यम स्वीकार किया है, इसलिए संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, अपभ्रंश, कन्नड़, तामिल, गुजराती आदि प्रान्तीय तथा सार्वजनिक भाषाओं में उच्चकोटि का विपुल जैन-साहित्य मिलता है। हमें आज भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा की ज्योति अक्षुण्ण बनाये रखनी चाहिए और हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू आदि भाषाओं के साहित्य को अपनी संस्कृति के योगदान से समृद्ध करना चाहिए।

वीर शासन ने जहाँ धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा स्याद्वाद और आत्मानुभूति की महत्ता बता कर धर्म को सुबोध और सार्वजनिक बनाया तथा सामाजिक क्षेत्र में समता, शुद्धता और स्वतन्त्रता का प्रचार किया, वहाँ राजनैतिक क्षेत्र में लोककल्याण की भावना को प्रोत्साहित किया है।

साहित्य के क्षेत्र मे वीर शासन की परम्परा ने ससार को उत्कृष्ट काव्य, नाटक, चम्पू, कोष, इतिहास, वैद्यक और ज्योतिष आदि ग्रन्थो का दान दिया। इसी तरह वीर शासन के अनुयायियो ने रुचिर चित्रकला, सुन्दर स्थापत्य और मनोरम मूर्ति निर्माण-कला के उत्कृष्ट उदाहरणों से कलाकौशल के वैभव को बढाया है।

वीर शासन और जैन धर्म के उपासकों मे सभी वर्गो और सभी श्रेणियों के व्यक्ति सम्मिलित रहे है। शिशुनाग कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव, सोलकी आदि राजवंशों मे जैन धर्म को मान्यता थी, जिसका प्रमाण भारतवर्ष के कोने-कोने मे प्राप्त जैन तीर्थों, मन्दिरो और स्तूपो के शिलालेखो के रूप में मिलता है।

पिछली जनगणना के अनुसार जैनियों की संख्या २५ लाख कही जाती है, किन्तु वास्तव मे जैन धर्म के मानने वालो की सख्या करीब ८० लाख से ऊपर होगी, ऐसा मेरा अनुमान है। जनगणना के समय बहुत से जैनी अपने को हिन्दू लिखवाते है, बहुत से वैश्य, बनिया अथवा सरावगी आदि। जैनियो ने जनगणना मे अपनी जाति और धर्म ठीक-ठीक भरवाने मे सामूहिक रूप से कुछ उपेक्षा दिखाई है। इसके अतिरिक्त सराक, मीना, कलार आदि जातियो के लाखो की सख्या मे ऐसे लोग है, जिनमे पहले जैन धर्म प्रचलित था और आज यद्यपि जैन धर्म और जैन समाज से उनका सीधा सम्पर्क टूट गया है, फिर भी वे साल मे किसी विशेष त्यौहार के दिन अथवा शादी-विवाह के अवसर पर जैन मन्दिरों मे जाकर अपनी विधि से भगवान की पूजा करते है। इन जातियों मे धर्म की पुनर्जागृति करना, उनके सस्कार को सुधारना और सबसे बड़ी बात यह कि उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और जीविका की ओर ध्यान देना मानवता की दृष्टि से भी जैन समाज का विशेष कर्त्तव्य हो जाता है।

यहाँ यह बात हमें स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि यद्यपि जैनियों का धर्म और उनकी सस्कृति वैदिक सस्कृति से भिन्न है और वह हिन्दू धर्म की न शाखा है और न अग, पर जहाँ तक हमारे समाज का सम्बन्ध है, हम विशाल हिन्दू संघ के साथ है और सामाजिक तथा राजनैतिक मामलों में उससे अभिन्न है। देश के अनेक सुधार-प्रयत्नों और राजनैतिक आन्दोलनों मे जिन भाइयों ने प्रमुख भाग लिया है, उन्होने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही ऐसा किया है आज भी हम बहुमत से उन सब प्रवृत्तियों को राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध समझते है, जो देश की स्वाधीनता मे रुकावट डाले, उसकी एकता को नष्ट करे और उसे आर्थिक तथा राजनैतिक अवनति की ओर ले जाएँ। हम न तो हिन्दुओ से अलग राजनैतिक प्रतिनिधित्व चाहते है, न भारत की बहुमुखी एकता को खण्डित कर देने के पक्ष मे है।

हमारा समाज व्यापार और खेतिहर प्रधान है। देश ने खेती में उत्पादन बढ़ाने के लिए खेतिहरो को आह्वान किया था। हमारे खेतिहर समाज ने पूरा सहयोग दिया—कइयों को कृषि पण्डित की उपाधि से सम्मान मिला, जो समाज का हिस्सा गरीबी के कारण नगण्य-सा हो गया था उन्होने पिछले कई वर्षो मे धार्मिक कार्यो मे बहुत-सा धन दिया है। तीर्थों की रक्षा के लिए सबसे अधिक धन महाराष्ट्र और कन्नड के खेतिहरो से ही मिला है। बगाल और बिहार का खेतिहर समाज भी उन्नतिपथ पर है।

आज हमारी प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी बेरोजगारी हटाने के अभियान से छोटे उद्योगो को बढ़ाने के लिए बहुत बल दे रही हैं और उन्होंने गल्ले के व्यापार का स्वामित्व राज्य को दिया है। उद्योग का कार्य व्यापार से कुछ कठिन होने पर भी हम व्यापारियों को उद्योग मे लग जाना चाहिए, इससे हमारा और देश दोनो का लाभ होगा, परिषद का यह एक मुख्य कार्यक्रम होना चाहिए। हमे इसके लिए सब स्तर पर कमेटियो का गठन करना चाहिए।

पश्चिमी सभ्यता इस देश मे तेजी से बढ रही है, आमिष भोजन और शराब का प्रचार तेजी पर है। हमारी सरकार स्वस्थ भोजन के नाम पर आमिष भोजन के पक्ष मे है। ऐसे कठिन समय मे परिषद को निरामिष भोजन की परम्परा को बनाये रखने के लिए बड़े और छोटे शहरों में निरामिष क्लब, निरामिष भोजनालय, निरामिष होटल बनाना और उन्हें जनप्रिय बनाने का प्रोग्राम बनाना चाहिए। इन सब स्थानों पर स्वस्थ

आमोद-प्रमोद का इन्तजाम हो। यदि हमने मोक्ष हेतु इस ससार को केवल हेय ही समझा, तो आने वाली सन्तान भारतीय सस्कृति से बहुत दूर चली जायगी और भगवान महावीर के जो अमृतमय नैतिक उपदेश हैं, उनसे मानवता वंचित हो जायगी।

समाज को स्वस्थ बनाने का उपाय भगवान आदिनाथ ने सुझाया, इसका विवरण आदिनाथ पुराण मे विस्तृत रूप से है। उन्होंने सभी विद्याओ और कलाओ को जन्म दिया, राजनीति, समाजनीति, युद्धनीति का विवेचन किया। भगवान आदिनाथ के बताये हुए रास्ते पर चलकर स्वस्थ समाज का निर्माण ही हमारा लक्ष्य है, जो भगवान महावीर का उपदेश साधुओ को लक्ष्य करके कहा गया है, उस पर दृष्टि तो रखनी चाहिए—किन्तु यदि उस मार्ग पर गृहस्थ रहते हुए चलने की कोशिश की तो न हम घर के रहेगे न घाट के।

चल तो सकेंगे नही और विडम्बना मात्र कहे जायेंगे। मुक्तिप्राप्ति शुक्ल ध्यान से होती है। हम धर्म ध्यान भी नही कर पाते है। द्रव्यो की पूजा के द्वारा मोक्ष की कामना करते है—जो असंभव है। पूजा और दान से सद्-गति की कामना और प्राप्ति ही सत्य है।

सद्गृहस्थ रहते हुए स्वर्ग और मनुष्य गति ही हमें प्राप्त हो सकती है। मुस्लिम आधिपत्य के समय मे ज्ञान का ऊहापोह होना असभव-सा हो गया था। आचार्यों ने और धर्म साधकों ने बीज रूप मंत्र—

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्राणि मोक्ष मार्ग: समाज को दिया, जो परम सत्य है। किन्तु जो मार्ग मुक्ति का है। उस पर चलने से पहले जो संसार का लम्बा-चौडा मैदान है, उसमे किस प्रकार विचरण करना चाहिए। इसका पूरा विधिवत उपदेश न मिलने के कारण समाज मे अनेक विषमतायें आ गई। जैसे स्थापना का सिद्धान्त तो सत्य है, किन्तु उसकी अति के कारण बच्चे उसे समझ नहीं पाते हैं और उनके विश्वास पर चोट लगती है। स्थापना वही करनी चाहिए, जहाँ उसकी परम आवश्यकता हो।

परिषद को भगवान आदिनाथ का बताया हुआ नैतिकता और मानव धर्म पर स्थित, जो श्रावक आचार परम्परा है उस पर अधिक बल देना चाहिए।

समाज के सभी सुधारकों का मैं अभिनन्दन करता हूँ। अनेक आज हमारे बीच नही हैं, उनकी सेवाओं के ही कारण आज जैन समाज देश की सभी प्रवृत्तियों में कधे-से-कंधा मिलाकर सहयोग दे रहा है और देश को सब प्रकार समृद्ध और सबल बनाने में समर्थ होगा।

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव की नेशनल कमेटी की अध्यक्षा-पद स्वीकार किया है। हम उनके आभारी हैं और हमे विश्वास है कि निर्वाणोत्सव से देश का नैतिक बल बढ़ेगा और समाज सब प्रकार से सुखी होगा।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें। इतनी महगाई में भी उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई, मूल्य वही ६) रुपया है। विद्वानों एवं शोधकार्य संलग्न महानुभावों से निवेदन है कि वे योग्य लेखों तथा शोधपूर्ण निबन्धों के संक्षिप्त विवरण पत्र में प्रकाशनार्थ भेजने की कृपा करें।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

जैनदृष्टि में मोक्ष : एक विश्लेषण

डा० मुक्ताप्रसाद पटैरिया

मोक्ष का सद्भाव

जैन दर्शन में जीव-अजीवादि सात तत्त्व माने गये हैं। कुछ विद्वानों ने इनमें पुण्य और पाप को जोड़कर इनकी संख्या नव भी मानी है। सात तत्त्वों के समर्थक विद्वानों ने इनका अन्तर्भाव आत्मपरिणाम के रूप में आस्रव व बन्ध के अन्तर्गत स्वीकार किया है। दोनों सिद्धान्तों में चरमतत्त्व 'मोक्ष' ही माना गया है : इस प्रकार जैनतत्त्व व्यवस्था में 'मोक्ष' का प्राधान्य तथा अन्य तत्त्वों को इसकी प्राप्ति में सहकारी के रूप में निर्वचन किया गया है।

मोक्ष है या नहीं, यद्यपि इस सन्दर्भ में दार्शनिक विद्वानों में परस्पर विवाद है, किन्तु मोक्ष के समर्थक आचार्यों के अनुसार 'मोक्ष का अस्तित्व' इस अनुभूति से ही सिद्ध हो जाता है कि 'मैं बंधा हूँ'। यह अनुभूति प्राय: सभी सांसारिक जीवों को समान रूप से होती है। जिस प्रकार 'कारावास' तथा 'पराधीन' शब्दों की परिणति 'स्वातन्त्र्य' के अनुभव की साधिका हैं, इसी प्रकार की प्रतीति मोक्ष के सन्दर्भ में भी होती है। यही कारण है कि कुछ जैनाचार्यों ने चरमतत्त्व मोक्ष' को बन्ध का प्रतिपक्षी[1] माना है। तत्त्व विवेचन पद्धति में जीव शब्द को प्रथम तथा मोक्ष शब्द को अन्त में रखने से इस विचार को समर्थन भी मिलता है। क्योंकि जीव—बन्धयुक्त संसारी आत्मा—का सद्भाव है, तो बन्धरहित—मुक्त अतएव शुद्ध आत्मा का सद्भाव स्वत: सिद्ध हो जाता है : बन्ध में कर्मों का जहाँ आत्मा के साथ संश्लेष होता है, मोक्ष में इन्हीं बद्ध कर्मों का आत्मा से विश्लेष होता है।

मोक्ष स्वरूप (Differentia of Liberation)—जो कर्म पुद्गल आत्मा से संश्लिष्ट होते हैं, वे आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रभावित करते हुए कर्मरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। फलत: आत्मा का वैभाविक परिणमन स्वभाव बन जाता है। यही वैभाविक परिणमन उसकी सांसारिकता का साधक होता है। किन्तु जीव (संसारावस्थित) जब अपने इन वैभाविक परिणमन से बद्ध कर्मों को छोड़ देता है, तब पुन: स्वाभाविक परिणति की क्षमता अर्जित कर लेता है। जैनदार्शनिकों ने इसी 'कर्मविप्रयोग' (वियोग) को मोक्ष रूप प्रतिपादित किया है। सर्वार्थसिद्धिकार[2] ने अपना यही आशय व्यक्त किया है —'कृत्स्नकर्मवियोग लक्षणो मोक्ष:' इति।

अनादि काल से बन्धनबद्ध पराधीन आत्मा का मोक्ष कर्मों के उच्छेद रूप में होता है। तब यह स्वतन्त्र हो जाता है। इसी स्वतन्त्रता को जगत् से सर्वथा मुक्ति कहा जाता है। इस प्रकार बन्ध के कारणों का अभाव और संचित कर्मों का क्षय (निर्जरा) होने पर जब सर्वविध कर्मों को आत्मा समूल नष्ट कर देता है, उसे मोक्ष कहते हैं। जैनागमों में कर्मों के उच्छेद का यही क्रम उपलब्ध होता है। जब जीव राग-द्वेष मिथ्यादर्शन आदि को जीतकर ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना में तत्पर होता है, तभी वह आठ प्रकार की कर्म ग्रंथियों को तोड़ने के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का क्षय करता है। इसके पश्चात् पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म, नव प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म तथा पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद में ही अनन्त, परिपूर्ण, आवरण रहित और लोक-अलोक उभय के प्रकाशक केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उत्पत्ति होती है।

केवलज्ञान-दर्शन की उत्पत्ति होने पर ज्ञानावरणीय आदि चार घनघाति कर्मों का विनाश हो जाता है।

१. स्थानाङ्ग—२।५७

२. सर्वार्थसिद्धि—१।४

इसके पश्चात् जो अन्तर्मुहूर्तात्मक आयु काल शेष रहता है, उसमें केवली सर्वप्रथम मन के व्यापार रूप मनोयोग के फिर वाग् व्यापार (योग) को तथा शरीर व्यापार (काययोग) और श्वासोच्छ्वास को रोक लेता है। इसके अनन्तर पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण काल की अवधि में 'शैलेशीकरण' की अवस्था शुक्ल ध्यान की चतुर्थ श्रेणी में स्थित होता है। इस स्थिति मे यह शेष कर्मो-वेदनीय-आयु:-नाम और गोत्र को एक साथ नष्ट करता है। इन समस्त कर्मों के क्षय के साथ ही वह औदारिक, कार्मण तथा तैजस शरीरों से भी सदा सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संसार स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त[1] कहलाने लगता है।

'शैलेशीकरण' शब्द के सन्दर्भ में आचार्यों के विभिन्न विचार मिलते हैं, जिसका आशय यह है—शैलेश=मेरु (सुमेरु), इस पर्वतराज की तरह कम्पनरहित, स्थिर व साम्य अवस्था में स्थित होना शैलेशीकरण है। अथवा—शील=सर्व सवर, इसका ईश-शीलेश, शीलेश की जो योगनिरोधरूपा अवस्था—शैलेशी, अथवा—शील-समाधी तथा ईश-ऐंश्वर्य धातुओ से निष्पत्ति के आधार पर—शीय-समाधि, इसमे ईश—समर्थ, उसकी जो समाधिस्थ अवस्था वह शैलेशी। इस स्थिति मे जीव वेदनीय नाम व गोत्र रूप अघाति कर्मो का तथा अवशिष्ट आयु: कर्म का निर्जरण करता है। अतः इस स्थिति से युक्त योगी को 'अयोगी'[2] कहा जाता है।

मोक्ष का साधन रत्नत्रय (Path of Liberation)—जैन दृष्टि मे सम्यक् दर्शन-ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनो को सामूहिक रूप मे मोक्ष का साधन स्वीकार किया गया है। न कि पृथक्-पृथक् को। इनकी इस सामूहिक शक्ति को दृष्टिगत करते हुए दार्शनिकाचार्यों ने इस समूह को 'रत्नत्रय' की सज्ञा से भी व्यवहृत किया है। जैनागमो मे इनके सन्दर्भ मे कहा गया है कि आत्मा मे 'सम्यक्त्व' तथा 'चरित्र' की एक साथ उत्पत्ति होती है। प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। क्योंकि श्रद्धा के अभाव में ज्ञान कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता। सम्यग् ज्ञान के अभाव में सम्यक् चारित्र का सद्भाव भी नहीं होता। चारित्र गुणों के अभाव मे कर्मों से मुक्ति पाना असम्भव हो जाता है। कर्म मुक्ति के अभाव मे 'निर्वाण' भी सम्भव नही हो सकता है। क्योकि यदि 'ज्ञान' से जीव पदार्थों का ज्ञान करता हो तो 'दर्शन' से श्रद्धाभाजन बनता है और चारित्र से आस्रव का निरोध और तपस्या-साधना से कर्मों की निर्जरा करता हुआ अन्त मे शुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि जैनदार्शनिक आचार्यों ने मोक्षाभिलाषी जीव की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (तप और उपयोग) मोक्ष मार्ग के लक्षण[3] रूप कहे हैं।

मोक्षमार्ग के विभिन्न क्रम—जैन दृष्टि मे सर्वसम्मत उक्त एक ही लक्षण मोक्षमार्ग का माना गया है किन्तु इस मार्ग द्वारा मोक्षसिद्धि (प्राप्ति) की परम्परा या क्रम के एकाधिक प्रकार जैनागमों में स्पष्टत: दृष्टिगोचर होते है। ये क्रम इस प्रकार हैं।

प्रथम क्रम—चेतन-अचेतन उभयरूप जगत् का सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा जीव की विविध-गतियो का भी ज्ञाता हो जाता है। इस गतिज्ञान से उसे पुण्य-पाप व बन्धमोक्षविषयक ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। जिसके आधार पर मनुष्य एवं देवो के काम-भोगो का ज्ञान करता हुआ इन काम-भोगों से विरक्त होने लगता है। और इनसे अपना बाह्य-आभ्यन्तर उभयविध सम्बन्ध भी धीरे धीरे तोड़ने लगता है। इस सम्बन्ध विच्छेद से अनागार वृत्ति को धारण करता हुआ उत्कृष्ट संयम तथा अनुत्तरधर्म के संस्पर्श से अज्ञान के माध्यम से सचित कलुषित कर्मराज को झाड़ डालता है। तब उसे केवल ज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होते हैं। इसी प्राप्ति से वह 'केवली' होकर लोक और अलोक का ज्ञाता कहलाता है। अब वह अपने योगों का निरोध करके 'शैलेशी' अवस्था में स्थित हो जाता है। इस अवस्था मे कर्मों का सर्वथा क्षय करके 'सिद्धत्व को प्राप्त करता है, और लोक के अग्रभाग में स्थित होकर 'शाश्वत-सिद्ध'[4] हो जाता हैं।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र—२९।७१-७३,

२. संक्रमणकरण—पृ० १३७,

३. उत्तराध्ययन सूत्र—२८।२-३, ५, १५, २९, ३०, ३५।।

४. दशवैकालिक सूत्रम्—४।१४-२५।।

द्वितीय क्रम—स्थानाङ्ग के महावीर-गौतम संवाद में यह दूसरा क्रम इस रूप में मिलता है—तथारूप (सांसारिक) श्रमण, ब्राह्मण की पर्युपासना का फल-श्रवण, श्रवण का फल-ज्ञान, ज्ञान का फल—विज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान का फल—प्रत्याख्यान त्याग और इसका फल—संयम रूप होता है। संयम से अनास्रव और अनास्रव से तप की प्राप्ति होती है। तपस्या से व्यवदान (कर्मों की निर्जरा) और व्यवदान से अक्रिया (योगनिरोध) की उपलब्धि होती है। अक्रिया का फल निर्वाणरूप होता है। निर्वाण से सिद्धगति[1] में गमन होता है।

तृतीय क्रम—यह तीसरा क्रम दशाश्रुत स्कन्ध में इस प्रकार उपलब्ध होता है—रागद्वेष से रहित निर्मलचित्तवृत्ति का धारक जीव धर्मध्यानता को प्राप्त करता है। निःशंकमन से तथा धर्मध्यान से निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के संज्ञिज्ञान से वह अपने उत्तम स्थान का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतः जो सर्वविध कामनाओं से विरक्त और सहिष्णु होता है वह संयमी तपस्वी अवधिज्ञान का धारक होता है। तब वह तपःसाधना से अशुभलेश्याओं को भी दूर करके अवधिज्ञान को और निर्मल बनाता है। जिससे ऊर्ध्वलोक-अधोलोक व तिर्यग्लोक में स्थित समस्त जीवादि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञानी होता है। और शुभलेश्याओं के धारण से व तर्क-वितर्क से उत्पन्न चित्त की चंचलता से सर्वथा रहित हो जाता है, वह मनःपर्ययज्ञान का धारक होता है। इसके अब ज्ञानवरणीय कर्म का अत्यन्त क्षय होता है तब वह केवलज्ञानी होकर लोकालोक दोनों का ज्ञाता हो जाता है। और 'जिन' कहलाता है। तथा प्रतिमाओं की विशुद्ध आराधना से उत्पन्न मोहनीय कर्म का क्षय करके, समस्त प्रकार के कर्मों का नाश करके, देह का परित्याग करके नाम-गोत्र-आयु आदि से रहित होता हुआ कर्मरज से सदा सर्वदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है[2]।

इस प्रकार जैनदर्शन में आत्मा के कर्मों का सर्वथा उच्छेद-विनाश को मोक्ष माना गया है। आत्मा और कर्म (पुद्गल) दोनों ही पदार्थों की अपने-अपने रूप में स्थित—अर्थात् आत्मा की कर्मों से छूटकर अपने शुद्धरूप में स्थिति व कर्मों को आत्मा-संश्लेष छोड़कर स्वरूप शुद्धस्थिति को पृथक्-पृथक् शुद्धस्वरूप प्राप्त करने को 'आत्मा का निर्वाण' माना गया है।

दीप-निर्वाण की तरह आत्मा का निर्वाण नहीं होता—बौद्धों ने जिस तरह दीपक के निर्वाणवत् आत्मा का निर्वाण भी स्वीकार किया है। वह जैनदार्शनिकों की दृष्टि में ग्राह्य नहीं है। क्योंकि बौद्धों ने आत्मनिर्वाण के सन्दर्भ में अनेक कल्पनाएँ की हैं। जैसे कि—चित्त संतति की निरास्रवता सोपाधिनिर्वाण है, और जो दीपनिर्वाणवत् चित्त की संतति का निर्वाण है वह निरुपाधिनिर्वाण है। यहाँ यह स्मरणीय है कि बौद्धों ने चूंकि रूप-वेदना विज्ञान-संज्ञा और संस्कार रूप से आत्मा को स्वीकार किया है। अतः इसके परिणाम स्वरूप उन्हें निर्वाण दशा में भी आत्मा का निर्वाण अर्थात् अभाव (अनस्तित्व) स्वीकार करना पड़ा है।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि—निर्वाण में यदि दीपक के प्रकाश की तरह चित्तसंतति का निरोध स्वीकार किया जाएगा तो आत्मा के भी विनाश का अवसर उपस्थित हो जावेगा, जैसे कि चार्वाक दर्शन में आत्मा का अनस्तित्व स्वीकार किया गया है। क्योंकि निर्वाण मे उच्छेद या मरणान्तर उच्छेद, दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता है। यदि अभौतिक चित्तसंतति की प्रतिसंधि, (परलोकगमन) भी सम्भव होती है तो निर्वाण की अवस्था मे इसके समूल-उच्छेद का अनौचित्य स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अतः मोक्ष की स्थिति में चित्त संतति की सत्ता अवश्य ही स्वीकारनी पड़ेगी क्योंकि यह चित्तसंतति अनादिकाल से ही आस्रव आदि के द्वारा मलिन होती हुई साधना आदि के माध्यम से निरास्रवता को प्राप्त करती है। आचार्य कमलशील ने भी निर्वाण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए एक श्लोक का उल्लेख[1] किया है—

> **चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्।**
> **तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते॥**

१. स्थानाङ्ग—३।३।१९० ॥

२. दशाश्रुत स्कन्ध—५।१।३, ५।११।१६ ॥

१. तत्त्व संग्रहपंजिका (पृ० १०४)

निर्वाण में ज्ञानादि गुणों का भी सर्वथा उच्छेद नहीं होता—वैशेषिकों ने आत्मा के नव विशेष गुणों—बुद्धि-सुख-दुःख आदि का अत्यन्त उच्छेद रूप मोक्ष माना है। इनका कहना है कि इन नव विशेष गुणों की उत्पत्ति आत्मा और मन के संयोग से होती है। अतः मोक्ष की अवस्था में मन के संयोग का अभाव होने से इन गुणों की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए आत्मा वहाँ पर निर्गुण रहता है। वैसे भी गुण कर्मजन्य होते हैं इसलिए भी गुणों की सत्ता मोक्ष में व्यवस्थित नहीं मानी जा सकती। इस सिद्धान्त में आत्मा के विशेष गुण 'बुद्धि'-(ज्ञान) का उच्छेद मोक्षावस्था में स्वीकार करना सगत नहीं बैठता। यद्यपि सांसारिक अवस्था में इन्द्रियों और मन के संयोग से आंशिक ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है। इसका अभाव भी वहाँ सुनिश्चित है, किन्तु आत्मा का जो स्वरूप भूत चैतन्य इन्द्रियों और मन से परे है, उसका उच्छेद तो कभी सम्भव नहीं हो सकता। और न ही ऐसी कभी सम्भावना की जा सकती है।

वैशेषिकों ने निर्वाणावस्था में आत्मा की स्वरूप में स्थिति जिस प्रकार स्वीकार की है वह स्वरूप ही 'इन्द्रियातीत चैतन्य' है। यही चैतन्य इन्द्रिय-मन आदि पदार्थों के निमित्त से विभिन्न विषयाकार बुद्धि के रूप में परिणत होता रहता है। जब यह पदार्थगत उपाधियाँ आत्मा से विलग हो जाती हैं तब इसका स्वाभाविक स्वरूप प्रकट होता है। जैन दार्शनिक भी मोक्ष-निर्वाण मे कर्मजन्य सुख दुःख आदि का विनाश तथा ज्ञान की स्थिति स्वीकार करते हैं। किन्तु यदि वे भी चैतन्य का विनाश स्वीकार करने लगे तो परमतत्त्वरूप आत्मा का अपना स्वरूप ही नष्ट हो जावेगा।

इसलिए जैनदार्शनिक विश्लेषण में न तो दीपनिर्वाणवत् आत्मा का उच्छेद स्वीकार किया गया है और न ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों का सर्वथा विनाश। श्रमण सांस्कृतिक परम्परा मे मोक्ष की व्याख्या इस प्रकार स्वीकार की गई है। जीव के समस्त कर्मों के क्षय का अभिप्राय है कि कर्मपुद्गल जीव से सर्वथा अलग हो जाते हैं। उनका सर्वथा (अत्यन्त) विनाश सम्भव नहीं होता। क्योंकि सत् पदार्थ का द्रव्यदृष्टि से कभी भी विनाश न तो हुआ है और न ही भविष्य में सम्भावित है। इसीलिए आत्मा अपनी वैभाविक (कर्म सश्लिष्ट) परिणति का परित्याग करके सर्वथा के लिए असंश्लिष्ट हो जाता है। इसी प्रकार चूंकि आत्मा एक स्वतंत्र व मौलिक चेतन पदार्थ है, तब फिर उसके मौलिक गुणों की भी मोक्ष में विनाशकल्पना नही की जा सकती। अपितु उनकी निर्मलता एवं विशुद्धि ही अपेक्षाकृत अधिकतर होती है। यही बद्ध जीव का अभिप्रेत परामर्श होता है॥ ★

अनेकान्त पत्र के विद्वान लेखक

'अनेकान्त' द्वैमासिक वीर सेवा मन्दिर दिल्ली से राष्ट्रभाषा मे प्रकाशित होने वाला एक ऐसा पत्र है जिसे इसके विद्वान् लेखकों के शोधपूर्ण आध्यात्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, नैतिक आदि लेखों एवं रचनाओं के कारण भारतीय प्रायः सभी यूनिवर्सिटियां मंगाती हैं। यूनिवर्सिटियों में शोध तथा अनुसन्धानात्मक अभ्यास करने वाले छात्र-छात्राएँ इसे रुचिपूर्वक पढ़ते हैं। इस पत्र में अपने लेख भेजने के लिए लेखक महोदय श्लाघा के पात्र हैं।

लेखक महोदयों से निवेदन है कि वे अपना जो लेख भेजें उसे कागज की एक साइड पर स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ या स्पष्ट टाइप किया हुआ ही भेजें। अस्पष्ट लेख प्रकाशित करने में बहुत कठिनता रहती है। उद्धरण (reference) जो दिये जाते हैं उनकी मूल कापियां प्राप्त नहीं होतीं और इस तरह अवतरणों का शोधन कार्य नहीं हो सकने से लेख का महत्त्व क्षीण हो जाता है।

—प्रकाशक

लाडनूं की एक महत्त्वपूर्ण जिन-प्रतिमा

देवेन्द्र हाण्डा

लाडनू उत्तर रेलवे के रतनगढ़-डेगाना खण्ड पर रतनगढ़ से ५५ किलोमीटर दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम तथा डीडवाना से ३१ किलोमीटर उत्तर-उत्तर-पश्चिम में स्थित राजस्थान के नागौर जिले का एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है, इस प्राचीन नगर की ऐतिहासिकता एव अवशेषो ने कई विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है[1]। यद्यपि एक स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार यहा के गढ़ का निर्माण लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ तथापि इसकी दीवालों में लगी मूर्तियों, उत्कीर्ण खण्डों एव अभिलेखो से स्पष्ट है कि इसके निर्माण मे दसवी शताब्दी के भग्नावशेषों का प्रयोग किया गया[2]। निस्सन्देह आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व लाडनू एक महत्वपूर्ण नगर रहा होगा। यहाँ के गढ, मन्दिरों मस्जिदों तथा विभिन्न भवनों की नीवों की खुदाई से प्राप्त प्रतिमाओं, पूजा-पात्रों, अभिलेखों एवं अन्य भग्नावशेषों से इसी आशय के प्रमाण मिलते है कि इस नगर ने सवत् १०१० के पश्चात् अनेक राज्यों तथा विभिन्न धर्मों का उत्थान पतन देखा है। लाडनूं के उच्च शिखर, बृहत् दिगम्बर जैन मन्दिर मे जो अब बाह्य धरातल से लगभग तीन मीटर नीचे पृथ्वी मे धँसा प्रतीत होता है, लाडनूं की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एव धार्मिक धरोहर के दर्शन किए जा सकते है। यद्यपि इस मन्दिर के अधिकतर अवशेषों—उत्कीर्ण स्तम्भों, अभिलेखों मूर्तियो, तोरणो तथा पूजा-पात्रो को प्रकाश मे लाया जा चुका है तथापि इसमे एक प्राचीन प्रतिमा ऐसी है जिस पर ध्यान नही दिया गया है। यह प्रतिमा है जैन धर्म के अधिष्ठाता आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभनाथ की, जिसका विवरण निम्नलिखित पंक्तियो मे दिया जा रहा है।

जिन कमलासन पर ध्यान-मुद्रा मे आसीन है, जिनकी कर्ण-पालि (earlobes) लम्बी, भ्रू धन्वाकार, नयन ध्यान-निष्ठ, नासिका त्रिकोणात्मक, अधर पूर्ण, ग्रीवा पर मांस-वलन, स्कन्ध विस्तृत एव गोलाकार तथा कर-पाद पञ्चदलीय-पुष्पों से अंकित हैं। केश-काकुल कर्ण पालियों के साथ लगते हुए दोनों कन्धो पर गिर रहे हैं। शिरोरुह दाएँ हाथ घूमते हुए घूंघर बनाते हैं और उष्णीष पर्याप्त उन्नत है। वक्ष पर श्री वत्स अंक तथा मुख पर परमानन्द-परिचायिका स्मित-रेखा स्पष्ट है। पीछे हल्का-हल्का उत्कीर्ण पुण्डरीक-प्रभामण्डल है और ऊपर त्रिस्तरीय छत्र, जिनके दोनो ओर पार्श्वों मे बहुत सुन्दर ढग से उत्कीर्ण हाथो में चौरी लिए परिचारिकाएँ खड़ी हैं। चौरी उनके दाएं हाथ मे है और वे कर्ण-कुण्डल, कण्ठ-

१. गोविन्द अग्रवाल, "लाडनूं की एक अद्वितीय सरस्वती प्रतिमा"। **मरुभारती**, वर्ष १६, अंक २ (जुलाई १९७१), पृ० ५१–२; "९०० वर्ष प्राचीन अनुपम कलाकृति—लाडनू", **मरुभारती**, वर्ष १६, अंक ३ (अक्टूबर १९७१), पृ० ५२; "ऐतिहासिक व सांस्कृतिक नगर लाडनू", **विश्वम्भरा**, वर्ष ७ अंक १ (जन्माष्टमी, विक्रम सवत् २०२८), पृ० ६२-६६ तथा **युवक परिषद स्मारिका**, लाडनू, १९७१–७२; मुन्नालाल पुरोहित, "लाडनू : एक ऐतिहासिक विवेचन", तथा वैद्य मोहनलाल दीक्षित, "लाडनूं के अतीत की एक झाँकी", **युवक परिषद स्मारिका**, लाडनूं, देवेन्द्र हाण्डा, "लाडनूं के दो साभिलेख धातु-प्रतिमाएँ", **मरु भारती**, वर्ष २०, अंक ४ (जनवरी १९७३), पृ० १६–१७; Devendra Handa and Govind Agrawal, "Another Magnificent Saraswati From Rajasthan", East and west, Rome (under print); Indian Archaeology 1968-69—A Review, p. 49.

२. गोविन्द अग्रवाल के उपरिनिर्दिष्ट लेख।

हार, भुज बन्ध, मणि बन्ध तथा नूपुर पहने अत्यन्त आकर्षक ढंग से त्रिभंग मुद्रा में खड़ी जिन को निहार रही हैं। उन्होंने चोली तथा अधोवस्त्र पहन रखे हैं जो सुन्दर कटिबन्धों से बद्ध हैं, जानुओं पर अधोवस्त्र की ग्रन्थियां भी बहुत सुन्दर हैं। बालों को पिंगलोर्द्ध ढंग से—पीछे को कंघी कर ऊपर जूड़ा बना कर, संवारा गया है। प्रभामण्डल के दोनों ओर छत्र के पीछे छिन्न वृक्ष के पत्रों एव पुष्पों को बड़ी कुशलता से अङ्कित किया गया है जिन पर उड्डीयमान मुद्रा में हाथों मे पुष्प-मालाएँ लिए वस्त्राभूषण पहने विद्याधरियां दिखाई गई हैं (चित्र १)[1]।

यद्यपि इस प्रतिमा में गुप्तकालीन प्रतिमाओं के भाव-सौन्दर्य का अभाव है तथापि इसमें लय, सन्तुलन, रेखाओं की तीक्ष्णता तथा अंकन की कुशलता स्पष्ट दृष्टिगत होती है तथा मध्य-युगीन प्रतिमाओं की निरूढ़ दुर्नम्यता, कठोरता निर्जीव आवृत्ति, अलङ्कारों की अधिकता, गति-म्लानता आदि भी नहीं है। प्रचुर कलात्मक उत्कर्ष से युक्त यह एक भव्य एवं महिमामय दृष्टान्त है जिसे कलात्मक दृष्टि से ७०० ई० के आस-पास की कृति माना जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह प्रतिमा लाडनू के अद्यतन प्राप्त अवशेषों में प्राचीनतम है। इससे सातवीं आठवीं शताब्दी में लाडनूं के अस्तित्व, इस क्षेत्र मे जैनधर्म की लोकप्रियता, तत्कालीन वस्त्राभूषणों एव कला का पता चलता है अतः यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिमा है।

३, इस चित्र के लिए मैं श्री जयन्ती लाल जी (जैन चित्रालय, लाडनू का आभारी हूँ।

★

"जिओ और जीने दो" के सिद्धान्त पर एक वैज्ञानिक प्रकाश

'फूल' भावुक होते हैं

"हिन्दुस्तान टाइम्स" अंग्रेजी दैनिक के २७-२-७३ के अंक में प्रकाशित समाचार के अनुसार सोवियत वैज्ञानिकों ने जिरेनियम (एक फूल का नाम) के एक पौधे मे भावुकता के लक्षण प्रमाणित करने में सफलता प्राप्त कर ली है।

"सोशलिस्ट इण्डस्ट्री" सूत्र के अनुसार, उनका कहना है कि पौधे भय, खुशी, दर्द और उल्लास का "अनुभवन कर सकते हैं।

डा० वी० पुश्किन ने कहा कि वैज्ञानिकों ने प्रसन्नता तथा दुःख की भावनाओं को जागृत करके एक व्यक्ति को सम्मोहित (hypnotize) किया। उन यन्त्रों में भी उसी के अनुरूप प्रतिक्रियाएं पाई गईं जो दूर पर जिरेनियम की एक पत्ती से जोड़ दिए गए थे।

मनोवैज्ञानिकों ने दर्शाया कि यदि पौधों से नम्रता से बात की जाय तो वे अधिक अच्छे ढंग से बढ़ सकते है।

आज से बहुत वर्ष पहले भारत के वरिष्ठ वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने भी कतिपय प्रयोगो द्वारा वनस्पति मे आत्मा (जीव) होने के सिद्धान्त को सिद्ध किया था। प्रथम प्रयोग उसका यह था कि वह अपने उद्यान मे बैठा था यकायक समीप प्रदेश में स्थित किसी चिमनी का धुआं उसके उद्यान मे आया और तब उसने देखा कि उसके कतिपय पेडों की काया पलट हो गई यानी वे मुरझा गए। धूआं के स्पर्श से पूर्व पेड़ों की जो प्रसन्नमुद्रा थी वह न रही। वैज्ञानिक को इस परिवर्तन से दुःख हुआ और उसने जिस द्रव्य के धूएं से पेड़ों की यह अवस्था हुई उसे अपनी प्रयोगशाला में लाकर उसका प्रयोग किया। फलतः उसको मालूम हुआ कि जैसे मनुष्य व पशु स्वास्थ्यप्रद खुराक खाकर पुष्ट पौर विषैली खुराक खाकर क्षीण होते हैं वही स्थिति पेड़ों की भी है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने वनस्पति में जीव तत्त्व की स्थिति को सिद्ध किया।

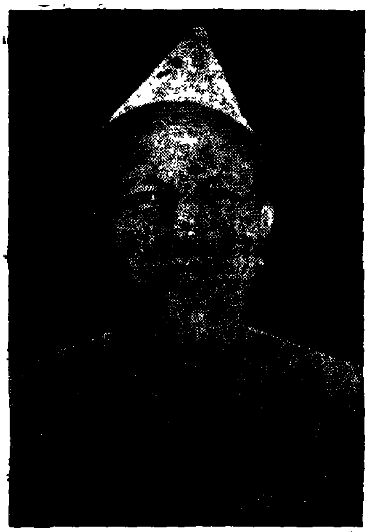
जैनधर्म में हजारों वर्ष पूर्व से ही तत्त्वदर्शी आचार्यों ने वनस्पति में जीव तत्त्व को माना है और उसके प्रति सदय एवं सहृदय रहने का उपदेश दिया है। जैनधर्म में वनस्पति को एकेन्द्रिय जीव माना है।

—महेन्द्रसेन जैन

स्व० श्री राजकिशन जी

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम
परिवर्तिनि ससारे मृत: को वा न जायते ।

मरणशील इस ससार मे उन्ही व्यक्तियो का जीवन अभिनन्दनीय समझा जाता है जिनके जन्म लेने से देश, धर्म, जाति व वश की उन्नति हो । ऊपर दिये नीतिश्लोक में वंश शब्द उपलक्षण सामर्थ्यसे देश, धर्म, जाति का भी ग्राहक होता है । वैसे तो परिवर्तनशील इस संसार मे मरने तथा उत्पन्न होने का चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है । लोग जन्मते तथा मरते है लेकिन सफल जीवन वाले व्यक्ति ही ससार में श्लाघा तथा अनुकरण के पात्र बनते हैं ।



स्व० श्री राजकिशन जैन

राजधानी के दरियागज क्षत्र में श्री राजकिशन जी जिनका निधन ४ फरवरी १९७३ को हुआ है एक ऐसे ही व्यक्ति थे जिनकी कर्मठता, धर्म-प्रेम और सात्विक वृत्ति का स्मरण कर लोग कुछ प्रेरणा ले सकते हैं । श्री राजकिशन जी अपनी पैतृक सम्पत्ति से विशेष धनी नही थे आज जो लाखो रुपयों की सम्पत्ति वे छोड गये हैं वह सब उनके सतत् श्रम एव व्यापारिक सूझ-बूझ का ही परिणाम है । सम्पत्ति को पाकर साधारणतः लोगो में अभिमान की मात्रा बढ जाती है वह व्यसनो का शिकार भी बन जाता है । साधारण स्तर से ऊचा उठकर वह अपने पूर्व कालीन मित्रों एवं सहयोगियों को भूल जाता है लेकिन ये सब दूषित वृत्तियां राजकिशन जी के जीवन से सदा दूर रही है और इस रूप मे उनका जीवन आदर्श रहा है ।

लक्ष्मी और यश की प्राप्ति पुण्य सम्पदा का फल होते है । इसमे दो रायें नहीं हो सकती । साधारण व्यक्ति जिस पुण्य सम्पदा से लक्ष्मी की प्राप्ति कर लेता है उसकी तरफ से उदासीन हो जाता है लेकिन राजकिशन जी का जीवन इस विषय मे भी असाधारण ही रहा है उन्होंने धन कमा कर धर्म को भुलाया नही दरियागज क्षेत्र में ऐसे अनेक कार्य हैं जो उनके धर्म प्रेम एवं परोपकार प्रवणता को प्रगट करते हैं । दरियागज नं० १ में विशाल जिन भवन, पारमार्थिक औषधालय, अहिंसा भवन, सरस्वती भवन आदि ऐसी संस्थाए है जो श्री राजकिशन जी के धर्म प्रेम को प्रगट करती है ।

श्री राजकिशन जी इस विषय मे विशेष यशस्वी एव भाग्यशाली रहे कि वे अपने पीछे एक विशाल भरापूरा परिवार छोड गये है । मनुष्य जो अपने जीवन मे ही अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, प्रप्रपौत्र आदि को देख लेता है भाग्यशाली समझा जाता है । आज श्री राजकिशन जी के परिवार में पुरुष-स्त्री सभी सदस्य उच्च शिक्षा प्राप्त एव धर्मानुयायी हैं ।

वीरसेवा मन्दिर २१ दरियागज दिल्ली, जिसके प्रसिद्ध पत्र "अनेकान्त" में यह उनकी जीवन सस्तुति प्रकाशित हो रही है, से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था । इस सस्था के विशाल भवन निर्माण मे उनका क्रियात्मक सहयोग सदा ही मिलता रहा है । इस विशाल भवन की निर्माण भूमि उपलब्धि मे भी श्री राजकिशन जी ने विशेष योग दिया है ।

श्री राजकिशन जी मेरे घनिष्ठ मित्र थे उनके जीवन की सस्तुति करता हुआ मैं यही आशा करता हूँ कि उनके परिबार के लोगों में उनकी कर्मठता, धर्म प्रेम, पर साहाय्यभावना सदा सजग रहे और Worthy, Fathers worthy Son की कहावत के अनुसार वे सब योग्य, योग्यतर एव योग्यतम बने ।

—मथुरादास जैन एम. ए.

वैराग्योत्पादिका अनुप्रेक्षा

संकलनकर्ता : यशोधर शास्त्री

[मैंने २-३ वर्ष पूर्व हिन्दी की बारह भावनाओं का संकलन करना प्रारम्भ किया था किन्तु कार्य आगे नहीं बढ़ा था। अब देहली में आने के बाद वीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय का उपयोग करने से अनेक ऐसी भावनाएँ उपलब्ध हुईं जो अब तक नहीं मिली थीं। अब इनकी संख्या ३० से ऊपर हो गई है। इनमें कुछ तो बहुत प्रचलित हैं जैसे पं० भूधरदास जी की 'राजा राणा...' वाली बारह भावना। जो भावनायें जिनवाणी संग्रह में प्रकाशित हुई हैं वे तो फिर भी प्रचलित हैं किन्तु उनके सिवा बारह भावनायें अधिक संख्या में हैं जो प्रचलित नहीं है। यदि प्रकाशित भी हैं तो वे सुलभ नहीं हैं। कुछ अभी तक अप्रकाशित हैं। कुछ पुराण या चरित्रों में हैं उन सबको एक जगह प्रकाशित किये जाने की आवश्यकता है।

सरस्वती भण्डारों के गुटकों में अनेक अप्रकाशित भावनायें हैं जिनका संकलन एवं प्रकाशन आवश्यक है। अभी बाबू पन्नालाल जी अग्रवाल की कृपा से अनेक बारह भावनायें मिली हैं उनको भी हम यथावसर प्रकाशित करेंगे।

अभी चूंकि बारह भावनाओं की रचनायें मिलने का क्रम चालू है इसलिए इन सबको पुस्तकाकार देने के पूर्व अनेकान्त में क्रमशः प्रकाशन करना उपयुक्त समझा है। पाठक चाहें तो इन बारह भावनाओं का संकलन अनेकान्त से कर सकते हैं।]

बारह भावना पं० भूधरदासकृत (पार्श्वनाथ पुराण से) :

अनित्य—राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनो अपनो बार ॥
अशरण—दल बल देई देवता मात पिता परिवार।
मरती बिरियां जीव को कोई न राखनहार ॥
संसार—दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥
एकत्व—आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यूं कबहूं इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥
अन्यत्व—जहां देह अपनी नहीं तहां न अपना कोय।
घर सम्पति पर प्रकट ये पर हैं परिजन लोय ॥
अशुचि—दिपै चाम चादर मढ़ी हांड पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में और नहीं घिन गेह ॥
आस्रव—मोह नींद के जोर जगवासी घूमैं सदा।
कर्म चोर चहुं ओर सरवस लूटैं सुध नहीं ॥

संवर—सतगुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमै।
तब कुछ बनहिं उपाय, कर्मचोर आवत रुकैं॥
ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर।
या विध बिन निकसै नहीं बैठे पूरब चोर॥
निर्जरा—पंच महाव्रत संचरण समिति पच परकार।
प्रबल पंच इन्द्री विजय धार निर्जरा सार॥
लोक—चौदह राज उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि तै भरमत हैं बिन ज्ञान॥
बोधिदुर्लभ—धनकन कचन राजसुख, सबहि सुलभ करजान।
दुर्लभ है संसार मे, एक जथा रथ ज्ञान॥
धर्म—जांचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जांचे बिन चितये, धर्म सकल सुख दैन॥

पं० जयचन्द कृत बारह भावना :

अनित्य—द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन।
द्रव्य दृष्टि आपा लखो, पर्जय नय करि गौन॥
अशरण—शुद्धातमा अरु पंचगुरु, जग में सरनो दोय।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥२॥
संसार—पर द्रव्यन तै प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत शोध॥३॥
एकत्व—परमारथ तें आतमा, एक रूप ही जोय।
कर्म निमित्त विकलप घने, तिन नासे शिव होय॥४॥
अन्यत्व—अपने अपने सत्वकूं सर्ववस्तु विलसाय।
ऐसे चितवै जीव तब, पर तै ममत न थाय॥५॥
अशुचि—निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निज भाव को, यासों तजो सनेह॥६॥
आश्रव—आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाम मय, आश्रवभाव विडार॥७॥
संवर—निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरै पाप की हानि॥८॥
निर्जरा—संवरमय है आतमा, पूर्वकर्म झड़ जाय।
निज स्वरूप को पाय कर, लोकशिखर जब थाय॥९॥
लोक—लोक स्वरूप विचारिकै, आतम रूप निहार।
परमारथ व्यवहार गुणि मिथ्याभाव निवारि॥१०॥
बोधिदुर्लभ—बोधि आपका भाव है निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है यह व्यवहार कहांहि॥११॥
धर्म—दर्श ज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखानि।

दया क्षमादिक रतनत्रय, या में गर्भित जान ।।१२।।

श्री भैयालाल कृत बारहभावना :

पच परम गुरु वन्दन करूँ। मन वचन काय सहित उर धरूँ।
बारह भावना भावन जान। भाऊँ आतम गुणह पहचान ।।
अनित्य—थिर नहीं दीखे नयनों वस्त, देहादिक अरु रूप समस्त।
थिर बिन नेह कौन से करूँ, अथिर देख ममता परि हरूँ ।।२।।
अशरण—अशरण तोहि शरन नहि कोय, तीन लोक में दृगधर जोय।
कोई न तेरो राखनहार, कर्म बसे चेतन निरधार ।।३।।
संसार—अरु संसार भावना येह, पर द्रव्यन से कैसे नेह।
तू चेतन वे जड सर्वंग, ताते तजो परायो संग ।।४।।
एकत्व—जीव अकेला फिरे त्रिकाल, ऊरध मध्य भवन पाताल।
दूजा कोई न तेरे साथ, सदा अकेला भ्रमे अनाथ ।।५।।
अन्यत्व—भिन्न सभो पुद्गल से रहे, भर्म बुद्धि से जड़ता गहे।
वे रूपी पुद्गल के खन्ध, तू चिन्मूरति महा अबंध ।।६।।
अशुचि—अशुचि देख देहादिक अंग, कौन कुवस्तु लगी तो संग।
अस्थि चाम रुधिरादिक गेह, मलमूत्रनि लख तजो सनेह ।।७।।
आस्रव—आस्रव पर से कीजे प्रीत, ताते बध पड़े विपरीत।
पुद्गल तोहि अपनयो नाहि, तू चेतन यह जड़ सब आहि ।।८।।
संवर—सवर पर को रोकन भाव, सुख होवे को यही उपाव।
आवे नहीं लये जहाँ कर्म, पिछले रुके प्रकटे निजधर्म ।।९।।
निर्जरा—थिति पूर्ण है खिर खिर जाय, निर्जर भाव अधिक अधिकाय।
निर्मल होय चिदानन्द आप, मिटे सहज परसंग मिलाप ।।१०।।
लोक—लोक मांहि तेरो कुछ नाहीं, लोक अन्य तू अन्य लखाहिं।
यह सब षट द्रव्यन का धाम, तू चिन्मूरति आतम राम ।।११।।
बोधिदुर्लभ—दुर्लभ पर को रोकन भाव, सो तो दुर्लभ है सुन राव।
जो तेरे है ज्ञान अनन्त, सो नहीं दुर्लभ सुनो महंत ।।१२।।
धर्म—धर्म स्वभाव आप ही जान, आप स्वभाव धर्म सोइ मान।
जब वह धर्म प्रगट तोहि होई, तब परमातम पदलख सोई ।।१३।।
येही बारह भावन सार, तीर्थंकर भावें निर्धार।
होय विराग महाव्रत लेय, तब भव भ्रमण जलांजलि देय ।।१४।।
भैया भावो भाव अनूप, भावत होय तुरत शिवभूप।
सुख अनन्त विलसो निशि दीस, इम भावो स्वामी जगदीश ।।१५।।
प्रथम अथिर अशरण जगत, एकहिं अन्य अशुचान।
आस्रव संवर निर्जरा, लोक बोध तुम मान ।।१६।।

बुधजन कृत बारह भावना :

अनित्य—जेती जगत में वस्तु तेतो अथिर परिणमती सदा।
परणमन राखन नाहि समरथ इन्द्र चक्री मुनि कदा।
सुत नारि यौवन और तन धन जान दामिनि दमक सा।
ममता न कीजे धारि समता मानि जल मे नमक सा ॥१॥
अशरण—चेतन अचेतन सब परिग्रह हुआ अपनी थिति लहै।
सो रहे आप करार माफिक अधिक राखे ना रहे।
अब शरण काकी लेयगा जब इन्द्र नाहीं रहत हैं।
शरण तो इक धर्म आतम जाहि मुनिजन गहत हैं ॥२॥
संसार—सुर नर नरक पशु सकल हेरे कर्म चेरे बन रहे।
सुख शासता नहि भासता सब विपति में अति सन रहे।
दुख मानसी तो देवगति में, नारकी दुख ही भरै।
तिर्यंच मनुज वियोग रोगी, शोक सकट में जरै ॥३॥
एकत्व—क्यों भूलता शठ फूलता है देख परिकर थोक को।
लाया कहां ले जायगा क्या फौज भूषण रोक को।
जनमत मरत तुझ एकले को काल केता हो गया।
संग और नाही लगे तेरे सीख, मेरी सुन भया ॥४॥
अन्यत्व—इन्द्रीन तैं जाना न जावै तू चिदानंद अलक्ष है।
स्वसंवेदन करत अनुभव, होत तव परत्यक्ष है।
तन अन्य जड़ जानो सरूपी, तू अरूपी सत्य है।
कर भेदज्ञान सो ध्यान धर, निज और बात असत्य है ॥५॥
अशुचि—क्या देख राचा फिरै नाचा रूप सुन्दर तन लहा।
मलमूत्र भांडा भरा गाढा तू न जान भ्रम गहा।
क्यों सूग नाहीं लेत आतुर क्यों न चातुरता धरै।
तुहि काल गटके नाहि अटकै छोड़ तुझको गिर परै ॥६॥
आस्रव—कोई खरा अरु कोई बुरा नहि वस्तु विविध स्वभाव है।
तू वृथा विकलप ठान उर में करत राग उपाव है।
यूँ भाव आस्रव बनत तू ही द्रव्य आस्रव सुन कथा।
तुझ हेतु से पुद्गल करमन निमित्त हो देते ब्यथा ॥७॥
संबर—तन भोग जगत सरूप लख उर भविक गुरु शरणा लिया।
सुन धर्म धारा मर्म गारा हर्षि रुचि सन्मुख भया।
इन्द्री अनिन्द्रो दाबिलीनो त्रसरु थावर बध तजा।
तब कर्म आश्रव द्वार रोके ध्यान निज में जा सजा ॥८॥
निर्जरा—तज शल्य तीनों वरत लीनों वाह्यभ्यंतर तपतपा।
उपसर्ग सुरनर जड़ पशुकृत सहा निज आतम जपा।

तब कर्म रसबिन होन लागे द्रव्य भावन निर्जरा।
सब कर्म हरके मोक्ष बरकै रहत चेतन ऊजरा ।।९।।
लोक—बिच लोक नतालोक माही लोक में द्रव्य सब भरा।
सब भिन्न भिन्न अनादि रचना निमित्त कारण की धरा।
जिन देव भाषा तिन प्रकाशा भर्म नाशा सुन गिरा।
सुर मनुष तिर्यच नारकी इहु ऊर्ध्व मध्य अधोधरा ।।१०।।
बोधिदुर्लभ—अनन्तकाल निगोद अटका निकस थावर तनधरा।
भू वारि तेज बयार ह्वै के बेइन्द्रिय त्रस अवतरा।
फिरहो तिइन्द्री वा चौइन्द्री पचेन्द्री मन बिन बना।
मनयुत मनुषगति होन दुर्लभ ज्ञान अति दुर्लभ घना।११।
धर्म—जिय! न्हाना धोना तीर्थ जाना धर्म नाही जप जपा।
तन नग्न रहना धर्म नाही धर्म नाही तप तपा।
वर धर्म निज आतम स्वभावी ताहि बिन सब निष्फला।
बुधजन धरम निज धार लीना तिनहीं कीना सब भला।१२।
अथिराशरण ससार हैं एकत्व अनित्यहि जान।
अशुचि आश्रव संवरा निर्जर लोक बखान।१३।
बोध और दुर्लभ धम ये बारह भावन जान।
इनको ध्यावे जो सदा क्यों न लहैं निर्वान।१४।

बारह भावना श्री रत्नचन्द्र जी कृत :

अनित्य—भोग उपभोग जे कहे हैं ससार रूप, रमाधन पुत्र औ कलत्र आदि जानिए।
ज्यों ही जल बुद्बुद् प्रत्यक्ष है लखाव तनु।
विद्युत चमत्कार स्थिर न रहानिए।
त्यों ही जग अथिर विलास को असार।
जान थिर नहीं दीखे सो अनादि अनुमानिए।
यह जो विचारे सो अनित्य अनुप्रेक्षा कह।
प्रथम ही भेद जिनराज जो बखानिए।१।
अशरण—निर्जन अरथ माँहि ग्रहे मृग सिंह धाय।
शरण न दीखे अशरण ताहि कहिए।
हरिहरादि चक्रवर्ति पद लूं अथिर गिनो,
जन्म मरण सा अनादि ही ते लहिए।
याही को बिचारिये असार संसार जान,
एक अवलब जिनधर्म ताहि गहिए।
दृढ़ता हिए में धार निज आतम को कर विचार,
तज के विकार सब निश्चल हो रहिए।२।
संसार—कर्म काण्ड दाही थकी आतम भ्रमण करे,
नट जैसी नाटक अनन्त काल करे है।

पिता हूं ते पुत्र होय जनक होय सुत हूं ते,
स्वामी हूते दास भृत्य, स्वामी पद धरे हैं।
माता हू ते त्रिया होय, कामिनी ते माय होय,
भववन माही जीव यूं हा संसरे है।३।

एकत्व—भ्रमूं जो एकाकी सदा देखिए,
अनन्तकाल एकाकी जन्म मृत्यु बहु दुख सहो है।
नांगन असों है एकै पाप फल भुजे घनो,
एकै शोकवत कोऊ, दुजो नाही सहो है।
स्वजन न तात मात, साथी नहिं कोय,
यह रत्नत्रय साथी निज, ताहि नाहि गहो है।
एकै यह आत्म ध्यावे एकै तपसा करावे,
होय शुद्ध भावे तब मुक्ति पद लहो हैं।४।

अन्यत्व—आतम है अन्य और पुद्गल हूं अन्य,
लखो आत्म मात तात पुत्र त्रिया सब जान रे।
जैसे निशि मांहि तरुहूं पं खग मैलें होय।
प्रातः उड़ जाय ठौर ठौर तिमि आन रे।
तैसे विनाशीक यह सकल पदार्थ है,
हाट मध्य जन अनेक होय भेले आन रे।
इन हू ते काज कछु सरने को नाहीं,
भैया अनित्यानुप्रेक्षारूप यह पहचान रे।५।

अशुचि—त्वचा पल अस्तनसा जाल मल मूत्र धाम,
शुक्र मल रुधिर कुधातु सप्त मई है।
ऐसो तन अशुचि अनेक दुर्गंध भरो,
श्रवै नव द्वार तामें मूढ मत दई है।
ऐसो यह देह ताहि लख के उदास रहो,
मानो जीव एक शुद्ध बुद्ध परणई है।
अशुचि अनुप्रेक्षा यह धारै जो इसी ही भांति,
तज के विकार तिन मुक्ति रमा लई है।६।

आश्रव—आश्रव अनुप्रेक्षा हिय धार सत्तावन आश्रव के द्वार,
कर्माश्रव पैसार जू होय, ताको भेद कहूं अब सोय।
मिथ्या अविरत योग कषाय, यह सत्तावन भेद लखाय।
बंधो फिरे इनके वश जीव, भवसागर में रुलें सदीव।
विकल्प रहित ध्यान जब होय, शुभ आश्रवको कारण सोय।
कर्म शत्रु को कर सहार, तब पावै पंचम गति सार।

संवर—आश्रव को निरोध जो ठान, सोई संवर कहै बखान।
संवर कर सु निर्जरा होय, सोहै दृश्य परकारहि जोय।
इक स्वयमेव निर्जरा पेखू, दूजी निर्जरा तपहि विशेखू।८।

निर्जरा—पूर्व सकल अवस्था कही, सवर कर जो निर्जरा सही।
सो निर्जरा दो परकार सविपाकी अविपाकी सार।
सविपाकी सब जीवन होय अविपाकी मुनिवर के जोय।
तप के बल कर मुनि भोगाय सोई भाव निर्जरा आय।
बंधे कर्म छूटे जिह घरी सोई द्रव्य निर्जरा खरी।९।
लोक—अधो मध्य अरु उरध जान लोकत्रय यह कहे बखान।
चौदह राजू सबे उत्तग बात, त्रय वेढ़े सरवग।
घनाकार राजू गणईस, कहे तीन सौ तैंतालीस।
अधोलोक चौकूटो जान मध्यलोक झालरी समान।
ऊरधलोक मृदगाकार, पुरुषाकार त्रिलोक निहार।
ऐसो निज घर लखे जु काय सो लोकानुप्रेक्षा यह होय।१०।
बोधिदुर्लभ—दुर्लभ ज्ञान चतुर्गति माँहि, भ्रमत२ मानुष गति पाँहि।
जैसे जन्म दरिद्रा कोय, मिलो रत्ननिधि ताको सोय।
त्यूं मिलियां यह नर पर्याय आर्य खण्ड ऊँच कुल पाय।
आयु पूर्ण पञ्च इन्द्री भोग, मन्द कषाय धर्म सयोग।
यह दुर्लभ है या जग माँहि इन बिन मिले मुक्त पद नाहिं।
ऐसी भावना भावे सार, दुर्लभ अनुप्रेक्षा सुविचार।११।
धर्म—पाले धर्म यत्न कर जोय, शिव मंदिर ते लहै जु सोय।
धर्म भेद दश विधि निर्धार उत्तम क्षमा पुन मार्दव सार।
आर्जव सत्य शौच पुन जान सञ्जम तप त्यागहि पहिचान।
अकिंचन ब्रह्मचर्य गनेव, यह दश भेद कहे जिन देव।
धर्म हि ते तीर्थकर गति धर्मोहि ते होवे सुरपति।
धर्मोहिं ते चक्रेश्वर जान, धर्म ही ते हरि प्रति हरि मान।
धर्म ही ते मनोज अवतार, धर्म ही ते हो भवदधि पार।
रत्नचन्द यह करे बखान धर्म ही ते पावे निर्वान।१२।

बारह भावना पं० दौलतराम जी कृत :

मुनि सकलव्रती बड़भागी भवभोगन तें वैरागी,
वैराग्य उपावन भाई चिंतो अनुप्रेक्षा भाई।१।
इन चिंतत समरस जागै जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जाने तब ही जिय शिवसुख ठानै।२।
अनित्य—जोवन गृह गोधन नारी हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय भोग छिन थाई सुर धनु चपला चपलाई।३।
अशरण—सुर असुर खगाधिप जेते मृग ज्यों हरि काल दलेते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई मरते न बचावै कोई।४।
संसार—चहुंगति दुख जीव भरै हैं, परिवर्तन पंच करै हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा।५।

एकत्व—शुभ अशुभ करम फल जेते भोगै जिय एकहि ते तें।
सुत दारा होय न सीरी सब स्वारथ के हैं भीरी।६।
अन्यत्व—जल पय ज्यों जियतन मेला पै भिन्न२ नहि भेला।
तो प्रकट जुदै धन धामा क्यों है इक मिलि सुत रामा।७।
अशुचि—पल-रुधिर राध मल थैलो कीकस वसादि तै मैली।
नव द्वार बहे घिनकारी अस देह करे किम यारी।८।
आश्रव—जो जोगन की चपलाई तातैं ह्वै आश्रव भाई।
आश्रव दुखकार घनेरे बुधिवंत तिन्है निरवेरे।६।
संवर—जिन पुण्य पाप नही कीना आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके सवर लहि सुख अवलोके।१०।
निर्जरा—निज काल पाय विधि झरना तासौं निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खपावै सोई शिव सुख दरसावै।११।
लोक—किनहू न करचो न धरै को षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माहिं बिन समता दुख सहे जीव नित भ्रमत।।१२।
बोधिदुर्लभ—अंतिम ग्रीवक लौं की हद पायो अनत बिरियाँ पद।
पर सम्यक् ज्ञान न लाध्यो, दुलभ निज मे मुनि साध्यो।१३।
धर्म—जे भाव मोह तै न्यारे दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सोधर्म जबै जिय धारै तबही सुख सकल निहारै।१४।
सो धर्म मुनिन कर धरिए तिनकी करतूति उचरिए।
ताको सुनि के भवि प्रानी अपनी अनुभूति पिछानी।१५।

बारहभावना श्री बुधजन कृत समाधिमरण से :

तब द्वादश भावन भजे, तीक्षण दुख हो हान।
सो वरनों संक्षेप से भवि नित करो बखान।।
अनित्य—यौवनरूप त्रियातन गोधन योग विनश्वर हैं जग भाई।
ज्यों चपला चमके नभ में जिमि मंदिर देखत जात बिलाई।
अशरण—देव खगादि नरेन्द्र हरी मरते न बचावत कोई सहाई।
ज्यों मृग को हरि दौड़ दले बनि रक्षक ताहि न कोई लखाई।६०।
ससार—जीव भ्रमे गति चार सहे दुख लाख चौरासी करे नित फेरी।
पै न लहा सुख रच कदा, ससार को पार लहो न कदेरी।
एकत्व—पूरव जो विधि बंध किए, फल भोगत जीव अकेलहि तेरी।
पुत्र त्रिया नही सीर करें सब स्वारथ भीर कर बपुकेरी।६१।
अन्यत्व—ज्यों जल दूध को मेल जिया तन भिन्न सदा नही मेल का धारै।
तो प्रत्यक्ष जुदे धनधाम मिले न कभी निज भाव मझारै।
अशुचि—देह अपावन अस्थि पलादि की राग अनेक सो पूरित सारे।
मूत्र मली घर है मुगली नौ द्वार स्रवें किमि कीजिए प्यारे।६२।

(क्रमशः)

§गाथा सप्तसती की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

डा० प्रेम सुमन जैन एम. ए., पी-एच. डी.

गाथासतसई का विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियो से अध्ययन किया है, किन्तु अभी तक ग्रन्थ मे उपलब्ध सास्कृतिक सामग्री का विवेचन नही हो सका है। प्राचीन भारतीय कला एव सास्कृतिक जीवन के यद्यपि सकेत मात्र ही गाथासतसई मे प्राप्त होते है, किन्तु उनसे इस रचना के निर्माण की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है। कला और साहित्य मे प्रयुक्त कई अभिप्रायो को समझने मे भी सहायता मिलती है।

गाथा सप्तसती मे प्राय: चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख ईसा की प्रथम शताब्दी से गुप्त युग तक की भारतीय चित्रकला के विकास को सूचित करते है। प्रमुख चित्र संकेत इस प्रकार है :—

१—अपने प्रति देवर के मन को विकारयुक्त जान कर कुलबधू सारे दिन घर की दीवाल पर राम का अनुगमन करते हुए लक्ष्मण के चरित्रों को चित्रांकित करती रही[1]।

२—दीवाल पर लिखे हुए अवधिसूचक दिवस चिन्हों को जल धाराओं से सुरक्षित रखने के लिए नायिका अपने हाथों से ढकने का प्रयत्न करती है[2]। अन्यत्र नायिका की सखियाँ भीत पर लिखी हुई रेखाओं मे से दो-तीन रेखाएँ चोरी से पोंछ डालती है ताकि नायक के निश्चित समय पर न लौटने पर नायिका जीवन धारण कर सके (३-६) एक अन्य नायिका ने नायक के परदेश जाने के बाद आधे दिन में ही भीत को रेखाओं से चित्रित कर डाला[3]।

३—मित्र उसे बनाना चाहिए जो विपत्ति पड़ने पर कहीं और किसी समय भीत पर लिखे गए पुतले की भांति मुंह नही फेरता[4]।

४—विरह मे आंसुओ के कारण नायिका को नायक के चित्र दर्शन का भी आधार जाता रहा[5]।

५—चित्र मे लिखित मोदक की यथार्थता उसे स्पर्श करके ही ज्ञात की जा सकती है। (७.४१)

६—रग और छाया सयोजन से रहित जिस रेखा-चित्र मे एक पुरुष को आलिंगनबद्ध अंकित किया जाता है, वे पल भर को भी अलग नही होते है[6]।

७—मन आभा की बहुरगी तूलिकाओं से हृदय फलक पर जिस चित्र का अंकन करता है उसे विधाता बालक की भांति हसता हुआ पोंछ देता है[7]।

चित्रकला से सम्बन्धित इन सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि भित्तिचित्रो का जनजीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध था। सयुक्त परिवार मे रहते हुए स्त्रियां चित्रांकन द्वारा मनोविनोद कर सकती थी। भित्तिचित्रों पर केवल प्राकृतिक दृश्य ही नही, अपितु पौराणिक कथाओं के दृश्य भी चित्रित किये जाने लगे थे। अजन्ता के भित्ति चित्रों मे बौद्ध दृश्यों की ही भरमार है। सम्भव है, वैदिक कथानकों के दृश्यों का चित्रण अजन्ता के चित्रों के बाद प्रारम्भ एव जनसामान्य मे प्रचलित हुआ हो, जिसकी

§ अ० भा० प्राच्य विद्या सम्मेलन के उज्जैन अधिवेशन १९७२ मे पठित निबन्ध।

१. दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअ कुड्डलिहिआइं
दिअहं कहेइ रामाणु लग्ग सोमित्तिचरिआइं ॥१.३५

२. झञ्झा वाउत्तिण्णि अघर विवर पलोट्टसलिल धाराहिं,
कुड्डलिहि ओहिदिअहं रक्खइ अज्जा कर अलेहिं ॥२-७०

३. पढमविअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ ॥३.८

४. आलिहिअभित्ति वाउल्लअ व ण परम्मुह ठाइ।३-१७

५.

६. वण्णक्कमर हिअस्स वि एस गुणोणवरि चित्त कम्मस्स।
णिमिसं पि ज ण मुञ्चइ पिओ जणो गाढमुवऊढो ॥७-१२

७. जं जं आलिहइ मणो आसावट्टीहि हि अअफलअम्मि।
तं तं वालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ।७-५६

पुष्टि गाथा सप्तसती के उपर्युक्त राम-लक्ष्मण वाले भित्तिचित्र के उल्लेख से होती है। भित्ति चित्रकला की विषयवस्तु के इस विस्तार का प्रभाव उत्तरकालीन साहित्य एव कला पर भी पड़ा है। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' नाटक मे सीता द्वारा राम कथा के चित्रों का वर्णन करना इस बात का उदाहरण है। सयोग की बात यह कि दोनों प्रसंगो में राम कथा के चित्र दर्शन द्वारा मन को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया गया है।

नायक के प्रवास के दिनों मे नायिका द्वारा भित्ति पर अंकित की जाने वाली रेखाए मात्र साहित्यिक अभिप्राय नही है। उनका कलात्मक महत्व भी है। आधे दिन में ही भीत को अवधि चिन्हो से यो ही नही भर दिया गया होगा बल्कि गाथा मे प्रयुक्त 'चित्तलियों' शब्द से ज्ञात होना है कि नायिका ने भीत शीघ्र न भर जाय इस डर से सावधानी पूर्वक एक कतार मे रेखाएँ चित्रित की होंगी, जिससे उन्हें गिना भी जा सके। सम्भवतः भित्ति चित्रो मे जमीन के खाली स्थान को भरने मे जिन रेखात्मक तरहों (डिजाइनों) का प्रयोग हुआ है, वे इन अवधिसूचक रेखाओं से विकसित हुई हो। गाथा सप्तसती की इन अनपढ नायिकाओं से 'मेघदूत' की यक्षिणी को श्री जोगलेकर ने अधिक सुशिक्षित और उत्तरकालीन माना है क्योंकि वह देहली पर फूल रख-रखकर अवधि के दिनों की गणना करने मे सक्षम है[8]। किन्तु माध्यम के परिवर्तन मात्र से 'मेघदूत' का प्रसंग उत्तरकालीन नही कहा जा सकता है। बहुत सम्भव है कि रेखाओ एव फूलों के द्वारा अवधि गणना का अभिप्राय किसी एक ही स्रोत से विकसित हुआ हो, जो लोक मे अधिक प्रचलित रहा होगा।

चित्रकला के उपर्युक्त सदर्भो से यह भी स्पष्ट होता है कि भित्तिचित्रों के दृश्य अधिक यथार्थ होते थे तथा अनुकूल लेप एव पक्के रगो के प्रयोग के कारण देश-काल का व्यवधान होने पर भी विकृत नही होते थे। यह स्थिति अजन्ता कालीन चित्रो के साथ ही हो सकती है। बहुरंगी तूलिकाओं, फलक, वर्ण एवं अंकन क्रम आदि के उल्लेख चित्रकला के विकसित युग की ओर ही संकेत करते है। रेखाचित्र द्वारा स्त्री-पुरुषों की आकृतियों के अकन का उल्लेख चित्रकला की उस प्रक्रिया का उद्घाटक है, जो कलाकार द्वारा चित्र में रंग भरने के पूर्व खाका खीचा जाता है, जिसे चित्रकला की शब्दावली में कहा जाता है।

प्राचीन भारतीय चित्रकला के सम्बन्ध मे गाथा सप्तसती की यह गाथा और अधिक प्रकाश डालती है;—

जं ज पुलएमि दिस पुरजो लिहिअ व्व दीससे तत्तो।
तुह पडिमापडिवाडि वहइ व्व सअल दिसा अवक्क।६-३०

'पडिमापडिवाडि' शब्द किसी भी नायक के प्रतिरूप की अनेक पक्तियों का द्योतक है, जो प्रत्येक दिशा मे प्रतिविंबित हो रही थी चित्रकला के इतिहास मे यह स्थिति दो माध्यमों से आ सकती है। प्रथम, यदि चित्रकला मे जिस भित्ति पर चित्राकन हुआ है उसके सामने एव छत की दीवाल को विशेष मसाले द्वारा अधिक चिकना कर पारदर्शी बना दिया जाय तो स्वयमेव चित्रित भित्ति के दृश्य इन पर प्रतिबिंबित होने लगेंगे। भारतीय चित्रकारों के इस प्रकार के कलाकौशल का प्रथम उल्लेख 'गाथाधम्म कहा' की कथा मे मिलता है[9]। गाथा सप्तसती को इस गाथा के समय तक निश्चित रूप से इस कला का और विकास हुआ होगा। सभव है, ग्राम्य जीवन मे भी इस प्रकार का माध्यम प्रचलित हो चुका था, जिससे चित्र प्रतिबिंबित किये जा सकते थे। चित्रो को प्रतिबिंबित करने का दूसरा माध्यम दर्पण था। चित्रकक्ष मे चारो ओर छोटे-छोटे दर्पण के टुकड़े जड़ दिये जाते थे, जिनमें चित्रों के साथ दर्शक के भी अनेक प्रतिबिंब परिलक्षित होते थे। मध्यकाल मे चित्रकला के इस माध्यम का अधिक प्रचार हुआ। उदयपुर के महल मे दर्पण कला मे गाथासप्तसती की उक्त गाथा साकार हो उठती है।

गाथा सप्तसती मे प्राप्त मूर्तिकला सबधी सदर्भों की दो दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। प्राचीन भारतीय मूर्तिकला की प्रसिद्ध देव मूर्तियो के स्वरूप वर्णन की दृष्टि से तथा ग्रन्थ में वर्णित नायक-नायिकाओं की विशेष भावभगिमाओं का भी मूर्तिकला की भंगिमाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से। ग्रंथ मे पशुपति-

८. मेघदूत, २-२७।

९. ज्ञाताधर्मकथा, ८-७८।

गौरी (१-१), विष्णु-लक्ष्मी (२-५१), नगरगृह देवता (२-६४), सूर्य प्रतिमा (१-१, १-३४, ४-३२), गणपति (४-७२), गणाधिपति (५-३), वामनरूप हरि (५-६, ५-११, ५-२५), समुद्र लक्ष्मी (४-८८), अर्धनारीश्वर (५-४८), त्रिनेत्रधारी शिव (५-५५), अपर्णा (५-६७) आदि देव मूर्तियो के सबंध मे सकेत प्राप्त होते है। यद्यपि इनमे से अधिकांश धार्मिक एव पौराणिक कथा प्रसगो के रूप मे प्रयुक्त किये गये है, किन्तु इनकी प्रतिमाओं के संबध मे भी कुछ प्रकाश पडता है, मूर्तियो के कुछ स्वरूप विचारणीय है।

सूर्य प्रतिमा

गाथा सप्तसती मे सूर्य पूजा से सबधित तीन प्रसग प्राप्त हैं। प्रथम में पशुपति गौरी के साथ अजलि के जल द्वारा सूय नमन करते है। (१-१) दूसरे मे सूर्य के रथ के ध्वज की छाया से नायिका के मुख की कान्ति की तुलना की गई है। (१-३४) तथा तीसरे प्रसग मे सूर्य देवता की अंजलि बाँधकर प्रणाम करने के बहाने अपने प्रिय को प्रणाम करने की बात कही गई है[१०]। इन उल्लेखो से सूर्य पूजा के प्रचलन का ज्ञान तो होता है, किन्तु सूर्य की प्रतिमा के स्वरूप के सबंध में कुछ नहीं कहा गया। सूर्य के रथ के उल्लेख से इतना स्पष्ट होता है कि कला मे सूर्य प्रतिभा और रथ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतवर्ष मे सूर्य प्रतिमा ई० पू० दूसरी शताब्दी से उपलब्ध हुई है। कुषाणपुरा मे सूर्य प्रतिमा को चार घोड़ो वाले रथ पर बैठा दिखलाया हैं। बोधगया की वेदिका पर भी सूर्य की आकृति रथ एव घोड़ों सहित अंकित हुई है[११]। अतः सूर्य प्रतिमा की पूजा का प्रचार गाथा सप्तसती के रचनाकाल तक अवश्य हो गया था। सम्भवतः ग्रन्थकार भी सूर्यपूजक था, जिसने प्रथम गाथा मे ही इसके महत्त्व को अंकित किया है।

गणपति

गणपति की प्रतिमा का उल्लेख ग्रन्थ में एक विशेष उपयोग के रूप में हुआ है। एक वृद्धा अपने बुढ़ापे को कोसती हुई कहती है—"युवक सुरत के समय गणपति की जिस प्रतिमा को मेरे सिर के नीचे रख लिया करते थे, उसी को अब मे प्रणाम करती हूँ।" दुष्ट वृद्धावस्थे, अब तो तुम्हे सन्तोष है[१२]।

देव प्रतिमाओं का दुरुपयोग किस-किस प्रकार से हुआ है यह एक अलग प्रश्न है। भग्नावशेषो के खोजी विद्वान इससे अपरिचित नही है। किन्तु गणेश प्रतिमा के इतिहास की दृष्टि से यह उल्लेख अधिक महत्वपूर्ण है। कला मे गणेश का प्रारम्भ लगभग गुप्तकाल के बाद हुआ है। वृहत्सहिता के प्रतिमा लक्षण अध्याय मे गणेश की मूर्ति का वर्णन डा० भण्डारकर के अनुसार क्षेपक सदृश है। गणेश की प्रतिमा पुराणों मे वर्णित ध्यान के आधार पर कला मे बनना प्रारम्भ हुई है। अतः गाथा सप्तसती के उक्त उल्लेख से गणेश की प्रतिमाओ की प्रचुरता एवं निर्जन स्थानों मे उनकी स्थापना का सकेत मिलता है। इस आधार पर ग्रन्थ की यह गाथा ६-७वी शताब्दी के बाद सग्रहीत की गई प्रतीत होती है। इससे पूर्व की गणेश प्रतिमाए प्राप्त नही हुई है। गणेश की एकाकिन् मूर्ति मथुरा तथा भितरगांव से प्राप्त हुई है[१३]।

इस गाथा मे 'गणवई' का पाटान्तर 'वहजणो' 'वडणको', 'वडणति' भी प्राप्त होता है। इनके अनुसार वटवृक्ष मे बनी यक्ष की मूर्ति या वटवृक्ष को ही उपाधान बना लिया गया होगा[१४]। कला में 'वटयक्ष' अथवा यक्ष मूर्तियों का अस्तित्व अधिक प्राचीन है। अतः गाथा सप्तसती के रचनाकाल प्रथम शताब्दी की दृष्टि से 'गणवई' के इन पाठान्तरों को यदि स्वीकारा जाय तो कोई अस-गति प्रतीत नहीं होगी। किन्तु 'गणवई' का गणश की प्रतिमा अर्थ लेना ही अधिक ठीक है।

गणेश का दूसरा नाम ग्रन्थ मे 'गणाधिपति' प्रयुक्त हुआ है यथा 'समुद्र के जल को खेल-खेल में सूड के अग्र-भाग से खींच कर प्रकाशित करने वाले एवं निग्रहरहित

---

१०. सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुम अञ्जलिं पणामेसि।
हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाणं जेक्कारा।४-३२

११. प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, डा० वासुदेव उपाध्याय, पृ० १५८-५९।

१२. जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहिं गणवई आसी।
त च्चिअ एह्लिं पणमामि हअजरे होहि संतुट्ठा।४-७२

१३. प्रा. भा. मू. वि., पृ. १६४

१४. हिन्दी गाथा सप्तसती, पाठफ, पृ. २०७

बडवाग्नि से आकाश को व्याप्त कर देने वाले 'गणाधिपति' की जय हो।[15] इस गाथा का पौराणिक आख्यात के साथ सम्बन्ध है। जो सम्भवतः ४ ५वीं शताब्दी मे प्रसिद्ध हुआ होगा। इसका कला मे अकन अज्ञात है।

वामन रूप हरि :

इस ग्रन्थ मे विष्णु के वामन अवतार से सम्बन्धित तीन गाथाएँ उपलब्ध है।[16] उनमे से द्वितीय एव तृतीय गाथा का विष्णु की वामन-अवतार मूर्तियो पर स्पष्ट प्रभाव नजर आता है। भारतीय मूर्तिकला मे विष्णु के वामन अवतार की प्रतिमाएँ दो तरह से निर्मित हुई है। ब्रह्मचारी एव साधारण मनुष्य के रूप में तथा विराट पुरुष के रूप मे। विराट पुरुष के रूप मे वामन अवतार की प्रतिमा के तीन आकार प्राप्त होते है—(१) विराट-पुरुष का बाया पैर दाहिने घुटने के बराबर उठा हुआ, (२) नाभी के समानान्तर फैला हुआ तथा (३) आकाश मे ललाट के बराबर तक उठा हुआ। दक्षिण भारत मे इस तीसरे प्रकार की वामन अवतारी प्रतिमा प्राप्त हुई है।[17] गाथा शप्तशती की गाथा मे भी कहा गया है कि हरि के उस तीसरे चरण को नमन करो जो भूतल मे न अटता हुआ देर तक आकाश में टिका रहा (५-११) आकाश मे स्थित इस चरण और वामनमूर्ति के ललाट तक उत्थित चरण में स्पष्ट साम्य प्रतीत होता है।

तीसरी गाथा मे हरि का मधुमथन कहा गया है। यथा 'जैसे उन्होने प्रथम वामन रूप धारण कर बाद मे विस्तृत होकर बलि को बाधा था वैसे ही नायिका के स्तन प्रारम्भ मे छोटे होते हुए बाद में विस्तृत होकर त्रिबलि तक फैल गये।'[18] इस वर्णन का सम्बन्ध विष्णु की वामन अवतारी विराटपुरुष मूर्ति से है। बादामी तथा महाबलि पुरुष की वामन प्रतिमाए इतनी विकसित हुई हैं कि न केवल उनके शरीर को विराट बनाया गया है, अपितु चार भुजाओं की जगह ८ भुजाएं भी निर्मित की गयी है। इन गाथाओं में विष्णु को हरि और 'मधुसूदन' जैसे नामों से उल्लिखित करना भी विष्णु के २४ व्यूहों की कल्पना के स्थिर होने का द्योतक हैं, जो गुप्तकाल में हुई थी।

समुद्र-लक्ष्मी :

ग्रन्थ की एक गाथा के अनुसार—हलवाहे की लडकी आटा पुत जाने से इस तरह सफेद हो गई है, कि हलवाहे राहगीर दूध के समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के समान उसे टकटकी वाध कर देखते है।[19] भारतीय कला मे लक्ष्मी या श्री को दो आसनो मे प्रदर्शित किया गया है (१) कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी एव कमल पर खड़ी हुई लक्ष्मी, जिस पर दो हाथी सूंड मे पकड़े हुए घडों से जल धारा छोड रहे हैं। प्रस्तुत गाथा मे लक्ष्मी का तीसरा रूप वणित है। कला मे इस समुद्र से निकलती हुई लक्ष्मी का अंकन हुआ है अथवा नही, ज्ञात नहीं किन्तु साहित्य में यह अभिप्राय अधिक प्रयुक्त हुआ है।

अर्धनारीश्वर :

ग्रन्थ में शिव के द्वारा की गयी सन्ध्यावन्दना से सम्बन्धित तीन गाथाएँ प्राप्त होती है (१-१, ५-४८, ७-१००)। शिव का आधा शरीर पार्वती का होने के कारण आदि और अन्त की गाथा मे उनकी अंजलि के जल मे पार्वती का कुपित मुख प्रतिविम्बित बतलाया गया है। इससे ऐसा लगता है मानों शिव कमल सहित अजलि द्वारा सन्ध्योपासना कर रहे हों। पांचवें शतक की ४८वी गाथा मे संध्योपासना के समय पार्वती अपना वामहस्त अंजली से खींच लेती हैं, जिससे शिव का दाहिना हाथ मानों 'कोषपान' के लिए उद्धत हो ऐसा प्रतीत होता है।[20] यहाँ कविने पार्वती के लिए तीनों गाथाओं में 'गौरी' एव शकर के लिए क्रमशः 'पशुपति' 'प्रमथाधिप' व 'हर' शब्द का प्रयोग किया है। इनमे 'पशुपति' शब्द देव सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्व रखता है,

१५. हेलाकरग्ग अट्ठिअ जलरिक्कं साअरं पआसन्तो।
जअइ अणिग्ग अवडवग्गि भरिअगगणोगणाहिवई ॥५-३

१६. ५-६, ५-११, ५-२५।

१७. प्रा० भा० मू०, पृ. १००।

१८. पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण।
थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व बलिबन्धो॥ ५-२५

१९. पेच्छन्ति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्ठपण्डुरिअं
धूअं दुद्धसमुद्दुत्तरन्तलच्छिं विअ सअह्ला॥ ४-८८

२०. सञ्झासमए जलपूरि अंजलि विहडिएक्कवामअर।
गोरीअ कोसपाणुज्जअं व पमहाहिवं णमह॥ ५-४८

जिसका प्रयोग सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद हुआ है। सन्ध्या के साथ पार्वती का 'सौतभाव' भी इसके पूर्व साहित्य व कला में प्रचलित नहीं था। तीसरी बात इन गाथाओं से यह ज्ञात होती है कि 'अर्धनारीश्वर' की कल्पना साहित्य मे भले पहले से विद्यमान रही हो किन्तु उसका कलागत प्रयोग एव विशेष प्रचार शैव तथा शाक्त मतों के संमिश्रण के बाद ही हुआ है। यदि भारत के विभिन्न स्थानों में प्राप्त 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमाओ का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो संभव है सन्ध्या के साथ गौरी के उक्त सौत भाव का अंकन भी किसी प्रतिमा मे प्राप्त हो जाय। यद्यपि शिव की गगाधर मूर्ति मे जो एलीफेन्टा, इलौरा, काची आदि स्थानो मे प्राप्त है, गगा की उपस्थिति से उमा का चेहरा मलिन अङ्कित किया गया है।[२१] सभव है, सन्ध्या के साथ सौत भाव का विकास गंगा के साथ भी जुड़ गया हो।

मूर्तिकला के अन्य प्रतीक :

गाथा सतसई में नायक-नायिकाओं की जिन भाव-भगिमाओं का वर्णन हुआ है, उनमें से अनेक उपमानों का साम्य भारतीय मूर्तिकला मे प्रयुक्त प्रतीकों से हैं। इस दृष्टि से प्रथम एव द्वितीय शताब्दी की मूर्तिकला की नारीमूर्तियाँ गाथा सतसई की नायिकाओ के अगसौष्ठव आदि को प्रतिरूपित करती है। नायिकाओं के स्तनों के लिए गजकुम्भ, कलश, विल्वफल और रथाग के उपमान प्रस्तुत ग्रन्थ एव तत्कालीन मूर्तिकला मे समानरूप से व्यवहृत हुए है। इस समय की नारी मूर्तिया उत्तेजनामय एव कामुक अंकित की गयी है।[२२] संभवतः गाथा सतसई के शृंगारमय वर्णन का इनके अंकन के साथ कोई निकट का सम्बन्ध रहा है।

भारतीय मूर्तिकला मे प्राप्त केशविन्यासों एवं गाथा सतसई मे उल्लिखित केशरचनाप्रकारो में भी सिहिपिच्छ लुलिअ केशे (१-५२), धम्मिल्ल (६-४४) सुगन्धित चिकुर-भार (६।७२) तथा सीमन्त (७-८२) शब्दो का प्रयोग केशविन्याशो के लिए हुआ है। परवर्ती साहित्य एवं कला में इनका विविध प्रयोग हुआ है। गाथा सतसई की नायिका के केश अल्पकालीन पुरुषायित में मयूरपिच्छ की भाँति बिखर गये। अर्थात् मस्तक के दोनों ओर लहरायी हुई केशराशि। कालिदास ने इन्हीं खुले बालों को मेघदूत मे—'शिखिना बर्हभारेषु केशान्' (२-४१) तथा दण्डी ने दशकुमार चरित में 'लीलामयूर बर्हमन्य' केशपाश च विधाय' कहा है। कला मे राजघाट के मिट्टी के खिलौनों मे जो स्त्री मस्तक प्राप्त हुए हैं उनमें इस प्रकार की केशराशि अङ्कित पायी जाती है, जिसे डा० वासुदेव शास्त्री अग्रवाल ने 'कुटिल पटिया नाम दिया है।[२४]

'धम्मिल्ल' केश रचना के लिए बहु प्रचलित शब्द है। बालो का जूड़ा बनाकर उसे जब मालाओं मे बांध दिया जाता था तो वह 'धम्मिल' कहलाता था। गाथा सतसई में भी मदनोत्सव में प्रियतम के द्वारा खींचातानी मे नायिका का 'धम्मिल्ल' छूट जाता है, फिर भी वह आकर्षक लगती है (६-४४) कालिदास ने इसे 'मौलि' कहा है।[२५] अजता के कुछ चित्रों मे स्त्री मस्तको पर इस प्रकार की केश रचना प्राप्त होती है।[२६]

'सुगंधित चिकाभार' के संदर्भ मे नायिका के केशों को कामाग्नि के धूम, जादूगर की पिच्चिका (मोहणपिच्छि) तथा योत्रिन को ध्वज सदृश कहा गया है। प्राचीन भारत मे केशो को विभिन्न मशालों व सुगन्धो से धूमिल करने की परम्परा थी, किन्तु जादूगर की पिच्छिका और ध्वजा के आकार वाली केशरचना का कोई अकन भारतीयकला में स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं है सभवतः खुले बालों की सुन्दरता के वर्णन के लिए ही कवि ने इन उपमानों का प्रयोग किया है। 'सीमन्त' केशरचना का अर्थ माँग द्वारा विभाजित केशराशि से हैं। इस प्रकार केशविन्यास के प्रकारों के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि गाथा सतसई और भारतीय मूर्तिकला के अकन मे सम्बन्ध बना रहा है।

स्थापत्यकला की दृष्टि से गाथा सतसई मे देवमंदिर (१-६४)। सज्जाघर (२-७२) देवल, चत्वर, रथ्यामुख (२-९०), बाडलिया (७-२६) आदि ग्रामीण स्थापत्य

२१. प्रा० भा० मैतिविज्ञाय, पृ० १२९

२२. वही पृ० ४७

२३. कला और सस्कृति, पृ० २८५

२४. रघुवंश १७-३

२५. औधकृत अजन्ता प्लैट, ६८

२६. गा० स० परमानन्द शास्त्री, पृ० ३२०

का ही उल्लेख है। जीर्ण देव मन्दिर के प्रसंग में 'पारावत' शब्द विचारणीय है। गाथा है—

उप्परि दरविट्टयण्णु अणिलुक्क पारावआणं विरुएहिं।
णित्थणइ जाअवेअणं सूलाहिण्णं व देअउलं ॥ (१-६४)

इसका अर्थ किया गया है—'ऊपर के भाग में कुछ दिखाई देते हुए लौहदण्ड वाले स्थान में छिपे हुए कबूतरो के कूजने से मन्दिर ऐसा प्रतीत होता है मानों शूल गड जाने के कारण पीडा होने से कराह रहा हो।[२७]

ऐसा प्रतीत होता है कि शृंगार प्रधान ग्रन्थ होने के कारण ऊपर आई गाथाओं की तरह उक्त गाथा का अर्थ भी जार के प्रति कामुकी नायिका की उक्ति से जोड़ दिया गया है कि ऐसे मन्दिर में सुरत का भणित कबूतरों की आवाज में छिप जायेगा। किन्तु वस्तुतः मन्दिर के ऊपर बोलने वाले कबूतर नही थे, संभवतः मन्दिर के साथ बने हुए पारावत इतने सजीव निर्मित है कि उनसे कबूतरो की आवाज निकलने का भ्रम होता था। भारतीय स्थापत्य मे पारावत के निर्माण की परम्परा अपना विशिष्ट स्थान रखती है, जिनका पूर्ण परिचय गुप्तकाल के स्थापत्य मे प्राप्त होता है। महाकवि बाण ने शिखरों पर पारावत माला की स्थिति का उल्लेख किया है 'शिखरेषु-पारावत माला'—(कादम्बरी पृ० २७)[२८]।

गाथा सतसई मे इन सास्कृतिक सन्दर्भों के अतिरिक्त प्राचीन वाद्यो मे दो मुह वाले मृदग (३-५३), वीणा, (६-६०), बश (बांसुरी ६-५७), हाथो पर रख कर बजाने वाला ढक्कन (६-२६) बध्यपटह (१-२६) आदि का तथा नाटक के पूर्व रंग (४-४०) के साथ मण्डितनटी (१-६) लासनृत्य (२-१४) एव तन्मयनृत्य का भी उल्लेख है। भारतीय संगीत एवं नृत्य कला को समृद्धि के अनुपात मे ये उल्लेख नगण्य है। संभवतः मांसलता प्रधान शृगार प्रमुखता के कारण ग्रन्थ मे लोकवाद्यों एव लोकसगीत का प्रवेश नही हो पाया है। देशी रागरागनियो के प्रचार के पूर्व यह ग्रन्थ सुनिश्चित हो गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। ग्रन्थ मे प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के आभूषणों एव वस्त्रों के संदर्भ भी तात्कालीन सास्कृतिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जिन सब का विवेचन यहा सभव नही है।[२९]

ग्रन्थ की इस सांस्कृतिक सामग्री के अध्ययन से ज्ञात होता है, इस रचना की पृष्ठभूमि मे भारतीय सास्कृतिक विचारधारा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसे अकारण शृंगारिक नही बनाया गया, अपितु जीवन को अश्लीलता के शोधन के हेतु एव नगरजीवन के कृत्रिमता के प्रति आकर्षणमे कमी लाने के लिए ग्राम्य जीवन को आनन्दमय चित्रित किया गया है। हिन्दी सतसईयों ने यद्यपि माध्यम दूसरा चुना है, किन्तु उनका उद्देश्य भी मूलप्रवृत्तियों के शोधन का रहा है। भारतीय सस्कृति को सुरक्षा के गाथा सतसई वाले इस शृंगारिक उपाय को आगे चलकर भारतीय कला ने भी अपनाया। खजुराहो, अजन्ता आदि की मिथुन मूर्तियाँ व्यक्ति को बाह्य आकर्षण से अवगत करा कर अन्तरात्मा के दर्शन की ओर प्रेरित करती है। गाथा सतसई ने संभोग से समाधि की ओर अग्रसित होने का मार्ग पहिले ही खोल दिया था, जिसकी व्याख्या आज तक साहित्य और कला के अनेक माध्यम करते आये है। ★

२७. दृष्टव्य कादम्बरी : एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ. ३६७।

२८. दृष्टव्य गाथा न० १-७५, २-७२, ३-११, ४-६८, ५-३६।

२९. दृष्टव्य गाथा न० ३-३८, ३-४१, ६-२०, ६-४५, ७-२०, ६-६६, ५-२७, ७-५ आदि।

मेंढकों की जान जाये बच्चों का खेल

हिंसात्मक प्रवृत्तियों को सास्कृतिक कार्यक्रमों मे सम्मिलित करना कभी श्लाघनीय नही माना जा सकता। "जैन सन्देश" भाग ४३ सख्या ४८ के मुखपृष्ट पर 'श्रमणोपासक" ५ मार्च के अक से उद्धृत एक घटना मे बतलाया गया है कि ग्वालियर नगर निगम द्वारा आयोजित अखिल भारतीय महावीर सम्मेलन के अन्तिम दिन के कार्यक्रम मे एक स्थान पर भैसे के बच्चे को खडा करके चिड़ियाघर के एक जगरो से भूखे शेर को छोड़कर मनोविनोद का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया है। यह घोर हिंसात्मक व निर्दयतापूर्ण कार्य है। अहिंसा प्रधान भारत देश मे यह सर्वथा निदनीय कार्य बन्द होने चाहिए। आज के प्रबुद्ध ससार मे इस प्रकार के कार्यक्रम कभी भले कार्यक्रम नहीं कहे जा सकते।

—सम्पादक

१५ अप्रैल ७३ को भगवान महावीर की जन्म-जयंती के अवसर पर सादर प्रकाशनार्थ :

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति

मुनि श्री महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

भगवान् महावीर राजकुमार थे। उनके लिए सभी प्रकार के सुख-साधन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध थे। वे उनका अपने लिए उपयोग भी करते थे। तीस वर्ष की अवस्था तक वे भौतिक सुविधाओं मे रहे। सहसा उन्होंने प्रव्रज्या का निर्णय लिया। सभी प्रकार की सुविधाओं को ठुकराकर वे कठोर चर्या के लिए निकल पडे। उनकी प्रतिज्ञा थी, मैं व्युत्सृष्ट काय होकर रहूँगा अर्थात् शरीर की किसी भी प्रकार म सार-सम्भाल नही करूँगा। इसमे वे पूर्णतः सफल रहै।

दुरूह-साधना

महावीर ने जिस साधना-पद्धति का अवलम्बन लिया था, वह अत्यन्त रोमाचक थी। वे अचेलक थे, तथापि शीत से त्रसित होकर बाहुओ को समेटते न थे, अपितु यथावत् हाथ फैलाये ही विहार करते थे। शिशिर ऋतु मे पवन जोर से फुफकार मारता, कडकडाती सर्दी होती, तबइतर साधु उससे बचने के लिए किसी गर्म स्थान की खोज करते, वस्त्र लपेटते और तापस लकडिया जलाकर शीत दूर करने का प्रयत्न करत, परन्तु महावीर खुले स्थान मे नगे बदन रहते और अपने बचाव की इच्छा भी नहीं करते। वही पर स्थिर होकर ध्यान करते। नगे बदन होने के कारण सर्दी-गर्मी के ही नही, पर, दश-मशक तथा अन्य कोमल-कठोर स्पर्श के अनेक कष्ट भी वे झेलते थे।

महावीर अपने निवास के लिए भी निर्जन झोपडियो को चुनते, कभी धर्मशालाओ को, कभी प्रपा को, कभी हाट को, कभी लुहार की शाला को, कभी मालियो के घरो को, कभी शहर को, कभी श्मशान को, कभी सूने घर को, कभी वृक्ष की छाया को तो कभी पास की गजियो के समीपवर्ती स्थान को। इन स्थानो मे रहते हुए उन्हे नाना उपसर्गों से जूझना होता था। सर्प आदि विषैले जन्तु और गीध आदि पक्षी उन्हें काट खाते थे। उद्दण्ड मनुष्य उन्हें नाना यातनाए देते थे, गाँव के रखवाले हथियारो से उन्हें पीटते थे और बिषयातुर स्त्रियां काम-भोग के लिए उन्हें सताती थी। मनुष्य और तिर्यचों के दारुण उपसर्गों और कर्कश-कठोर शब्दों के अनेक उपसर्ग उनके समक्ष आये दिन प्रस्तुत होते रहते थे। मारने-पीटने पर भी वे अपनी समाधि मे लीन रहते।

आहार के नियम भी महावीर के बडे कठिन थे। नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी थे। रसों मे उन्हें आसक्ति न थी और न वे कभी रसयुक्त पदार्थों की आकाक्षा ही करते थे। भिक्षा मे रूखा सूखा, ठण्डा, बासी, उडद, भात, मूंग, यवादि नीरस धान्य का जो भी आहार मिलता, उसे वे शान्त भाव से और सन्तोषपूर्वक ग्रहण करते थे। एक बार निरन्तर आठ महीनो तक वे इन्ही चीजों पर रहे। पखवाड़े, मास और छः-छः मास तक जल नही पीते थे। उपवास मे भी विहार करते। ठडा बासी आहार भी वे तीन-तीन, चार-चार, पाच-पाच दिन के अन्तर से करते थे।

शरीर के प्रति महावीर की निरीहता बडी रोमाचक थी। रोग उत्पन्न होने पर भी वे औषध-सेवन नही करते थे। विरेचन, वमन, तेल-मर्दन, स्नान और दन्त-प्रक्षालन नही करते थे। आराम के लिए पैर नही दबाते थे। आँखो मे किरकिरी गिर जाती तो उसे भी वे नही निकालते। ऐसी परिस्थिति म आंख को भी वे नही खुजलाते। वे कभी नीद नही लेते थे। उन्हे जब कभी नीद अधिक सताती, वे शीत मे मुहूर्तभर भ्रमण कर निद्रा दूर करते। वे प्रतिक्षण जागृत रह ध्यान व कायोत्सर्ग मे ही लीन रहते।

उत्कटुक, गोदोहिका, वीरासन, प्रभृति अनेक आसनों द्वारा महावीर निर्विकार ध्यान करते थे। शीत मे वे छाया मे बैठकर ध्यान करते और ग्रीष्म मे उत्कटुक आदि कठोर आसनों के माध्यम से चिलचिलाती धूप में ध्यान करते। कोई उनकी स्तुति करता और कोई उन्हें दण्ड से तर्जित करता या बालो को खींचता या उन्हे नोंचता, वे दोनों ही प्रवृत्तियो मे समचित्त रहते थे। महावीर इस प्रकार निर्विकार कषाय-रहित, मूर्छा-रहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तन मे ही अपना समय बिताते।

महावीर दीक्षित हुए, तब उनके शरीर पर नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया हुआ था। चार

मास से भी अधिक भ्रमर आदि जन्तु उनके शरीर पर मँडराते रहे, उनके माँस को नोचते रहे और रक्त को पीते रहे। महावीर ने तितिक्षाभाव की पराकाष्ठा कर दी। उन जन्तुओं को मारना तो दूर, उन्हें हटाने की भी वे इच्छा नहीं करते थे।

महावीर ने इस प्रकार की शारीरिक कृच्छ साधना पर इतना बल क्यो दिया तथा शरीर के स्वभावों पर ये विजयी हुए, जबकि सामान्यत: कोई भी व्यक्ति शरीर के धर्मों की अवगणना नही कर सकता ? ये दो प्रश्न ही महावीर की साधना-पद्धति की विभिन्न भूमिकाओं पर प्रकाश डालते हैं।

कष्ट-साध्य साधना क्यों ?

सभी अध्यात्मवादियों का दृढ़ विश्वास है कि आत्मा शरीर रूप बन्धन में आबद्ध है। चेतन पर जड़ का यह अवतरण इतना सघन हो गया है कि संस्कार विकार मे बदल गये हैं और चेतन की क्रिया विकारो को सबल करने में प्रयुक्त होने लगी है। साधना चैतन्य और जड़ की इस दुरभिसंधि को समाप्त करने की क्रिया का आरम्भ करती है। उसकी पहली व्यूह-रचना शरीर के साथ होती है। शरीर के द्वारा आत्माके होने वाले संचालन को रोकने के लिए उपक्रम आरम्भ होता है और सारा नियन्त्रण आत्मा के केन्द्र से उद्भूत होने लगता है। ऐसी स्थिति में अनिवार्यतया अपेक्षा हो जाती है, कुछ साधना की। एक बार उससे छटपटाहट अवश्य होती है, क्योंकि जन्मजन्मान्तरों से लगा हुआ अनुबन्ध टूटना प्रारम्भ होता है। किन्तु ऐसा हुए बिना जड़ चेतन का पृथक्करण भी नहीं हो सकता।

प्राण-वायु पर विजय

बुद्ध कष्टसाध्य साधना से विचलित हो गये। उन्हें अपने मार्ग को भी बदलना पड़ा। महावीर अपने निर्धारित क्रम में सफल होते गये। उन्हें मार्गान्तरण की आवश्यकता नहीं हुई। दोनों का एक ही उद्देश्य था। फिर इतना अन्तर क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए कुछ यौगिक क्रियाओं की गहराई में उतरना आवश्यक होगा। साधक को सबसे पहले भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि शरीर की अनिवार्य आवश्यकताओं पर विजय पाना होता है। इन सबका सम्बन्ध है प्राण-वायु से। शरीर में पाँच प्रकार की वायु होती है। प्राण-वायु उनमें उत्कृष्ट है और उसका सम्बन्ध मन की सूक्ष्म क्रियाओ के साथ है। यही वायु स्नायुयों की प्राण-शक्ति को प्रत्येक कार्य में उद्बुद्ध, प्रेरित तथा क्रियाशील करती है। किन्तु एक प्रक्रिया ऐसी होती है, जिसके द्वारा क्रियाशीलता को उद्बोध मे बदला जा सकता है। जब वह इस प्रकार परिवर्तित हो जाती है, शारीरिक अपेक्षाओं की पूर्ति न होने पर भी व्यथा की अनुभूति नही होती। फिर देह होता है, किन्तु देहाध्यास नही होता। महावीर ने इसी प्रक्रिया का आरम्भ किया था और वे इसके द्वारा शरीर-विजय में पूर्णत: सफल हुए। शरीर उनके अधीन रहा, वे शरीर के अधीन नहीं रहे।

एक प्रवाह चलता है। उसे यदि बदला नहीं जाता है, तो जो होता आया है, वही भविष्य मे होता रहेगा। उसे बदलने के लिए जितना श्रम अपेक्षित होता है, उससे अधिक मार्गान्तरण के चयन मे सजगता अपेक्षित होती है। महावीर जब प्रव्रजित हुए, चालू प्रवाह को बदलने की उस प्रक्रिया को ही उन्होने अपना लक्ष्य बनाया और उसमें सफल भी हुए। यही कारण है कि उग्र तपश्चरण में भी वे कभी म्लान नही हुए।

शरीर-विज्ञान के अनुसार भी जब-जब रक्त की गति में वेग और गति-मन्दता आती है, तब-तब सम्बन्धित अन्य अवयव प्रभावित होते हैं और किसी विकार का आरम्भ हो जाता है। यह विकार रोग के रूप मे भी व्यक्त होता है और इन्द्रियज उद्वेग, आवेश, अह आदि के रूप में भी प्रगट होता है। प्राण-वायु का जागरण तथा अन्य चार प्रकार की वायुओं की श्लथता रक्त की सम स्थिति को उजागर करती है। यही से शरीर से सम्बन्धितनाना अनुभूतियाँ गौण हो जाती हैं और स्व०-केन्द्रिता जागरूक। महावीर इस प्रक्रिया में आरम्भ से ही निष्णात थे, इसीलिए कष्ट-साध्य साधना मे उन्हें कष्टों की अनुभूति नहीं होती थी। वे जनता को भी इसका ही प्रशिक्षण देते थे। मानसिक उद्वेगों के इस वर्त्तमान युग मे प्राण-वायु पर विजय पाने की इस प्रक्रिया की अत्यन्त आवश्यकता है।

दान की महिमा

संकलनकर्ता : मथुरादास जैन एम. ए., साहित्याचार्य

नीतिकारों ने धन तथा विद्या दोनो मे विद्या को उच्च पद पर स्थापित करने के लिए यह दलील दी है कि विद्या देने से बढ़ती है और धन देने से घटता है। विद्या का धन की अपेक्षा उच्च स्थान पाना ठीक ही है क्योंकि विद्या अर्थात् ज्ञान आत्मा की निजी वस्तु है और धन तो जड़ वस्तु है लेकिन फिर भी धन का महत्त्व कम नही है क्योंकि नीतिकार ही आगे धन की महिमा को बढ़ाते हुए कहते है कि :—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्,
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्।

इस नीति वचन मे बतलाया है कि विद्या मनुष्य मे विनय गुण लाती है विनयी होने से मनुष्य मे पात्रता (योग्यता) आती है और पात्र होने से मनुष्य धन प्राप्त करता है धन से धर्म करते हुए सुख को पाता है इस प्रकार धन को सुख का समीपीकरण बताया गया है।

यदि हम सही रूप से विचारें तो जैसे विद्या देने से बढ़ती है धन भी देने से बढ़ता है। यदि हम धन को श्रेष्ठ पात्र को देते है या श्रेष्ठ कार्य मे लगाते है तो जैसे किसान जमीन मे एक दाना बोकर बदले मे अनेक दाने पा लेता है। उसी तरह सत्पात्र को दिये गये धन से अर्जित पुण्य अनेकगुणे धन को प्राप्त कराने का निमित्त बनता है। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य प्रवर उमास्वामी जी ने दान के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया है कि "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" अर्थात् परोपकार बुद्धि से अपने धन का दूसरे को ममत्वरहित देना दान कहाता है। यह दान दाता, पात्र द्रव्य और विधि की विशेषताओं से विशेष रूप को धारण करता है दाता (देनेवाला), पात्र (लेनेवाला), द्रव्य (वस्तु) और विधि देने का तरीका जितने प्रशस्त होते हैं दान भी उतना ही अधिक प्रशस्त फलदायी माना जाता है।

हम सब जानते है कि जब मनुष्य जन्मता है अपने साथ कुछ भी नही लाता तथा जब मरता है तब भी अपने साथ कुछ भी नही ले जाता। लेकिन यथार्थ मे बात ऐसी नही है एक व्यक्ति धनी परिवार या राजघरानेमे जन्म लेता है और जन्म से ही अपार लक्ष्मी का स्वामी बन जाता है दूसरा एक अति दरिद्र परिवार में जन्म लेता है जहाँ उसे शरीर धारण की प्रारम्भिक सुविधाये भी नहीं मिलती। इससे यही प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने साथ कार्मण शरीर के रूप मे पुण्य व पाप का पिण्ड लेकर आता है और उसके परिणामस्वरूप सुख-दुःख पाता है यदि हम अपनी करोड़ों रुपयों की सम्पदा को अपने साथ परभव में ले जाना चाहते है तो हमे यहाँ प्राप्त अपने द्रव्य का सदुपयोग करना न भूलना चाहिए।

सुपात्र या श्रेष्ठ कार्यों मे खर्च किया धन हमारे लिए अग्रिम जन्म का पेइङ्ग ड्राफ्ट बन जाता है। दान के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए यहाँ कुछ नीति के श्लोक दिये जाते है। पाठक इनसे कुछ शिक्षा लेगे।

अनुकूले विधौ देयं यतः पूरयिता विधिः।
प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वं हरिष्यति ॥१॥

'यदि भाग्य अनुकूल है—शुभ कर्म के उदय से लाभ ही लाभ हो रहा है—तब दान देना ही चाहिए; क्योंकि जो कुछ दिया जायगा उसकी पूर्ति भाग्योदय स्वयं कर देगा, कोई कमी नही रहेगी। और यदि भाग्य प्रतिकूल है अशुभ कर्म के उदय से व्यापारादि मे हानि ही हानि हो रही है—तब भी दान देना ही चाहिए; क्योंकि न देने पर वह धन-सम्पत्ति ठहरेगी तो नही, क्रुद्ध हुआ विधि (भाग्य) उसे भी हर ले जायगा। अतः उसके चले जाने से पहले दान देना ही श्रेष्ठ है—जो दिया जायगा वह परलोक मे साथ जायगा।'

बोधयन्ते न याचन्ते भिक्षाचारा: गृहे गृहे।
दीयतां दीयतां नित्यमदातुः फलमीदृशम् ॥२॥

'घर-घर में जो ये भिखमगे मांगते फिरते हैं वे, सच पूछा जाय तो, मांगते नहीं बल्कि हमे यह शिक्षा दे रहे अथवा बोधपाठ पढ़ा रहे हैं कि 'दो-दो, न देने का फल यो!' —हमने पूर्व जन्म में दान नही दिया, उसी का यह फल है जो हम घर-घर भीख मांगते फिरते हैं।'

यो न ददाति न भुंक्ते सति विभवे नैव तस्य तद्द्रव्यम्
तृणमय-कृत्रिम-पुरुषो रक्षति शस्यं परस्यार्थम् ॥३॥

'जो मनुष्य अपनी सम्पत्ति को न तो दान में देता है और न अपने भोगोपभोग में ही लगाता है वह वास्तव में उस सम्पत्ति का मालिक ही नही है, वह तो उस घास-फूंस के बने आदमी के समान है जिसे किसान लोग बना कर खेत मे खड़ा कर देते है और जो खेत को न तो खुद खाता है न खाने देता है किन्तु किसी तीसरे के लिए उसकी रक्षा करता रहता है। ऐसे कोरे रखवाले ही कृपण कहलाते हैं।

एक कवि महाशय ऐसे कृपणों की स्तुति में व्यंग करते हुए लिखते हैं :—

कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति।
अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥४॥

'कृपण के समान दाता न तो कोई हुआ और न होगा; क्योंकि जितने भी दातार है वे या तो किसी को स्वयं हाथ से उठाकर देते हैं, आज्ञा-आदेश या हुक्म के द्वारा देते हैं, संकेत करके देते है अथवा दान-पत्रादि के रूप में लिख लिखाकर देते हैं; परन्तु कृपण ऐसा महान् दानी है जो यह सब कुछ भी न करके बिना छुए अथवा बिना इच्छा के ही अपनी सारी धन-सम्पत्ति दूसरों को दे जाता है!!'

एक दूसरे कवि महानुभाव दातार को कृपण और कृपण को दातार बनाते हुए एक दूसरे ही ढंग का व्यंग करते हैं। वे लिखते हैं :—

दातारं कृपणं मन्ये मृतोऽप्यर्थं न मुंचति।
अदाता हि धनत्यागी धनं हित्वा हि गच्छति ॥५॥

'मैं तो दातार को कृपण समझता हूँ; क्योंकि वह मर जाने पर भी धन को नहीं छोडता—उसे अपने साथ ले जाता है, दान की हुई लक्ष्मी उसे परलोक में अनेक गुणी होकर मिल जाती है। दान न करने वाला कृपण ही, सच पूछा जाय तो, दानी है; क्योकि वह धन को सच-मुच छोडकर ही चला जाता है—परलोक मे उसका कुछ भी अश साथ नहीं ले जाता, वहाँ वह प्रायः खाली हाथ भिखारी बनकर रहता है।'

दान से जहां कृपणता की मलिनता दूर होती है वहाँ सत्कीर्तिका उपार्जन भी होता हैं। इसी से कीर्ति को त्याग की, दान की अनुसारिणी ('कीर्तिस्त्यागाऽनुसारिणी') कहा है। इस कीर्ति का कभी कोई दूसरा मालिक या उत्तराधिकारी नही होता :—

सुधार के लिए निवेदन

श्री माननीय देवराज जी उर्स मुख्य मन्त्री मैसूर सरकार ने अपने भाषण में मांस भक्षण के लिए प्रेरणा-प्रद जो वाक्य कहे हैं वे यदि किसी साधारण व्यक्ति द्वारा कहे गये होते तो इतने क्षोभकारी न होते। भारतीय संस्कृति के संरक्षण के महान पद पर प्रतिष्ठित होकर श्री उर्स जी के लिए अहिंसा के महान उपासक महात्मा गांधी जी के आदर्श पर चलने वाली राज्य प्रणाली के नायक के रूप में इस प्रकार से हिंसा का पोषण करना यथार्थ में अशोभनीय कार्य है। हम श्री उर्स जी से निवेदन करेंगे कि वे भारतीय संस्कृति की महत्ता को दृष्टि में रखते हुए हिंसा को प्रोत्साहन देने वाला उपदेश न दें। इनके इस प्रकार के उपदेश से जैन समाज तथा निरामिष आहारी जनता की मान्यता को गहरी ठेस पहुँची है।

अनेकान्त के २५वें वर्ष की वार्षिक विषय-सूची

किरण ४-५

किरण ६

जैन लक्षणावली (प्रथम भाग)

श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म के अनेक पारिभाषिक शब्द हैं जिनका सही अर्थ प्राप्त करने के लिए जैन लक्षण ग्रन्थों और शब्द कोषों की अत्यावश्यकता है। ऐसे ग्रंथों के निर्माण में बहुत लम्बा समय और प्रचुर खर्च तथा काफी श्रम लगता है, पर उनकी उपयोगिता और महत्व को देखते हुए यह कार्य बहुत जरूरी होता है। अभी-अभी 'जैन लक्षणावली' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली मे प्रकाशित हुआ है। श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस ग्रन्थ की योजना बनाई थी। जब-जब मैं वीर सेवा मन्दिर में उनसे मिलता तो इस ग्रंथ की भी चर्चा होती और पिछले कई वर्षों से तो इसका कार्य होता हुआ प्रत्येक बार देखता। उस चिर प्रतीक्षित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रथम भाग गत वर्ष प्रकाशित हो गया तो उसे देखकर बडी ही प्रसन्नता हुई। पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री इधर कुछ वर्षों से इस ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने में लगे हुए थे, उन्होंने इस प्रथम भाग की प्रस्तावना भी काफी विस्तृत तथा महत्वपूण लिखी है।

इस जैन पारिभाषिक शब्द कोष के प्रथम भाग में (अ से लगाकर औ) तक स्वरों के शब्द आये हैं। तीन सौ बारह (३१२) पृष्ठों में मूल ग्रन्थ है। ८६ पृष्ठों की प्रस्तावना है। मूल ग्रन्थ के बाद इस ग्रन्थ को तैयार करने में जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उन तीन सौ इकावन (३५१) दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थो का सूची दी गई है। साथ ही इन ग्रन्थों के रचयिता एक सौ सैंतीस (१३७) विद्वानों की भी सूची दे दी गई है। प्रस्तावना में तीन सौ इकावन (३५१) ग्रन्थों में से एक सौ दो (१०२) ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। बाकी ग्रन्थो का परिचय अगले भागों में दिया जायगा।

इस ग्रन्थ में पारिभाषिक लक्षणात्मक शब्द संस्कृत में दिये है। इन शब्दो के लक्षण जिन-जिन ग्रन्थों में मिलते हैं, उनका आवश्यक उद्धरण देकर अन्त में हिन्दी में सारांश दिया गया है। इससे यह ग्रन्थ सभी के लिए बहुत उपयोगी हो गया है। समय, श्रम और इस कार्य में होने वाले अर्थ व्यय खर्च की दृष्टि से इसका मूल्य २५ रु० रखा जाना उपयुक्त ही है। अगले भाग शीघ्र ही प्रकाशित हों, यही शुभ कामना है। जैन ग्रन्थालयों को इसे अवश्य खरीद करके पूरे प्रकाशित किए जाने में सहयोग देना ही चाहिए।

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थो मे उदधृत दूसरे पद्यो की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। सपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डा लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) मे भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोके लिए अतीव उपयोगी, बडा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वी शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति सग्रह भा० १ : सस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना मे अलकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा बाहुबली पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठो में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बडे आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००

प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित।